श्रीपरमा...

रायचन्द्रजैन ... ला

६-७

दिगम्बरजैनाचार्यश्रीशु ... र्यविरचितः

ज्ञानार्ण

सुजानगढनिवासिपन्नालालवाकल
हिन्दीभाषानुवादसहितः ।

—:o:—

ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वतः ।
यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोऽपि भवार्णवः ॥ १ ॥

स च

श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल बम्बईके स्वत्त्वाधिकारियोंने
मुंबई वैभव प्रेसमें छपाकर
प्रकाशित किया.

श्रीवीरनिर्वाण संवत् २४३३ । ईस्वीसन १९२७

मुद्रकः—**चिंतामण सखाराम देवळे,** मुंबईवैभव प्रेस, सर्व्हंटस् ऑफ इंडिया सोसायटीज् बिल्डिंग, सँढर्स्ट रोड, गिरगांव, मुंबई.

प्रकाशक—**शा. रेवाशंकर जगजीवन जवेरी,** आनरेरी व्यवस्थापक, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, जवेरीवजार, बम्बई २.

श्रीशुभचन्द्राचार्यका समयनिर्णय।



ावित्र ग्रन्थके कर्ता पूज्यपाद श्रीशुभचन्द्राचार्यके विषयमें यह लेख लिखनेके
ाकि, उन्होंनें हम लोगोंके साथ वड़ी भारी प्रतारणा की, जो अपना परिचय
हीं लिखा। हमारे उपकारके लिये जिन्होंने अश्रान्तपरिश्रम करके इतना
ामझा, उन्होंनें दो चार श्लोकोंके बनानेमें कंजूसी क्यों की? यह समझमें
ोगोंके समान उन्हें कीर्तिकी चाह न थी, और न मानकषाय उनके
अपना परिचय न देनेसे भी तो उनकी कीर्ति कहीं छुपी न रही। आज
वत्तुल्य आदरके साथ लेनेमें संकोच नहीं होता। फिर परिचय न देनेसे
विडम्बित करनेके और क्या लाभ हुआ? सुनामधेय महात्माओं
केसको इच्छा नहीं होती? और फिर वर्तमान कालमें, जब कि, इ. वह
रही है कौन ऐसा होगा, जो भगवान् शुभचन्द्र जैसे ग्रन्थक मुं
न हो? अर्थात् कोई नहीं। इसीलिये आचार्य भगवान्को उ... नी
न्थोंके सहारे युक्ति और अनुमानोंको स्थिर करके अपने विचारोंका

ानाया हुआ एक भक्तामरचरित्रनामका संस्कृतग्रन्थ है। उसकी उत्था-
क कथा है, उसे हम पृथक् प्रकाशित करते हैं। उससे जाना जाता
ार मुंज समकालीन पुरुष थे। इसके सिवाय भक्तामरस्तोत्रके बननेकी
बन्ध है, यह भी प्रगट होता है कि, मानतुंग, कालिदास, वररुचि
ायिक हैं। इस लिये उपर्युक्त व्यक्तियोंमें किसी एकका भी समय
ज्ञात हो सकता है।

मुंज।

राजका समय शोधनेमें हमको कुछ भी कठिनाई नहीं है, क्योंकि
ोह आदि ग्रन्थोंके सुप्रसिद्ध रचयिता श्रीअमितगतिआचार्य उन्हींके
शस्तिमें लिखा है:—

नृपे। सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके।
नृपतौ। सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥

१०५० वर्षके पश्चात् अर्थात् विक्रमसंवत् १०५० (ईस्वी-
ा राजाकी पृथ्वीपर विद्वानोंके लिये यह पवित्रग्रन्थ बनाया
ाराजकी राजधानी उज्जयनीमें ही सुभाषितरत्नसंदोह ग्रन्थ

ाकाशित आदिनाथस्तोत्रकी भूमिकामें यह कथा प्रकाशित हुई है।

विश्वभूषणकी कथाका आशय प्रायः इन्हींकी ओर झुकता हुआ है । परन्तु शुभचन्द्रके समयसे भर्तृहरिका समय मिलानेमें बड़ी २ झंझटें हैं। सबसे पहली बात तो यही है कि, प्रसिद्धिके अनुसार भर्तृहरि विक्रमादित्यके बड़े भाई हैं, और विश्वभूषणजी उन्हें भोजका भाई बतलाते हैं। जमीन आसमान जैसा अन्तर है। क्योंकि भोज ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दिमें हुए हैं। और विक्रमादित्य संवत्के प्रारंभमें अर्थात् ईसासे ५७ वर्ष पहले हुए हैं। लोकमें जो किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं, और भर्तृहरिसम्बन्धी दो एक कथाग्रन्थ हैं, उनसे जाना जाता है कि, भर्तृहरि विक्रमके ज्येष्ठभ्राता थे । उन्होंने बहुत समयतक राज्य किया है। एक बार अपनी प्रियतमा स्त्रीका दुश्चरित्र देखकर वे संसारसे विरक्त होकर योगी हो गये थे। स्त्रीके विषयमें उस समय उन्होंने यह श्लोक कहा था:—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥

अर्थात् जिसका मैं निरन्तर चिन्तवन किया करता हूं, वह मेरी स्त्री मुझसे विरक्त है। इतना ही नहीं, किन्तु दूसरे पुरुषपर आसक्त है। और वह पुरुष किसी दूसरी स्त्रीपर आसक्त है । तथा वह दूसरी स्त्री मुझपर प्रसन्न है। अतएव उस स्त्रीको, उस पुरुष को, उस कामदेवको, इस (मेरी स्त्रीको) को, और मुझको भी धिक्कार है। भर्तृहरिके विषयमें छोटी मोटी बहुतसी कथायें प्रसिद्ध हैं, जिनका यहां उल्लेख करनेकी अवश्यकता नहीं दीखती। भर्तृहरिके पिताका नाम वीरसेन था। उनके छह पुत्र थे, जिनमें एक विक्रमादित्य भी थे। भर्तृहरिकी स्त्रीका नाम पद्माक्षी अथवा पिङ्गला था।

जैसे विक्रम नामके कई राजा हो गये हैं, उसी प्रकार भर्तृहरि भी कई हो गये हैं । एक भर्तृहरि वाक्यपदीय तथा राहतकाव्यका कर्ता गिना जाता है। किसीके मतमें शतकत्रय और वाक्यपदीय दोनोंका कर्ता एक है। इट्सिंग नामका एक चीनीयात्री भारतमें ईसाकी सातवीं सदीमें आया था। उसने भर्तृहरिकी मृत्यु सन् ६५० ईस्वीमें लिखी है।

इन सब बातोंसे यह कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता कि, शुभचन्द्राचार्यके भाई भर्तृहरि उपर्युक्त दोनों तीनोंमें से कोई एक हैं, अथवा कोई पृथक् ही हैं। विद्वान् ग्रंथकार विद्यावाचस्पतिने तत्त्वबिन्दुग्रन्थमें भर्तृहरिको धर्मबाह्य लिखा है। और उपरिलिखित भर्तृहरि वैदिकधर्मके अनुयायी माने जाते हैं। इसलिये आश्चर्य नहीं कि, इस धर्मबाह्यसे जैनका ही तात्पर्य्य हो, और शुभचन्द्रके भाई भर्तृहरिको ही यह धर्मबाह्य संज्ञा दी गई हो। क्योंकि उन्होंने जैनधर्मकी दीक्षा ले ली थी। शतकत्रयके अनेक श्लोक ऐसे हैं, जिनमें जैनधर्मके अभिप्राय स्पष्ट व्यक्त होते हैं। यथा;—

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदाहं सम्भविष्यामि कर्म्मनिर्मूलनक्षमः ॥ ६९ ॥ (वैराग्यशतक)

अर्थात्—मैं एकाकी निस्पृह शान्त और कर्मोंको नाश करनेमें समर्थ पाणिपात्र (हाथ ही जिसके पात्र हैं) दिगम्बरमुनि कब होऊंगा । वैराग्यशतकके ५७ वें श्लोकमें जैनसाधुकी प्रशंसा इस प्रकारकी है। देखिये;—

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकममलिनं तल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषां निःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतिः स्वात्मसंतोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म्म निर्मूलयन्ति ॥ १ ॥

अर्थात्—जिनके हाथरूपी पवित्र पात्र है, जो सदा भ्रमण करते हैं, जिन्हें भिक्षामें अक्षय्य अन्न मिलता है, जिनके दिशारूपी लम्बे चौड़े वस्त्र हैं, परिग्रहत्यागरूप जिनकी परिणति रहती है, अपने आत्मामें ही जिन्हें संतोष रहता है और जो कर्मोंका नाश करते रहते हैं, ऐसे दीनतारूपी दुःखसमूहसे रहित महात्माओंको धन्य है ।

भर्तृहरिका वैराग्यशतक बड़ी ही उत्तम रचना है । प्रायः वह सबका सब जैनसिद्धान्तोंसे मिलता जुलता है । यदि शतकत्रयके कर्त्ता भर्तृहरि ही शुभचंद्रके भाई सिद्ध हों, तो हम कह सकते हैं कि, शृंगार और नीतिशतक उन्होंने अपनी पूर्वावस्थामें बनाये थे और वैराग्यशतक दीक्षा लेनेपर बनाया था । यह देखकर हमको आश्चर्य हुआ कि, ज्ञानार्णव और वैराग्यशतकके अनेक श्लोकोंका भाव एक सा मिलता है । बल्कि देखिये, इन दोनों श्लोकोंमें कितना साम्य है;—

विन्ध्याद्रिर्नगरं गुहा वसतिकाः शय्या शिला पार्वती
दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना ।
विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोद्देशकाः सन्तु नः ॥ २१ ॥

(ज्ञानार्णव पृष्ठ ८७)

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः
सारङ्गाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः ।
येषां निर्झरमम्बुपानमुचितं रत्येव विद्याङ्गना
मन्ये ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः ॥

(वैराग्यशतक श्लोक ९२)

इस कवितासाम्यसे और कुछ नहीं तो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि, (शतककर्त्ता) भर्तृहरि और शुभचन्द्र एक दूसरेके ग्रन्थोंके पठन अध्ययन करनेवाले अवश्य होंगे, चाहे एक समयमें न रहे हों ।

अन्य कवि ।

कालिदास अनेक हुए हैं । उनमें जो सबसे प्रसिद्ध हैं, वे महाराज विक्रमकी सभाके रत्न थे और दूसरे भोजकी सभामें थे, जिनके विषयमें हमारे यहां सैकड़ों किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं । ये ही कालिदास शुभचन्द्रके समकालीन जान पड़ते हैं । भक्तामरकी कथामें जिस वररुचिका जिकर आया है, वह कोई अन्य पंडित होगा । क्योंकि वररुचिकवि जो विक्रमकी सभाके नवरत्नोंमें थे, वे ये नहीं हो सकते । यथाः—

---

१ अभी कुछ दिन हुए भर्तृहरिके नामसे एक विज्ञानशतक नामका ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है । परन्तु यथार्थमें वह किसी दूसरे ग्रन्थकारका बनाया हुआ जान पड़ता है ।

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य॥ १॥

मानतुंगके विषयमें और कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परंतु उनका भोजसे सम्बन्ध अवश्य है। श्वेताम्बर ग्रन्थकारोंने भी मानतुंग तथा भोजकी कथा लिखी है। इससे भोज तथा शुभचन्द्रका समय ही उनका समय मानना चाहिये। धनंजयके विषयमें काव्यमालाके सम्पादकने लिखा है, कि अनुमानसे ईसाकी आठवीं सदीके पूर्वमें धनंजयका समय मानना चाहिये। क्योंकि ईस्वीसन ८८४ तक राज्य करनेवाले काश्मीरनरेश अवन्तिवर्माके समसामयिक आनन्दवर्धन और रत्नाकर कविने तथा ई० स० ९५९ में श्रीसोमदेवमहाकविने राजशेखरकविकी प्रशंसा की है, और उस राजशेखरने धनंजयकी प्रशंसा की है। इसलिये धनंजय राजशेखरके पूर्ववर्ती थे। और ऐसा माननेसे भोजकी समकालीनता धनंजयके साथ नहीं बन सकती। तब क्या कालिदासके समान धनंजय भी कई हुए हैं, ऐसा मान लेना चाहिये? विद्वानोंको निर्णय करना चाहिये कि, कथाओंमें इसप्रकार ऐतिहासिक तत्त्वोंका अभाव क्यों है?

शुभचन्द्राचार्य।

ज्ञानार्णवमें श्रीशुभचन्द्रसूरिने अपने विषयमें कुछ भी नहीं लिखा। और तो क्या अपना नाम भी नहीं लिखा। यदि प्रत्यक सर्गके अन्तमें उनका नाम नहीं मिलता और परम्परासे उनके ग्रन्थके पढ़नेकी परिपाटी न चली आई होती, तो आज यह जानना भी कठिन हो जाता कि, ज्ञानार्णवके रचयिता कौन हैं। उनके समयादिके विषयमें बाह्य प्रमाणोंसे एक प्रकारसे यह निश्चय हुआ कि, वे ईसाकी ग्याहरवीं सदीमें हुए हैं। परन्तु अब देखना चाहिये कि, उनका ग्रन्थ भी इस विषयमें कुछ साक्षी दे सकता है, या नहीं। मंगलाचरणमें उन्होंने लिखा है,—

जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः।
योगिभिर्यत्समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये॥ १॥

अर्थात् "जिसे योगीजन पा करके आत्माके निश्चयसे स्खलित नहीं होते हैं, वह त्रैवियों (न्याय, व्याकरण और सिद्धान्तके ज्ञाताओं) करके बन्दनीय भगवत् जिनसेनकी वाणी जयवन्ती रहे।" इस श्लोकसे यह निश्चय होता है कि, श्रीशुभचन्द्राचार्यसे भगवान् जिनसेन पहले हुए हैं। और भगवत् जिनसेनका समय ईस्वी सन ८९८ के पहले पुष्ट प्रमाणोंसे सिद्ध होता है। प्रायः यह सब ही जानते हैं कि, भगवज्जिनसेन महापुराणको पूरा नहीं कर सके थे, केवल उसका पूर्वभाग आदिपुराण (कुछ कम) बना था और उनका स्वर्गवास हो गया था। पीछे उनके अग्रगण्य शिष्य श्रीगुणभद्राचार्यने उत्तरपुराण बनाकर महापुराणको पूर्ण किया था। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें उन्होंने लिखा है:—

शकनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते।
मङ्गलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजनसुखदे॥ ३१॥
श्रीपञ्चम्यां बुधार्द्रायुजि दिवसके मन्त्रिवारे बुधांशे।
पूर्वायां सिंहलग्ने धनुषि धरणिजे वृश्चिकार्कौ तुलायाम्।

सूर्ये शुक्रे कुलीरे गवि च सुरगुरौ निष्ठितं भव्यवर्यैः।
प्राप्तेज्यं शास्त्रसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम् ॥ ३३ ॥

जिसका सारांश यह है कि, शक संवत् ८२० (ई० सन ८९८) में उत्तरपुराण पूर्ण किया गया। इसके सिवाय भगवज्जिनसेनके प्रिय शिष्य महाराज अमोघवर्षका राज्यकाल शक सं० ७३७ से ८०० पर्यन्त निश्चित है। इससे सिद्ध है कि, ई० सन् ८९८ के कुछ वर्ष पहले आदि-पुराणके कर्त्ता भगवज्जिनसेनका अस्तित्व था और उनके पीछे श्री शुभचन्द्राचार्यजी हुए हैं; नवमी शताब्दिके पहले शुभचन्द्रका समय अब किसी प्रकारसे नहीं माना जा सकता।

मंगलाचरणमें शुभचन्द्रजीने स्वामिसमन्तभद्र भट्टाकलंकदेव और देवनन्दि (पूज्यपाद) को भी नमस्कार किया है। परन्तु अकलंकदेव जिनसेनसे भी पहले हुए हैं। क्योंकि आदिपुराणमें जिनसेनने अकलंकदेवका स्मरण किया है। और स्वामिसमन्तभद्र तथा पूज्यपादस्वामी इन से भी पहले हुए हैं। इस लिये समय निर्णयके विषयमें जिनसेनके समान इनसे कुछ सहायता नहीं मिल सकती। क्या ही अच्छा हो, यदि शुभचन्द्रके पीछेके किसी आचार्यने उनका स्मरण किया हो, और वह हमें प्रमाणस्वरूप मिल जावे। ऐसे प्रमाणसे यह सीमा निर्धारित हो जावेगी कि अमुक समयसे वे पहले ही हुए हैं, पीछे नहीं।

शुभचन्द्र नामके एक दूसरे आचार्य सागवाड़ाके पट्टपर विक्रम संवत् १६०० (ई०सन् १५४४)में हुए हैं। उन्हें षट्भाषाकविचक्रवर्तिकी उपाधि थी। पांडवपुराण, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीका आदि ४०–५० ग्रन्थ उनके बनाये हुए हैं। परन्तु ज्ञानार्णवके कर्त्ता शुभचन्द्रसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। शुभचन्द्र नामके और भी कई विद्वान्, भट्टारक सुने जाते हैं। पटवर्धन राजाके समय श्रवणवेलगुळके एक पट्टाचार्य भी शुभचन्द्र नामधारी हुए हैं। और उनका समय भी पहले शुभचन्द्रके निकट ही अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है।

इस ग्रन्थके कर्त्ता शुभचन्द्राचार्यके जीवनचरितके विषयमें यहां विशेष कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इस भूमिकाके अन्तमें उनकी एक स्वतंत्रकथा लिखी गई है, जिससे उनके कुटुम्बादिक सब विषय स्पष्ट हो जाता है। यहां इतना ही कहना बस होगा कि, वे एक बड़े भारी योगी थे, और संसारसे उन्हें अतिशय विरक्ति थी। राज्य छोड़कर इस विरक्तिके कारण ही वे योगी हुए थे। यह समस्त ज्ञानार्णवग्रन्थ उनकी योगीश्वरता और विरक्तिताका साक्षी है।

ज्ञानार्णव।

इसका दूसरा नाम योगार्णव है। इसमें योगीश्वरोंके आचरण करने योग्य, जानने योग्य सम्पूर्ण जैनसिद्धान्तका रहस्य भरा हुआ है। जैनियोंमें यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इसके पठन मनन करनेसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वह वचन अगोचर है। "**करकंकनको आरसी क्या ?**" पाठक स्वयं ही इसका अध्ययन करके हमारी सम्मतिको पुष्ट करेंगे। इस ग्रन्थकी कविता और कविकी प्रतिभा कैसी है, इसका निर्णय करना प्रतिभाशाली विद्वानोंका काम है, हम जैसे अज्ञोंका नहीं। परन्तु इतना कहे विना हमारा भी जी नहीं मानता, कि ऐसी स्वाभाविक, (अकृत्रिम) शीघ्रबोधक, सौम्य, सुन्दर और हृदयग्राही, कविता बहुत थोड़ी देखी जाती है। खेद है कि, भर्तृहरिके शतकत्रयके समान इस ग्रन्थका सर्व साधारणमें प्रचार नहीं हुआ। यदि होता, तो विधर्मीय विद्वानोंके द्वारा इसकी प्रशंसा होते हुए सुनकर आज हमारा हृदय शीतल हो गया होता।

श्वेताम्बरजैनसमाजमें एक **योगशास्त्र** नामका ग्रन्थ प्रसिद्ध है। उसके देखनेसे विदित हुआ कि **ज्ञानार्णव** तथा **योगशास्त्रके** अनेक अंश एकसे मिलते हैं। उदाहरणके लिये हम नीचे थोड़ेसे समानश्लोकोंको उद्धृत करते हैं।

किंपाकफलसम्भोगसन्निभं तद्धि मैथुनम्।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम्॥ १० (ज्ञानार्णव पृष्ठ १३४।)
रम्यमापातमात्रे यत् परिणामेतिदारुणम्।
किंपाकफलसंकाशं तत्कः सेवेत मैथुनम्॥ ७८ (योगशास्त्र द्वितीयप्रकाश।)
मनस्यन्यद्वचस्यन्यद्वपुष्यन्यद्विचेष्टितम्।
यासां प्रकृतिदोषेण प्रेम तासां कियद्वरम्॥ ८० (ज्ञानार्णव पृष्ठ १४५।)
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्क्रियायामन्यदेव हि।
यासां साधारणस्त्रीणां ताः कथं सुखहेतवे॥ ८९ (योगशास्त्र द्वि० प्र०।)
विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते॥ ३
स्वर्णाचल इवाकम्पा ज्योतिःपथ इवामलाः।
समीर इव निःसंङ्गा निर्ममत्वं समाश्रिताः॥ १५ (ज्ञानार्णव पृष्ठ ८४। ८६)
विरतः कामभोगेभ्यः स्वशरीरेपि निःस्पृहः।
संवेगहृदनिर्मग्नः सर्वत्र समतां श्रयन्॥ ५
सुमेरुरिव निष्कम्पः शशीवानन्ददायकः।
समीर इव निःसङ्गः सुधीर्ध्याता प्रशस्यते॥ ७ (योगार्णव सप्तमप्रकाश।)

ज्ञानार्णवकी एक दो संस्कृतटीकायें सुनी हैं, परन्तु अभी तक देखनेमें नहीं आई। केवल इसके गद्यभाग मात्रकी एक छोटीसी टीका श्रीश्रुतसागरसूरिकृत प्राप्त हुई ह। भाषामें जयपुर-निवासी पंडित जयचन्द्रजीकृत एक सुन्दरटीका है। हमको खास पं० जयचन्द्रजीकी लिखी हुई और शोधी हुई वचनिकासहित १ प्रति मुरादाबादसे और १ मूल सटिप्पण प्रति जयपुरसे प्राप्त हुई थी। उसीके अनुसार मान्यवर पंडित पन्नालालजी वाकलीवालने यह सरल हिन्दीटीका तयार की है। इसके बनानेका सम्पूण श्रेय स्वर्गीय पंडित जयचन्द्रजीको है। और नवीन पद्धतिसे संस्कृत करनेका द्वितीय श्रेय पन्नालालजीको है। नियमानुसार इसकी भूमिका पं० पन्नालालजीको ही लिखनी चाहिये। परन्तु उनका आग्रह इसे मुझसे ही लिखानेका हुआ, इसलिये उनकी आज्ञाका पालन करना मैंने अपना कर्तव्य समझा है। इसके लिखनेमें मेरी मन्दबुद्धिके अनुसार कुछ भूल हुई हो, तो उदारपाठक क्षमा करें। क्योंकि ऐसे विषयोंके लिखनेके लिये जितने साहित्यकी आवश्यकता है, जैनियोंका उतना साहित्य अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है, और न कोई ऐसा संग्रह अथवा लायब्रेरी है, जहां लेखककी इच्छा पूर्ण हो सके।

अन्तमें—श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके उदारव्यवस्थापकोंको हार्दिक धन्यवाद देकर मैं यह लेख समाप्त करता हूं, जिन्होंने जैनसाहित्यके प्रचार करनेके लिये एक ऐसी उदारसंस्था स्थापित की है, जो जैनियोंकी अनन्तउपकारकारिणी और अभूतपूर्व है। श्रीजिनदेवसे प्रार्थना है कि, यह संस्था अपने कर्तव्यका पालन द्विगुण चतुर्गुण उत्साहसे करनेमें समर्थ हो। अलमतिपल्लवितेन।

चंदावाडी—बम्बई २८—७—०७ जिनवाणीका सेवक—**नाथूराम प्रेमी।**

आचार्यप्रवर श्रीशुभचन्द्रका जीवनचरित।

प्राचीनकालमें मालवदेशकी उज्जयनी नगरीमें एक सिंह नामका राजा राज्य करता था। वह बड़ा धर्मात्मा था। और प्रजाका अपने पुत्रके समान पालन करता था। उसके राज्यमें सब लोग बड़े आनन्दसे निर्भय होकर अपने दिन व्यतीत करते थे। राजाके कोई संतान नहीं थी, इसीलिये एक दिन एकान्तमें बैठे हुए उसे इस प्रकारकी चिन्ता हुई, कि—" हाय! मेरे कोई पुत्र नहीं है! विना पुत्रके यह सम्पूर्ण वैभव शून्य है! पुत्रके विना मेरे वीरवंशकी अब कैसे रक्षा हो सकैगी! सचमुच पुत्रके विना संसार निरानन्दमय है, और यह जीवन भी दुःखमय है। इस प्रकारके आन्तरिक दुःखमें मग्न होनेसे राजाकी मुखश्री कुछ मलिन देखकर मंत्रीने पूछा कि, महाराज! उदासीनताका क्या कारण है? यदि हम लोगोंके वशका होगा, तो उसके दूर करनेका प्रयत्न करेंगे! मंत्रीके अधिक आग्रह से इच्छा न रहते भी राजाको अपने हृदयकी व्यथा कहनी पड़ी। बुद्धिमान् मंत्रीने इस दैवाधीन बातको सुनकर निवेदन किया कि, महाराज! सम्पूर्ण सांसारिक सुखोंकी प्राप्ति पुण्यके प्रभावसे होती है। विना पुण्यके उदयके कुछ नहीं होता। इस लिये इसके सिवाय अन्य शरण नहीं है। पुण्य कमाइये, आपकी सब इच्छायें पूर्ण होंगी। मंत्रीके इस प्रकारके सम्बोधनसे राजाको संतोष हुआ, और वह धर्मकृत्योंमें विशेष सावधान होकर राज्य करने लगा।

एक दिन राजा अपनी रानी और मंत्रीको साथ लेकर वनक्रीड़ा करनेके लिये गया। वहां एक सरोवरके समीप मुंजके (कांसके) खेतमें राजा टहल रहा था कि, अचानक उसकी दृष्टि एक बालक पर पड़ी, जो मुंजके पेडोंकी ओटमें पड़ा हुआ, अंगूठा चूस रहा था। उसे देखते ही राजाके हृदयमें प्रेमका संचार हुआ। चटसे बालकको उठा कर वह सरोवरके समीप बैठी हुई रानीके पास आया और उसकी गोदमें बालकको रखकर बोला, प्रिये! देखो यह कैसा प्यारा और सम्पूर्ण श्रेष्ठ लक्षणोंसे संयुक्त बालक है, इसे थोड़े समय हृदय से लगाकर आनन्दानुभवन तो करो। रानी पुत्रको गोदमें ले विहँसकर बोली, नाथ! अभी २ आप यह मनोमोहन बालक कहांसे ले आये? राजाने कहा, मैं इस खेतमें टहल रहा था कि, अचानक एक मुंजके पेड़के नीचे इसपर मेरी दृष्टि जा पड़ी। मंत्रीसे भी राजाने यह सब सच्चा वृत्तान्त कह दिया। उसने सम्मति दी कि, महाराज! यह एक होनहार बालक है। आपके सौभाग्यसे इसकी प्राप्ति हुई है। अब नगरमें चलकर महाराणीका गूढगर्भ प्रगट कीजिये और पुत्रोत्सव मनाइये। ऐसा करनेसे लोगोंको कुछ सन्देह न होगा। समझेंगे कि, महाराणीके पहलेसे गर्भ होगा, परन्तु किसी कारणसे प्रगट नहीं किया गया था। मंत्रीकी सम्मति राजाको पसन्द आई। और फिर नगरमें आकर ऐसा ही किया गया। घर घर बंधनवारें बांधे गये। उत्सव मनाया जाने लगा। राज्यकी ओरसे इच्छित दान बँटने लगा। सारांश—जैसा चाहिये, सम्पूर्ण रीतिसे पुत्रजन्मका उत्सव किया गया। प्रजाको भी संतोष हुआ कि, हमारे पूज्य महाराजकी गोद भर गई।

बालक मुंजके नीचे मिला था, इसलिये राजाने उसका नाम मुंज[1] रख दिया। मुंज राजकुमार दिन दिन बढ़ने लगा। और कुछ दिनोंमें गुरुके पास अध्ययन करके सकलकलाओंमें कुशल हो

---

१ **मुंजका** दूसरा नाम **वाक्पतिराज** अथवा **अमोघवर्ष** भी प्रसिद्ध है। एक ग्रन्थमें **उत्पलराज** भी इन्हींका नाम वतलाया है। **अमोघवर्ष**के विषयमें कई विद्वानोंका मत है कि, यह एक पदवी है। जो एक **चौलुक्य**वंशीय राजाको भी प्राप्त थी।

गया। योग्य वयं प्राप्त होने पर महाराजने रत्नावती नामक एक राजकन्याके साथ उसका विवाह कर दिया। मुंज राजकुमार उसमें रममाण होकर सुखसे कालयापन करने लगा।

इधर कुछ दिनोंमें महाराज सिंहकी रानीने गर्भ धारण किया। और दशवें महीनेमें एक पुत्र प्रसव किया। इसका नाम सिंहल³ (सिन्धुराज) रक्खा गया। इस पुत्रके जन्मका और भी अधिक उत्सव किया गया। महाराज और महारानीको वर्णनातीत सुख हुआ। सिंहलकुमारका विवाह मृगावती नामक राजकन्यासे कर दिया गया।

मृगावती कुछ दिनोंमें गर्भवती हुई। उसके शुभमुहूर्तमें युगल पुत्र हुए। ज्येष्ठका नाम शुभचन्द्र और छोटेका भर्तृहरि रक्खा। बालकपनसे ही इन बालकोंका चित्त तत्त्वज्ञानकी ओर सविशेष था, इसलिये वयः प्राप्त होने पर इन्होंने तत्त्वज्ञानमें अच्छी योग्यता सम्पादन की। ये ही दोनों पीछे से परमयोगी श्रीशुभचन्द्राचार्य और राजर्षि भर्तृहरि हुए।

एक दिनअभ्रपटलोंको रंग बदलते और लुप्त होते हुए देखकर महाराज सिंहको वैराग्य उत्पन्न हो गया। सम्पूर्ण विषयसुखोंको बादलोंके समान क्षणभंगुर जान कर उन्होंने मुंज और सिंहल को राजनीतिसम्बन्धी शिक्षा देकर जिनदीक्षा ले ली। राजा मुंज अपने भाईके साथ सुखपूर्वक राज्य करने लगे।

एक दिन राजा मुंज वनक्रीड़ा से लोट रहे थे कि, उन्होंने मार्गमें एक तेलीको कंधेपर कुदाली रक्खे हुए खड़ा देखा। उसे गर्वोन्मत्ततासे खड़ा देखकर मुंजने पूछा, इस तरह क्यों खड़ा है? उसने कहा कि, मैंने एक अपूर्वविद्या साधी है। उसके प्रभाव से मुझमें इतना बल है कि, मुझे कोई जीत नहीं सकता। यह सुन राजाने घृणायुक्त परिहास से कहा, कि, तेली भी कहीं बलवान् हुए हैं? इसके उत्तरमें तेलीने एक लोहेका दंड बड़े जोरसे जमीनमें गाढ़ दिया और कहा, अच्छा महाराज! आपके सामन्तोंमें यदि कोई वीरताका घमंड रखता हो, तो इस दंडको उखाड़के मेरे बलकी परीक्षा करे। सुनकर मुंजने अपने सैनिकोंकी ओर देखा। इशारा पाते ही सामन्तगण उसे उखाड़ने का प्रयत्न करने लगे। परन्तु किसीसे भी वह रंचमात्र नहीं हिला। तब राजा सिंहल वीरोंकी लज्जा जाते हुए देखकर स्वयं उठ खड़ा हुआ, और एक हाथ से उस लोहदंडको उखाडकर बोला, अच्छा अब मेरा गाड़ा हुआ कोई उखाड़े। ऐसा कहकर उसने एक हाथसे उस लोहदंडको फिर गाड़ दिया। तब तेली बल लगा लगाकर थक गया, परन्तु लोहदंड नहीं उखड़ा। अन्यान्य सामन्त भी अपना २ बल आजमाके देख चुके, पर सफलमनोरथ कोई

---

१ **प्रबंधचिन्तामणि**में मुंजकी स्त्रीका नाम भीमराजाकी कन्या **श्रीमती** लिखा है, यथा—**भीमभूपसुतां सिंहभटेन मेदिनीभुजा। श्रीमतीं सन्महं मुञ्जकुमारः परिणायितः॥**

२ नागपुरके एक **शिलालेख**से, श्वेताम्बरजैनकवि **धनपाल**कृत **तिलकमंजरी**से, **नवसाहसांकचरित**से और **उदयपुरप्रशस्ति**से भोजकी वंशावलीमें सिन्धुराजके पिताका नाम **सीयकदेव, सीयक** अथवा **श्रीहर्षसीयक** प्रगट होता है, **सिंह** किसी भी लेखमें नहीं मिलता। हां सीयकदेवकेपिताका नाम **बैरिसिंह** अवश्य ही प्रसिद्ध है। **एपीग्राफिका इंडिकाके** वोल्यूम १ पृष्ठ २२२–२२५ में सीयकदेवका एक नामान्तर **सिंहदन्त सिंहभट** बतलाया गया है, शायद **सिंहदन्त, सिंहभटको** ही इस कथाके लेखकने संक्षेपरूपमें **सिंह** लिखा हो।

३ **सिंहल** (सिन्धुराज) को कई पाश्चात्य विद्वानोंने मुंजका पुत्र और कई ग्रन्थकारोंने मुंजका बड़ा भाई माना है, परन्तु प्रबन्धचिन्तामणि आदि अनेक ग्रन्थोंके आधारसे यह निश्चय हुआ है कि, सिंहल मुंजका छोटा भाई था। इससे विरुद्ध माननेवालोंका खंडन **सुभाषितरत्नसंदोह**की भूमिकामे विस्तारसे किया गया है।

भी नहीं हुए। अन्तमें राजकुमार शुभचन्द्र और भर्तृहरि दोनोंने मुंजके सम्मुख हाथ जोड़कर कहा, तात! यदि आज्ञा हो, तो हम लोग इस लोहदंडको उखाड़ें। इस पर राजाने विहँसकर कहा, बेटो! तुम लोगोंका यह काम नहीं है। अभी तुम बालक हो, इसलिये अखाड़ेमें जाकर अपनी जोड़ीके लडकोंसें कुश्ती खेलो। बालकों ने कहा, महाराज! सिंहनीके बच्चोंको हाथीका मस्तक विदारण करना कौन सिखलाता है? हम लोग आपके पुत्र हैं। इस दंडको हाथसे उखाड़ना क्या बड़ी बात है। आप आज्ञा देवें, तो विना हाथ लगाये इसको निकालके फेंक सकते हैं। यदि ऐसा न कर सकें, तो आप हमें क्षत्रियपुत्र नहीं कहना। इस प्रार्थनापर भी मुंजने कुछ ध्यान न दिया और उन्हें समझाकर टालना चाहा, परन्तु बालहठ बुरा होता है; अन्तमें आज्ञा देनी ही पड़ी। तब कुमारोंने चोटींके बालोंका फंदा लगाकर देखते देखते एक झटकेमें लोहदंडको निकालके फेंक दिया। चारों ओरसे धन्य धन्यकी ध्वनि गूंज उठी। तेली निर्मद होकर अपनी राह लग गया।

राजतृष्णा बहुत बुरी होती है। बड़े २ विद्वान् इसके फंदेमें पड़कर अनर्थ कर बैठते हैं। उस दिन राजा मुंजको बालकोंका यह कौतुक देखकर विचार हुआ, ओह! इन बालकोंके बलका कुछ ठिकाना है? इनके जीते जी क्या मेरे राज्यसिंहासनकी कुशलता हो सकती है? अवश्य ही जब ये लोग इच्छा करेंगे, मुझे सिंहासनसे च्युत करनेमें देर न लगावेंगे। यदि इस समय इनका निर्मूलन न किया जावेगा, तो राजनीतिकी बड़ी भारी भूल होगी। विषवृक्षके अंकुरको ही नष्टकर डालना बुद्धिमानी है। तत्काल ही मंत्रीको बुलाकर मुंजने अपना विचार प्रगट किया और कहा, शीघ्र ही इनको परलोकका मार्ग दिखानेका प्रयत्न करो। मंत्री सन्न हो गया। छातीपर पत्थर रखकर उसने मुंजको बहुत समझाया कि, यह अनर्थ न कीजिये। राजकुमारोंके द्वारा ऐसी शंका करनेके लिये कोई कारण नहीं दीखता। परन्तु मुंजने एक न सुनी। कहा, राजनीतितत्त्वमें अभी तक तुम अपरिपक्व ही हो। इसमें तुम कुछ विचाराविचार मत करो, और हमारी आज्ञाका पालन करो। मंत्री हृदयमें दुःखी हो "जो आज्ञा" कहकर चला गया। पश्चात् उसने राजाज्ञाकी पालना करनेकी बहुत चेष्टा की, परन्तु उसका हृदय तत्पर नहीं हुआ। एकान्तमें राजपुत्रोंको बुलाकर उसने मुंजके भयंकर विचारको प्रगट कर दिया और उज्जयनी छोड़कर भाग जानेकी सम्मति दी। तब राजकुमारोंने अपने पिता सिंहलके निकट मुंजकी गुप्तमंत्रणा प्रगटकर पूछा, हम लोगोंका अब क्या कर्तव्य है, यह आपको स्थिर करना चाहिये। मुंजके पामर विचारको सुनकर सिंहलका क्रोध उबल उठा। उन्होंने अधीर होके कहा, यदि मुंज ऐसा नीच है, तो तुम क्यों चुप बैठे हो? जाओ और इसके पहले ही कि वह अपने षडयंत्रको कार्यमें परिणत करे, तुम उसे यमलोकको पहुंचा दो। क्योंकि राजनीतिमें "**हनिये ताहि हनै जो आपू**" ऐसा कहा है। इसपर तत्त्वविशारद उदार-हृदय राजकुमारोंने कहा, तात! यह कृत्य हमलोगोंके करने योग्य नहीं हैं। वे हमारे आपके समान ही पूज्य पितृव्य हैं। हम उन्हें मारकर अपयशकी गठड़ी अपने सिर नहीं रखना चाहते। और कितनेसे जीवनके लिये यह कृत्य करें? उन्हें उनके पापोंका बदला स्वयं मिल जावेगा। हम उसका प्रयत्न करके आपको दोषी क्यों बनावें? वे शायद अपनेको अमर समझते हैं, परन्तु हम इस शरीरको क्षणस्थायी माननेवाले हैं। इसलिये अब हम सब झंझटोंसे मुक्त होकर इस शरीरसे कुछ आत्मकृत्य करना चाहते हैं। संसारमें कोई किसीका नहीं है, सब अपने २ मतलबके सगे हैं। यह बुद्धिमान पुरुषोंके सेवन करने योग्य नहीं है। इत्यादि विचार प्रगट करके दोनों भाई वहांसे चल दिये। पिता स्नेहार्द्र नेत्रोंसे उन्हें देखते ही रह गये।

महामति शुभचन्द्रने किसी वनमें जाकर एक मुनिराजके निकट जिनदीक्षा ले ली और तेरह प्रकारके चारित्रका पालन करते हुए उन्होंने घोर तप करना प्रारंभ किया। परन्तु भर्तृहरिने एक कौल (तंत्रवादी) तपस्वीके निकट जाकर उसकी सेवामें मन लगाया। उसकी दीक्षा ले ली। जटा रख ली, शरीरमें भस्म रमाली, कमंडलु चीमटा ले लिया और कंदमूलसे उदरपोषणा प्रारंभ कर दी। एक जंगलमें भूलकर वे एक स्थानमें पहुंचे, जहां एक योगी समाधि लगाये हुए पंचाग्नि तप रहा था। उसे विशेषज्ञ जानकर इन्होंने चेला बननेकी प्रार्थना की। उसने यह जानकर कि, यह एक राजपुत्र है, चेला बना लिया और कहा, मेरे पास बहुत सी विद्यायें हैं, तुम्हें जो चाहिये, प्रसन्नतासे सीखो। तबसे ये उसीके पास रहने लगे, और अपनी सेवासे प्रसन्नकर उससे विद्या सीखने लगे। बारह वर्ष रहकर भर्तृहरिने बहुत सी विद्या मंत्र यंत्र तंत्र सीखकर वहांसे चलनेका मानस किया। तब योगीने एक सतविद्या और रसतुंबी देकर जिस रसके संसर्गसे तांबा सुवर्ण हो जाता था, जानेकी आज्ञा दे दी। भर्तृहरि प्रणाम करके वहांसे चल दिये और एक स्वतंत्र स्थानमें आसन जमा कर रहने लगे। वहां उनके सैकड़ों शिष्य हो गये, और तनमनसे सेवा करने लगे। रसतुंबीके प्रभावसे वहां उन्हें सब प्रकारके सुख सुलभ हो गये।

एक दिन उन्हें अपने भाईकी चिन्ता हुई कि, वे कहां रहते हैं, और किस प्रकार सुख दुःखसे अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इसलिये अपने एक शिष्यको उन्होंने शुभचन्द्रकी खबर लानेके लिये भेजा। वह शिष्य अनेक जंगलोंकी राख छानता हुआ वहां पहुंचा, जहां श्रीशुभचन्द्र मुनि तपस्या करते थे। देखा, उनके शरीरमें एक अंगुलभर वस्त्र भी नहीं हैं, और कमंडलुके सिवाय कुछ परिग्रह नहीं है। शिष्यजी दो दिन रहे, सो दो उपवास करना पड़े! वहां कौन पूछनेवाला था कि, भाई! तुम भोजन करोगे या नहीं। आखिर तीसरे दिन प्रणाम करके वहांसे चले आये। अपने गुरुदेवसे आकर कहा, महाराज! आपके भाई बड़े कष्टमें हैं। और तो क्या चार अंगुल लंगोटी भी उनके पास नहीं है। खाने पीनेके लिये कुछ प्रबंध नहीं है। मैं स्वयं वहां दो उपवास करके आया हूं। आपको चाहिये कि, उन्हें कुछ सहायता पहुंचावे; जिसमें वे उक्त घोर दारिद्रसे मुक्त हो जावें। यह सुनकर भर्तृहरिको बहुत दुःख हुआ। उन्होंने उसी समय तुंबीमेंसे आधा रस दूसरी तुंबीमें करके उसी शिष्यको दिया, और कहा, भाईको यह दे देना और कहना कि, अब इस रससे मनोवांछित सुवर्ण तयार करके दारिद्र्यसे मुक्त हो जाओ और सुख चैनसे रहो। चेला तत्काल ही वहांको रवाना हो गया। मुनि राजशुभचन्द्रके समीप जाकर उसने रसतुम्बी समर्पण की और उसका गुण वर्णनकरके भाईका संदेशा कह सुनाया। मुनिराजने कहा, अच्छा, इसे पत्थरपर डाल दो। शिष्य आश्चर्यचकित हो बोला, महाराज! यह क्या? ऐसी अपूर्व वस्तुको आप यों ही व्यर्थ क्यों खोते हैं? उन्होंने कहा, तुम्हें इससे क्या? जब तुम हमें दे चुके हो, तो हम कुछ भी करें। जो ऐसा नहीं है, तो ले जाओ। अपने गुरुको वापिस दे देना, हमको नहीं चाहिये। चेला वड़ी चिन्तामें पड़ा। अन्तमें यह सोचकर कि, "रस वापिस ले जाऊंगा, तो गुरुजी अप्रसन्न होंगे जब इन्हें दिया जा चुका है; तो ये चाहे जो करें मुझे इससे क्या? इनका भाग्य ही ऐसा है, जो यह मूर्खता सूझी है" चेला रस पत्थरपर डालकर अपने गुरुके पास लौट गया। जाके सब समाचार कहे। सुनकर भर्तृहरिको बहुत दुःख हुआ। परन्तु यह विचार करके कि, शायद इस चेलाने उनसे रसका गुण यथार्थ नहीं कहा होगा, इससे उन्होंने रस फिंकवा दिया होगा; वे अपने अनेक चेलोंको लेकर स्वयं शुभचन्द्रजीसे मिलनेको चले। साथमें बचा हुआ आधी तुंबी रस भी ले लिया। वहां

पहुँचकर श्री शुभचन्द्रमुनिको बडी नम्रतासे नमस्कार कर कुशलप्रश्न किया। पश्चात्, वह रसतुंबी भेंट स्वरूप आगे रख दी। मुनिने पूछा, इसमें क्या है?

भर्तृहरि—इसमें रस-भेदी रस है। इसके स्पर्शसे तांबा सुवर्ण हो जाता है। बड़े परिश्रमसे यह प्राप्त हुआ है।

शुभचन्द्र—(तुंबीको पत्थरकी शिलापर मारके) भाई! यह पत्थर तो सुवर्णका नहीं हुआ। इसका गुण पत्थरमें लगनेसे कहां भाग गया?

भर्तृहरि—(विरक्त होकर) यह आपने क्या किया? मेरी बारह वर्षकी कमाई आपने नष्ट कर दी। मै ऐसा जानता; तो आपके पास नहीं आता। तुंबीको फोड़कर आपने बुद्धिमानीका कार्य नहीं किया है। भला, आप अपनी भी तो कुछ कला दिखाइये कि, इतने दिनोंमें क्या सिद्धि प्राप्त की है?

शुभचन्द्र—भैया! क्या तुम्हें अपने रसके नष्ट होनेका इतना रंज हुआ है? भला, इस सुवर्णके कमानेकी ही इच्छा थी, तो घर द्वार किस लिये छोड़ा था? क्या वहां सुवर्ण रत्नोंकी न्यूनता थी। अरे मूर्ख! क्या इस सांसारिक दुःखकी निर्वृत्ति इन मंत्र जंत्रों अथवा रसोंसे हो जावेगी? तेरा ज्ञान कहां चला गया, जो एक जरासे रसके लिये विवाद करके मेरी कला जानना चाहता है। मुझमें न कोई कला है, और न जादू है। तौ भी तपमें वह शक्ति है कि, अशुचिकी धारसे यह पर्वत सुवर्णमय हो सकता है।

इतना कहकर शुभचन्द्रने अपने पैरके नीचेकी थोड़ी सी धूल उठाकर पासमें पड़ी हुई उसी शिलापर डाल दी। डालते ही वह विशाल शिला सुवर्णमय हो गई। यह देखकर भर्तृहरि अवाक हो गये। चरणोंपर गिरके बोले, भगवन्! क्षमा कीजिये। अपनी मूर्खतासे आपका माहात्म्य न जानकर मैंने यह अपराध किया है। सचमुच मैंने इन मंत्रविद्याओंमें फँसकर अपना इतना समय व्यर्थ ही खो दिया और पापोपार्जन किये। अब कृपा करके मुझे यह लोकोत्तर दीक्षा देकर अपने समान बना लीजिये, जिसमें इस दुःखमय संसारसे हमेशाके लिये मुक्त होनेका प्रयत्न कर सकूं।

भर्तृहरिको इस प्रकार उपशान्तचित्त देखकर श्रीशुभचन्द्रमुनिने विस्तृतरीतिसे धर्मोपदेश दिया। सप्ततत्त्व नवपदार्थोंका वर्णन करके उनके हृदयके कपाट खोल दिये। तब भर्तृहरि उसी समय उनके समीप दीक्षा लेकर दिगम्बर हो गये। इसके पश्चात्, भगवान् शुभचन्द्रने उन्हें मुनि मार्गमें दृढ होनेके लिये तथा योगका अध्ययन करानेके लिये ज्ञानार्णव (योगप्रदीप) ग्रन्थकी रचना की, जिसे पढ़कर भर्तृहरि परमयोगी हो गये[1]।

आचार्य विश्वभूषणकृत भक्तामरचरित्रकी पीठिकामें शुभचन्द्रजीके विषयमें उक्त कथा मिलती है। महाराज सिंहलके विषयमें इतना कहनेको और रह गया कि, राजामुंज राज्यतृष्णा और असूयासे उन्हें भी मारनेका प्रयत्न करने लगा। एकबार एक मदोन्मत्त हाथी उनपर छोड़ा, परन्तु उसे उन्होंने वशमें कर लिया। अन्तमें एक दासीके द्वारा जो तैलमर्दन करती थी, सिंहलके नेत्र फुड़वा कर वह तृप्त हुआ। उसी समय सिंहलके प्रसिद्ध पण्डितमान्य और यशस्वी भोजकुमारने जन्म लिया। जिससे

१ उज्जयनीके पास एक **भर्तृहरि** नामकी गुफा है। कहते हैं। भर्तृहरिने उसी गुफामें घोर तपस्या की थी।

२ श्रीमेरुतुंगसूरिने भी सिन्धुलके नेत्र फुडवानेकी बात लिखी है। परन्तु उसमें भी सिंधुलकी उद्दंडताके सिवाय और कोई कारण नहीं लिखा। एकवार मुंजने सिंधुलको अपने देशसे इसी उद्दंडताके कारण निकाल भी दिया था। भोजको मारनेके लिये भेजनेकी और फिर उसका लिखा हुआ **मान्धाता स महीपतिरित्यादि** श्लोक पढकर उसके लिये पश्चात्ताप करनेकी बात भी मेरुतुंगसूरिने लिखी है।

वे अपनी अन्धावस्थाके दुःखको कुछेक भूल गये। सिंहलके अन्धे होनेका पीछेसे मुंजने बहुत पश्चात्ताप किया, और भोजको अपने पुत्रके समान मानकर जब वह सर्वकलाकुशल हुआ तब उसे राज्यसिंहासनपर आरूढ़ करके आप एकान्तमें सुखसे कालयापन करने लगा। इत्यलम्।

अनुवादककी प्रार्थना।

पाठक महाशय! इस ग्रन्थका जैसा महान् नाम है, वैसा ही यह ग्रन्थ भी महान् है। यह ज्ञानका अर्णव अर्थात् समुद्र और योगमार्गको सुझानेवाला प्रदीप अर्थात् उत्कृष्ट दीपक है। इसलिये इसका अनुवादन शोधनादि करना भी किसी बड़े विद्वान्का काम था,। परन्तु **श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडलके** व्यवस्थापकोंका अत्याग्रह होनेके कारण मुझ अल्पज्ञको यह कार्य करना पड़ा है। तौ भी इसमें मेरी स्वयंकृति कुछ भी नहीं है। स्वर्गीय पंडितवर जयचन्द्रराय (जयपुरनिवासी) जीकी ढूंढारी भाषाटीकाका यह अनुकरणमात्र है। खुशीकी बात यह है कि, स्वयं पंडित जयचन्द्ररायजीके द्वारा लिखाई हुई और खास उनकी शोधी हुई प्रथम प्रतिसे हमने यह ग्रन्थ लिखा है। उनकी शोधी हुई प्रतिकी शुद्धताके विषयमें कहनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं है। स्वयं टीकाकारकी हाथकी प्रति शुद्ध होनी ही चाहिये। इसके सिवाय मूल संस्कृतग्रन्थकी प्रति भी मैंने दो संग्रह की थीं, जो प्रायः शुद्ध थीं। परन्तु इतने पर भी मुझे खेद है कि, यह ग्रन्थ जैसा शुद्ध छपना चाहिये था, वैसा नहीं छपा। प्रमाद तथा अन्यमनस्कताके कारण अनेक अशुद्धियां रह गई हैं, जिन्हें ग्रन्थके अन्तमें एक शुद्धिपत्रमें लिख दी हैं। सज्जन महाशयोंको चाहिये कि, उसके अनुसार पहले ग्रन्थ शुद्ध कर लेवें, पीछे स्वाध्याय करैं।

शुद्धिपत्रके अतिरिक्त **तत्त्व-तत्व, ब-व, श-स, स-श, महत्त्व महत्व, ज्ञानार्णवम्-ज्ञानार्णवः, यह-ये,** और **पदच्छेदकी** अनेक छोटी २ अशुद्धियां रह गई हैं। परन्तु वे ऐसी नहीं है, जिनसे कुछ अर्थविपर्य्याय हो। इसलिये उन्हें शुद्धिपत्रमें देनेकी आवश्यकता नहीं देखी। पाठकगण क्षमा करें। मूल श्लोकोंमें पादान्त अनुस्वारको म् करना चाहिये, परन्तु मैंने जानबूझकर कहीं २ अनुस्वार ही लिखा है, क्योंकि हमारे शर्ववर्मजैनाचार्यप्रणीत कलापव्याकरणके '**विरामे वा**' सूत्रसे ऐसा करना अशुद्ध नहीं है। सिवाय इसके मैं उच्चारणके अनुसार कहीं २ नहीं के स्थानमें नहिं लिखना उचित समझता हूं, इसलिये इस ग्रन्थमें भी ऐसा ही किया है। अनेक सज्जन इसके विरोधी हैं, परन्तु, मैं उन्हें भेडियाधसानका पक्षपाती समझता हूं, उच्चारणका नहीं।

इस ग्रन्थमें बहुतसे श्लोक उक्तं च कहकर ग्रन्थान्तरोंसे लिखे गये मालूम होते हैं, इसलिये मैंने उन्हें ग्रन्थसंख्यामें शामिल नहीं किया है, क्योंकि मूल ग्रन्थसे वे पृथक् हैं।

अन्तमें इस ग्रन्थके संशोधन कार्यमें सहायता देनेवाले श्रीयुत पंडितवर्य रघुवंशजी शास्त्रीका तथा प्रस्तावना लेखक कविवर भाई नाथूराम प्रेमीका हृदयसे उपकार मानकर मैं अपनी प्रार्थनाको समाप्त करता हूं।

बम्बई २९—७—०७.

जैनसमाजका हितैषीदास—
पन्नालाल बाकलीवाल।

---

१ तैलंग देशके राजा तैलिपदेवकी कैदमें जाकर राजा मुंज उसीके द्वारा मारा गया। तैलिपदेवकी विधवा बहिन मृणालवतीके साथ अनुचित प्रेम करनेके कारण उसे यह सजा मिली। भर्तृहरि शुभचन्द्रका वाक्य सिद्ध हो गया कि, वे अपने पापोंका फल स्वयं पा लेंगे।

अथ ज्ञानार्णवस्य विषयानुक्रमणिका ।



इति विषयानुक्रमणिका समाप्ता ।

सूचना—ज्ञानार्णव पृष्ठ ३८९ में जो हमने अनाहतका स्वरूप लिखनेकी प्रतिज्ञा की है । तदनुसार अनाहतका लक्षण व आकार यहां लिखते हैं ।

अनाहतका लक्षण.

ऊँबिन्द्वाकारहरोर्द्ध्वरेफाबिन्द्वानवाक्षरम् ।
मालाधःस्यन्दि पीयूषबिन्दुं विदुरनाहतम् ॥ १ ॥



अनाहतका आकार

इसमें निम्न लिखित नौ ९ अक्षर मिले हुए हैं.

१ ऊँकार, २ अनुस्वार. ३ ईकार. ४ ऊर्द्ध्वरेफ. ५ हकार.
६ हकार. ७ निम्न रेफ. ८ अनुस्वार. ९ ईकार.

यह अनाहतका लक्षण व आकार हमको श्रीजवाहरलालजी शास्त्रीने बडे परिश्रमसे प्रतिष्ठाविधिसंबंधी पुस्तकोंमेंसे निकालकर बतलाया है, इस लिये हम उनके कृतज्ञ हैं ।

अनुवादक.



रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला.

श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचितम्

ज्ञानार्णवम् ।

भाषानुवादसहितम् ।



दोहा ।

करमघातिया[1] नाश करि, केवललक्ष्मी पाय ।
नाशि अघाति लई मुकति, बन्दों तिनके पाय ॥ १ ॥
परमागम केवलिकथित, गणधरगूंथित सार ।
ताकों बन्दों भावजुत, पाऊं ज्ञान उदार ॥ २ ॥
गुरु गौतमको आदि दै, भये पंचमैं काल ।
तिनिके पदकूं बंदि करि, तजूं सकल जंजाल ॥ ३ ॥
देवशास्त्रगुरु बंदि करि, ज्ञानार्णवश्रुत देखि ।
करूं वचनिका देशमय, भव्यजीव हित पेखि ॥ ४ ॥

मंगलाचरणम्.

ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेषप्रभवानन्दनन्दितम्[2] ।
निष्ठितार्थमजं नौमि परमात्मानमव्ययम् ॥ १ ॥

अर्थ—आचार्यवर्य कहते हैं कि—मैं परमात्माको नमस्कार करता हूं, परा=उत्कृष्ट—मा=लक्ष्मी–जिस आत्माको होय सो परमात्मा है, इस विशिष्ट गुणके धारक अरहन्त तथा सिद्ध भगवान् ही हैं । सो परमात्मा कैसा है ? ज्ञानकी जो लक्ष्मी अर्थात् समस्तपदार्थोंका जानना तथा वीतरागतारूप लक्ष्मीके दृढ आलिंगनसे (एकरूपतासे) उत्पन्न हुए आनंदसे (परम अतीन्द्रिय अनन्त सुखसे) आनन्द स्वरूप है । इस विशेषणसे अन्यमती परमात्माके स्वरूपका भिन्न प्रकारसे वर्णन करते हैं, अतः उनसे विभिन्नता दिखाई है । अर्थात् कई वैष्णव तो " परमात्मा परब्रह्म है और सर्व व्यापक है । अतएव जितने स्त्रीके स्वरूप हैं, वे तो पर-

१ भाषाटीकाकार पं० जयचन्द्रजीका मंगलाचरण । २ श्लोक अनुष्टुप् ।

मात्माकी शक्तिक रूप हैं और जितने पुरुषके स्वरूप हैं, वे सब परमात्माके रूप हैं। इसप्रकार लक्ष्मी और परमात्माके संयोगरूप दृढ आलिंगनसे परमात्माको सुख होता है।" ऐसी कपोलकल्पना करके उसका व्यवहार करते हैं। और कोई २ तो **श्रीराम** ऐसी संज्ञा रखकर स्त्री पुरुषका आकार (मूर्ति) स्थापनकर पूजते तथा ध्यान करते हैं। कोई २ **लक्ष्मीनारायण** कहते हैं, कोई **राधाकृष्ण** कहते हैं, और कोई **गोपीनाथ** कहते हैं। तथा कई एक शिवमती **पार्वती**का स्थापन करते हैं। कोई २ केवल **शिवजी**के लिंग तथा **पार्वती**की जननेन्द्रियको ही स्थापनकर पूजते हैं। सो इनके माने हुए स्वरूपको तो **ज्ञानलक्ष्मी** शब्दसे निराकरण किया। नैयायिक कहते हैं कि—"ज्ञान और आत्मा भिन्न २ पदार्थ हैं और इनकी एकता जो समवायनामक एक भिन्न पदार्थ है, सो करता है"। परन्तु भिन्न पदार्थकी की हुई एकता कदापि नहिं हो सकती, क्योंकि एकता तो तादात्म्यरूप होती है, सो हीं होती है। इस कारण **घनाश्लेष**के कहनेसे उन नैयायिकोंकी कल्पनासे भी भिन्नता दिखाई है। सांख्यमती प्रकृति और पुरुषका संयोग होनेसे आत्माको ज्ञानसुख होना कहते हैं, सो इनसे भी ज्ञानलक्ष्मीके दृढ आलिंगन अर्थात् तादात्म्य भावसे ही सुख होता है, इस प्रकार भिन्नता दिखाई है। एवम् अन्यान्य मतवाले जो परमात्माको अन्यप्रकार कहते हैं, उन सबका भी निराकरण इसी विशेषणसे जानना चाहिये; क्योंकि परमात्माके ज्ञानानन्दरूपतासे परमानन्द है अन्य प्रकारसे नहीं है। फिर कैसा है परमात्मा? निष्ठित परिपूर्ण हो गये हैं, अर्थ प्रयोजन जिसके, ऐसा कृतकृत्य है। इस विशेषणसे जो नैयायिक कहते हैं कि, परमात्मा वा ईश्वर है सो समस्त कार्यका कर्ता है अर्थात् सृष्टिको बनाता वा विगाड़ता रहता है, सो इस मान्यताका खंडन किया है। क्योंकि जो कुछ भी कार्य करता रहता है, वह कृतकृत्य कदापि नहिं हो सकता। फिर कैसा है वह परमात्मा? कि—अज है, अजन्मा है, अर्थात् उसका कभी जन्म नहिं होता। इस विशेषणसे जो राम कृष्ण आदि परमात्माके अवतारोंको मानते हैं, उनकी कल्पनाका निषेध किया है। क्योंकि परमात्माका फिर कभी संसारमें जन्म नहिं होता। फिर कैसा है परमात्मा? अव्यय कहिये नाशरहित अर्थात् अविनाशी है। इस विशेषणसे जो कोई परमात्माका नाश मानते हैं, तथा सर्वथा अभाव ही मानते हैं; उनकी कल्पनाको मिथ्या ठहराया है। इस प्रकार इन चार विशेषणोंके सहित समस्तमतोंसे भिन्न जैसा यथार्थ स्वरूप परमात्माका है, उसे प्रकट करके आचार्य महाराजने नमस्काररूप मंगलाचरण किया है। अन्यमती जो कल्पना करके कहते हैं, सो यथार्थ नहीं है। और जो अयथार्थ हैं सो वस्तु नहीं है, तथा अवस्तुको नमस्कार करना योग्य नहीं है॥

यहां कोई अन्यमती प्रश्न करे कि—"हम भी तो परमात्मा इन ही विशेषणोंके सहित

कहते हैं, सो यथार्थ क्यों नहीं है ? हम परमात्माको समस्त जगत्की मायासे पृथक् मानते हैं"—उसका यह उत्तर है कि,—

तुम जो ऐसा कहते हो, सो एकान्तपक्षसे कहते हो। वस्तुका स्वरूप सर्वथा एकान्तरूप प्रमाणसिद्ध नहीं है, क्योंकि वस्तुका स्वरूप जो अनेकान्तात्मक है, वही सत्यार्थ है। इसकी चर्चा बाधा निर्बाधास्वरूप जैनके प्रमाण नयके कथन करनेवाले स्याद्वादरूप जो अनेक शास्त्र हैं, उनसे जाननी चाहिये। यहां इतना ही अभिप्राय जानना कि, सामान्यतासे तो परमात्माको समस्त मतवाले मानते हैं, परन्तु उसके स्वरूपमें विवाद है। और समस्त मतावलंबी परस्पर विधिनिषेध करते हैं, उनके विरोधको जैनियोंका स्याद्वादन्याय दूरकरके यथार्थ स्वरूपको स्थापन करता है। वही स्वरूप भव्यजीवोंके श्रद्धान तथा नमस्कार करने योग्य है।

यहां कोई प्रश्न करे कि, परमात्मामें नमस्कार करनेकी योग्यता कैसे है ? इसका उत्तर यह है,—

यह जीवनामा पदार्थ निश्चयनयसे स्वयं ही परमात्मा है, किन्तु अनादिकालसे कर्माच्छादित होनेके कारण जबतक अपने स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती है, तबतक इसको जीवात्मा कहते है। जीव अनेक हैं, इस कारण जो जीव कर्म काटकर परमात्मा अर्थात् सिद्ध हो गये हैं; यदि उनका स्वरूप जान उन्हींके ऐसा अपना भी स्वरूप जानै तो उनके स्मरण ध्यानसे कर्मोंको काटकर जीवात्मा स्वयम् उस पदको प्राप्त होता है। अतः जबतक कर्म काटकर उनके ऐसा न होय, तब तक उस परमात्माके स्वरूपको नमस्कार करना आवश्यक है, तथा उसका स्मरण ध्यान करना भी उचित है।

आगे आचार्य इष्ट देवका नाम प्रकाश करके नमस्कार करते हैं। प्रथम ही इस कर्मभूमिकी आदिमें आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेवजी हुए हैं, इसलिये उनको नमस्कार करते हैं,—

भुवनाम्भोजमार्त्तण्डं धर्मामृतपयोधरम् ।
योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम् ॥ २ ॥

अर्थ—मैं (शुभचन्द्राचार्य) वृषध्वज कहिये वृषका है ध्वज अर्थात् चिह्न जिसको, अथवा वृष कहिये धर्मकी ध्वजास्वरूप श्री ऋषभदेव आदि तीर्थंकरको नमस्कार करता हूं। कैसा है ऋषभदेव ? देवदेव कहिये चार प्रकारके देवोंका देव है। इस विशेषणसे समस्त देवोंके द्वारा पूज्यता दिखाई। फिर कैसा है ? भुवन कहिये लोकरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यसमान है। इस विशेषणसे भगवान्के जन्मकल्याणकमें अनेक अतिशय चमत्कार हुए, उनसे लोकमें प्रचुर आनंद प्रवर्त्ता ऐसा जनाया है। फिर कैसा है प्रभु ? धर्मरूपी अमृत वर्षानेको मेघके समान है। इस विशेषणसे केवलज्ञानप्राप्तिके

पश्चात् दिव्यध्वनिसे अभ्युदय निश्रेयस्का मार्ग धर्म प्रवर्त्तना प्रगट किया है । फिर कैसा है प्रभु ? योगीश्वरोंको मनोवांछित फल देनेकेलिये कल्पवृक्षके समान है । इस विशेषणसे योगीश्वरोंको मोक्षमार्गके साधनेवाले ध्यानकी वांछा होती है, सो उनको यथार्थ ध्यानका मार्ग बतानेवाला है, अर्थात् जो ध्यान हम करते हैं, वही ध्यान तुम करो; इस प्रकार परंपराय ध्यानका मार्ग जानकर योगीश्वरगण अपनी बांछाको पूर्ण करते हैं, ऐसा आशय जनाया है ॥ २ ॥

आगे आचार्य अपने नामके निमित्तसे स्मरणमें आये हुए अष्टम तीर्थंकर श्रीचन्द्रप्रभदेवको प्रार्थनारूप वचन कहते हैं,—

भवज्वलनसंभ्रान्तसत्त्वशान्तिसुधार्णवः ।
देवश्चन्द्रप्रभः पुष्यात् ज्ञानरत्नाकरश्रियम् ॥ ३ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, चन्द्रप्रभदेव हैं, सो ज्ञानरूप समुद्रकी लक्ष्मीको पुष्ट करो। कैसे हैं चन्द्रप्रभदेव ? संसाररूप अग्निमें भ्रमते हुए जीवोंको अमृतके समुद्रके समान हैं । **भावार्थ**—यहां रूपकालंकारकी अपेक्षासे कहा है कि, चन्द्रप्रभदेव चन्द्रमास्वरूप हैं। जैसे चन्द्रमा समुद्रको बढानेका कारण होता है, भगवान् भी ज्ञानरूपी समुद्रको बढानेकेलिये एक कारण हैं। अतः इसी कारण यह प्रार्थना की है । तथा इस ग्रंथका नाम '**ज्ञानार्णव**' रक्खा है, सो इसकी पुष्टताकेलिये भी प्रार्थना की है। और जगतके प्राणी संसारतापसे तप्तायमान हो रहे हैं; उनकेलिये चन्द्रप्रभभगवान् चन्द्रमाके समान हैं। तथा ज्ञानरूपी अमृतकी वर्षा करके तापको मिटानेवाले हैं ॥ ३ ॥

आगे विघ्नको नष्टकरके शान्ति करनेमें सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ भगवान् कारण हैं, इस कारण उनको नमस्कार करते हैं,—

सत्संयमपयःपूरपवित्रितजगत्त्रयम् ।
शान्तिनाथं नमस्यामि विश्वविघ्नौघशान्तये ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, मैं समस्त विघ्नोंके समूहकी शान्तिकेलिये श्रीशान्तिनाथ तीर्थंकर भगवान्‌को नमस्कार करता हूं। कैसे हैं प्रभु ? सम्यक्चारित्ररूप जलके प्रवाहसे पवित्र किया है जगतका त्रय जिनने—ऐसे हैं । **भावार्थ**—शान्ति कार्योंमें शान्तिनाथ तीर्थंकरको प्रधान मानते हैं, इस कारण शास्त्रकी आदिमें विघ्ननिवारणार्थ उनको नमस्कार करना युक्त है। तथा चक्रवर्तिपदको त्यागकर संयम ग्रहण किया, इस कारण अन्य जनोंके संयमकी रुचि उत्पन्न करके उन्हें पवित्र किया, इस हेतुसे भी यह विशेषण युक्त है ॥ ४ ॥

आगे अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमान भट्टारकको प्रार्थनारूप वचन कहते हैं,—

श्रियं सकलकल्याणकुमुदाकरचन्द्रमाः ।
देवः श्रीवर्द्धमानाख्यः क्रियाद्भव्याभिनन्दिताम् ॥ ५ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, श्रीवर्द्धमान नामा अन्तिम तीर्थंकर देव हैं, सो भव्य पुरुषोंकर प्रशंसित और इच्छित लक्ष्मीको करो। कैसे हैं प्रभु? समस्त प्रकारके कल्याणरूपी चन्द्रवंशी कमलोंके समूहको प्रफुल्लित करनेकेलिये चन्द्रमाके समान हैं। **भावार्थ** भगवान् समस्त कल्याणोंसे परिपूर्ण हैं, समस्त विघ्नोंको विनाश करनेवाले हैं। और इस कालमें जिनके वचन मोक्षमार्गके उपदेशरूप प्रवर्ते हैं, ऐसे भगवान्से वांछित लक्ष्मीकी प्रार्थना करना युक्त है ॥ ५ ॥

आगे ध्यानकी सिद्धिके अर्थ श्रीगोतमगणधरको नमस्कार करते हैं,—

श्रुतस्कन्धनभश्चन्द्रं संयमश्रीविशेषकम् ।
इन्द्रभूतिं नमस्यामि योगीन्द्रं ध्यानसिद्धये ॥ ६ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, योगियोंमें इन्द्रके समान इन्द्रभूति कहिये श्रीगोतम नामक गणधर भगवान्को ध्यानकी सिद्धिके अर्थ नमस्कार करता हूं। कैसे हैं इन्द्रभूति? श्रुतस्कन्ध कहिये द्वादशांगरूप शास्त्र, सो ही हुआ आकाश, उसमें प्रकाश करनेके अर्थ चन्द्रमाके समान हैं। फिर कैसे हैं? संयमरूपी लक्ष्मीको विशेष करनेवाले हैं। **भावार्थ**—श्रीगोतमगणधरने श्रीवर्द्धमानस्वामीकी दिव्यध्वनि सुनकर द्वादशांगरूप शास्त्रकी रचना की, और आप संयम पाल और ध्यान करके मोक्षको पधारे। पश्चात् उनसे ध्यानका मार्ग प्रवर्त्ता। इस कारण उनको इस ध्यानके (योगके) ग्रंथकी आदिमें नमस्कार करना युक्त समझके नमस्कार किया है ॥ ६ ॥

आगे सर्वज्ञके स्याद्वादरूप शासनको आशीर्वादरूप वचन कहते हैं,—

प्रशान्तमतिगम्भीरं विश्वविद्याकुलगृहम् ।
भव्यैकशरणं जीयाच्छ्रीमत्सर्वज्ञशासनम् ॥ ७ ॥

अर्थ—श्रीमत कहिये निर्बाध लक्ष्मीसहित जो सर्वज्ञका शासन (आज्ञामत) है, सो जयवन्त प्रवर्त्तो। कैसा है सर्वज्ञका शासन? व्याकरण, न्याय, छन्दो, अलंकार, साहित्य यन्त्र, मंत्र, तन्त्र, ज्योतिष्, वैद्यक, निमित्त, और मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति आदि विद्याओंके वसनेका कुलगृह है; तथा भव्य जीवोंको एक मात्र अद्वितीय शरण है। प्रशान्त है, तथा समस्त आकुलता और क्षोभका मिटानेवाला है, अतएव अति गंभीर है। मन्दबुद्धि प्राणी इसका थाह नहीं पा सकते। **भावार्थ**—सर्वज्ञका मत समस्त जीवोंका हित करनेवाला है, सो जयवन्त प्रवर्तो, ऐसा आचार्य महाराजने अनुरागसहित आशीर्वाद दिया है ॥ ७ ॥

आगे सत्पुरुषोंकी वाणी जीवोंके उपकारार्थ ही प्रवर्तती है, ऐसा कहते हैं,—

प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च ।
सम्यक्तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्त्तते ॥ ८ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी उत्तम वाणी जो है, सो जीवोंके प्रकृष्टज्ञान, विवेक, हित, प्रशमता और सम्यक् प्रकारसे तत्त्वके उपदेश देनेके अर्थ प्रवर्त्तती है। **भावार्थ**—यहां प्रकृष्टज्ञानका अभिप्राय पदार्थोंका विशेषरूप ज्ञान होना है, और विवेक कहनेसे आपापरके भेद जाननेका अभिप्राय लेना चाहिये, क्योंकि पदार्थोंके ज्ञान विना आपापरका भेद ज्ञान कैसे हो? एवम् पदार्थोंका ज्ञान आपापरके ज्ञान विना निष्फल है। तथा हित-शब्दका अभिप्राय सुखका कारण समझना, क्योंकि भेदविज्ञान भी हो, उसमें सुख नहिं उपजै तो भेदज्ञान कैसा? तथा प्रशम कहनेका अभिप्राय कषायोंका मंद होना है, सो जिस वाणीसे कषाय मंद (उपशम भावरूप) न हों, वह वाणी दुःखकी कारण होती हैं, उसे ग्रहण करना योग्य नहीं है। तथा सम्यक्तत्वोपदेशका अर्थ यथार्थ तत्वार्थके उप-देश का जानना है। जिसमें मिथ्या तत्वार्थका उपदेश हो, वह वाणी सत्पुरुषोंकी नहीं है। इस प्रकार पांच प्रयोजनोंकी सिद्धिके अर्थ सत्पुरुषोंकी वाणी होती है। यहां यह आश-य भी ज्ञात होता है, कि, हम जो यह शास्त्र रचते हैं, सो सर्वज्ञकी परंपरासे जो उपदेश चला आता है, वह ही समस्त जीवोंका हित करनेवाला है, उसीके अनुसार हम भी कहते हैं। सो इसमें भी उक्त पांच प्रयोजनोंको विचार लेना, और जो इन पांच प्रयोजनोंके अतिरिक्त वचन हों सो सत्पुरुषोंके वचन न जानने ॥ ८ ॥

आगे इसी अभिप्रायको अन्य प्रकारसे कहते हैं,—

तच्छ्रुतं तच्च विज्ञानं तद्ध्यानं तत्परं तपः ।
अयमात्मा यदासाद्य स्वस्वरूपे लयं व्रजेत् ॥ ९ ॥

अर्थ—वही शास्त्रका सुनना है, वही चतुराईरूप भेद विज्ञान है। वही ध्यान वा तप है; जिसको प्राप्त होकर यह आत्मा अपने स्वरूपमें लवलीन होता है। **भावार्थ**—आत्माका परमार्थ (हित) अपने स्वरूपमें लीन होना है, सो जो शास्त्र पढना, सुनना, भेदज्ञान करना, ध्यान करना, महान् तप करना, तथा स्वरूपमें लीन होनेका कारण होता है, वही तो सफल है, अन्य सब निष्फल खेद मात्र है ॥ ९ ॥

आगे कहते हैं कि, संसारको निःसार जानकर इसमें लीन नहिं होना और अपने हितको नहिं भूलना,——

दुरन्तदुरिताक्रान्तनिःसारमतिवञ्चकम् ।
जन्म विज्ञाय कः स्वार्थे मुह्यत्यङ्गी सचेतनः ॥ १० ॥

अर्थ—जन्म अर्थात् संसारके स्वरूपको जानकर ज्ञानसहित प्राणी ऐसा कौन है, जो अपने हितरूप प्रयोजनमें मोहको प्राप्त हो ? अर्थात् कोई नहीं। कैसा है जन्म ? दुःखकर है अंत जिसका ऐसा, तथा दुरितसे (पापसे) व्याप्त है, ठग है, क्योंकि ठगके समान किंचित्सुखका लालच बताकर सर्वस्व हर लेता है, और निगोदका वास कराता है । इस प्रकार संसारका स्वरूप जान ज्ञानी पुरुषको अपना हित भूलना उचित नहीं है, ऐसी उपदेशकी सूचना दी गई है ॥ १० ॥

आगे आचार्य ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा करते हैं,—

अविद्याप्रसरोद्भूतग्रहनिग्रहकोविदम् ।
ज्ञानार्णवमिमं वक्ष्ये सतामानन्दमन्दिरम् ॥ ११ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं, कि मैं इस **ज्ञानार्णव** नामके ग्रंथको कहूंगा । कैसा होगा यह ग्रंथ ? अविद्याके प्रसारसे (फैलावसे) उत्पन्न हुए आग्रह (हठ) तथा पिशाचको निग्रह करनेमें प्रवीण, तथा सत्पुरुषोंकेलिये आनंदका मंदिर । **भावार्थ**—यहां अविद्या शब्दसे मिथ्यात्वकर्मके उदयसे अज्ञानका ग्रहण करना चाहिये। उस अज्ञानका प्रसार अनादिकालसे जीवोंके हृदयमें व्याप्त होनेके कारण उत्पन्न हुआ जो एकान्तरूप हठ उसको यह **ज्ञानार्णव** नामक शास्त्र तथा इसका ज्ञान निराकरण करनेवाला है। और यही सत्पुरुषोंको आनन्दित करनेवाला है, क्योंकि सर्वथा एकान्त पक्ष है, सो वस्तुका स्वरूप नहीं है, और अवस्तुमें ध्याता ध्यान ध्येय फल काहेका ? शास्त्रोंमें मिथ्यात्व दो प्रकारका कहा गया है, एक अगृहीत दूसरा गृहीत। इनमेंसे अगृहीत मिथ्यात्व तो जीवोंके विना उपदेश ही अनादिकालसे विद्यमान है, सो इसमें एकान्तपक्ष संसारदेह भोगोंको ही अपना हित समझ लेना है। इस प्रकार समझ लेनेसे जीवोंके आर्त रौद्रध्यान स्वयमेव प्रवर्त्तते हैं। और गृहीत मिथ्यात्व है सो उपदेशजन्य है, उसके कारण यह जीव वस्तुका स्वरूप सर्वथा सत् अथवा असत्, सर्वथा नित्य तथा अनित्य, तथा सर्वथा एक तथा अनेक, सर्वथा शुद्ध तथा अशुद्ध इत्यादि, भिन्न धर्मियोंका कहा हुआ सुनकर उसी पक्षको दृढकर उसीको मोक्षमार्ग समझ लेता है, वा श्रद्धान करलेता है, सो उस श्रद्धानसे कुछ भी कल्याणकी सिद्धि नहीं है। इस कारण उस एकांतहठका निराकरण जब स्याद्वादकी कथनी सुनै, तब ही सर्वथा नष्ट हो। वस्तुका यथार्थ स्वरूप जानै, और श्रद्धान करे, तब ही ध्याता ध्यान ध्येय फलकी संभवता वा असंभवताका निश्चय हो । इसी अभिप्रायसे आचार्य महाराजने यह ज्ञानार्णव शास्त्र रचा है। इसीसे समस्त संभवासंभव जाना जायगा, ऐसा आशय व्यक्त होता है ॥ ११ ॥

अपि तीर्येत बाहुभ्यामपारोमकरालयः ।
न पुनः शक्यते वक्तुं मद्विधैर्योगिरञ्जकम् ॥ १२ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, मकरालय कहिये समुद्र अपार है, तौ भी अनेक समर्थ पुरुष उसे भुजाओंसे तैर सकते हैं; परन्तु यह ज्ञानार्णव योगियोंको रंजायमान करनेवाला अथाह है, सो हम ऐसोंसे नहीं तैरा जा सकता। **भावार्थ**—यह ज्ञानार्णव अपार है, अतः हम ऐसे इसका पार कैसे पावें ?॥ १२ ॥

आगे इसी अर्थको सूचित करनेको फिर भी कहते हैं,—

महामतिभिर्निःशेषसिद्धान्तपथपारगैः।
क्रियते यत्र दिग्मोहस्तत्र कोऽन्यः प्रसर्पति ॥ १३ ॥

अर्थ—जहां बड़ी बुद्धिवाले समस्त सिद्धान्त मार्गके पार करनेवाले भी दिशा भूल जाते हैं, वहां अन्य जन किस प्रकार पार पा सकते हैं ? **भावार्थ**—यह ज्ञानार्णव अथाह है इसमें बडे बडे बुद्धिमान् भी चकरा जाते हैं, फिर अन्यका तो कहना ही क्या ? ॥ १३ ॥

आगे पूर्वके महाकवियोंकी महिमा और अपनी लघुता दिखाते हैं,—

वंशस्थम्।

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥ १४ ॥

अर्थ—जहां समन्तभद्रादिक कवीन्द्ररूपी सूर्योंकी निर्मल उत्तम वचनरूप किरणें फैलती हैं, वहां ज्ञानलवसे उद्धत पटबीजनके (जुगनूके) समान मनुष्य क्या हास्यताको प्राप्त नहिं होंगे ? अवश्य ही होंगे। **भावार्थ**—सूर्यके सामने खद्योत कीटका प्रकाश क्या प्रकाश कर सकता है ? ॥ १४ ॥

अनुष्टुप्।

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनके वचन जीवोंके काय वचन मनसे उत्पन्न होनेवाले मलोंको नष्ट करते हैं, ऐसे देवनन्दीनामक मुनीश्वरको (पूज्यपादस्वामीको) हम नमस्कार करते हैं ॥ १५ ॥

जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः।
योगिभिर्यत्समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ॥ १६ ॥

अर्थ—जिनसेन आचार्यमहाराजके वचन हैं, सो जयवन्त हैं। क्योंकि योगीश्वर उनके वचनोंको प्राप्त होकर आत्माके निश्चयमें स्खलित नहिं होते, अर्थात् यथार्थ निश्चय करलेते हैं। तथा उनके वचन न्याय व्याकरण और सिद्धान्त इन तीन विद्याओंके ज्ञातापुरुषोंके, द्वारा वन्दनीय हैं ॥ १६ ॥

श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥ १७ ॥

अर्थ—श्रीमत् कहिये शोभायमान निर्दोष भट्टाकलंक नामा आचार्यकी पवित्र वाणी है, सो हमको पवित्र करो और हमारी रक्षा करो। कैसी है वाणी? अनेकान्त स्याद्वादरूपी आकाशमें चन्द्रमाकी रेखासमान आचरण करती है। **भावार्थ**—भट्टाकलंक नामक आचार्य स्याद्वाद विद्याके अधिकारी हुए, उनकी वाणीरूपी चन्द्रमाकी किरणें स्याद्वादरूपी आकाशमें प्रकाश करती हैं ॥ १७ ॥

आगे आचार्य महाराज अपनी कृतिका प्रयोजन प्रगट करते हैं,—

भवप्रभवदुर्वारक्लेशसन्तापपीडितम् ।
योजयाम्यहमात्मानं पथि योगीन्द्रसेविते ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, इस ग्रंथके रचनेसे संसारमें जन्म ग्रहण करनेसे उत्पन्न हुए दुर्निवार क्लेशोंके सन्तापसे पीडित मैं अपने आत्माको योगीश्वरोंसे सेवित ज्ञान ध्यानरूपी मार्गमें जोड़ता हूं। **भावार्थ**—यहां अपना प्रयोजन संसारके दुःख दूर करनेहीका जनाया है ॥ १८ ॥

न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया
कृतिः किन्तु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम् ॥ १९ ॥

अर्थ—यह ग्रन्थरूपी मेरी कृति (कार्य) है, सो केवल मात्र अपने ज्ञानकी वृद्धिके लिये है। कविताके अभिमानसे तथा जगतमें कीर्ति होनेके अभिप्रायसे नहिं की जाती है। **भावार्थ**—यहां आचार्य महाराजने ग्रन्थ रचनेमें लौकिक प्रयोजन साधनेका निषेध किया है ॥ १९ ॥

आगे सत्पुरुषोंके शास्त्र रचनेका विचार किस प्रकार होता है सो दिखाते हैं;—

अयं जागर्ति मोक्षाय वेत्ति विद्यां भ्रमं त्यजेत् ।
आदत्ते समसाम्राज्यं स्वतत्त्वाभिमुखीकृतः ॥ २० ॥
न हि केनाप्युपायेन जन्मजातङ्कसंभवा ।
विषयेषु महातृष्णा पश्य पुंसां प्रशाम्यति ॥ २१ ॥
तस्याः प्रशान्तये पूज्यैः प्रतीकारः प्रदर्शितः ।
जगज्जन्तूपकाराय तस्मिन्नस्यावधीरणा ॥ २२ ॥
अनुद्विग्नैस्तथाप्यस्य स्वरूपं बन्धमोक्षयोः ।
कीर्त्यते येन निर्वेदपदवीमधिरोहति ॥ २३ ॥
निरूप्य सच्च कोऽप्युच्चैरुपदेशोऽस्य दीयते ।
येनादत्ते परां शुद्धिं तथा त्यजति दुर्मतिम् ॥ २४ ॥

अर्थ—सत्पुरुष ऐसा विचारते हैं कि, यह प्राणी अपना निजस्वरूप तत्त्वके सन्मुख

करनेसे मोक्षके अर्थ जागता है। मोह निद्राको छोडकर सम्यग्ज्ञानको जानता है। तथा भ्रम कहिये—अनादि अविद्याको छोडकर उपशमभावरूपी (मन्दकषायरूपी) साम्राज्यको ग्रहण करता है ॥ २० ॥ और देखो कि, पुरुषोंके विषयोंमें महातृष्णा है। वह तृष्णा कैसी है? कि, जन्मसे (संसारसे) उत्पन्न हुए आतंक (दाहरोग) से वह उपजी है, सो किसी भी उपायसे नष्ट नहिं होती ॥ २१ ॥ उस तृष्णाकी प्रशान्तिके अर्थ पूज्यपुरुषोंने प्रतीकार (उपाय) दिखाया है, और वह जगतके जीवोंके उपकारार्थ ही दिखाया है। **किन्तु यह जीव उस प्रतीकारकी** अवज्ञा (अनादर) करता है ॥ २२ ॥ तथापि उद्वेगरहित पूज्यपुरुषोंके द्वारा इस प्राणीके हितार्थ बन्धमोक्षका स्वरूप वर्णन किया जाता है, जिससे यह प्राणी वैराग्यपदवीको प्राप्त हो ॥ २३ ॥ इस कारण कोई अतिशय समीचीन उपदेश विचार करके इस प्राणीको देना चाहिये, जिससे यह प्राणी उत्कृष्ट शुद्धताको ग्रहण करे और दुर्बुद्धिको छोड दे। **भावार्थ**—सत्पुरुष इस प्रकार विचारकर जीवोंके संसार सम्बन्धी दुःख दूर करनेके-लिये ऐसा उपदेश देते हैं, वा शास्त्रोंकी रचना करते हैं ॥ २४ ॥

आगे ग्रंथकर्त्ता आचार्य महाराज कहते हैं कि, हमको भी यही विचार हुआ है,—

अहो सति जगत्पूज्ये लोकद्वयविशुद्धिदे।
ज्ञानशास्त्रे सुधीः कः स्वमसच्छास्त्रैर्विडम्बयेत् ॥ २५ ॥

अर्थ—अहो! जगत्पूज्य और लोकपरलोकमें विशुद्धिके देनेवाले समीचीन ज्ञानशास्त्रोंके होते हुए भी ऐसा कौन सुबुद्धि है, जो मिथ्याशास्त्रोंकेद्वारा अपने आत्माको विडंबनारूप करे ॥ २५ ॥

आगे मिथ्याशास्त्रोंके रचनेवालोंपर आक्षेप तथा उनके बनाये शास्त्रोंका निषेध करते हैं,—

असच्छास्त्रप्रणेतारः प्रज्ञालवमदोद्धताः।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे कवयः स्वान्यवञ्चकाः ॥ २६ ॥
स्वतत्त्वविमुखैर्मूढैः कीर्त्तिमात्रानुरञ्जितैः।
कुशास्त्रछद्मना लोको वराको व्याकुलीकृतः ॥ २७ ॥

अर्थ—इस पृथ्वीतलमें बुद्धिके अंशमात्रसे मदोन्मत्त होकर असत् शास्त्रोंके रचनेवाले अनेक कवि हैं। वे केवल अपनी आत्मा तथा अन्य भोले जीवोंको ठगनेवाले ही हैं ॥ २६ ॥ तथा आत्मतत्त्वसे विमुख, अपनी किर्त्तिसे प्रसन्न होनेवाले मूढ हैं। और उन्हीं मूढोंने इस अज्ञानी जगत्को अपने बनाये हुए मिथ्याशास्त्रोंके बहानेसे व्याकुलित कर-दिया है ॥ २७ ॥

अधीतैर्वा श्रुतैर्ज्ञातैः कुशास्त्रैः किं प्रयोजनम्।
यैर्मनः क्षिप्यते क्षिप्रं दुरन्ते मोहसागरे ॥ २८ ॥

अर्थ—उन शास्त्रोंके पढ़ने, सुनने व जाननेसे क्या प्रयोजन (लाभ) है, जिनसे जीवोंका चित्त (मन) दुरन्तर तथा दुर्निवार मोह समुद्रमें पड़ जाता है ॥ २८ ॥

क्षणं कर्णामृतं सूते कार्यशून्यं सतामपि ।
कुशास्त्रं तनुते पश्चादविद्यागरविक्रियाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—कुशास्त्र यद्यपि सुननेमें क्षणभरकेलिये अमृतकी सी वर्षा करता है, परन्तु कालान्तरमें वह सत्पुरुषोंके कार्यसे रहित अविद्यारूपी विषके विकारको बढ़ाता है, अर्थात् विषयोंकी तृष्णाको बढ़ाता है ॥ २९ ॥

अज्ञानजनितश्चित्रं न विद्मः कोऽप्ययं ग्रहः ।
उपदेशशतेनापि यः पुंसामपसर्प्पति ॥ ३० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, यह बडा आश्चर्य है, जो जीवोंका अज्ञानसे उत्पन्न हुआ यह आग्रह (हठ) सैकड़ों उपदेश देनेपर भी दूर नहीं होता ? हम नहिं जानते कि, इसमें क्या भेद है । **भावार्थ**—एक बार मिथ्याशास्त्रकी युक्ति भोले जीवोंके मनमें ऐसी प्रवेश हो जाती है कि, फिर सैकडों उत्तमोत्तम युक्तियें सुने, तो भी वे चित्तमें प्रवेश नहिं करती हैं । अर्थात् ऐसा ही कोई संस्कारका निमित्त है कि, वह मिथ्या आग्रह कभी दूर नहिं होता ॥ ३० ॥

आगे कहते हैं कि, सत्पुरुषोंको शास्त्रोंके भले बुरे गुणोंका विचार करना चाहिये,—

सम्यग्निरूप्यसद्वृत्तैर्विद्वद्भिर्वीतमत्सरैः ।
अत्र मृग्या गुणा दोषाः समाधाय मनः क्षणम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—ऐसे सदाचारी पुरुष जिन्हें मत्सर कहिये द्वेष नहीं है, उन्हें उचित है कि इस शास्त्र तथा प्रवृत्तिमें मनको समाधान करके गुणदोषको भले प्रकार विचारें ॥ ३१ ॥

स्वसिद्ध्यर्थं प्रवृत्तानां सतामपि च दुर्धियः ।
द्वेषबुद्ध्या प्रवर्त्तन्ते केचिज्जगति जन्तवः ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस जगतमें अनेक दुर्बुद्धि ऐसें हैं, जो अपनी सिद्धिके अर्थ प्रवृत्ते हुए सत्पुरुषोंपर द्वेषबुद्धिका व्यवहार करते हैं । **भावार्थ**—दुष्ट जीव सत्पुरुषोंसे द्वेष रखते हैं ॥ ३२ ॥

साक्षाद्वस्तुविचारेषु निकषग्रावसन्निभाः ।
विभजन्ति गुणान्दोषान्धन्याः स्वच्छेन चेतसा ॥ ३३ ॥

अर्थ—वे धन्य पुरुष हैं जो अपने निष्पक्ष चित्तसे वस्तुके विचारमें कसोटीके समान हैं और गुणदोषोंको भिन्न भिन्न जानलेते हैं ॥ ३३ ॥

आगें कहते हैं, कि जीवोंके गुणदोष स्वभावहींसे होते हैं;—

प्रसादयति शीतांशुः पीडयत्यंशुमाञ्जगत् ।
निसर्गजनिता मन्ये गुणदोषाः शरीरिणाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि, देखो चन्द्रमा जगतको प्रसन्न करता है और तापको नष्ट करता है। एवम् सूर्य पीडित करता है, अर्थात् तापको उत्पन्न करता है। इसी प्रकार जीवोंके गुणदोष स्वभावसे ही हुआ करते हैं। ऐसा मैं मानता हूं॥ ३४ ॥

फिर भी कहते हैं,—

दूषयन्ति दुराचारा निर्दोषामपि भारतीम्।
विधुविम्बश्रियं कोकाः सुधारसमयीमिव ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो दुष्ट पुरुष हैं वे निर्दोष वाणीको भी दूषण लगाते हैं। जैसे; सुधारसमयी चन्द्रमाके बिम्बकी शोभाको चक्रवाक दूषण देते हैं कि, चन्द्रमा ही चकवीसे हमारा विछोह करा देता है॥ ३५ ॥

आगे आत्माकी शुद्धिका उपाय बतलाते हैं,—

अयमात्मा महामोहकलङ्की येन शुद्ध्यति।
तदेव स्वहितं धाम तच्च ज्योतिः परं मतम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—यह आत्मा महामोहसे (मिथ्यात्व कषायसे) कलंकी और मलीन है, अतः जिससे यह शुद्ध हो; वही अपना हित है, वही अपना घर है और वही परम ज्योति वा प्रकाश है। **भावार्थ**—मलिनता नष्ट होनेसे उज्वलता होती है। यह आत्मा निश्चयसे तो अनंतज्ञानादि प्रकाशस्वरूप है, परन्तु मिथ्यात्वकषायादिसे मलिन हो रहा है। इस कारणसे जब मिथ्यात्वकषायरूपी मैल नष्ट हो, तब निज स्वरूपका प्रकाश हो सकता है। मिथ्यात्वकषायादिकके नष्ट करनेका उपाय जिनागममें कहा है वही जानना ॥ ३६ ॥

विलोक्य भुवनं भीमयमभोगीन्द्रशङ्कितम्।
अविद्याव्रजमुत्सृज्य धन्या ध्याने लयं गताः ॥ ३७ ॥

अर्थ—इस जगतको भयानक कालरूपी सर्पसे शङ्कित देखकर अविद्याव्रज अर्थात् मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरणके समूहको छोड निजस्वरूपके ध्यानमें लवलीन हो जाते हैं, वे धन्य कहिये महाभाग्यवान् पुरुष हैं ॥ ३७ ॥

हृषीकराक्षसाक्रान्तस्मरशार्दूलचर्वितम्।
दुःखार्णवगतं विश्वं विवेच्य विरतं बुधैः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् हैं, उन्होंने इस जगतको इन्द्रियरूपी राक्षसोंसे व्याप्त तथा कामरूपी सिंहसे चर्वित और दुःखरूपी समुद्रमें डूबा हुआ समझकर छोड दिया। **भावार्थ**—जिस जगह राक्षस विचरें, सिंह व्याघ्र भक्षण कर जावें और जहां दुःख ही दुःख दिखाई पडे, उस जगह विवेकी जन किस लिये वसें? ॥ ३८ ॥

जन्मजातङ्कदुर्वारमहाव्यसनपीडितम् ।
जन्तुजातमिदं वीक्ष्य योगिनः प्रशमं गताः ॥ ३९ ॥

अर्थ—संसारसे उत्पन्न दुर्निवार आतंक (दाहरोग) रूपी महाकष्टसे पीडित इस जीवसमूहको देखकर ही योगीजन शान्तभावको प्राप्त हो गये । **भावार्थ**—संसारमें जीवोंको प्रत्यक्ष दुःखी देखकर ज्ञानी जन क्यों मोहित हों ? ॥ ३९ ॥

भवभ्रमणविभ्रान्ते मोहनिद्रास्तचेतने ।
एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम् ॥ ४० ॥

अर्थ—संसार-भ्रमणसे विभ्रान्त और मोहरूपी निद्रासे जिसकी चेतना नष्ट हो गई है, ऐसे इस जगतमें मुनिगण ही निरंतर जागते हैं । **भावार्थ**—जैसे निरन्तर भ्रमण करनेसे शरीर खेदखिन्न हो जाता है, तो उसके निमित्तसे प्रगाढ़ निद्रा आती है और तब यह जीव अपनेको भूल जाता है । ऐसा समझकर ज्ञानीजन निरन्तर सावधान ही रहते हैं ॥ ४० ॥

रजस्तमोभिरुद्भूतं कषायविषमूर्च्छितम् ।
विलोक्य सत्त्वसन्तानं सन्तः शान्तिमुपाश्रिताः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो सत्पुरुष हैं, वे रज कहिये ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म, और तम कहिये मिथ्याज्ञानसे, अथवा रजोगुण तमोगुणसे कम्पायमान तथा कषायरूपी विषसे मूर्छित इस सत्त्व-सन्तान कहिये जगतको देखकर शान्तभावको ग्रहण करते हैं ॥ ४१ ॥

मुक्तिस्त्रीवक्त्रशीतांशुं द्रष्टुमुत्कण्ठिताशयैः ।
मुनिभिर्मथ्यते साक्षाद्विज्ञानमकरालयः ॥ ४२ ॥

अर्थ—मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखरूपी चन्द्रमाके देखनेको उत्सुक हुए मुनिजन साक्षात् विज्ञानरूपी समुद्रका मथन करते हैं । **भावार्थ**—लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि, नारायणने समुद्रको मथकर चन्द्रमाको निकाला है । सो यहां अलंकारिक रीतिसे कहा है कि, मुनिजन मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखरूपी चन्द्रमाको देखनेकी अभिलाषासे ज्ञानरूपी समुद्रको मथन करते हैं। क्योंकि ज्ञानके ध्यानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ४२ ॥

उपर्युपरिसंभूतदुःखवह्निक्षतं जगत् ।
वीक्ष्य सन्तः परिप्राप्ताः ज्ञानवारिनिधेस्तटम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—बारंबार उत्पन्न हुई दुःखाग्निसे क्षय होते जगतको देखकर सन्तपुरुष ज्ञानरूपी समुद्रके तटपर प्राप्त हुए हैं । **भावार्थ**—संसारकी दुःखरूपी अग्निके बुझानेको ज्ञान ही कारण है ॥ ४३ ॥

अनादिकालसंलग्ना दुस्त्यजा कर्मकालिका ।
सद्यः प्रक्षीयते येन विधेयं तद्धि धीमताम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—अनादिकालसे लगी हुई कर्मरूपी कालिमा बडे कष्टसे त्यजने योग्य है । इस क़ारण यह कालिमा जिससे शीघ्र ही नष्ट हो जाय, वही उपाय बुद्धिमानोंको करना चाहिये । अन्य उपाय करना व्यथ है ॥ ४४ ॥

निःष्कलङ्कं निराबाधं सानन्दं स्वस्वभावजम् ।
वदन्ति योगिनो मोक्षं विपक्षं जन्मसन्ततेः ॥ ४५ ॥

अर्थ—प्राणीका हित मोक्ष (कर्मोंसे छूटना) है । सो कैसा है ? समस्त प्रकारकी कालिमासे रहित निःकलंक है, बाधा (पीड़ा) रहित है, आनंद सहित है, जिसमें किसी भी प्रकारका दुःख नहीं है । तथा अपने स्वभावसे उत्पन्न है, क्योंकि जो परका उपजाया हो, उसको वह नष्ट भी कर सकता है, परन्तु जो स्वभावसे उत्पन्न हो, उसका कभी नाश नहिं होता । और संसारका विपक्षी कहिये शत्रु है । योगिगण मोक्षका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं ॥ ४५ ॥

आगे मोक्षको हित जान उसके साधन करनेकी शिक्षा देते हैं,—

जीवितव्ये सुनिःसारे नृजन्मन्यतिदुर्लभे ।
प्रमादपरिहारेण विज्ञेयं स्वहितं नृणाम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—मनुष्यजन्म अति दुर्लभ है । जीवितव्य है सो निःसार है । ऐसी अवस्थामें मनुष्यको आलस्य त्यागके अपने हितको जानना चाहिये । वह हित मोक्ष ही है ॥ ४६ ॥

विचारचतुरैर्धीरैरत्यक्षसुखलालसैः ।
अत्र प्रमादमुत्सृज्य विधेयः परमादरः ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो धीर और विचारशील पुरुष हैं, तथा अतीन्द्रिय सुख (मोक्षसुख) की लालसा रखते हैं, उनको प्रमाद छोड़कर इस मोक्षमें ही परम आदर करना चाहिये ॥ ४७ ॥

न हि कालकलैकापि विवेकविकलाशयैः ।
अहो प्रज्ञाधनैर्नेया नृजन्मन्यतिदुर्लभे ॥ ४८ ॥

अर्थ—अहो भव्य जीवो ! यह मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है और इसका वारवार मिलना कठिन है, इस कारण बुद्धिमानोंको चाहिये कि, विचारशून्य हृदय होकर कालकी एक कलाको भी व्यर्थ नहिं जाने दें ॥ ४८ ॥

आगे उपदेशपूर्वक इस अधिकारको पूर्ण करते हैं,—

शिखरिणी ।

भृशं दुःखज्वालानिचयनिचितं जन्म गहनम् ।
यदक्षाधीनं स्यात्सुखमिह तदन्तेतिविरसम् ।

अनित्या कामार्था क्षणरुचिचलं जीवितमिदं
विमृश्योच्चैः स्वार्थे क इह सुकृती मुह्यति जनः ॥ ४९ ॥

अर्थ—यह संसार बड़ा गहन वन ही है, क्योंकि दुःखरूपी अग्निकी ज्वालासे व्याप्त है। इस संसारमें इन्द्रियाधीन सुख है सो अन्तमें विरस है, दुःखका कारण है, तथा दुःखसे मिला हुआ है। और जो काम और अर्थ हैं सो अनित्य हैं, सदैव नहीं रहते। तथा जीवित है, सो विजुलीकी समान चंचल है। इस प्रकार समीचीनतासे विचार करनेवाले जो अपने स्वार्थमें सुकृती—पुण्यवान्—सत्पुरुष हैं, वे कैसे मोहको प्राप्त होवें? कदापि नहीं। **भावार्थ**—इस संसारमें समस्त वस्तु दुःखरूप निःसार जानकर बुद्धिमानोंको अपने हितरूप मोक्षका साधन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र धारणपूर्वक ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। यह श्रीगुरुका उपदेश है ॥ ४९ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

दोहा।

श्रीयुत वीरजिनेन्द्रको, वंदौं मनवचकाय।
भवपद्धतिभ्रम मेटिकैं, करै मोक्षसुखदाय ॥ १ ॥

आगे—इस प्राणीको ध्यानके सन्मुख करनेकेलिये संसारदेहभोगादिसे वैराग्य उत्पन्न कराना है, सो वैराग्योत्पत्तिकेलिये एक मात्र कारण बारह भावना हैं; इस कारण इनका व्याख्यान इस अध्यायमें किया जायगा। सो प्रथम ही इनके भावनेकी (वारंवार चिन्तवन करनेकी) प्रेरणा करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्।

सङ्गैः किं न विषाद्यते वपुरिदं किं छिद्यते नामयैः
मृत्युः किं न विजृम्भते प्रतिदिनं द्रुह्यन्ति किं नापदः।
श्वभ्राः किं न भयानकाः स्वपनवद्भोगा न किं वञ्चकाः
येन स्वार्थमपास्य किन्नरपुरप्रख्ये भवे ते स्पृहा ॥ १ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस संसारमें संग कहिये धन-धान्य स्त्री-कुटुंबादिकके मिलापरूप जो परिग्रह हैं, वे क्या तुझे विषादरूप नहिं करते हैं? तथा यह शरीर है, सो क्या रोगोंके द्वारा छिन्न रूप वा पीडित नहिं किया जाता है? तथा मृत्यु क्या तुझे प्रतिदिन ग्रसनेके लिये मुख नहिं फाड़ती है? और आपदायें क्या तुझसे द्रोह नहिं करती हैं? क्या तुझे नरक भयानक नहिं दीखते? और ये भोग हैं सो क्या स्वप्नकी समान तुझे ठगनेवाले (धोखादेनेवाले) नही हैं? जिससे कि तेरे इन्द्रजालसे रचे हुए किन्नरपुरके समान इस असार संसारमें इच्छा

बनी हुई है ? **भावार्थ**—संसारदेह भोगोंको उक्त प्रकारके जानकर भी जो जीव अपने प्रयोजनमें सावधान नहिं होते, उनका अज्ञानपना स्पष्ट है ॥ १ ॥

श्लोकः ।

नासादयसि कल्याणं न त्वं तत्त्वं समीक्षसे ।
न वेत्सि जन्मवैचित्र्यं भ्रातर्भूतैर्विडम्बितः ॥ २ ॥

अर्थ—हे भाई ! तू भूत अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंसे विडम्बनारूप होकर अपने कल्याणमें नहिं लगता है और तत्त्वोंका (वस्तुस्वरूपका) विचार नहिं करता है, तथा संसारकी विचित्रताको नहिं जानता है; सो यह तेरी बडी भूल है ॥ २ ॥

असद्विद्याविनोदेन मात्मानं मूढ वञ्चय ।
कुरु कृत्यं न किं वेत्सि विश्ववृत्तं विनश्वरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी ! अनेक असत् कला चतुराई शृंगार शास्त्रादि असद्विद्याओंके कौतूहलोंसे अपनी आत्माको मत ठगो, और तेरे करने योग्य जो कुछ हितकार्य हो उसे कर, । क्योंकि जगतके ये समस्त ख्याल विनाशीक हैं । क्या तू ये बातें नहिं जानता है ? ॥ ३ ॥

समत्वं भज भूतेषु निर्ममत्वं विचिन्तय ।
अपाकृत्य मनःशल्यं भावशुद्धिं समाश्रय ॥ ४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू समस्त जीवोंके एकसा जान । ममत्वको छोड़कर निर्ममत्वका चिंतवन कर । मनकी शल्यको दूरकर अर्थात् किसी प्रकारकी शल्य (क्लेश) अपने चित्तमें न रखकर अपने भावोंकी शुद्धताको अंगीकार कर ॥ ४ ॥

आगे बारह भावनाओंके अंगीकार करनेका उपदेश करते हैं,—

चिनु चित्ते भृशं भव्य भावना भावशुद्धये ।
याः सिद्धान्तमहातन्त्रे देवदेवैः प्रतिष्ठिताः ॥ ५ ॥

अर्थ—हे भव्य ! तू अपने भावोंकी शुद्धिके अर्थ अपने चित्तमें बारह भावनाओंका चिन्तवन कर, जिन्हें देवाधिदेव श्री तीर्थंकर भगवान्ने सिद्धान्तके प्रवन्धमें प्रतिष्ठारूप कही हैं ॥ ५ ॥

वे भावनायें कैसी हैं, सो कहते हैं,—

ताश्च संवेगवैराग्ययमप्रशमसिद्धये ।
आलानिता मनःस्तम्भे मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ॥ ६ ॥

अर्थ—उन भावनाओंको मोक्षाभिलाषी मुनियोंने अपनेमें संवेग (धर्मानुराग) वैराग्य (संसारसे उदासीनता), यम (महाव्रतादि चारित्र) और प्रशमकी (कषायोंके

अभावरूप शान्त भावोंकी) सिद्धिकेलिये अपने चित्तरूपी स्तंभमें आलानित कहिये ठहराई वा बांधी हैं। **भावार्थ**—मुनिगण निरन्तर ही इनका चिन्तवन किया करते हैं ॥ ६ ॥

अनित्याद्याः प्रशस्यन्ते द्वादशैता मुमुक्षुभिः ।
या मुक्तिसौधसोपानराजयोऽत्यन्तवन्धुराः ॥ ७ ॥

अर्थ—वे भावना अनित्य आदि द्वादश[1] हैं। इनको मोक्षाभिलाषी मुनिगणोंने प्रशंसारूप कही हैं। क्योंकि ये सब भावनायें, मोक्षरूपी महलके चढनेकी मर्यादारूप रची हुई पैड़ियोंकी (सीढियोंकी) पंक्ति समान हैं ॥ ७ ॥

अथ अनित्यभावना ।

आगे इन भावनाओंका भिन्न २ व्याख्यान करैंगे, जिनमेंसे प्रथम ही अनित्यभावनाका वर्णन करते हैं,—

हृषीकार्थसमुत्पन्ने प्रतिक्षणविनश्वरे ।
सुखे कृत्वा रतिं मूढ विनष्टं भुवनत्रयं ॥ ८ ॥

अर्थ—हे मूढ ! क्षण क्षणमें नाश होनेवाले इन्द्रियजनित सुखमें प्रीतिकरके ये तीनों भुवन नाशको प्राप्त हो रहे हैं, सो तू क्यों नहीं देखता ? ॥ ८ ॥

भवाब्धिप्रभवाः सर्वे सम्बन्धा विपदास्पदम् ।
सम्भवन्ति मनुष्याणां तथान्ते सुष्ठुनीरसाः ॥ ९ ॥

अर्थ—इस संसाररूपी समुद्रमें भ्रमण करनेसे मनुष्योंके जितने संबन्ध होते हैं, वे सब ही आपदाओंके घर हैं। क्योंकि अन्तमें प्रायः सब ही सम्बन्ध नीरस (दुखदायक) हो जाते हैं। यह प्राणी उनसे सुख मानता है, सो भ्रम मात्र है ॥ ९ ॥

वपुर्विद्धि रुजाक्रान्तं जराक्रान्तं च यौवनम् ॥
ऐश्वर्यं च विनाशान्तं मरणान्तं च जीवितम् ॥ १० ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! शरीरको तू रोगोंसे छिदा हुआ समझ और यौवनको बुढापेसे घिरा हुआ जान तथा ऐश्वर्य सम्पदाओंको विनाशीक और जीवनको मरणान्त जान। **भावार्थ**—ये सब पदार्थ प्रतिपक्ष सहित जानने ॥ १० ॥

ये दृष्टिपथमायाताः पदार्थाः पुण्यमूर्त्तयः ।
पूर्वाह्णे न च मध्याह्ने ते प्रयान्तीह देहिनाम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इस संसारमें जिनके यहां पुण्यके मूर्त्तिस्वरूप उत्तमोत्तम पदार्थ प्रभातके

१—अनित्य १, अशरण २, संसार ३, एकत्व ४, अन्यत्व ५, आस्रव ६, वंध ७, संवर ८, निर्जरा ९, लोक १०, बोधिदुर्लभ ११, और धर्म १२ ये बारह हैं।

समय दृष्टिगोचर होते थे, वे मध्याह्नकालमें देखनेमें नहिं आते, अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। आत्मन्! तू विचारपूर्वक देख ॥ ११ ॥

यज्जन्मनि सुखं मूढ! यच्च दुःखं पुरःस्थितम्।
तयोर्दुःखमनन्तं स्यात्तुलायां कल्प्यमानयोः ॥ १२ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! इस संसारमें तेरे सम्मुख जो कुछ सुख वा दुःख हैं, उन दोनोंको ज्ञानरूपी तुलामें (तराजूमें) चढाकर तोलैगा, तो सुखसे दुःख ही अनन्तगुणा दीख पड़ेगा। क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है ॥ १२ ॥

आगे भोगोंका निषेध करते है,—

भोगा भुजङ्गभोगाभाः सद्यः प्राणापहारिणः।
सेव्यमानाः प्रजायन्ते संसारे त्रिदशैरपि ॥ १३ ॥

अर्थ—इस संसारमें भोग सर्पके फण समान हैं, क्योंकि इनको सेवन करते हुए देव भी शीघ्र प्राणान्त हो जाते हैं। **भावार्थ**-देव भी भोगोंके भोगनेसे मरकर एकेन्द्रिय हो जाते हैं, अतः मनुष्य तो नरकादिकमें अवश्य ही जावेंगे ॥ १३ ॥

आगे इस जीवकी अज्ञानता दिखाते हैं,—

वस्तुजातमिदं मूढ प्रतिक्षणविनश्वरम्।
जानन्नपि न जानासि ग्रहः कोऽयमनौषधः ॥ १४ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि, इस संसारमें जो वस्तुओंका समूह सो पर्यायोंसे क्षण क्षणमें नाश होनेवाला है। इस बातको तू जानकर भी अजान हो रहा है, यह तेरा क्या आग्रह (हठ) है? क्या तुझपर कोई पिशाच चढ गया है, जिसकी औषधि ही नही है? ॥ १४ ॥

आगे अन्यप्रकारसे कहते हैं,—

क्षणिकत्वं वदन्त्यार्या घटीघातेन भूभृताम्।
क्रियतामात्मनः श्रेयो गतेयं नागमिष्यति ॥ १५ ॥

अर्थ—इस लोकमें राजाओंके यहां जो घडीका घंटा बजता है और शब्द करता है, सो सबके क्षणिकपनको प्रगट करता है; अर्थात् जगत्को मानो पुकार पुकारकर कहता है कि, हे जगतके जीवो! जो कुछ अपना कल्याण करना चाहते हो, सो शीघ्र ही करडालो नहीं तो पछताओगे। क्योंकि यह जो घडी वीत गई, वह किसी प्रकार भी पुनर्वार लौटकर नहिं आयेगी। इसी प्रकार अगली घड़ी भी जो व्यर्थ ही खो दोगे तो वह भी गई हुई नहिं लौटैगी ॥ १५

यद्यपूर्वं शरीरं स्याद्यदि वात्यन्तशाश्वतम्।
युज्यते हि तदा कर्तुमस्यार्थे कर्म निन्दितम् ॥ १६ ॥

अर्थ—हे प्राणी ! यदि यह शरीर अपूर्व हो, अर्थात् पूर्वमें कभी तूने नहिं पाया हो, अथवा अत्यन्त अविनश्वर हो, तब तो इसके अर्थ निंद्यकार्य करना योग्य भी है; परन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि यह शरीर तूने अनन्तवार धारण किया है और छोडा भी है, तो फिर ऐसे शरीरके अर्थ निन्द्यकार्य करना कदापि उचित नहीं है। इस कारण ऐसे कार्य कर जिससे कि, तेरा वास्तवमें कल्याण हो ॥ १६ ॥

आगे फिर भी इसी अर्थको सूचित करते हुए कहते हैं,—

अवश्यं यान्ति यास्यन्ति पुत्रस्त्रीधनबान्धवाः ।
शरीराणि तदैतेषां कृते किं खिद्यते वृथा ॥ १७ ॥

अर्थ—पुत्र स्त्री बांधव धन शरीरादि चले जाते हैं और जो हैं, वह भी अवश्य ही चले जायेंगे। फिर इनके कार्यसाधनकेलिये यह जीव वृथा ही क्यों खेद करता है ? ॥ १७ ॥

नायाता नैव यास्यन्ति केनापि सह योषितः ।
तथाप्यज्ञाः कृते तासां प्रविशन्ति रसातलम् ॥ १८ ॥

अर्थ—इस संसारमें स्त्रियां न तो किसीके साथ आई और न किसीके साथ जायेंगी, तथापि मूढजन इनकेलिये निन्द्यकार्य करके नरकादिकमें प्रवेश करते हैं। यह बड़ा अज्ञान है ॥ १८ ॥

आगे बन्धुजन कैसे हैं, सो कहते हैं,—

ये जाता रिपवः पूर्वं जन्मन्यस्मिन्विधेर्वशात् ।
त एव तव वर्त्तन्ते बान्धवा बद्धसौहृदः ॥ १९ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जो पूर्व जन्ममें तेरे शत्रु थे, वे ही इस जन्ममें तेरे अतिस्नेही होकर बंधु हो गये हैं–अर्थात् तू इनको हितू वा मित्र समझता है, परन्तु ये तेरे हितू मित्र नहीं हैं, किन्तु पूर्वजन्मके शत्रु हैं ॥ १९ ॥

रिपुत्वेन समापन्नाः प्राक्तनास्तेऽत्र जन्मनि ।
बान्धवाः क्रोधरुद्धाक्षा दृश्यन्ते हन्तुमुद्यताः ॥ २० ॥

अर्थ—और जो पूर्व जन्ममें तेरे बांधव थे, वे ही इस जन्ममें शत्रुताको प्राप्त होकर तथा क्रोधयुक्त लालनेत्र करके तुझे मारनेकेलिये उद्यत हुए हैं। यह प्रत्यक्षमें देखा जाता है ॥ २० ॥

आगे इस प्राणीको अन्धवत् बताते हैं,—

अङ्गनादिमहापाशैरतिगाढं नियन्त्रिताः ।
पतत्यन्धमहाकूपे भवाख्ये भविनोऽध्वगाः ॥ २१ ॥

अर्थ—इस संसारमें निरन्तर फिरनेवाले प्राणिरूपी पथिक स्त्री आदिके बडे २ रस्सोंसे

अतिशय कसे हुए संसार नामक महान्धकूपमें गिरते हैं । **भावार्थ**—जैसे अन्धे पुरुष मार्गमें चलते २ अन्धकूपमें गिर पड़ते हैं. उसी प्रकार ये जीवं सूझते हुए भी अन्ध पुरुषकेसमान संसाररूपी कूपमें गिरते हैं ॥ २१ ॥

आगे फिर उपदेश करते हैं,—

पातयन्ति भवावर्त्ते ये त्वा ते नैव बान्धवाः ।
बन्धुतां ते करिष्यन्ति हितमुद्दिश्य योगिनः ॥ २२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जो तुझे संसारके चक्रमें डालते हैं, वे तेरे बांधव (हितैषी) नहीं हैं; किन्तु जो मुनिगण (गुरुमहाराज) तेरे हितकी बांछाकरके बंधुता करते हैं अर्थात् हितका उपदेश करते हैं, स्वर्ग तथा मोक्षका मार्ग बताते हैं, वे ही वास्तवमें तेरे सच्चे और परममित्र हैं २२ ॥

आगे आश्चर्यपूर्वक कहते हैं,—

शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः ।
मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ॥ २३ ॥

अर्थ—देखो ! इन जीवोंका प्रवर्त्तन कैसा आश्चर्यकारक है कि, शरीर तो प्रतिदिन छीजता जाता है और आशा नहिं छीजती है; किन्तु बढती जाती है । तथा आयुर्बल तो घटता जाता है और पापकार्योंमें बुद्धि बढती जाती है । मोह तो नित्य स्फुरायमान् होता है और यह प्राणी अपने हित वा कल्याण मार्गमें नहिं लगता है । सो यह कैसा अज्ञानका माहात्म्य है ? ॥ २३ ॥

आगे उपदेश करते हैं,—

यास्यन्ति निर्दया नूनं यद्दत्वा दाहमूर्जितम् ।
हृदि पुंसां कथं ते स्युस्तव प्रीत्यै परिग्रहाः ॥ २४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! ये परिग्रह पुरुषोंके हृदयमें अतिशय दाह अर्थात् सन्ताप देकर अवश्य ही चले जाते हैं । ऐसे ये परिग्रह तेरी प्रीतिकरने योग्य कैसे हो सक्ते हैं ? **भावार्थ**—तू वृथा ही इन धनधान्यादि परिग्रहोंसे प्रीति मत कर; क्योंकि ये किसी प्रकार भी नहिं रहेंगे ॥ २४ ॥

आगे अज्ञानके कारण नरकादिक दुःख सहैगा ऐसा कहते हैं,—

अविद्यारागदुर्वारप्रसरान्धीकृतात्मनाम् ।
श्वभ्रादौ देहिना नूनं सोढव्या सुचिरं व्यथा ॥ २५ ॥

अर्थ—मिथ्याज्ञानजनित रागोंके दुर्निवार विस्तारसे अन्धे किये हुए जीवोंको अवश्य ही नरकादिकमें बहुकालपर्यन्त दुःख सहने पड़ेंगे, जिसका जीवोंको चेत ही नहीं है ॥ २९ ॥

आगे जो लोग विषयोंमें सुख ढूंढते हैं, वे क्या करते हैं सो कहते हैं,—

वह्निं विशति शीतार्थं जीवितार्थं पिबेद्विषम् ।
विषयेष्वपि यः सौख्यमन्वेषयति मुग्धधीः ॥ २६ ॥

अर्थ—जो मूढधी पञ्चेन्द्रियोंके विषय सेवनेमें सुख ढूंढते हैं, वे मानों शीतलताकेलिये अग्निमें प्रवेश करते हैं और दीर्घ जीवनके लिये विष पान करते हैं । उन्हें इस विपरीतबुद्धिसे सुखके स्थान दुःख ही होगा ॥ २६ ॥

कृते येषां त्वया कर्म कृतं श्वभ्रादिसाधकम् ।
त्वामेव यान्ति ते पापा वञ्चयित्वा यथायथम् ॥ २७ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! निज कुटुंबादिककेलिये तूने नरकादिकके दुःख देनेवाले पापकर्म किये, वे पापी तुझे अवश्य ही धोखा देकर अपनी २ गतिको चले जाते हैं । उनकेलिये जो तूने पापकर्म किये थे, उनके फल तुझे अकेले ही भोगने पड़ते हैं, वा भोगने पड़ेंगे ॥ २७ ॥

आगे इस जीवको करनेयोग्य कार्यका उपदेश हैं,—

अनेन नृशरीरेण यल्लोकद्वयशुद्धिदम् ।
विवेच्य तदनुष्ठेयं हेयं कर्म ततोऽन्यथा ॥ २८ ॥

अर्थ—इस प्राणीको चाहिये कि, इस मनुष्य देहसे उभय लोकमें शुद्धताको देनेवाले कार्यका विचारकरके अनुष्ठान करै और उससे भिन्न अन्य सब कार्य छोड दे । यह सामान्यतया उपदेश है ॥ २८ ॥

आगे कहते हैं कि, जो जीव उक्त प्रकारसे नहीं करते, वे क्या करते हैं,—

वर्द्धयन्ति स्वघाताय ते नूनं विषपादपम् ।
नरत्वेऽपि न कुर्वन्ति ये विवेच्यात्मनो हितम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जिसमें समस्त प्रकारके विचार करनेकी सामर्थ्य है, तथा जिसका पाना दुर्लभ है ऐसे मनुष्य जन्मको पाकर भी जो अपना हित नहीं करते, वे अपने घात करनेकेलिये विषवृक्षको बढाते हैं । **भावार्थ**–पापकार्य विषके वृक्षसमान हैं, इस करण इसका फल भी मारनेवाला है ॥ २९ ॥

आगे प्राणी किसी कुलमें आकर कैसे जन्म लेते हैं, सो दृष्टान्तपूर्वक वर्णन करके दिखाते हैं,—

यद्वद्देशान्तरादेत्य वसन्ति विहगा नगे ।
तथा जन्मान्तरान्मूढ प्राणिनः कुलपादपे ॥ ३० ॥

अर्थ—जैसे पक्षी नानादेशोंसे आ आकर सन्ध्याके समय वृक्षोंपर वसते हैं, तैसे ही

ये प्राणीजन अन्यान्य जन्मोंसे आ आकर कुलरूपी वृक्षोंपर वसते हैं, अर्थात् जन्म लेते हैं। और—

प्रातस्तरुं परित्यज्य यथैते यान्ति पत्रिणः।
स्वकर्मवशगाः शश्वत्तथैते क्वापि देहिनः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार वे पक्षी प्रभातके समय उस वृक्षको छोड़कर अपना २ रस्ता लेते हैं, उस ही प्रकार यह प्राणी भी आयु पूर्ण होनेपर अपने २ कर्मानुसार अपनी २ गतिमें चले जाते हैं ॥ ३१ ॥

फिर अन्य प्रकारसे कहते हैं,—

गीयते यत्र सानन्दं पूर्वाह्ने ललितं गृहे।
तस्मिन्नेव हि मध्याह्ने सदुःखमिह रुद्यते ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस घरमें प्रभातके समय आनन्दोत्साहके साथ सुन्दर २ मंगलीक गीत गाये जाते हैं, मध्याह्नके समय उसी ही घरमें दुःखके साथ रोना सुना जाता है। तथा—

यस्य राज्याभिषेकश्रीः प्रत्यूषेऽत्र विलोक्यते।
तस्मिन्नहनि तस्यैव चिताधूमश्च दृश्यते ॥ ३३ ॥

अर्थ—प्रभातके समय जिसके राज्याभिषेककी शोभा देखी जाती है, उसी दिन उस राजाकी चिताका धूआं देखनेमें आता है। यह संसारकी विचित्रता है ॥ ३३ ॥

अब जीवोंके शरीरकी अवस्था कहते हैं,—

अत्र जन्मनि निर्वृत्तं यैः शरीरं तवाणुभिः।
प्राक्तनान्यत्र तैरेव खण्डितानि सहस्रशः ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस संसारमें जिन परमाणुओंसे तेरा यह शरीर रचा गया है, उन्हीं परमाणुओंने इस शरीरसे पहिले तेरे हजारों शरीर खंड खंड किये हैं। **भावार्थ**—पुराने परमाणु तो इस शरीरमेंसे खिरते हैं और नये परमाणु स्थानापन्न होते जाते हैं। इस कारण वे ही परमाणु तो शरीरको रचते हैं और वे ही विगाड़नेवाले हैं। शरीरकी यह दशा है ॥ ३४ ॥

शरीरत्वं न ये प्राप्ता आहारत्वं न येऽणवः।
भ्रमतस्ते चिरं भ्रातर्यन्न ते सन्ति तद्गृहे ॥ ३५ ॥

अर्थ—हे भाई! तेरे इस संसारमें बहुत कालसे भ्रमण करते हुए जो परमाणु शरीरताको तथा आहारताको प्राप्त नहीं हुए, ऐसे बचे हुए परमाणु कोई भी नहीं हैं। **भावार्थ**—इस शरीरमें ऐसे परमाणु नहीं हैं, जो पहिले अनन्त परावर्त्तनमें शरीररूप या आहाररूपसे ग्रहणकरनेमें नहीं आये हों ॥ ३५ ॥

सुरोरगनरैश्वर्यं शक्रकार्मुकसन्निभम् ।
सद्यः प्रध्वंसमायाति दृश्यमानमपि स्वयम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो सुर (कल्पवासी देव), उरग (भवनवासी देव), और मनुष्योंके इन्द्र अर्थात् चक्रवर्त्तीपनेके ऐश्वर्य (विभव) हैं, वे सब इन्द्रधनुषके समान हैं, अर्थात् देखनेमें तो अति सुंदर दीख पडते हैं; परन्तु देखते २ विलय जाते हैं ॥ ३६ ॥

फिर अन्यप्रकार दृष्टान्तसे कहते हैं,—

यान्त्येव न निवर्त्तन्ते सरितां यद्वदूर्मयः ।
तथा शरीरिणां पूर्वा गता नायान्ति भूतयः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार नदीकी जो लहरें जाती हैं, वे फिर लौटकर कभी नहीं आती हैं; इसीप्रकार जीवोंकी जो विभूति पहिले होती है, वह नष्ट होनेके पश्चात् फिर लौटकर नहिं आती । यह प्राणी वृथा ही हर्षविषाद करता है ॥ ३७ ॥

आगे फिर इसी अर्थको सूचित कहते हैं—

क्वचित्सरित्तरंगाली गतापि विनिवर्त्तते ।
न रूपबललावण्यं सौन्दर्यं तु गतं नृणाम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—नदीकी लहरें कदाचित् कहीं लौट भी आती हैं, परन्तु मनुष्योंका गया हुआ रूप, बल, लावण्य और सौन्दर्य फिर नहिं आता । यह प्राणी वृथा ही उनकी आशा लगाये रहता है ॥ ३८ ॥

आगे फिर भी आयु और यौवनकी व्यवस्थाका दृष्टान्त देते हैं,—

गलत्येवायुरव्यग्रं हस्तन्यस्ताम्बुवत्क्षणे ।
नलिनीदलसंक्रान्तं प्रालेयमिव यौवनम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जीवोंका आयुर्बल तो अञ्जलिके जलसमान क्षण क्षणमें निरन्तर झरता है और यौवन कमलिनीके पत्रपर पड़े हुए जलबिंदुके समान तत्काल ढलक जाता है । यह प्राणी वृथा ही स्थिरताकी इच्छा रखता है ॥ ३९ ॥

आगे मनोज्ञविषयोंकी व्यवस्थाका दृष्टान्त कहते हैं,—

मनोज्ञविषयैः सार्द्धं संयोगाः स्वप्नसन्निभाः ।
क्षणादेव क्षयं यान्ति वञ्चनोद्धतबुद्धयः ॥ ४० ॥

अर्थ—जीवोंके मनोज्ञ विषयोंके साथ संयोग स्वप्नके समान हैं, क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं । जिनकी बुद्धि ठगनेमें उद्धत है, ऐसे ठगोंकी भांति ये किंचित्काल चमत्कार दिखाकर फिर सर्वस्व हरनेवाले हैं ॥ ४० ॥

अब अन्य सामग्रीकी व्यवस्था कैसी है, यह दिखाते हैं,—

घनमालानुकारीणि कुलानि च बलानि च ।
राज्यालङ्कारवित्तानि कीर्त्तितानि महर्षिभिः ॥ ४१ ॥

अर्थ—महर्षियोंने जीवोंके कुल–कुटुंब, बल, राज्य अलंकार, धनादिकोंको मेघपटलोंके समूह समान देखते २ विलुप्त होनेवाले कहे हैं । यह मूढप्राणी वृथा ही नित्यकी बुद्धि करता है ॥ ४१ ॥

अब शरीरको निःसार बताते हैं,

फेनपुञ्जेऽथवा रम्भास्तम्भे सारः प्रतीयते ।
शरीरे न मनुष्याणां दुर्बुद्धे विद्धि वस्तुतः ॥ ४२ ॥

अर्थ—हे दुर्बुद्धि मूढप्राणी ! वास्तवमें देखा जाय, तो झागोंके समूहमें तथा केलेके थंभमें तो कुछ सार प्रतीत होता भी है, परन्तु मनुष्योंके शरीरमें तो कुछ भी सार नहीं है, । **भावार्थ**—यह दुर्बुद्धि प्राणी मनुष्यके शरीरमें कुछ सार समझता है, इससे कहा गया है कि, इसमें कुछ भी सार नहीं है । मरनेके पीछे यह शरीर भस्म कर दिया जाता है तथा अवशेष कुछ भी नहिं रहता । यह प्राणी वृथा ही शरीरको सार जानता है ॥ ४२ ॥

फिर भी कहते हैं,—

यातायातानि कुर्वन्ति ग्रहचन्द्रार्कतारकाः ।
ऋतवश्च शरीराणि न हि स्वप्नेऽपि देहिनाम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—इस लोकमें ग्रह, चन्द्र सूर्य तारे तथा छहऋतु आदि सब ही जाते और आते हैं, अर्थात् निरन्तर गमनागमन करते रहते हैं । परन्तु जीवोंके गये हुए शरीर स्वप्नमें भी कभी लौटकर नहिं आते । यह प्राणी वृथा ही इनसे प्रीति करता है ॥ ४३ ॥

ये जाताः सातरूपेण पुद्गलाः प्राङ्मनःप्रियाः ।
पश्य पुंसां समापन्ना दुःखरूपेण तेऽधुना ॥ ४४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस जगतमें जो पुद्गलस्कन्ध पहिले जिन पुरुषोंके मनको प्रिय और सुखके देनेवाले उपजे थे, वे ही अब दुःखके देनेवाले हो गये हैं, उन्हें देख । अर्थात् जगतमें ऐसा कोई भी नहीं है जो शाश्वत सुखरूप ही रहता हो ॥ ४४ ॥

अब सामान्यतासे कहते हैं,—

मोहाञ्जनमिवाक्षाणामिन्द्रजालोपमं जगत् ।
मुह्यत्यस्मिन्नयं लोको न विद्मः केन हेतुना ॥ ४५ ॥

अर्थ—यह जगत इन्द्रजालवत् है । प्राणियोंके नेत्रोंको मोहनीअञ्जनके समान भुलाता है, और लोग इसमें मोहको प्राप्त होकर अपनेको भूल जाते हैं, अर्थात् लोक

धोखा खाते हैं। अतः आचार्य महाराज कहते हैं कि, हम नाहिं जानते ये लोग किस कारणसे भूलते हैं। यह प्रवल मोहका माहात्म्य ही है ॥ ४५ ॥

ये चात्र जगतीमध्ये पदार्थाश्चेतनेतराः ।
ते ते मुनिभिरुद्दिष्टाः प्रतिक्षणविनश्वराः ॥ ४६ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो जो चेतन और अचेतन पदार्थ हैं, उन्हें सव महर्षियेंाने क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले और विनाशीक कहे हैं। यह प्राणी इन्हें नित्यरूप मानता है, यह भ्रम मात्र है ॥ ४६ ॥

अव संक्षेपतासे कहकर अनित्य भावनाके कथनको संकुचित करते हैं,—

मालिनी।

गगननगरकल्पं सङ्गमं वल्लभानाम्
जलदपटलतुल्यं यौवनं वा धनं वा ।
सुजनसुतशरीरादीनि विद्युच्चलानि
क्षणिकमिति समस्तं विद्धि संसारवृत्तम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि; हे प्राणी! वल्लभा अर्थात् प्यारी स्त्रियोंका संगम आकाशमें देवोंसे रचे हुए नगरके समान है, अतः तुरन्त विलुप्त हो जाता है। और तेरा यौवन वा धन जलदपटलके समान है, सो भी क्षणकमें नष्ट हो जानेवाला है। तथा स्वजन-परिवारके लोग पुत्र शरीरादिक विजुलीके समान चंचल हैं। इस प्रकार इस जगतकी अवस्था अनित्य जानके नित्यताकी वुद्धि मत रख ॥ ४७ ॥

इस भावनाका संक्षेप यह है कि, यह लोक षड्द्रव्यमयी है। इसे द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय, तो छहों द्रव्य अपने २ स्वरूपमें शाश्वते अर्थात नित्य विराजते हैं। परन्तु इनकी पर्यायें (अवस्थायें) स्वभाव विभावरूप उत्पन्न होतीं और विनशती रहती हैं अतः ये अनित्य हैं। संसारी जीवोंको द्रव्यके वास्तविक स्वरूपका तो ज्ञान होता नहीं, अतः वे पर्यायहीको वस्तु-स्वरूप मानकर उसमें नित्यताकी वुद्धिसे ममत्व वा रागद्वेषादि करते हैं। इस कारण यह उपदेश है कि "पर्याय वुद्धिका एकान्त छोड़कर द्रव्यदृष्टिसे अपने स्वरूपको कथंचित् नित्य जान और उसका ध्यान करके लयको प्राप्त होकर वीतराग विज्ञानदशाको प्राप्त होइये"।

दोहा

द्रव्यरूपकरि सर्व थिर, परजै थिर है कौन?।
द्रव्यदृष्टि आपा लखौ, पर्ययनयकरि गौन ॥ १ ॥

इति अनित्यभावना ॥ १ ॥

अथ अशरणभावना लिख्यते।

आगे अशरणभावनाका व्याख्यान करते हैं—सो प्रथम ही कहते हैं कि, जब जीवका काल (मृत्यु) आता है, तो कोई भी शरण नहीं है,—

न स कोऽप्यस्ति दुर्बुद्धे शरीरी भुवनत्रये।
यस्य कण्ठे कृतान्तस्य न पाशः प्रसरिष्यति॥ १॥

अर्थ—हे मूढ दुर्बुद्धि प्राणी! तू जो किसीकी शरण चाहता है, सो इस त्रिभुवनमें ऐसा कोई भी शरीरी (जीव) नहीं है कि, जिसके गलेमें कालकी फांसी नहीं पड़ती हो। **भावार्थ**—समस्त प्राणी कालके वश हैं॥ १॥

समापतति दुर्वारे यमकण्ठीरवक्रमे।
त्रायते तु नहि प्राणी सोद्योगैस्त्रिदशैरपि॥ २॥

अर्थ—जब यह प्राणी दुर्निवार कालरूपी सिंहके पांवतले आजाता है, तब उद्यमशील देवगण भी इसकी रक्षा नहिं कर सकते हैं; अन्य मनुष्यादिकोंकी तो क्या सामर्थ्य है कि, रक्षाकर सकें॥ २॥

सुरासुरनराहीन्द्रनायकैरपि दुर्द्धरा।
जीवलोकं क्षणार्धेन बध्नाति यमवागुरा॥ ३॥

अर्थ—यह कालका जाल अथवा फंदा ऐसा है कि, क्षणमात्रमें जीवोंको फांस लेता है और सुरेन्द्र असुरेन्द्र नरेन्द्र तथा नागेन्द्र भी इसका निवारण नहीं कर सकते हैं॥ ३॥

अब कहते हैं कि, यह काल अद्वितीय सुभट है,—

जगत्त्रयजयी वीर एक एवान्तकः क्षणे।
इच्छामात्रेण यस्यैते पतन्ति त्रिदशेश्वराः॥ ४॥

अर्थ—यह काल तीन जगतको जीतनेवाला अद्वितीय सुभट है, क्योंकि इसकी इच्छामात्रसे देवोंके इन्द्र भी क्षणमात्रमें गिर पडते हैं, अर्थात् स्वर्गसे च्युत हो जाते हैं। फिर अन्यकी कथा ही क्या है?॥ ४॥

आगे कहते हैं कि, जो मृत्यु-प्राप्त-पुरुषका शोक करते हैं वे मूर्ख हैं,—

शोच्यन्ते स्वजनं मूर्खाः स्वकर्मफलभोगिनम्।
नात्मानं बुद्धिविध्वंसा यमदंष्ट्रान्तरस्थितम्॥ ५॥

अर्थ—यदि अपना कोई कुटुंबीजन अपने कर्मवशात् मरणको प्राप्त हो जाता है, तो नष्टबुद्धि मूर्खजन उसका शोच करते हैं; परन्तु आप स्वयम् यमराजकी दाढोंमें आया हुआ है, इसकी चिन्ता कुछ भी नहीं करता है! यह बडी मूर्खता है॥ ५॥

फिर कहते हैं कि, पूर्वकालमें बडे २ पुरुष प्रलयप्राप्त होगये,—

यस्मिन्संसारकान्तारे यमभोगीन्द्रसेविते ।
पुराणपुरुषाः पूर्वमनन्ताः प्रलयं गताः ॥ ६ ॥

अर्थ—कालरूप सर्पसे सेवित संसाररूपी वनमें पूर्वकालमें अनेक पुराण पुरुष (शलाका-पुरुष) प्रलयको प्राप्त हो गये, उनका विचारकर शोक करना वृथा है ॥ ६ ॥

फिर भी कालकी प्रबलता दिखाते हैं,—

प्रतीकारशतेनापि त्रिदशैर्न निवार्यते ।
यत्रायमन्तकः पापी नृकीटैस्तत्र का कथा ॥ ७ ॥

अर्थ—जब यह पापस्वरूप यम देवताओंके सैंकड़ों उपायोंसे भी नहिं निवारण किया जाता है, तब मनुष्यरूपी कीड़ेकी तो बात ही क्या? **भावार्थ**—काल दुर्निवार है ॥ ७ ॥

गर्भादारभ्य नीयन्ते प्रतिक्षणमखण्डितैः ।
प्रयाणैः प्राणिनो मूढ कर्मणा यमसन्दिरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! आयुनामा कर्म जीवोंको गर्भावस्थाहीसे निरन्तर प्रतिक्षण अपने प्रयाणोंसे (मंजिलोंसे) यममंदिरकी तरफ ले जाता है सो उसे देख! ॥ ८ ॥

यदि दृष्टः श्रुतो वास्ति यमाज्ञावञ्चको बली ।
तमाराध्य भज स्वास्थ्यं नैव चेत्किं वृथा श्रमः ॥ ९ ॥

अर्थ—हे प्राणी! यदि तूने किसीको यमराजकी आज्ञाका लोप करनेवाला बलवान् पुरुष देखा वा सुना हो, तो तू उसीकी सेवा कर! अर्थात् उसकी शरण लेकर निश्चिन्त हो रह; और यदि ऐसा कोई बलवान् देखा वा सुना नहिं है, तो तेरा खेद करना व्यर्थ है ॥ ९ ॥

परस्यैव न जानाति विपत्तिं स्वस्य मूढधीः ।
वने सत्त्वसमाकीर्णे दह्यमाने तरुस्थवत् ॥ १० ॥

अर्थ—ये मूढजन दूसरोंकी आई हुई आपदाओंको इस प्रकार नहिं जानते; जैसे असंख्य जीवोंसे भरा हुआ वन जलता हो और वृक्षपर बैठा हुआ मनुष्य कहै कि, देखो ये सब जीव जल रहे हैं; परन्तु यह नहिं जाने कि, जब यह वृक्ष जलेगा, तब मैं भी इनके समान ही जल जाऊंगा। यह बड़ी मूर्खता है ॥ १० ॥

यथा बालं तथा वृद्धं यथाढ्यं दुर्विधं तथा ।
यथा शूरं तथा भीरुं साम्येन ग्रसतेऽन्तकः ॥ ११ ॥

अर्थ—यह काल जैसे बालकको ग्रसता है, तैसे ही वृद्धको भी ग्रसता है। और जैसे धनाढ्यपुरुषको ग्रसता है, उसी प्रकार दरिद्रको भी ग्रसता है। तथा जैसे शूरवीरको ग्रसता है, उसी प्रकार कायरको भी ग्रसता है। एवम् प्रकार जगतके सब ही जीवोंको समान भा-

वसे ग्रसता है। किसीमें भी इसका हीनाधिक विचार नहीं है, इसी कारणसे इसका एक नाम समवर्ती भी है ॥ ११ ॥

आगे कहते हैं कि, इस कालको कोई भी नहिं निवार सकता,—

गजाश्वरथसैन्यानि मन्त्रौषधबलानि च।
व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि विपक्षे देहिनां यमे ॥ १२ ॥

अर्थ—जब यह काल जीवोंके विरुद्ध होता है अर्थात् जगतके जीवोंको ग्रसता है तथा नष्ट करता है, तब हाथी घोड़ा रथ सेना मन्त्र तन्त्र औषधादि सब ही व्यर्थ हो जाते हैं। **भावार्थ**—जब मृत्यु (काल) आती है, तब इस जीवको कोई भी नहिं बचा सकता ॥ १२ ॥

विक्रमैकरसस्तावज्जनः सर्वोऽपि वल्गति।
न शृणोत्यदयं यावत्कृतान्तहरिगर्जितम् ॥ १३ ॥

अर्थ—पराक्रम ही है अद्वितीय रस जिसके, ऐसा यह मनुष्य तब तक ही उद्धत होकर दौड़ता कूदता है, जब तक कि कालरूपी सिंहकी गर्जनाका शब्द नहिं सुनता। अर्थात् तेरी मौत आ गई ऐसा शब्द सुनते ही सब खेल कूद भूल जाता है ॥ १३ ॥

अकृताभीष्टकल्याणमसिद्धारब्धवाञ्छितम्।
प्रागेवागत्य निस्त्रिंसो हन्ति लोकं यमः क्षणे ॥ १४ ॥

अर्थ—यह काल ऐसा निर्दयी है कि, जिन्होंने अपना मनोवांछित कल्याणरूप कार्य नहिं किये और न अपने प्रारंभ किये हुए कार्योंको पूर्ण कर पाये, ऐसे लोगोंको यह सबसे पहिले आकर तत्काल मार डालता है। लोगोंके कार्य जैसेके तैसे अधूरे ही धरे रह जाते हैं ॥ १४ ॥

फिर भी जीवोंके अज्ञानपनको दिखाते हैं,—

स्रग्धरा।

भ्रूभङ्गारम्भभीतं स्खलति जगदिदं ब्रह्मलोकावसानम्
सद्यस्त्रुट्यन्ति शैलाश्चरणगुरुभराक्रान्तधात्रीवशेन।
येषां तेऽपि प्रवीराः कतिपयदिवसैः कालराजेन सर्वे
नीता वार्त्तावशेषं तदपि हतधियां जीवितेऽप्युद्धताशा ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनकी भौंहकेकटाक्षोंके प्रारंभमात्रसे ब्रह्मलोक पर्यन्तका यह जगत् भयभीत हो जाता है, तथा जिनके चरणोंके गुरुभारके कारण पृथिवीके दबनेमात्रसे पर्वत तत्काल खंड २ हो जाते हैं, ऐसे २ सुभटोंको भी जिनकी कि, अब कहानी मात्र ही सुननेमें आती है, इस कालने खा लिया है; फिर यह हीनबुद्धि जीव अपने जीनेकी वडी भारी आशा रखता है, यह कैसी वडी भूल है ॥ १५ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

रुद्राशागजदेवदैत्यखचरग्राहग्रहव्यन्तरा-
दिक्पालाः प्रतिशत्रवो हरिबला व्यालेन्द्रचक्रेश्वराः ।
ये चान्ये मरुदर्यमादिबलिनः संभूय सर्वे स्वयम्
नारब्धं यमकिङ्करैः क्षणमपि त्रातुं क्षमा देहिनम् ॥ १६ ॥

अर्थ—रुद्र, दिग्गज, देव, दैत्य, विद्याधर, जलदेवता, ग्रह, व्यन्तर, दिक्पाल, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र, धरणीन्द्र, चक्रवर्त्ति, तथा पवन देव सूर्यादि बलिष्ठ देहधारी, सब एकत्र होकर भी कालके किंकर स्वरूप कालकी कलासे आरंभ किये अर्थात् पकड़े हुए प्राणीको क्षणमात्र भी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं। भावार्थ—कोई ऐसा समझता होगा कि, मृत्युसे बचावनेवाला कोई तो इस जगतमें अवश्य होगा, परन्तु ऐसा समझना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि कालसे—मृत्युसे रक्षा करनेवाला न तो कोई हुआ और न कभी कोई होगा ॥ १६ ॥

फिर भी उपदेश करते हैं,—

आरब्धा मृगबालिकेव विपिने संहारदन्तिद्विषा
पुंसां जीवकला निरेति पवनव्याजेन भीता सती ।
त्रातुं न क्षमसे यदि क्रमपदप्राप्तां वराकीमिमां
न त्वं निर्घृण लज्जसेऽत्र जनने भोगेषु रन्तुं सदा ॥ १७ ॥

अर्थ—हे मूढप्राणी ! जिस प्रकार वनमें मृगकी बालिकाको सिंह पकडनेका आरंभ करता है और वह भयभीत होकर भागती है; उसी प्रकार जीवोंके जीवनकी कला कालरूपी सिंहसे भयभीत होकर उच्छ्वासके बहानेसे बाहर निकलती है अर्थात् भागती है। और जिस प्रकार वह मृगकी बालिका सिंहके पावोंतले आ जाती है, उसी प्रकार जीवोंके जीवनकी कला कालके अनुक्रमसे अन्तको प्राप्त हो जाती है। अतएव तू इस निर्बलकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है, और हे निर्दयी ! तू इस जगतमें रमनेको उद्यमी होकर प्रवृत्ति करता है और लज्जित नहिं होता है, यह तेरा निर्दयपन है। क्योंकि सत्पुरुषोंकी ऐसी प्रवृत्ति होती है कि, जो कोई किसी असमर्थप्राणीको समर्थ दबावै, तो अपने समस्त कार्य छोडकर उसकी रक्षा करनेका विचार करते हैं और तू कालसे हनते हुए प्राणियोंको देखकर भी भोगोंमें रमता है और सुकृत करके अपनेको नहिं बचाता है, यह तेरी बडी निर्दयता है ॥ १७ ॥

स्रग्धरा ।

पाताले ब्रह्मलोके सुरपतिभवने सागरान्ते वनान्ते
दिक्चक्रे शैलशृङ्गे दहनवनहिमध्वान्तवज्रासिदुर्गे ।

भूगर्भे सन्निविष्टं समदकरिघटा सङ्कटे वा बलीयान्
कालोऽयं क्रूरकर्मा कवलयति बलाज्जीवितं देहभाजां ॥ १८ ॥

अर्थ—यह काल बडा बलवान् और क्रूरकर्मा अर्थात् दुष्ट है। जीवोंको पातालमें, ब्रह्मलोकमें, इन्द्रके भवनमें, समुद्रके तट, वनके पार, दिशावोंके अन्तमें, पर्वतके शिखरपर, अग्निमें, जलमें, हिमालयमें, अंधकारमें, वज्रमयी स्थानमें, तलवारोंके पहरेमें, गढ कोट भूमि घरमें, तथा मदोन्मत्त हस्तियोंके समूह इत्यादि किसी भी स्थानमें, यत्नपूर्वक बिठाओ, तौ भी यह काल बलात्कारपूर्वक जीवोंके जीवनको ग्रसीभूत कर लेता है। इस कालके आगे किसीका भी वश नहिं चलता ॥ १८ ॥

अब अशरणभावनाका वर्णन पूरा करनेकेलिये कथनको संकोचते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम्।

अस्मिन्नन्तकभोगिवक्त्रविवरे संहारदंष्ट्राङ्किते
संसुप्तं भुवनत्रयं स्मरगरव्यापारमुग्धीकृतम्।
प्रत्येकं गिलतोऽस्य निर्दयधियः केनाप्युपायेन वै
नास्मान्निःसरणं तवार्य कथमप्यत्यक्षबोधं विना ॥ १९ ॥

अर्थ—हे आर्य सत्पुरुष! अन्तसमयरूपी दाढसे चिह्नित कालरूप सर्पके मुखरूपी विवरमें कामरूपी विषकी गहलतासे मूर्छित भुवनत्रयके प्राणी गाढनिद्रामें सो रहे हैं, उनमें प्रत्येकको यह निर्दयबुद्धि काल निगलता जाता है। परन्तु प्रत्यक्षज्ञानकी प्राप्तिके विना इस कालके पंजेसे निकलनेका और कोई भी उपाय नहीं है अर्थात् अपने ज्ञान व स्वरूपका शरण लेनेसे ही इस कालसे रक्षा हो सकती है। इस प्रकार अशरण भावनाका वर्णन किया है ॥ १९ ॥

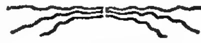
इस भावनाका संक्षेप यह है कि, निश्चयसे तो समस्तद्रव्य अपनी २ शक्तिके भोगनेवाले हैं तथा कोई किसीका कर्त्ता हर्त्ता नहीं है। किन्तु व्यवहार दृष्टिसे निमित्त नैमित्तिक भाव देखकर यह जीव किसीके शरणकी कल्पना करता है, यह नोकर्मके उदयका माहात्म्य है। इस कारण यदि निश्चय दृष्टिसे विचारा जाय, तो अपनी आत्माहीका शरण है और व्यवहार दृष्टिसे विचार किया जाय, तो परंपराय सुखके कारण वीतरागताको प्राप्त हुए पंचपरमेष्ठिका ही शरण है; क्योंकि ये वीतरागताके एकमात्र कारण हैं, अतएव अन्यका शरण छोड़कर उक्त दो ही शरणको विचारना चाहिये।

सोरठा।

जगमें शरणा दोय शुद्धातम अरु पंचगुरु।
आन कलपना होय, मोह उदय जियकै वृथा ॥ २ ॥

इति अशरणभावना ॥ २ ॥

अथ संसारभावना लिख्यते ।



आगे संसार भावनाका व्याख्यान करते हैं,—

चतुर्गतिमहावर्त्ते दुःखवाडवदीपिते ।
भ्रमन्ति भविनोऽजस्रं वराका जन्मसागरे ॥ १ ॥

अर्थ—चार गतिरूप महा आवर्त्त (भौंरें) वाले तथा दुःखरूप बडवानलसे प्रज्ज्वलित इस संसाररूपी समुद्रमें जगत्के दीन, अनाथ प्राणी निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं ॥१॥

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते स्वकर्मनिगडैर्वृताः ।
स्थिरेतरशरीरेषु संचरन्तः शरीरिणः ॥ २ ॥

अर्थ—ये जीव अपने २ कर्मरूपी बेड़ियोंसे बंधे स्थावर और त्रस शरीरोंमें संचार करते हुए मरते और उपजते हैं,—

कदाचिद्देवगत्यायुर्नामकर्मोदयादिह ।
प्रभवन्त्यङ्गिनः स्वर्गे पुण्यप्राग्भारसंभृताः ॥ ३ ॥

अर्थ—कभी तो यह जीव देवगति–नामकर्म और देवायुकर्मके उदयसे पुण्यकर्मके समूहोंसे भरे स्वर्गोंमें देव उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

कल्पेषु च विमानेषु निकायेष्वितरेषु च ।
निर्विशन्ति सुखं दिव्यमासाद्य त्रिदिवश्रियम् ॥ ४ ॥

अर्थ—और वहां देवगतिमें कल्पवासियोंके विमानोंमें तथा भवनवासी ज्योतिषी तथा व्यन्तर–देवोंमें उनकी लक्ष्मी पाकर देवोपनीत सुखोंको भोगता है ॥ ४ ॥

प्रच्यवन्ते ततः सद्यः प्रविशन्ति रसातलम् ।
भ्रमन्त्यनिलवद्विश्वं पतन्ति नरकोदरे ॥ ५ ॥

अर्थ—फिर उस देवगतिसे च्युत होकर पृथिवीतलपर आता है और वहां पवनके समान जगतमें भ्रमण करता है; तथा नरकोंमें गिरता है ॥ ५ ॥

विडम्बयत्यसौ हन्त संसारः समयान्तरे ।
अधमोत्तमपर्यायैर्नियोज्य प्राणिनां गणम् ॥ ६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज आश्चर्य करते हैं कि, देखो यह संसार जीवोंके समूहको समयान्तरमें ऊंची नीची पर्यायोंसे जोड़कर विडम्बनारूप करता है और जीवके स्वरूपको अनेक प्रकारसे बिगाडता है ॥ ६ ॥

स्वर्गी पतति साक्रन्दं श्वा स्वर्गमधिरोहति ।
श्रोत्रियः सारमेयः स्यात् कृमिर्वा श्वपचोऽपि वा ॥ ७ ॥

अर्थ—अहो ! देखो ! स्वर्गका देव तो रोता पुकारता तथा स्वर्गसे नीचे गिरता है और कुत्ता स्वर्गमें जाकर देव होता है ! एवम् श्रोत्रिय अर्थात् क्रियाकांडका अधिकारी अस्पर्श रहनेवाला ब्राह्मण मरकर कुत्ता कृमि अथवा चंडालादि हो जाता है ! इसप्रकार इस संसारकी विडंबना है ॥ ७ ॥

रूपाण्येकानि गृह्णाति त्यजत्यन्यानि सन्ततम् ।
यथा रङ्गेऽत्र शैलूषस्तथायं यन्त्रवाहकः ॥ ८ ॥

अर्थ—यह यंत्रवाहक (प्राणी) संसारमें अनेक रूपोंको ग्रहण करता है और अनेक रूपोंको छोडता है । जिस प्रकार नृत्यके रंगमञ्चपर नृत्य करनेवाला भिन्न २ स्वाँगोको धरता है, उसी प्रकार यह जीव निरन्तर भिन्न २ स्वांग (शरीर) धारण करता रहता है ॥ ८ ॥

सुतीव्रासातासंतप्ताः मिथ्यात्वातङ्कतर्किताः ।
पञ्चधा परिवर्त्तन्ते प्राणिनो जन्मदुर्गमे ॥ ९ ॥

अर्थ—इस संसाररूपी दुर्गम बनमें संसारीजीव मिथ्यात्वरूपी रोगसे शंकित अतिशयतीव्र असातावेदनीसे दुःखित होते हुए पांच प्रकारके परिवर्तनोंमें भ्रमण करते रहते हैं ॥ ९ ॥

उन पांच प्रकारके परिवर्त्तनोंका नाम कहते हैं,—

द्रव्यक्षेत्रे तथा कालभवभावविकल्पतः ।
संसारो दुःखसंकीर्णः पञ्चधेति प्रपञ्चितः ॥ १० ॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, तथा भावके भेदसे संसार पांच प्रकारके विस्ताररूप दुःखोंसे व्याप्त कहा गया है । इन पांच प्रकारके परिवर्त्तनोंका स्वरूप विस्तारपूर्वक अन्यग्रन्थोंसे जानना ॥ १० ॥

सर्वैः सर्वेऽपि सम्बन्धाः संप्राप्ता देहधारिभिः ।
अनादिकालसंभ्रान्तैस्त्रसस्थावरयोनिषु ॥ ११ ॥

अर्थ—इस संसारमें अनादिकालसे फिरते हुए जीवोंने समस्तजीवोंके साथ पिता पुत्र भ्राता माता पुत्री स्त्री आदिक सम्बन्ध अनेकवार पाये हैं । ऐसा कोई भी जीव वा सम्बन्ध वाकी नहिं रहा, जो इस जीवने न पाया हो ॥ ११ ॥

देवलोके नृलोके च तिरश्चि नरकेऽपि च ॥
न सा योनिर्न तद्रूपं न तद्देशो न तत्कुलम् ॥ १२ ॥
न तद्दुःखं सुखं किञ्चिन्न पर्यायः स विद्यते ।
यत्रैते प्राणिनः शश्वद्यातायातैर्न खण्डिताः ॥ १३ ॥

अर्थ—इस संसारमें चतुर्गतिमें फिरते हुए जीवके वह योनि वा रूप, देश, कुल,

तथा वह सुख, दुःख, वा पर्याय नहीं है, जो निरन्तर गमनागमन करनेसे प्राप्त न हुई हो। **भावार्थ**–सर्व ही अवस्थाओंमें अनेकवार भोगनी पडती हैं तथा विनाभोगा कुछ भी नहीं है ॥ १३ ॥

न के बन्धुत्वमायाताः न के जातास्तव द्विषः।
दुरन्तागाधसंसारपङ्कमग्नस्य निर्दयम् ॥ १४ ॥

अर्थ—हे प्राणी! इस दुरन्त अगाध संसाररूपी कर्दम (कीच) में फँसे हुए तेरे, ऐसे कौनसे जीव हैं, जो मित्र वा शत्रु नहिं हुए? अर्थात् सब जीव तेरे शत्रु वा बंधु हो गये हैं ॥ १४ ॥

भूपः क्रमिर्भवत्यत्र क्रमिश्चामरनायकः।
शरीरी परिवर्त्तेत कर्मणा वञ्चितो बलात् ॥ १५ ॥

अर्थ—इस संसारमें यह प्राणी कर्मोंसे बलात् वञ्चित हो राजासे तो मरकर क्रमि (लट) हो जाता है और क्रमिसे मरकर क्रमसे देवोंका इन्द्र हो जाता है। इस प्रकार परस्पर ऊंची गतिसे नीची गति और नीचीसे ऊंची गति पलटती ही रहती है ॥ १५ ॥

माता पुत्री स्वसा भार्या सैव संपद्यतेऽङ्गजा।
पिता पुत्रः पुनः सोऽपि लभते पौत्रिकं पदम् ॥ १६ ॥

अर्थ—इस संसारमें प्राणीकी माता तो मरकर पुत्री हो जाती है और बहन मरकर स्त्री हो जाती है, और फिर वही स्त्री मरकर आपकी पुत्री भी हो जाती है। इसी प्रकार पिता मरकर पुत्र हो जाता है तथा फिर वही मरकर पुत्रका पुत्र हो जाता है। इस प्रकार परिवर्त्तन होता ही रहता है ॥ १६ ॥

अब संसारभावनाका वर्णन पूरा करते हैं और उसे सामान्यतासे कहते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम्।

श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहतै-
स्तिर्यक्षु श्रमदुःखपावकशिखासंभारभस्मीकृतैः।
मानुष्येऽप्यतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतैः
संसारेऽत्र दुरन्तदुर्गतिमये बम्भ्रम्यते प्राणिभिः ॥ १७ ॥

अर्थ—इस दुर्निवार दुर्गतिमय संसारमें जीव निरन्तर भ्रमण करते हैं। नरकोंमें तो ये शूली, कुल्हाड़ी, घाणी, अग्नि, क्षार, जल, छुरा, कटारी आदिसे पीड़ाको प्राप्त हुए नाना प्रकारके दुःखोंको भोगते हैं और तिर्यंचगतिमें अग्निकी शिखाके भारसे भस्मरूप खेद और दुःख पाते हैं। तथा मनुष्यगतिमें भी अतुल्यखेदके वशीभूत होकर नाना प्रकारके दुःख भोगते हैं। इसी प्रकार देवगतिमें रागभावसे उद्धत होकर दुःख सहते हैं।

अर्थात् चारों ही गतिमें दुःख पाते हैं, इन्हें सुख कहीं भी नहीं हैं। इस प्रकार संसारभावनाका वर्णन किया ॥ १७ ॥

इसका संक्षेप यह है कि, संसारका कारण अज्ञानभाव है। अज्ञानभावसे परद्रव्योंमें मोह तथा रागद्वेषकी प्रवृत्ति होती है। रागद्वेषकी प्रवृत्तिसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धका फल चारों गतिमें भ्रमण करना है, सो कार्य है। यहां कार्य और कारण दोनोंहीको संसार कहते हैं। यहां कार्यका वर्णन विशेषतासे किया गया है, क्योंकि व्यवहारी जीवको कार्यरूप संसारका अनुभव विशेषतासे है। परमार्थसे अज्ञानभाव ही संसार है।

दोहा।

परद्रव्यनतें प्रीति जो, है संसार अबोध।
ताको फल गति चारमें, भ्रमण कह्यो श्रुतशोध ॥ ३ ॥

इति संसारभावना ॥ ३ ॥

अथ एकत्वभावना लिख्यते।

अब एकत्वभावनाका व्याख्यान करते हैं, सो प्रथम ही यह कहते हैं, कि यह आत्मा समस्त अवस्थाओंमें एक ही होता है,—

महाव्यसनसंकीर्णे दुःखज्वलनदीपिते।
एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले ॥ १ ॥

अर्थ—महा आपदाओंसे भरे हुए दुःखरूपी—अग्निसे प्रज्वलित और गहन ऐसे संसाररूपी मरुस्थलमें (जल-वृक्षादि-हीन रेतीली भूमिमें) यह जीव अकेला ही भ्रमण करता है। कोई भी इसका साथी नहीं है ॥ १ ॥

स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं फलं भोक्तुं शुभाशुभम्।
शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा ॥ २ ॥

अर्थ—इस संसारमें यह आत्मा अकेला ही तो अपने पूर्वकर्मोंके सुखदुःखरूप फलको भोगता है और अकेला ही समस्त गतियोंमें एक शरीरसे दूसरे शरीरको धारण करता है ॥ २ ॥

संकल्पानन्तरोत्पन्नं दिव्यं स्वर्गसुखामृतम्।
निर्विशत्ययमेकाकी स्वर्गश्रीरञ्जिताशयः ॥ ३ ॥

अर्थ—तथा यह आत्मा अकेला ही स्वर्गकी शोभासे रंजायमान् होकर देवोपनीत संकल्प मात्र करते ही उत्पन्न होनेवाले स्वर्गसुखरूपी अमृतका पान करता है अर्थात् स्वर्गके सुख भी अकेला ही भोगता है। कोई भी इसका साथी नहीं है ॥ ३ ॥

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथ वा ।
सुखदुःखविधौ वास्य न सखान्योऽस्ति देहिनः ॥ ४ ॥

अर्थ—इस प्राणीके संयोगवियोगमें अथवा जन्ममरणमें तथा दुःख सुख भोगनेमें कोई भी मित्र साथी नही है । अकेला ही भोगता है ॥ ४ ॥

मित्रपुत्रकलत्रादिकृते कर्म करोत्ययम् ।
यत्तस्य फलमेकाकी भुङ्क्ते श्वभ्रादिषु स्वयम् ॥ ५ ॥

अर्थ—तथा यह जीव पुत्र मित्र स्त्री आदिकके निमित्त जो कुछ बुरे भले कार्य करता है । उनका फल भी नरकादिक गतियोंमें स्वयम् अकेला ही भोगता है । वहां भी कोई पुत्र-मित्रादि कर्मफल भोगनेको साथी नहिं होते ॥ ५ ॥

सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम् ।
न तु सोढुं स्वकर्मोत्थं निर्दयां व्यसनावलीम् ॥ ६ ॥

अर्थ—यह प्राणी बुरे भले कार्यकरके जो धनोपार्जन करता है, उस धनके भोगनेको तो पुत्रमित्रादि अनेक साथी हो जाते हैं, परन्तु अपने कर्मोसे उपार्जन किये हुए निर्दयरूप दुःखोंके समूहको सहनेके अर्थ कोई भी साथी नहिं होता है । यह जीव अकेला ही सब दुःखोंको भोगता है ॥ ६ ॥

एकत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिताः ।
यज्जन्ममृत्युसम्पाते प्रत्यक्षमनुभूयते ॥ ७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, ये मूर्ख प्राणी संसाररूपी पिशाचसे पीड़ित हुए भी अपनी एकताको क्यों नही देखते; जिसे जन्ममरणके प्राप्त होनेपर सब ही जीव प्रत्यक्षमें अनुभवन करते हैं । **भावार्थ**—आप अपनी आखोंसे देखता है कि, यह जन्मा और यह मरा । जो जन्म. लेता है वह मरता है । दूसरा कोई भी उसका साथी नहीं है । इस प्रकार एकाकीपन देखकर भी अपने एकाकीपनको नहिं देखता है, यह बड़ी भूल है ॥ ७ ॥

अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचनः ।
भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विधिवञ्चितः ॥ ८ ॥

अर्थ—यह जीव अपने अकेलेपनको नहिं देखता है इसका कारण यह है कि, ज्ञानादि नेत्रोंके लुप्त होनेसे यह अपने स्वरूपको भले प्रकार नहिं जानता है और इसी कारणसे कर्मोसे ठगाया हुआ यह जीव एकाकी ही इस संसारमें भ्रमण करता रहता है । **भावार्थ**—इसका अज्ञान ही कारण है ॥ ८ ॥

यदैक्यं मनुते मोहादयमर्थैः स्थिरेतरैः ।
तदा स्वं स्वेन बध्नाति तद्विपक्षैः शिवी भवेत् ॥ ९ ॥

अर्थ—यह मूढ प्राणी जिस समय मोहके उदयसे चेतन तथा अचेतन पदार्थोंसे अपनी एकता मानता है, तब यह जीव आपको अपने ही भावोंसे बांधता है अर्थात् कर्मबन्ध करता है। और जब यह अन्यपदार्थोंसे अपनी एकता नहिं मानता है तब कर्मबन्ध नहिं करता है और कर्मोंकी निर्जरापूर्वक परंपरा मोक्षगामी होता है। एकत्वभावनाका यही फल है ॥ ९ ॥

एकाकित्वं प्रपन्नोऽस्मि यदाहं वीतविभ्रमः।
तदैव जन्मसम्बन्धः स्वयमेव विशीर्यते ॥ १० ॥

अर्थ—जिस समय यह जीव भ्रमरहित हो ऐसा चिंतवन करे कि, मैं एकताको प्राप्त होगया हूं, उसी समय इस जीवका संसारका सम्बन्ध स्वयं ही नष्ट हो जाता है। क्योंकि संसारका संबन्ध तो मोहसे है और यदि मोह जाता रहै, तो आप एक है फिर मोक्ष क्यों न पावे? ॥ १० ॥

अब एकत्वभावनाका व्याख्यान पूरा करते हैं सो सामान्यतासे कहते हैं,—

मन्दाक्रान्ता।

एकः स्वर्गी भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोजभृङ्गः
एकः श्वाभ्रं पिबति कलिलं छिद्यमानः कृपाणैः।
एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान्
एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥ ११ ॥

अर्थ—यह आत्मा आप एक ही देवांगनाके मुखरूपी कमलकी सुगन्धि लेनेवाले भ्रमरके समान स्वर्गका देव होता है और अकेला आप ही कृपाण छुरी तलवारोंसे छिन्न भिन्न किया हुआ नरक सम्बन्धी रुधिरको पीता है तथा अकेला आप क्रोधादि कषायरूपी अग्निसहित होकर कर्मोंको बांधता है और अकेलाही आप विद्वान् ज्ञानी पंडित होकर समस्त कर्मरूप आवरणके अभाव होनेपर ज्ञानरूप राज्यको भोगता है। **भावार्थ**—आत्मा आप अकेला ही स्वर्गमें जाता है, आप ही अकेला नरकमें जाता है, आप ही कर्म बांधता है और आप ही केवलज्ञानपाकर मोक्षको जाता है ॥ ११ ॥

इस भावनाका संक्षेप आशय इतना ही है कि, परमार्थसे (निश्चयसे) तो आत्मा अनन्तज्ञानादि स्वरूप आप एक ही है, परन्तु संसारमें जो अनेक अवस्थायें होती हैं वे कर्मके निमित्तसे होती हैं। उनमें भी आप अकेला ही है। इसका दूसरा कोई भी साथी नहीं है। इस प्रकार एकत्वभावनाका व्याख्यान किया है ॥

दोहा।

परमारथतें आतमा, एक रूप ही जोय।
कर्मनिमित विकलप घनें, तिनि नाशें शिव होय ॥ ४ ॥

इति एकत्वभावना ॥ ४ ॥

अथ अन्यत्वभावना लिख्यते ।



अब अन्यत्वभावनाका व्याख्यान करते हैं । प्रथम ही परमार्थतः आत्माको शरीरादिकसे भिन्न दिखाते हैं,—

अयमात्मा स्वभावेन शरीरादेर्विलक्षणः ।
चिदानन्दमयः शुद्धो बन्धं प्रत्येकवानपि ॥ १ ॥

अर्थ—यह आत्मा यदि कर्मबन्धकी दृष्टिसे देखा जाय, तो बंधरूप वा एकरूप है और स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाय, तो शरीरादिकसे विलक्षण चिदानंदमय शुद्ध है ॥ १ ॥

अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं बन्धं प्रति न वस्तुतः ।
अनादिश्चानयोः श्लेषः स्वर्णकालिकयोरिव ॥ २ ॥

अर्थ—चेतन और अचेतनके बन्धदृष्टिकी अपेक्षा एकपना है और वस्तुतः देखनेसे दोनों भिन्न २ वस्तु हैं, एकपन नहीं है । इन दोनोंका अनादिकालसे एकक्षेत्रावगाहरूप संश्लेष है–मिलाप है । जैसे सुवर्ण और कालिमाके खानिमें एकपना है, उसी प्रकार जीव पुद्गलोंके एकता है, परन्तु वास्तवमें भिन्न २ वस्तु हैं ॥ २ ॥

इह मूर्तममूर्त्तेन चलेनात्यन्तनिश्चलम् ।
शरीरमुह्यते मोहाच्चेतनेनास्तचेतनम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस जगतमें मोहके कारण अमूर्तीक और चलनेवाले जीवको यह मूर्तीक अतिनिश्चल चेतनारहित शरीर अपने साथ २ लगाये रहना पड़ता है । **भावार्थ**–जीव अमूर्तीक चेतन है और मोहके कारण चलनेके स्वभावसहित है । और शरीर मूर्तीक है, अचेतन है, चलनेकी इच्छारहित है और चल नहीं है । यह जीव उसको जीता पुरुष जैसे मुरदेको लिये फिरै, उसी प्रकार लिये लिये फिरता है ॥ ३ ॥

अणुप्रचयनिष्पन्नं शरीरमिदमाङ्गिनाम् ।
उपयोगात्मकोऽत्यक्षः शरीरी ज्ञानविग्रहः ॥ ४ ॥

अर्थ—जीवोंका यह शरीर पुद्गल–परमाणुओंसे बना है । और शरीरी अर्थात् आत्मा उपयोगमयी है और अतीन्द्रिय है । यह इन्द्रियगोचर नहीं है, तथा इसका ज्ञान ही शरीर है । शरीर और आत्मामें इस प्रकार अत्यन्त भेद है ॥ ४ ॥

अन्यत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिताः ।
यज्जन्ममृत्युसंपाते सर्वेणापि प्रतीयते ॥ ५ ॥

अर्थ—यद्यपि उक्त प्रकारसे शरीर और आत्माके अन्यपना है, तथापि संसाररूपी

पिशाचसे पीड़ित मूढ प्राणी क्यों नहीं देखते कि, यह अन्यपना जन्म तथा मरणके सम्पातमें सर्व लोककी प्रतीतिमें आता है ? अर्थात् जन्मा तब शरीरको साथ लाया नहीं, और मरता है तब यह शरीर साथ जाता नहीं है। इस प्रकार शरीरसे जीवकी पृथक्ता प्रतीत होती है ॥ ५ ॥

मूर्तैर्विचेतनैश्चित्रैः स्वतन्त्रैः परमाणुभिः।
यद्वपुर्विहितं तेन कः सम्बन्धस्तदात्मनः ॥ ६ ॥

अर्थ—मूर्तीक चेतनारहित नाना प्रकारके स्वतन्त्र परमाणुओंसे जो शरीर रचा गया है उससे और आत्मासे क्या संबंध है ? विचारो ! इसका विचार करनेसे कुछ भी संबंध नहीं है, ऐसा प्रतिभास होगा ॥ ६ ॥

इस प्रकार शरीरसे भिन्नता बताई, अब अन्यान्य पदार्थोंसे भिन्नता दिखाते हैं,—

अन्यत्वमेव देहेन स्याद्भृशं यत्र देहिनः।
तत्रैक्यं बन्धुभिः सार्धं बहिरङ्गैः कुतो भवेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—जब उपर्युक्त प्रकारसे देहसे ही प्राणीके अत्यन्त भिन्नता है, तब बहिरंग जो कुटुंबादिक हैं उनसे एकता कैसे हो सकती है ? क्योंकि ये तो प्रत्यक्षमें भिन्न दीख पड़ते हैं ॥ ७ ॥

ये ये सम्बन्धमायाताः पदार्थाश्चेतनेतराः।
ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद्विलक्षणाः ॥ ८ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो जो जड़ और चेतन पदार्थ इस प्राणीके संबंधरूप हुए हैं, वे सब ही सर्वत्र अपने २ स्वरूपसे विलक्षण (भिन्न भिन्न) हैं, आत्मा सबसे अन्य है ॥८॥

पुत्रमित्रकलत्राणि वस्तूनि च धनानि च।
सर्वथाऽन्यस्वभावानि भावय त्वं प्रतिक्षणम् ॥ ९ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस जगतमें पुत्र मित्र स्त्री आदि अन्य वस्तुओंकी तू निरन्तर सर्व प्रकारसे अन्य-स्वभाव भावना कर, इनमें एकपनेकी भावना कदापि न कर, ऐसा उपदेश है ॥ ९ ॥

अन्यः कश्चिद्भवेत्पुत्रः पितान्यः कोऽपि जायते।
अन्येन केनचित्सार्द्धं कलत्रेणानुयुज्यते ॥ १० ॥

अर्थ—इस जगतमें कोई अन्य जीव ही तो पुत्र होता है और अन्य ही पिता होता है और किसी अन्य जीवके ही साथ स्त्रीसम्बंध होता है। इस प्रकार सब ही संबंध भिन्न २ जीवोंसे होते हैं ॥ १० ॥

त्वत्स्वरूपमतिक्रम्य पृथक्पृथग्व्यवस्थिताः ।
सर्वेऽपि सर्वथा मूढ भावास्त्रैलोक्यवर्त्तिनः ॥ ११ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी ! तीनलोकवर्ती समस्त ही पदार्थ तेरे स्वरूपसे भिन्न सर्वथा पृथक् पृथक् तिष्ठते हैं; तू उनसे अपना एकत्व न मान ॥ ११ ॥

अब अन्यत्वभावनाके कथनको पूरा करते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम्।

मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्णयपथभ्रान्तेन बाह्यानलं
भावान् स्वान् प्रतिपद्य जन्मगहने खिन्नं त्वया प्राक् चिरं ।
संप्रत्यस्तसमस्तविभ्रमभवश्चिद्रूपमेकं परम्
स्वस्थं स्वं प्रविगाह्य सिद्धिवनितावक्रं समालोकय ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू इस संसाररूपी गहनवनमें मिथ्यात्वके संबंधसे उत्पन्न हुए सर्वथा एकान्तरूप दुर्नयके मार्गमें भ्रमरूप होता हुआ, बाह्यपदार्थोंको अतिशय करके अपने मान करके तथा अंगीकार करके, चिरकालसे सदैव खेदखिन्न हुआ और अब अस्त हुआ है समस्त विभ्रमोंका भार जिसका ऐसा होकर, तू अपने आपहीमें रहनेवाले उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूपको अवगाहन करके उसमें मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखको अवलोकन कर (देख) । **भावार्थ**—यह आत्मा अनादिकालसे पर पदार्थोंको अपने मानकर उनमें रमता है इसी कारणसे संसारमें भ्रमण किया करता है । आचार्य महाराजने ऐसे ही जीवको उपदेश किया है कि, तू पर भावोंसे भिन्न अपने चैतन्यभावमें लीन होकर मुक्तिको प्राप्त हो । इस प्रकार यह अन्यत्वभावनाका उपदेश है ।

इसका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि, इस लोकमें समस्त द्रव्य अपनी अपनी सत्ताको लिये भिन्न भिन्न हैं । कोई भी किसीमें मिलता नहीं है और परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावसे कुछ कार्य होता है, उसके भ्रमसे यह प्राणी परमें अहंकार ममकार करता है, सो जब यह अपना स्वरूप जाने तब अहंकार ममकार अपने आपहीमें हो और तब परका उपद्रव आपके नहिं आवै यह अन्यत्वभावना है ॥ ५ ॥

दोहा ।

अपने अपने सत्त्वकूं, सर्व वस्तु विलसाय ।
ऐसें चितवै जीव तव, परतैं ममत न थाय ॥ ५ ॥

इति अन्यत्वभावना ॥ ५ ॥

अथ अशुचित्वभावना लिख्यते ।

अब अशुचि भावनाका व्याख्यान करते हैं । प्रथम शरीरकी अशुद्धता दिखाते हैं,—

निसर्गगलिलं निन्द्यमनेकाशुचिसम्भृतम् ।
शुक्रादिबीजसम्भूतं घृणास्पदमिदं वपुः ॥ १ ॥

अर्थ—इस संसारमें जीवोंका जो शरीर है, वह प्रथम तो स्वभावसे ही गलनरूप (मैलाझरनेवाला) है, निंद्य है, तथा अनेक धातु उपधातुओंसे भरा हुआ है । एवं शुक्र रुधिरके बीजसे उत्पन्न हुआ है, इस कारण ग्लानिका स्थान है ॥ १ ॥

असृग्मांसवसाकीर्णं शीर्णं कीकसपञ्जरम् ।
शिरानद्धं च दुर्गन्धं क्व शरीरं प्रशस्यते ॥ २ ॥

अर्थ—यह शरीर रुधिर मांस चर्बीसे घिरा हुआ सड़ रहा है, हाडोंका पंजर है और शिराओंसे (नसोंसे) बंधा हुआ दुर्गन्धमय है । आचार्य महाराज कहते हैं, कि इस शरीरके कौनसे स्थानकी प्रशंसा करें ? सर्वत्र निंद्य ही दीख पडता है ॥ २ ॥

प्रस्रवन्नवभिर्द्वारैः पूतिगन्धान्निरन्तरम् ।
क्षणक्षयं पराधीनं शश्वन्नरकलेवरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—यह मनुष्यका शरीर नव द्वारोंसे निरन्तर दुर्गन्धरूप पदार्थोंसे झरता रहता है, तथा क्षणध्वंशी पराधीन है और नित्य अन्नपानीकी सहायता चाहता है ॥ ३ ॥

कृमिजालशताकीर्णे रोगप्रचयपीडिते ।
जराजर्जरिते काये कीदृशी महतां रतिः ॥ ४ ॥

अर्थ—यह शरीर लट कीडोंके समूहोंसे भरा हुआ रोगोंके समूहसे पीड़ित तथा वृद्धावस्थासे जर्जरित है । ऐसे शरीरमें महन्त पुरुषोंकी रति (प्रीति) कैसे हो ? कदापि नहीं हो ॥ ४ ॥

यद्यद्वस्तु शरीरेऽत्र साधुबुद्ध्या विचार्यते ।
तत्तत्सर्वं घृणां दत्ते दुर्गन्धामिध्यमंदिरे ॥ ५ ॥

अर्थ—इस शरीरमें जो जो पदार्थ हैं, सुबुद्धिसे विचार करनेपर वे सब घृणाके स्थान तथा दुर्गन्धमय विष्टाके घर ही प्रतीत होते हैं । इस शरीरमें कोई भी पदार्थ पवित्र नहीं है ॥ ५ ॥

यदीदं शोध्यते दैवाच्छरीरं सागराम्बुभिः ।
दूषयत्यपि तान्येवं शोध्यमानमपि क्षणे ॥ ६ ॥

अर्थ—यदि इस शरीरको दैवात् समुद्रके जलसे भी शुद्ध किया जाय, तो उसी क्षण समुद्रके जलको भी यह अशुद्ध (मैला) कर देता है। अन्य वस्तुको अपवित्र कर दे, तो आश्चर्य ही क्या है? ॥ ६ ॥

कलेवरमिदं न स्याद्यदि चर्मावगुण्ठितम्।
मक्षिकाकृमिकाकेभ्यः स्यात्त्रातुं कस्तदा प्रभुः ॥ ७ ॥

अर्थ—यदि यह शरीर बाहिरके चमड़ेसे ढका हुआ नहिं होता, तो मक्खी कृमि तथा कौओंसे इसकी रक्षा करनेमें कोई भी समर्थ नहिं होता। ऐसे घृणास्पद शरीरको देखकर सत्पुरुष जब दूरहीसे छोड देते हैं, तब इसकी रक्षा कौन करै? ॥ ७ ॥

सर्वदैव रुजाक्रान्तं सर्वदैवाशुचेर्गृहम्।
सर्वदा पतनप्रायं देहिनां देहपञ्जरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—इन जीवोंका देहरूपी पींजरा सदा ही रोगोंसे व्याप्त, सर्वदा अशुद्धताओंका घर और सदा ही पतन होनेके स्वभाववाला है। ऐसा कभी मत समझो कि, किसी कालमें यह उत्तम और पवित्र होता होगा ॥ ८ ॥

तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभिः।
विरज्य जन्मनः स्वार्थे यैः शरीरं कदर्थितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—इस शरीरके प्राप्त होनेका फल उन्हींने लिया, जिन्होंने संसारसे विरक्त होकर इसे अपने कल्याणमार्गमें पुण्यकर्मोंसे क्षीण किया ॥ ९ ॥

शरीरमेतदादाय त्वया दुःखं विसह्यते।
जन्मन्यस्मिंस्ततस्तद्धि निःशेषानर्थमन्दिरम् ॥ १० ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस संसारमें तूने इस शरीरको ग्रहण करके दुःख पाये वा सहे हैं इसीसे तू निश्चयकर जान कि, यह शरीर ही समस्त अनर्थोंका घर है, इसके संसर्गसे सुखका लेश भी नहीं मान ॥ १० ॥

भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इस जगतमें संसारसे (जन्ममरणसे) उत्पन्न जो जो दुःख जीवोंको सहने पडते हैं; वे सब इस शरीरके ग्रहणसे ही सहने पडते हैं। इस शरीरसे निवृत्त (मुक्त) होने पर फिर कोई भी दुःख नहीं है ॥ ११ ॥

आर्या।

कर्पूरकुङ्कुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—कर्पूर, केशर, अगर, कस्तूरी, हरिचंदनादि सुन्दर सुन्दर पदार्थोंको भी यह मनुष्योंका शरीर संसर्गमात्रसे अर्थात् लगाते ही अशुद्ध (मैले) कर देता है। **भावार्थ**—आप तो मैला है ही और संसर्गसे उत्तमोत्तम पदार्थोंको भी मलीन कर देता है, यह अधिकता है ॥ १२ ॥

अब अशुचिभावनाके कथनको पूरा करते हैं,—

मालिनी।

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानाम्
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ गाढम्।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ॥ १३ ॥

अर्थ—हे मूढप्राणी! इस संसारमें मनुष्योंका यह शरीर चर्मके पटलोंसे (परदोंसे) ढका हुआ हाड़ोंका पिंजरा है, तथा बिगड़ी हुई राधकी (पीवकी) दुर्गन्धसे परिपूर्ण है, एवम् कालके मुखमें बैठे हुए रोगरूपी सर्पोंका घर है। ऐसा शरीर प्रीतिकरनेके योग्य कैसे हो? यह बड़ा आश्चर्य है ॥ १३ ॥

इस अशुचिभावनाके व्याख्यानका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि, आत्मा तो निर्मल है, अमूर्तीक है और उसके मल लगता ही नहीं है; परन्तु कर्मोंके निमित्तसे जो इसके शरीरका संबंध है, उसे यह अज्ञानसे (मोहसे) अपना मानकर भला जानता है, और मनुष्योंका यह शरीर सर्वतया अपवित्रताका घर है। इस कारण इसमें जब अशुचिभावना भावे, तब इससे विरक्तता होकर अपने निर्मल आत्मस्वरूपमें रमनेकी रुचि हो। इस प्रकार अशुचिभावनाका आशय है ॥ ६ ॥

दोहा।

निर्मल अपनो आतमा, देह अपावनगेह।
जानि भव्य निजभावको, यासों तजो सनेह ॥ ६ ॥

इति अशुचिभावना ॥ ६ ॥

अथ आस्रव [illegible]

आगे आस्रवभावनाका व्याख्यान [illegible] स्वरूप कहते हैं—

मनस्तनुवच [illegible]

स [illegible]

अर्थ—मन-वच [illegible]

दोनो (ऋषियोंने) आस्रव कहा है ! यह स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है, यथा—" **कायवाङ्मनः कर्म योगः, स आस्रवः** " ॥ १ ॥

वार्द्धेरन्तः समादत्ते यानपात्रं यथा जलम् ।
छिद्रैर्जीवस्तथा कर्मयोगरन्ध्रैः शुभाशुभैः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे समुद्रमें प्राप्त हुआ जहाज छिद्रोंसे जलको ग्रहण करता है, उस ही प्रकार जीव शुभाशुभयोगरूप छिद्रोंसे (मनवचनकायसे) शुभाशुभकर्मोंको ग्रहण करता है ॥ २ ॥

यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम् ।
मैत्र्यादिभावनारूढं मनः सूते शुभास्रवम् ॥ ३ ॥

अर्थ—यम (अणुव्रत महाव्रत), प्रशम (कषायोंकी मंदता), निर्वेद (संसारसे विरागता अथवा धर्मानुराग), तथा तत्त्वोंका चिन्तवन इत्यादिका अवलंबन हो; एवम् मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावोंकी जिस मनमें भावना हो, वही मन शुभास्रवको उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥ और,—

कषायदहनोद्दीप्तं विषयैर्व्याकुलीकृतम् ।
संचिनोति मनः कर्म जन्मसम्बन्धसूचकम् ॥ ४ ॥

अर्थ—कषायरूप अग्निसे प्रज्वलित और इन्द्रियोंके विषयोंसे व्याकुल मन संसारके संबंधके सूचक अशुभकर्मोंका संचय करता है ॥ ४ ॥

विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम् ।
शुभास्रवाय विज्ञेयं वचः सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

अर्थ—समस्त विश्वके व्यापारोंसे रहित, तथा श्रुतज्ञानके अवलम्बनयुक्त और सत्यरूप प्रामाणिक वचन शुभास्रवकेलिये होते हैं ॥ ५ ॥

अपवादास्पदीभूतमसन्मार्गोपदेशकम् ।
पापास्रवाय विज्ञेयमसत्यं परुषं वचः ॥ ६ ॥

अर्थ—अपवाद (निन्दा) का स्थान, असन्मार्गका उपदेशक, असत्य, कठोर, कानोंसे सुनते ही जो दूसरेके कषाय उत्पन्नकर दे, और जिससे परका बुरा हो जाय; ऐसे वचन अशुभास्रवके कारण होते हैं ॥ ६ ॥

सुगुप्तेन सुकायेन कायोत्सर्गेण वानिशम् ॥
संचिनोति शुभं कर्म काययोगेन संयमी ॥ ७ ॥

अर्थ—भले प्रकार गुप्तरूप किये हुए, अर्थात् अपने वशीभूत किये हुए कायसे तथा निरन्तर कायोत्सर्गसे संयमी मुनि शुभकर्मको संचय (आस्रवरूप) करते हैं ॥ ७ ॥

सततारम्भयोगैश्च व्यापारैर्जन्तुघातकैः ।
शरीरं पापकर्माणि संयोजयति देहिनाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—निरन्तर आरंभ करनेवाले और जीवघातके कार्योंसे तथा व्यापारोंसे जीवोंका शरीर (काययोग) पापकर्मोंको संग्रह करता है, अर्थात् काययोगसे अशुभास्रव करता है॥ ८॥

अब आस्रवभावनाका व्याख्यान पूर्ण करते हैं,—

शिखरिणी ।

कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्चविषयाः
प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च ।
दुरन्ते दुर्ध्याने विरतिविरहश्चेति नियतम्
स्रवन्त्येते पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदम् ॥ ९ ॥

अर्थ—प्रथम तो मिथ्यात्वरूप परिणाम, दूसरे क्रोधादि कषाय, तीसरे कामके सहचारी (मित्र) पंचेन्द्रियोंके विषय, चौथे प्रमाद विकथा, पांचवें मनवचनकायके योग, छट्ठे व्रतरहित अविरतिरूप परिणाम और सातवें आर्त्त-रौद्र दोनों अशुभध्यान ये सब परिणाम नियमसे पापरूप आस्रवोंको करते हैं । इन परिणामोंका विशेष कथन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओंसे जानना चाहिये । इस प्रकार आस्रवभावनाका व्याख्यान पूर्ण किया ॥ ९ ॥

इसका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि, यद्यपि यह आत्मा शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे तो आस्रवसे रहित केवलज्ञानस्वरूप है, तथापि अनादिकर्मके संबन्धसे मिथ्यात्वादि परिणामरूप परिणमता है, अतएव नवीन कर्मोंका आस्रव करता है । जब उन मिथ्यात्वादि परिणामोंसे निवृत्ति पाके अपने स्वरूपका ध्यान करे, तब कर्मास्रवोंसे रहित हो और मुक्त हो । यह आस्रवभावनाका आशय है ॥ ७ ॥

दोहा ।

आतम केवलज्ञानमय, निश्चयदृष्टि निहार ।
सब विभावपरिणाममय, आस्रवभाव विडार ॥ ७ ॥

इति आस्रवभावना ॥ ७ ॥

अथ संवरभावना लिख्यते ।

आगे संवरभावनाका व्याख्यान करते हैं । पहिले संवरका स्वरूप कहते हैं,—

सर्वास्रवनिरोधो यः संवरः स प्रकीर्तितः ।
द्रव्यभावविभेदेन स द्विधा भिद्यते पुनः ॥ १ ॥

अर्थ—समस्त आस्रवोंके निरोधको संवर कहा है । वह द्रव्यसंवर तथा भावसंवरके दो प्रकारका है ॥ १ ॥

आगे दोनों भेदोंका स्वरूप कहते हैं,—

यः कर्मपुद्गलादानविच्छेदः स्यात्तपस्विनः ।
स द्रव्यसंवरः प्रोक्तो ध्याननिर्धूतकल्मषैः ॥ २ ॥

अर्थ—ध्यानसे पापोंको उडानेवाले ऋषियोंने कहा है, कि जो तपस्वी मुनियोंके कर्मरूप पुद्गलोंके ग्रहण करनेका विच्छेद (निरोध) हो, वह द्रव्यसंवर है ॥ २ ॥

या संसारनिमित्तस्य क्रियाया विरतिः स्फुटम् ।
स भावसंवरस्तज्ज्ञैर्विज्ञेयः परमागमात् ॥ ३ ॥

अर्थ—संसारके कारणस्वरूप कर्मग्रहणकी क्रियाकी विरति अर्थात् अभावको भावसंवर कहते हैं, यह निश्चित है । ऐसा उक्त भावसंवरके ज्ञाताओंको परमागमसे जानना चाहिये ॥ ३ ॥

असंयममयैर्बाणैः संवृतात्मा न भिद्यते ।
यमी यथा सुसन्नद्धो वीरः समरसंकटे ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार युद्धके संकटमें भले प्रकारसे सजा हुआ वीरपुरुष बाणोंसे नहिं भिदता है, उसी प्रकार संसारकी कारणरूप क्रियाओंसे विरतिरूप संवरवाला संयमीमुनि भी असंयमरूप बाणोंसे नहिं भिदता है ॥ ४ ॥

आगे आस्रवोंके रोकनेका विधान कहते हैं,—

जायते यस्य यः साध्यः स तेनैव निरुध्यते ।
अप्रमत्तैः समुद्युक्तैः संवरार्थं महर्षिभिः ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रमादरहित संवरकेलिये उद्यमी महर्षियोंद्वारा जो जिसका साध्य हो, वह उसीसे रोकना चाहिये। **भावार्थ**–जिस कारणसे आस्रव हो, उसके प्रतिपक्षी भावोंसे उसे रोकना चाहिये ॥ ५ ॥ उन भावोंको आगे कहते हैं,—

क्षमा क्रोधस्य मानस्य मार्दवं त्वार्जवं पुनः ॥
मायायाः सङ्गसन्यासो लोभस्यैते द्विषः क्रमात् ॥ ६ ॥

अर्थ—क्रोधकषायका तो क्षमा शत्रु है, तथा मानकषायका मृदुभाव (कोमलभाव), मायाकषायका ऋजुभाव (सरलभाव) और लोभकषायका परिग्रह त्यागभाव; इस प्रकार अनुक्रमसे शत्रु जानने चाहिये ॥ ६ ॥ और—

रागद्वेषौ समत्वेन निर्ममत्वेन वाऽनिशम् ।
मिथ्यात्वं दृष्टियोगेन निराकुर्वन्ति योगिनः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो योगी ध्यानी मुनि हैं, वे निरंतर समभावोंसे अथवा निर्ममत्वसे रागद्वेषका निराकरण (परास्त) करते रहते हैं, तथा सम्यग्दर्शनके योगसे मिथ्यात्वरूप भावोंको नष्ट कर देते हैं ॥ ७ ॥

अविद्याप्रसरोद्भूतं तमस्तत्त्वावरोधकम् ।
ज्ञानसूर्यांशुभिर्वाढं स्फेटयन्त्यात्मदर्शिनः ॥ ८ ॥

अर्थ—आत्माको अवलोकन करनेवाले मुनिगण अविद्याके विस्तारसे उत्पन्न और तत्वज्ञानको रोकनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकारको ज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंसे अतिशय दूर कर देते हैं ॥ ८ ॥

असंयमगरोद्गारं सत्संयमसुधाम्बुभिः ।
निराकरोति निःशङ्कं संयमी संवरोद्यतः ॥ ९ ॥

अर्थ—संवर करनेमें तत्पर संयमी और निःशंक मुनि असंयमरूपी विषके (जहरके) उद्गारको संयमरूपी अमृतमयी जलोंसे दूर कर देते हैं ॥ ९ ॥

द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः ।
हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥ १० ॥

अर्थ—जिस पुरुषके हृदयमें द्वारपालीके समान अतिशय विचार करनेवाली चतुर मति कलोलें करती है, उसके हृदयमें स्वप्नमें भी पापकी उत्पत्ति होनी कठिन है । **भावार्थ**—जैसे चतुर द्वारपाल मैले तथा असभ्यजनोंको घरमें प्रवेश नहिं करने देता है उसी प्रकार समीचीन बुद्धि पापबुद्धिको हृदयमें फटकने नहिं देती ॥ १० ॥

अब संक्षेपतासे कहते हैं,—

विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः ।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुनेः परमसंवरः ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस समय समस्त कल्पनाओंके जालको छोडकर अपने स्वरूपमें मनको निश्चलतासे थांभते है, उस ही काल मुनिको परमसंवर होता है ॥ ११ ॥

आगे संवरका कथन पूर्ण करते हुए संवरकी महिमा कहते हैं,—

मालिनी ।

सकलसमितिमूलः संयमोद्दामकाण्डः
प्रशमविपुलशाखो धर्मपुष्पावकीर्णः ।
अविकलफलबन्धैर्बन्धुरो भावनाभि-
र्जयति जितविपक्षः संवरोद्दामवृक्षः ॥ १२ ॥

अर्थ—ईर्यासमिति आदि पांचसमितियां ही हैं मूल अर्थात् जड़ जिसकी, सामायिक आदि संयम ही हैं स्कन्ध जिसके, और प्रशमरूप (विशुद्धभावरूप) वड़ी २ शाखावाला, उत्तमक्षमादि दश धर्म हैं पुष्प जिसके, तथा मजबूत अविकल हैं फल जिसमें, ऐसा वारह भावनाओसे सुंदर यह संवररूपी महावृक्ष सर्वोपरि है । इस प्रकार संवरभावनाका व्याख्यान किया ॥ १२ ॥

इसका संक्षिप्त आशय यह है कि, आत्मा अनादिकालसे अपने स्वरूपको भूल रहा है, इस कारण आस्रवरूप भावोंसे कर्मोंको बांधता है और जब यह अपने स्वरूपको जानकर उसमें लीन होता है, तब यह संवररूप होकर आगामी कर्मबन्धको रोकता है, और पूर्वकर्मोंकी निर्जरा होनेपर मुक्त हो जाता है। उस संवरके बाह्यकारण समिति, गुप्ति, धर्मानुप्रेक्षा परीषहोंका जीतना तथा चारित्र आदि कहे गये हैं। उनका विशेष कथन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओंसे जानना चाहिये ॥ ८ ॥

दोहा।

निजस्वरूपमें लीनता, निश्चयसंवर जानि।
समिति-गुप्ति-संयम धरम, धरें पापकी हानि ॥ ८ ॥

इति संवरभावना ॥ ८ ॥

अथ निर्जराभावना लिख्यते।



आगे निर्जराभावनाका व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही निर्जराका तथा यह जिनको होती है, उनका स्वरूप कहते हैं—

यया कर्माणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मनः।
प्रणीता यमिभिः सेयं निर्जरा जीर्णबन्धनैः ॥ १ ॥

अर्थ—निर्जरासे जीर्ण हो गये हैं कर्मबन्ध जिनके ऐसे मुनिजन जिससे संसारके बीजरूप कर्म गलजाते हैं वा झड़ जाते हैं; उसे निर्जरा कहते हैं ॥ १ ॥

सकामाकामभेदेन द्विधा सा स्याच्छरीरिणाम्।
निर्जरा यमिनां पूर्वा ततोऽन्या सर्वदेहिनाम् ॥ २ ॥

अर्थ—यह निर्जरा जीवोंको सकाम और अकाम दो प्रकारकी होती है। इनमेंसे पहिली सकामनिर्जरा तो मुनियोंको होती है और अकामनिर्जरा समस्त जीवोंको होती है। इससे अर्थात् अकामनिर्जरासे विना तपश्चरणादिके स्वयमेव निरन्तर ही कर्म उदयरस देकर क्षरते रहते हैं ॥ २ ॥

पाकः स्वयमुपायाच्च स्यात्फलानां तरोर्यथा।
तथात्र कर्मणां ज्ञेयः स्वयं सोपायलक्षणः ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार वृक्षोंके फलोंका पकना एक तो स्वयं ही होता है, दूसरे पाल देनेसे भी होता है। इसी प्रकार कर्मोका पकना भी है अर्थात् एक तो कर्मोंकी स्थिति पूरी होनेपर फल देकर खिर जाती है, दूसरे सम्यग्दर्शनादिसहित तपश्चरण करनेसे कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् क्षर जाते हैं ॥ ३ ॥

विशुद्ध्यति हुताशेन सदोषमपि काञ्चनम् ।
यद्वत्तथैव जीवोऽयं तप्यमानस्तपोग्निना ॥ ४ ॥

अर्थ—जैसे सदोष भी सुवर्ण (सोना) अग्निमें तपानेसे विशुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार यह कर्मरूपी दोषोंसहित जीव तपरूपी अग्निमें तपनेसे विशुद्ध और निर्दोष (कर्मरहित) हो जाता है ॥ ४ ॥

चमत्कारकरं धीरैर्बाह्यमाध्यात्मिकं तपः ।
तप्यते जन्मसन्तानशङ्कितैरार्यसूरिभिः ॥ ५ ॥

अर्थ—संसारकी परिपाटीसे भयभीत धीर और श्रेष्ठ मुनीश्वरगण उक्त निर्जराका एक मात्र कारण तप ही है, ऐसा जानकर बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारका तप करते हैं ॥५॥

तत्र बाह्यं तपः प्रोक्तमुपवासादिषड्विधम् ।
प्रायश्चित्तादिभिर्भेदैरन्तरङ्गं च षड्विधम् ॥ ६ ॥

अर्थ—उनमेंसे अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, और कायक्लेश ये छह तो बाह्य (बहिरंग) तप हैं और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, और ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप हैं । इनका विशेषस्वरूप जानना हो, तो तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओंको देखना चाहिये ॥ ६ ॥

निर्वेदपदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा ।
यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा तथा ॥ ७ ॥

अर्थ—संयमी मुनि वैराग्यपदवीको प्राप्त होकर जैसे जैसे (ज्यों ज्यों) तप करते हैं, तैसे तैसे (त्यों त्यों) दुर्जयकर्मोंको क्षय करते हैं ॥ ७ ॥

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम् ।
सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्ध्यत्यङ्गी सुवर्णवत् ॥ ८ ॥

अर्थ—यद्यपि कर्म अनादिकालसे जीवके साथ लगे हुए हैं, तथापि वे ध्यानरूपी अग्निसे स्पर्श होने पर तत्काल ही क्षय हो जाते हैं । उनके क्षय होनेसे जैसे अग्निके तापसे सुवर्ण शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी तपसे कर्मनष्ट होकर शुद्ध (मुक्त) हो जाता है ॥ ८ ॥

अब निर्जराका कथन पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

शिखरिणी ।

तपस्तावद्बाह्यं चरति सुकृती पुण्यचरित-
स्ततश्चात्माधीनं नियतविषयं ध्यानपरमम् ।

क्षपत्यन्तर्लीनं चिरतरचितं कर्मपटलम्
ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयम् ॥ ९ ॥

अर्थ—पवित्र आचरणवाला सुकृतीपुरुष प्रथम अनशनादि बाह्यतपोंका आचरण करता है, तत्पश्चात् आत्माधीन आभ्यन्तर तपोंको आचरता है। और उनमें भी नियतविषयवाले ध्याननामा उत्कृष्टतपको आचरता है। इस तपसे चिरकालसे संचित किये हुए कर्मरूपी पटलको (घातियाकर्मोंको) क्षय करता है, और पश्चात् परमानंदके (अतीन्द्रियसुखके) घर ज्ञानरूपी समुद्रमें प्रवेश करता है। **भावार्थ**—सम्यग्दृष्टिजीव दोनों प्रकारके तपोंसे, विशेषतया ध्याननामक उत्कृष्टतपसे घातिया कर्मोंको नष्ट करके केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार निर्जराभावनाका व्याख्यान किया है ॥ ९ ॥

इसका संक्षिप्त आशय यह है कि, आत्मा और कर्मका सन्बन्ध अनादिकालसे है। काललब्धिके निमित्तसे यह आत्मा अपने स्वरूपको जब सम्हारे और तपश्चरण करके ध्यानमें लीन हो, तब संवररूप हो। और जब यह आगामी नये कर्म नहिं बांधे और पुराने कर्मोंकी निर्जरा करे, तब मोक्षको प्राप्त हो ॥ ९ ॥

दोहा।

संवरमय है आतमा, पूर्वकर्म झड जाय।
निजस्वरूपको पायकर, लोकशिखर जब थाय ॥ ९ ॥

इति निर्जराभावना ॥ ९ ॥

अथ धर्मभावना लिख्यते।

अब धर्मभावनाका व्याख्यान करते हैं,—

पवित्रीक्रियते येन येनैवोध्द्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै ॥ १ ॥

अर्थ—जिस धर्मसे जगत् पवित्र किया जाता है, तथा उद्धार किया जाता है, और जो दयारूपी रससे आर्द्रित (गीला) और हरा है; उस धर्मरूपी कल्पवृक्षकेलिये मेरा नमस्कार है। इस प्रकार आचार्यमहाराजने धर्मका माहात्म्य कथनपूर्वक नमस्कार किया है ॥ १ ॥

दशलक्ष्मयुतः सोऽयं जिनैर्धर्मः प्रकीर्तितः।
यस्यांशमपि संसेव्य विन्दन्ति यमिनः शिवम् ॥ २ ॥

अर्थ—वह धर्म जिसके अंशमात्रको भी सेवनकरके संयमी मुनि मुक्तिको प्राप्त होते हैं, उसे जिनेन्द्रभगवान्ने दशलक्षणयुक्त कहा है ॥ २ ॥

न सम्यग्गदितुं शक्यं यत्स्वरूपं कुदृष्टिभिः ।
हिंसाक्षपोषकैः शास्त्रैरतस्तैस्तन्निगद्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—धर्मका स्वरूप मिथ्यादृष्टियों, तथा हिंसा और इन्द्रियविषयपोषण करनेवाले शास्त्रोंकेद्वारा भले प्रकार नहिं कहा जा सकता। इस कारण इस धर्मका वास्तविकस्वरूप हम कहते हैं ॥ ३ ॥

चिन्तामणिर्निधिर्दिव्यः स्वर्धेनुः कल्पपादपाः ।
धर्मस्यैते श्रिया सार्द्धं मन्ये भृत्याश्चिरन्तनाः ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि "लक्ष्मीसहित चिन्तामाणि, दिव्यनवनिधि, कामधेनु और कल्पवृक्ष, ये सब धर्मके चिरकालसे किंकर (सेवक) हैं, ऐसा मैं मानता हूं ॥ ४ ॥

धर्मो नरोरगाधीशनाकनायकवाञ्छिताम् ।
अपि लोकत्रयीपूज्यां श्रियं दत्ते शरीरिणाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—धर्म, जीवोंको चक्रवर्त्ती धरणीन्द्र तथा देवेन्द्रोंद्वारा वांछित और त्रैलोक्यपूज्य तीर्थंकरकी लक्ष्मीको देता है ॥ ५ ॥

धर्मो व्यसनसंपाते पाति विश्वं चराचरम् ।
सुखामृतपयःपूरैः प्रीणयत्यखिलं जगत् ॥ ६ ॥

अर्थ—धर्म, कष्टके आनेपर समस्त जगतके त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षा करता है और सुखरूपी अमृतके प्रवाहोंसे समस्त जगतको तृप्त करता है ॥ ६ ॥

पर्जन्यपवनार्केन्दुधराम्बुधिपुरन्दराः ।
अमी विश्वोपकारेषु वर्त्तन्ते धर्मरक्षिताः ॥ ७ ॥

अर्थ—मेघ, पवन, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र और इन्द्र ये सम्पूर्ण पदार्थ जगतके उपकाररूप प्रवर्त्तते हैं और वे सब ही धर्मद्वारा रक्षा किये हुए प्रवर्त्तते हैं। धर्मके विना ये कोई भी उपकारी नहीं होते हैं ॥ ७ ॥

मन्येऽसौ लोकपालानां व्याजेनाव्याहतक्रमः ।
जीवलोकोपकारार्थं धर्म एव विजृम्भितः ॥ ८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज ऐसा मानते हैं कि, इन्द्रादिक लोकपाल अथवा राजादिकोंके व्याजसे (वहानेसे) लोकोंके उपकारार्थ यह धर्म ही अव्याहत फैल रहा है ॥ ८ ॥

न तत्त्रिजगतीमध्ये भुक्तिमुक्त्योर्निबन्धनम् ।
प्राप्यते धर्मसामर्थ्यान्न यद्यमितमानसैः ॥ ९ ॥

अर्थ—इस तीन जगतमें भोग और मोक्षका ऐसा कोई भी कारण नही है, जिसको धर्मात्मापुरुष धर्मकी सामर्थ्यसे न पाते हों अर्थात् धर्मसामर्थ्यसे समस्त मनोवांछित पदको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

नमन्ति पादराजीवराजिकां नतमौलयः ।
धर्मैकशरणीभूतचेतसां त्रिदशेश्वराः ॥ १० ॥

अर्थ—जिनके चित्तमें धर्म ही एक शरणभूत है, उनके चरणकमलोंकी पंक्तिको इन्द्रगण भी नम्रीभूत मस्तकसे नमस्कार करते हैं । **भावार्थ**—धर्मके माहात्म्यसे जब तीर्थंकरपदवी प्राप्त होती है, तब इन्द्र भी आकर नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥

धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः ।
अनाथवत्सलः सोऽयं संत्राता कारणं विना ॥ ११ ॥

अर्थ—धर्म गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बांधव है, हितू है, और धर्म ही विना कारण अनाथोंका प्रीतिपूर्वक रक्षाकरनेवाला है । इस प्राणीको धर्मके अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है ॥ ११ ॥

धत्ते नरकपाताले निमज्जज्जगतां त्रयम् ।
योजयत्यपि धर्मोऽयं सौख्यमत्यक्षमङ्गिनां ॥ १२ ॥

अर्थ—यह धर्म नरकोंके नीचे जो निगोदस्थान है, उसमें पड़ते हुए जगत्रयको धारण करता है—अवलम्बन देकर बचाता है तथा जीवोंको अतीन्द्रियसुख भी प्रदान करता ॥ १२ ॥

नरकान्धमहाकूपे पततां प्राणिनां स्वयम् ।
धर्म एव स्वसामर्थ्याद्दत्ते हस्तावलम्बनम् ॥ १३ ॥

अर्थ—नरकरूपी महाअंधकूपमें स्वयं गिरते हुए जीवोंको धर्म ही अपने सामर्थ्यसे हस्तावलम्बन (हाथका सहारा) देकर बचाता है ॥ १३ ॥

महातिशयसम्पूर्णं कल्याणोद्दाममन्दिरम् ।
धर्मो ददाति निर्विघ्नं श्रीमत्सर्वज्ञवैभवम् ॥ १४ ॥

अर्थ—धर्म, महा अतिशयसे पूर्ण, कल्याणोंके उत्कटनिवासस्थान और निर्विघ्न ऐसे लक्ष्मीसहित सर्वज्ञभगवान्के वैभवको देता है अर्थात् तीर्थंकरपदवीको प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

याति सार्धं तथा पाति करोति नियतं हितम् ।
जन्मपङ्कात्समुद्धृत्य स्थापयत्यमले पथि ॥ १५ ॥

अर्थ—धर्म, परलोकमें प्राणीके साथ जाता है, उसकी रक्षा करता है, नियमसे उसका हित करता है तथा संसाररूपी कर्दमसे उसे निकालकर निर्मल मोक्षमार्गमें स्थापन करता है ॥ १५ ॥

न धर्मसदृशः कश्चित्सर्वाभ्युदयसाधकः ।
आनन्दकुजकन्दश्च हितः पूज्यः शिवप्रदः ॥ १६ ॥

अर्थ—इस जगतमें धर्मके समान अन्य कोई समस्तप्रकारके अभ्युदयका साधक नहीं है। यह मनोवांछित सम्पदाका देनेवाला है। आनंदरूपी वृक्षका कन्द है अर्थात् आनंदके अंकुर इससे ही उत्पन्न होते हैं तथा हितरूप पूजनीय और मोक्षका देनेवाला भी यही है ॥ १६ ॥

व्यालानलोरगव्याघ्रद्विपशार्दूलराक्षसाः ।
नृपादयोऽपि द्रुह्यन्ति न धर्माधिष्ठितात्मने ॥ १७ ॥

अर्थ—जो धर्मसे अधिष्ठित (सहित) आत्मा है, उसके साथ सर्प, अग्नि, विष, व्याघ्र, हस्ती, सिंह, राक्षस, तथा राजादिक भी द्रोह नहि करते हैं अर्थात् यह धर्म इन सबसे रक्षा करता है अथवा धर्मात्माओंके ये सब रक्षक होते हैं ॥ १७ ॥

निःशेषं धर्मसामर्थ्यं न सम्यग्वक्तुमीश्वरः ।
स्फुरद्वक्त्रसहस्रेण भुजगेशोऽपि भूतले ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, धर्मका समस्तसामर्थ्य भले प्रकार कहनेको स्फुरायमान सहस्रमुखवाला नागेन्द्र भी इस भूतलमें समर्थ नही है। फिर हम कैसे समर्थ हो सकते हैं ? ॥ १८ ॥

धर्मधर्मेति जल्पन्ति तत्त्वशून्याः कुदृष्टयः ।
वस्तुतत्त्वं न बुध्यन्ते तत्परीक्षाऽक्षमा यतः ॥ १९ ॥

अर्थ—तत्त्वके यथार्थज्ञानसे शून्य मिथ्यादृष्टि ' धर्म धर्म ' ऐसा तो कहते हैं, परन्तु वस्तुके यथार्थस्वरूपको नहिं जानते। क्योंकि वे उसकी परीक्षा करनेमें असमर्थ हैं। **भावार्थ**—नाममात्रको ' धर्म धर्म ' ऐसा तो कहते हैं, परंतु वस्तुका यथार्थस्वरूप जाने विना सत्यपरीक्षा कैसे हो ? यह परीक्षा जिनागमसे ही हो सकती है। अतः जिनागममें जो धर्म कहा है, उसे कहते हैं ॥ १९ ॥

तितिक्षा मार्दवं शौचमार्जवं सत्यसंयमौ ।
ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागाकिञ्चन्यं धर्म उच्यते ॥ २० ॥

अर्थ—क्षमा १, मार्दव २, शौच ३, आर्जव ४, सत्य ५, संयम ६, ब्रह्मचर्य ७, तप ८, त्याग ९, और आकिंचन्य १०, ये दश प्रकारके धर्म हैं। इनका विशेषस्वरूप तत्वार्थसूत्रकी टीकाओंसे जानना चाहिये ॥ २० ॥

आर्या ।

यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्वाक्चित्तकर्म्मभिः कार्यम् ।
स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिमं लिङ्गम् ॥ २१ ॥

अर्थ—धर्मका मुख्य (प्रधान) चिह्न यह है कि, जो जो क्रियायें अपनेको अनिष्ट (बुरी) लगती हों, सो सो अन्यकेलिये मनवचनकायसे स्वप्नमें भी नहिं करनी ॥ २१ ॥

अब धर्मभावनाका व्याख्यान पूर्ण करते हुए सामान्यतासे कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

धर्मः शर्म भुजङ्गपुङ्गवपुरीसारं विधातुं क्षमो
धर्मः प्रापितमर्त्यलोकविपुलप्रीतिस्तदाशंसिनां ।
धर्मः स्वर्नगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्यास्पदम्
धर्मः किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—यह धर्म धर्मात्मापुरुषोंको धरणीन्द्रकी पुरीके सारसुखको करनेमें समर्थ है, तथा यह धर्म उस धर्मके पालनेवाले पुरुषोंको मनुष्यलोकमें विपुल प्रीति (सुख) प्राप्त करता है, और यह धर्म स्वर्गपुरीके निरन्तर सुखास्वादके उदयका स्थान है, तथा धर्म ही मनुष्यको मुक्तिस्त्रीसे संभोग करनेके योग्य करता है । धर्म और क्या २ नहिं कर सकता ? ॥ २२ ॥

मालिनी ।

यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्ट-
स्त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा ।
यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनीयस्तदानीं
किमपरमभिधेयं नाम धर्मं विधत्त ॥ २३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जो तुझे नरकनिपातका छोडना परम इष्ट है अथवा इन्द्रकी महान विभव पाना एकान्त ही इष्ट है । यदि चारों पुरुषार्थोंमेंसे अन्तका पुरुषार्थ (मोक्ष) प्रार्थनीय ही है, तो और विशेष क्या कहा जावे, तू एकमात्र धर्मका सेवन कर । क्योंकि धर्मसे ही समस्त प्रकारके अनिष्ट नष्ट होकर समस्तप्रकारके इष्टकी प्राप्ति होती है । इस प्रकार धर्मभावनाका व्याख्यान पूर्ण किया ॥ २३ ॥

इसका संक्षिप्त आशय यह है कि, जिनागममें धर्म चार प्रकारका वर्णन किया है अर्थात्—वस्तुस्वभावरूप १, उत्तमक्षमादि दशरूप २, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) रूप ३, और दयामय ४ । निश्चय व्यवहाररूपनयसे साधन किया हुआ यह धर्म एकरूप तथा अनेकरूप सधता है । यहां व्यवहार नयकी प्रधानतासे वर्णन किया गया है अर्थात् धर्मका स्वरूप, महिमा तथा फल अनेकप्रकारसे वर्णन किया जाता है सो ऐसे विचारके धर्मकी भावना निरन्तर चित्तमें रखनी चाहिये ॥ १० ॥

दोहा ।

दर्श-ज्ञानमय चेतना, आतमधर्म बखानि ।
दया-क्षमादिक रतन त्रय, यामें गर्भित जानि ॥ १० ॥

इति धर्मभावना ॥ १० ॥

अथ लोकभावना लिख्यते ।



अब लोकभावनाका व्याख्यान करते हैं। प्रथम लोकका स्वरूप कहते हैं,—

यत्र भावा विलोक्यन्ते ज्ञानिभिश्चेतनेतराः
जीवादयः स लोकः स्यात्ततोऽलोको नभः स्मृतः ॥ १ ॥

अर्थ—जितने आकाशमें जीवादिक चेतन अचेतन पदार्थ ज्ञानीपुरुषोंने देखे हैं, सो तो लोक है। उसके बाह्य जो केवल मात्र आकाश है, उसे अलोक वा अलोकाकाश कहते हैं ॥ १ ॥

वेष्टितः पवनैः प्रान्ते महावेगैर्महाबलैः ।
त्रिभिस्त्रिभुवनाकीर्णो लोकस्तालतरुस्थितिः ॥ २ ॥

अर्थ—तीन भुवनसहित यह लोक अन्तमें सब तरफसे अतिशय बेगवाले और अतिशय बलिष्ठ तीन वातवलयोंसे वेष्टित है और ताड़वृक्षके आकार सरीखा है अर्थात् नीचेसे चौड़ा, बीचमें सरल तथा अन्तमें विस्ताररूप है ॥ २ ॥

निष्पादितः स केनापि नैव नैवोद्धृतस्तथा ।
न भग्नः किन्त्वनाधारो गगने स स्वयं स्थितः ॥ ३ ॥

अर्थ—यह लोक किसीके द्वारा बनाया नहीं गया है अर्थात् अनादि निधन है। भिन्नधर्मीगण इसे ब्रह्मादिकका बनाया हुआ कहते हैं सो मिथ्या है। तथा किसीसे धारण किया हुआ वा थांभा हुआ हो, सो भी नहीं है। अन्यमती कच्छपकी पीठभर अथवा शेपनागके फनपर ठहरा हुआ कहते हैं, यह उनका भ्रम है। यदि कोई आशंका करै कि, विना आधारके आकाशमें कैसे ठहरेगा भग्न हो जायगा? तो उत्तर देना चाहिये कि, निराधार होनेपर भी भग्न नहिं होता अर्थात् आकाशमें वातवलयके आधार स्वयमेव स्थित है ॥ ३ ॥

अनादिनिधनः सोऽयं स्वयं सिद्धोऽप्यनश्वरः ।
अनीश्वरोऽपि जीवादिपदार्थैः संभृतो भृशम् ॥ ४ ॥

अर्थ—यद्यपि यह लोक अनादिनिधन है, स्वयंसिद्ध है, अविनाशी है और इसका

कोई ईश्वर स्वामी वा कर्त्ता नहीं है; तथापि जीवादिक पदार्थोंसे भरा हुआ है । अन्य-मती लोकरचनाकी अनेकप्रकारकी कल्पनायें करते हैं, वे सब ही सर्वथा मिथ्या हैं ॥ ४ ॥

अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः ।
मृदङ्गसदृशश्चाग्रे स्यादित्थं स त्रयात्मकः ॥ ५ ॥

अर्थ—यह लोक नीचे तो वेत्रासन अर्थात् मोढ़ेके आकारका है अर्थात् नीचेसे चौडा है, पीछे ऊपर ऊपर घटता आया है और बीचमें झालरके ऐसा है तथा ऊपर मृदंगके समान अर्थात् दोनों तरफ सकरा और बीचमें चौड़ा है । इसप्रकार तीनस्वरूपात्मक यह लोक स्थित है ॥ ५ ॥

यत्रैते जन्तवः सर्वे नानागतिषु संस्थिताः ।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मपाशवशंगताः ॥ ६ ॥

अर्थ—इस लोकमें ये सब प्राणी नाना गतियोंमें संस्थित अपने अपने कर्मरूपी फांसीके वशीभूत होकर मरते तथा उपजते रहते हैं ॥ ६ ॥

अब लोकभावनाका व्याख्यान पूर्ण करते हुए सामान्यतासे कहते हैं,—

मालिनी ।

पवनवलयमध्ये संभृतोऽत्यन्तगाढं
स्थितिजननविनाशालिङ्गितैर्वस्तुजातैः ।
स्वयमिह परिपूर्णोऽनादिसिद्धः पुराणः
कृतिविलयविहीनः स्मर्यतामेष लोकः ॥ ७ ॥

अर्थ—इस लोकको ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि, तीन वलयोंके मध्यमें स्थित है । पवनोंसे अतिशय गाढरूप घिरा हुआ है । इधर उधर चलायमान नहिं होता और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित वस्तुसमूहोंसे अनादिकालसे स्वयमेव भरा हुआ है अर्थात् अनादिसिद्ध है । किसीका रचा हुआ नहीं है, इसी कारण पुराण है तथा उत्पत्ति और प्रलयसे रहित है । इस प्रकार लोकको स्मरण करते रहो, यह लोकभावनाका उप-देश है । इसका विशेषस्वरूप त्रैलोकसारादि ग्रंथोंसे जानना चाहिये । किसीको लोकके अनादिनिधन होनेमें (अकर्तापनमें) संदेह हो, तो उसे परीक्षमुखकी प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्तण्डटीका तथा अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिकादि ग्रंथोंको देखना चाहिये । इनमें कर्तृवादका विद्वानोंके देखनेयोग्य विशेष प्रकारसे (युक्ति प्रमाणोंसे) निराकरण किया गया है ॥ ७ ॥

इस भावनाका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि, यह लोक जीवादिकद्रव्योंकी रचना है ।

जो (समस्तद्रव्य) अपने अपने स्वभावको लिये हुए भिन्न भिन्न तिष्ठते हैं। उनमें आप एक आत्मद्रव्य है। उसका स्वरूप यथार्थ जानकर, अन्य पदार्थोंसे ममता छोडके, आत्मभावन करना ही परमार्थ है। व्यवहारसे समस्तद्रव्योंका यथार्थस्वरूप जानना चाहिये, जिससे मिथ्याश्रद्धान दूर हो जाता है, इस प्रकार लोकभावनाका चिंतवन करना चाहिये ॥ ११ ॥

दोहा।

लोकस्वरूप विचारिकें, आतमरूप निहारि।
परमारथ व्यवहार मुणि, मिथ्याभाव निवारि ॥ ११ ॥

इति लोकभावना ॥ ११ ॥

अथ बोधिदुर्लभभावना लिख्यते।

आगे बोधिदुर्लभभावनाका व्याख्यान करते हैं, जिसमें निगोदसे लेकर सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिपर्यन्तकी उत्तरोत्तर दुर्लभता दिखाते हैं,—

दुरन्तदुरितारातिपीडितस्य प्रतिक्षणम्।
कृच्छ्रान्नरकपातालतलाज्जीवस्य निर्गमः ॥ १ ॥

अर्थ—बुरा है अन्त जिसका ऐसे पापरूपी वैरीसे निरन्तर पीडित इस जीवका प्रथम तो नरकोंके नीचे निगोदस्थान है, सो वहां की नित्यनिगोदसे निकलना अत्यंत कठिन है ॥ १ ॥ तथा—

तस्माद्यदि विनिष्क्रान्तः स्थावरेषु प्रजायते।
त्रसत्वमथवाप्नोति प्राणी केनापि कर्मणा ॥ २ ॥

अर्थ—उस नित्यनिगोदसे निकला तो फिर पृथिवीकायादि स्थावरजीवोंमें उपजता है। और किसी पुण्यकर्मके उदयसे स्थावरकायसे त्रसगति पाता है ॥ २ ॥ और—

यत्पर्याप्तस्तथा संज्ञी पञ्चाक्षेऽवयवान्वितः।
तिर्यक्ष्वपि भवत्यङ्गी तन्न स्वल्पाशुभक्षयात् ॥ ३ ॥

अर्थ—कदाचित् त्रसगति भी पावे, तो तिर्यञ्चयोनिमें पर्याप्तता (पूर्णावयवसंयुक्तत्व) पाना कुछ न्यूनपापके क्षयसे नहिं होता है अर्थात् वहुत पापके क्षय होने पर पाता है। उसमें भी मनसहित पञ्चेंद्रियपशुका शरीर पाना बहुत ही दुर्लभ है, तिसपर भी सम्पूर्ण अवयव पाना अतिशयदुर्लभ है ॥ ३ ॥

---

१ (ज्ञात्वा) समझकर।

नरत्वं यद्गुणोपेतं देशजात्यादिलक्षितम् ।
प्राणिनः प्राप्नुवन्त्यत्र तन्मन्ये कर्मलाघवात् ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, ये प्राणीगण संसारमें मनुष्यपन और उसमें गुणसहितपना तथा उत्तम देश, जाति, कुलआदि साहित्य उत्तरोत्तर कर्मोंके क्षयसे पाते हैं। यह बहुत दुर्लभ हैं, ऐसा मैं मानता हूं ॥ ४ ॥

आयुः सर्वाक्षसामग्री बुद्धिः साध्वी प्रशान्तता ।
यत्स्यात्तत्काकतालीयं मनुष्यत्वेऽपि देहिनाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जीवोंके देश, जाति, कुलादि सहित मनुष्यपन होते भी दीर्घायु, पांचों इन्द्रियोंकी पूर्णसामग्री, विशिष्ट तथा उत्तमबुद्धि, शीतल मंदकषायरूप परिणामोंका होना काकतालीयन्यायके समान दुर्लभ जानना चाहिये। जैसे किसी समय तालका फल पककर गिरे और उस ही समय काकका आना हो एवम् वह उस फलको आकाशमें ही पाकर खाने लगे। ऐसा योग मिलना अत्यन्त कठिन है ॥ ५ ॥

ततो निर्विषयं चेतो यमप्रशमवासितम् ।
यदि स्यात्पुण्ययोगेन न पुनस्तत्त्वनिश्चयः ॥ ६ ॥

अर्थ—कदाचित् पुण्यके योगसे उक्त सामग्री प्राप्त हो जावे तो विषयोंसे विरक्त वा व्रतरूप परिणाम, तथा यम-प्रशमरूप शुद्धभावोंसहित चित्तका होना बडा कठिन है। कदाचित् पुण्यके योगसे इनकी भी प्राप्ति हो जाय, तो तत्त्वनिर्णय होना अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ६ ॥

अत्यन्तदुर्लभेष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित् ।
प्रमादात्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित्कामार्थलालसाः ॥ ७ ॥

अर्थ—यद्यपि पूर्वोक्त सामग्री अत्यन्त दुर्लभ्य है, तथापि यदि दैवयोगसे प्राप्त हो जाय, तो अनेक संसारी जीव प्रमादके वशीभूत हो, काम और अर्थमें लुब्ध होकर सम्यग्मार्गसे च्युत हो जाते हैं ॥ ७ ॥

मार्गमासाद्य केचिच्च सम्यग्रत्नत्रयात्मकम् ।
त्यजन्ति गुरुमिथ्यात्वविषव्यामूढचेतसः ॥ ८ ॥

अर्थ—कोई २ सम्यक् रत्नत्रयमार्गको पाकर भी तीव्र-मिथ्यात्वरूप विषसे व्यामूढ चित्त होते हुए सम्यग्मार्ग को छोड देते हैं। गृहीतमिथ्यात्व बडा बलवान् है, जो उत्तम मार्ग मिले, तो उसको भी छुडा देता है ॥ ८ ॥

स्वयं नष्टो जनः कश्चित्कश्चिन्नष्टैश्च नाशितः ।
कश्चित्प्रच्यवते मार्गाच्चण्डपाषण्डशासनैः ॥ ९ ॥

अर्थ—कोई २ तो सम्यग्मार्गसे आप ही नष्ट हो जाते हैं, कोई अन्यमार्गसे

च्युत हुए मनुष्योंके द्वारा नष्ट किये जाते हैं और कोई २ प्रचंड पाषंडियोंके उपदेशे हुए मतोंको देखकर मार्गसे च्युत हो जाते हैं ॥ ९ ॥

त्यक्त्वा विवेकमाणिक्यं सर्वाभिमतसिद्धिदम् ।
अविचारितरम्येषु पक्षेष्वज्ञः प्रवर्त्तते ॥ १० ॥

अर्थ—जो मार्गसे च्युत अज्ञानी है, वह समस्त मनोवांछित सिद्धिके देनेवाले विवेकरूपी चिन्तामणिरत्नको छोडकर विना विचारके रमणीक भासनेवाले पक्षोंमें (मतोंमें) प्रवृत्ति करने लग जाता है ॥ १० ॥

अविचारितरम्याणि शासनान्यसतां जनैः ।
अधमान्यपि सेव्यन्ते जिह्वोपस्थादिदण्डितैः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो पुरुष जिह्वा तथा उपस्थादि इन्द्रियोंसे दंडित हैं, वे अविचारसे रमणीक भासनेवाले दुष्टोंके चलाये हुए अधममतोंको भी सेवन करते हैं । विषयकषाय क्या क्या अनर्थ नहिं कराते ? ॥ ११ ॥

सुप्रापं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे ।
हस्ताद्भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे ॥ १२ ॥

अर्थ—यह जो बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-स्वरूप रत्नत्रय है, संसाररूपी समुद्रमें प्राप्त होना सुगम नहीं है, किन्तु अत्यन्तदुर्लभ्य है । इसको पाकर भी जो खो बैठते हैं, उनको हाथमे रक्खे हुए रत्नको वडे समुद्रमें डाल देनेपर जैसे फिर मिलना कठिन है, उसी प्रकार सम्यग्रत्नत्रयका पाना दुर्लभ है ॥ १२ ॥

अब इस भावनाके कथनको पूर्ण करते हैं—

सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्या-
मुरगसुरनरेन्द्रैः प्रार्थितं चाधिपत्यम् ।
कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत्
किमुत तदिदमेकं दुर्लभं बोधिरत्नम् ॥ १३ ॥

अर्थ—इस जगतमें (त्रैलोकमें) समस्तद्रव्योंका समूह सुलभ है, तथा धरणीन्द्र नरेन्द्र सुरेन्द्रों द्वारा प्रार्थना करने योग्य अधिपतिपना भी सुलभ है, क्योंकि ये सब ही कर्मोंके उदयसे मिलते हैं । तथा उत्तमकुल, बल, सुभगता, सुन्दरस्त्री आदिक समस्त पदार्थ सुलभ हैं; किन्तु जगतप्रसिद्ध सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप बोधिरत्न अत्यन्त दुर्लभ्य है । इस प्रकार बोधिदुर्लभभावनाका व्याख्यान पूर्ण किया ॥ १३ ॥

इसका संक्षिप्त आशय ऐसा है कि, यदि परमार्थसे (निश्चयसे) विचार किया जाय, तो पराधीनवस्तु होती हैं वह दुर्लभ है और स्वाधीन वस्तु सुलभ है । यह बोधि (रत्नत्रय)

आत्माका स्वभाव है । स्वाधीन सम्पत्ति है । जब अपने स्वरूपको जाने तब अपने ही निकट है, इस लिये दुर्लभ नहीं है । परन्तु आत्मा जब तक अपने स्वरूपको नहिं जाने, तब तक कर्मके आधीन है । इस अपेक्षासे अपना बोधिस्वभाव पाना दुर्लभ है और कर्मकृत सब ही पदार्थ संसारमें सुलभ हैं । सो आचार्य महाराजने व्यवहारनयकी प्रधानतासे बोधिकी दुर्लभता वर्णन की है अर्थात् उत्तरोत्तर पर्यायें दुर्लभतासे पाते पाते बोधिके योग्य उत्तमपर्याय पाना दुर्लभ है । उसमें भी बोधिका पाना दुर्लभ है । इस बोधिको प्राप्त होकर प्रमादादिके वशीभूत होकर नहिं खोदेना चाहिये, ऐसा उपदेश है ॥ १२ ॥

दोहा ।

बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं ।
भवमें प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं ॥ १२ ॥

इति बोधिदुर्लभभावना ॥ १२ ॥

अथोपसंहार ।



अब बारह भावनाओंका प्रकरण पूरा करते हैं और भावनाओंका फल तथा महिमा कहते हैं,—

दीव्यन्नाभिरयं ज्ञानी भावनाभिर्निरन्तरम् ॥
इहैवाप्नोत्यनातङ्कं सुखमत्यक्षमक्षयम् ॥ १ ॥

अर्थ—इन बारह भावनाओंसे निरन्तर रमते हुए ज्ञानीजन इसी लोकमें रोगादिककी बाधा रहित अतीन्द्रिय अविनाशी सुखको पाते हैं अर्थात् केवलज्ञानानन्दको पाते हैं ॥ १ ॥

आर्या ।

विध्याति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम् ।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ॥ २ ॥

अर्थ—इन द्वादश भावनाओंके निरन्तर अभ्यास करनेसे पुरुषोंके हृदयमें कषायरूप अग्नि बुझ जाती है तथा परद्रव्यों प्रति राग भाव गल जाता है और अज्ञानरूप अंधकारका विलय होकर ज्ञानरूप दीपकका प्रकाश होता है ॥ २ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

एता द्वादशभावनाः खलु सखे सख्योऽपवर्गश्रिय-
स्तस्याः सङ्गमलालसैर्घटयितुं मैत्रीं प्रयुक्ता बुधैः ।

एतासु प्रगुणीकृतासु नियतं मुक्त्यङ्गना जायते
सानन्दा प्रणयप्रसन्नहृदया योगीश्वराणां मुदे ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, मित्र ! ये वारह भावनायें निश्चयसे मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी सखी हैं । इन्हें मुक्तिरूपी लक्ष्मीके संगमकी लालसा करनेवाले पंडितगणोंने मित्रता करनेके अर्थ प्रयोगरूप कहीं हैं । इन भावनाओंके अभ्यास करनेसे मुक्तिरूपी स्त्री आनन्दसहित स्नेहरूप प्रसन्नहृदय होकर योगीश्वरोंको आनन्ददायिनी होती है । **भावार्थ**—पंडितोंने भावनाओंको मोक्षकी सखीके तुल्य कही हैं । योगीश्वर इनको भावते हैं, तो ये उन्हें मुक्तिरूपी स्त्रीसे मिला देती हैं । इस प्रकार भावनाओंका वर्णन किया ॥ २ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि, इस ग्रन्थमें ध्यानका अधिकार है और ध्यान मोक्षका कारण है । जब तक जीवोंकी संसारमें प्रीति रहती है, तब तक उसका ध्यानके सन्मुख होना कठिन है । और वारह भावनायें संसारदेहभोगोंसे वैराग्य उपजानेकेलिये निमित्त हैं, इस कारण इनका वर्णन पाहिले ही किया गया है । **प्रथम**—तो यह प्राणी अनादिकालसे पर्यायवुद्धि है, इसे द्रव्यवुद्धि कभी भी नहिं हुई । इस कारण द्रव्यवुद्धि करनेकेलिये पर्यायको अनित्य दिखलाई है क्योंकि इससे वैराग्य होकर ध्यानकी रुचि होती है । **दूसरे**—यह प्राणी जबलग अज्ञानसे परका शरण चाहता रहता है, तव तक इसके ध्यान नहिं होता, इस कारण परका शरण छुडाकर अपना ही शरणा वताया है । **तीसरे**—संसारमें दुःख ही दुःख दिखाये हैं । **चौथे**—अपना अकेलापना दिखाया है । जगतमें कोई भी संगी साथी नहीं है । **पांचवें**—अन्यके संगसे मोह उत्पन्न होता है, अतः अपनेको सवसे भिन्न वताया है । **छट्ठे**—आस्रवसे कर्मबन्ध होना वताया है । **सातवें**—संवरसे कर्मोंका रुकना और ध्यानकी सिद्धि वताई है । **आठवें**—निर्जराका कारण ध्यान तथा निर्जरासे ध्यानकी वृद्धि होना वताया है । **नववें**—लोकका स्वरूप जाननेसे मिथ्याश्रद्धान नष्ट होता है, इस कारण लोकका स्वरूप वताया है । **दशवें**—धर्म, ध्यानका स्वरूप है अतः धर्मका स्वरूप वताया है । **बारहवें**—वोधिदुर्लभता वताई है और इसके संयोग मिलनेसे प्रमादी नहिं होना चाहिये ऐसा उपदेश किया है । इस प्रकार वारह भावनाओंका स्वरूप जानकर इनकी निरन्तर भावना भावनेसे ध्यानकी रुचि होती है तथा ध्यानमें स्थिर होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त होता है ।

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते द्वादशभावनाप्रकरणम् ॥२॥

अथ संक्षेपतः ध्यानस्वरूपः ।



आगे संक्षेपतः ध्यानका प्रकरण प्रारंभ किया जाता है, जिसमें प्रथम ध्यानके उद्यम करनेकी प्रेरणा करते हैं,—

अस्मिन्ननादिसंसारे दुरन्ते सारवर्जिते ।
नरत्वमेव दुःप्राप्यं गुणोपेतं शरीरिभिः ॥ १ ॥

अर्थ—दुरन्त तथा सारवर्जित इस अनादिसंसारमें गुणसहित मनुष्यपन ही जीवोंको दुष्प्राप्य है अर्थात दुर्लभ है ॥ १ ॥

काकतालीयकन्यायेनोपलब्धं यदि त्वया ।
तत्तर्हि सफलं कार्यं कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जो तूने यह मनुष्यपना काकतालीय न्यायसे पाया है, तो तुझे अपनेहीमें अपनेको निश्चय करके अपना कर्त्तव्य सफल करना चाहिये। इस मनुष्य जन्मके सिवाय अन्य किसी जन्ममें अपने स्वरूपका निश्चय नहिं होता, इस कारण यह उपदेश है ॥ २ ॥

नृजन्मनः फलं कैश्चित्पुरुषार्थः प्रकीर्त्तितः ॥
धर्मादिकप्रभेदेन स पुनः स्याच्चतुर्विधः ॥ ३ ॥

अर्थ—अनेक विद्वानोंने इस मनुष्यजन्मका फल पुरुषार्थ करना ही कहा है। और वह पुरुषार्थ धर्मादिक भेदसे चार प्रकारका है ॥ ३ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभिः ।
पुरुषार्थोऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेदः पुरातनैः ॥ ४ ॥

अर्थ—प्राचीन महर्षियोंने धर्म १, अर्थ २, काम ३ और मोक्ष ४ यह चार प्रकारका पुरुषार्थ कहा है ॥ ४ ॥

अब इनमें विशेषता कहते हैं,—

त्रिवर्गं तत्र सापायं जन्मजातङ्कदूषितम् ।
ज्ञात्वा तत्त्वविदः साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने ॥ ५ ॥

अर्थ—इन चारों पुरुषार्थोंमेंसे पाहिलेके तीन पुरुषार्थ नाशसहित और संसारके रोगोंसे दूषित हैं, ऐसा जानकर तत्त्वोंके जाननेवाले ज्ञानी पुरुष अन्तके परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्षके साधन करनेमें ही यत्न करते हैं, क्योंकि मोक्ष नाशरहित अविनाशी है ॥ ५ ॥

अब मोक्षका स्वरूप कहते हैं,—

निःशेषकर्मसम्बन्धपरिविध्वंसलक्षणः ।
जन्मनः प्रतिपक्षो यः स मोक्षः परिकीर्तितः ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रकृति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभागरूप समस्त कर्मोंके सम्बन्धका सर्वथा नाशरूप लक्षणवाला तथा जो संसारका प्रतिपक्षी है, वही मोक्ष है। यह व्यतिरेकप्रधानतासे मोक्षका स्वरूप है ॥ ६ ॥

दृग्वीर्यादिगुणोपेतं जन्मक्लेशैः परिच्युतम् ।
चिदानन्दमयं साक्षान्मोक्षमात्यन्तिकं विदुः ॥ ७ ॥

अर्थ—दर्शन और वीर्यादि गुणसहित और संसारके क्लेशोंसे रहित, चिदानन्दमयी आत्यन्तिकी अवस्थाको साक्षात मोक्ष कहते हैं। यह अन्वयप्रधानतासे मोक्षका स्वरूप कहा है ॥ ७ ॥

अव सुखकी प्रधानतासे मोक्षका स्वरूप कहते हैं,—

अत्यक्षं विषयातीतं निरौपम्यं स्वभावजम् ।
अविच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिपठ्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसमें अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंसे अतिक्रान्त), विषयोंसे अतीत, उपमारहित, और स्वाभाविक (अपने स्वभावसे ही उत्पन्न हो ऐसा) विच्छेदरहित पारमार्थिक सुख हो, वही मोक्ष कहा जाता है ॥ ८ ॥

निर्मलो निष्कलः शान्तो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः ।
कृतार्थः साधुबोधात्मा यत्रात्मा तत्पदं शिवम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसमें यह आत्मा निर्मल (द्रव्यकर्म नोकर्मरहित), अपने रसे व[...]हित, क्षोभरहित, शान्तस्वरूप, निष्पन्न (सिद्धरूप), अत्यन्त अविनाशी, सुखरूप, कृत[...]निर्ज (जिसको कुछ करना वाकी न हो ऐसा) तथा समीचीन सम्यग्ज्ञान स्वरूप हो जाता है, [...] हो[...]स पदको (अवस्थाको) मोक्ष कहते हैं ॥ ९ ॥

तस्यानन्तप्रभावस्य कृते त्यक्त्वाखिल[...] ॥ अतः धा[...]
तपश्चरन्त्यमी धीराः बन्धविध्वंसकारणम्[...] प्र

अर्थ—धीरवीर पुरुष इस अनन्त प्रभाववाले मोक्षरूपी कार्यके नि[मित्त] समस्त प्रकारके भ्रमोंको छोडकर कर्मबंधके नष्ट करनेके कारणरूप तपको अंगीकार करते हैं। **भावार्थ**—सांसारिक समस्त कार्य छोड़कर मुनिपद धारण करते हैं ॥ १० ॥

सम्यग्ज्ञानादिकं प्राहुर्जिना मुक्तेर्निबन्धनम् ।
तेनैव साध्यते सिद्धिर्यस्मात्तदर्थिभिः स्फुटम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिनेन्द्रभगवान् सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्रको मुक्तिका कारण कहते हैं, अतएव जो मुक्तिकी इच्छा करते हैं, वे इन सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रसे ही मोक्षका साधन कहते हैं। **भावार्थ**—जिस कार्यका जो कारण होता है, उसको अंगीकार करनेसे ही वह कार्य सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

अब कहते हैं कि, मोक्षके साधन जो सम्यग्दर्शनादिक हैं, उनहीमें ध्यान गर्भित है इस कारण प्रगटकरके ध्यानका उपदेश देते हैं,—

भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम् ।
कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम् ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू संसारके दुःखविनाशार्थ ज्ञानरूपी सुधारसको पी और संसाररूप समुद्रके पार होनेकेलिये ध्यानरूपी जहाजका अवलम्बन कर। **भावार्थ**—एकताका होना ध्यान है, अतः जब प्रथम ही ज्ञानको अंगीकार करेगा तब उससे एकाग्रता होनेपर कर्मोंको काटके संसारको परित्यागकरके मोक्षको पावेगा ॥ १२ ॥

मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानतः स्मृतः ।
ध्यानसाध्यं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मनः ॥ १३ ॥

अर्थ—मोक्ष कर्मोंके क्षयसे ही होता है। कर्मोंका क्षय सम्यग्ज्ञानसे होता है और वह सम्यग्ज्ञान ध्यानसे सिद्ध होता है अर्थात् ध्यानसे ज्ञानकी एकाग्रता होती है, इस कारण ध्यान ही आत्माका हित है ॥ १३ ॥

अपास्य कल्पनाजालं मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ।
प्रशमैकपरैर्नित्यं ध्यानमेवावलम्बितम् ॥ १४ ॥

अर्थ—आत्माका हित ध्यान ही है। इस कारण जो कर्मोंसे मुक्त होनेके इच्छुक मुनि हैं, उन्होंने प्रशम—कषायोंकी मंदताकेलिये तत्पर होकर कल्पनासमूहोंका नाशकरके नित्य ध्यानहीका अवलंबन किया है। **भावार्थ**—जब तक मुनिके चित्तकी स्थिरता रहै, तब तक ध्यान करना ही प्रधान है। जब चित्तकी स्थिरता नहिं रहती, तब वे शास्त्रविचारादि अन्य क्रियाओंमें लगते हैं ॥ १४ ॥

आगे ध्यानप्रधानकी योग्यताका उपदेश करते हैं,—

मोहं त्यज भज स्वास्थ्यं मुञ्च सङ्गान् स्थिरीभव ।
यतस्ते ध्यानसामग्री सविकल्पा निगद्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे आत्मन् ! तू संसारके मोहको छोड,

---

१ 'सम्यग्ज्ञानजः' इत्यपि पाठः ।

स्वास्थ्यको भज और परिग्रहोंको छोडकर स्थिरीभूत हो। जिससे कि हम तेरे लिये ध्यानकी-सामग्री भेदोंसहित कहैं ॥ १९ ॥

फिर भी कहते हैं,—

उत्तितीर्षुर्महापङ्काज्जन्मसंज्ञाद्दुरुत्तरात्।
यदि किं न तदा धत्से धैर्यं ध्याने निरन्तरम् ॥ १६ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तू कष्टसे पारपानेयोग्य संसार नामक महापंक (कीचड़) से निकलनेकी इच्छा रखता है, तो ध्यानमें निरन्तर धैर्य क्यों नहीं धारण करता? **भावार्थ**-ध्यानमें धैर्यावलंबन कर, क्योंकि संसाररूपी कर्दमसे पार होनेका कारण एकमात्र यही है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ॥ १६ ॥

चित्ते तव विवेकश्रीर्यद्यशङ्का स्थिरीभवेत्।
कीर्त्यते ते तदा ध्यानलक्षणं स्वान्तशुद्धिदम् ॥ १७ ॥

अर्थ—हे भव्य! जो तेरे चित्तमें निःशङ्क (सन्देहरहित) विवेकरूप लक्ष्मी स्थिर होवे, तो तेरे मनको शुद्धता देनेवाले ध्यानका लक्षण हम कहते हैं। **भावार्थ**—जब चित्तको संदेहरहित स्थिर करके सुने, तब कहे हुए वचनका ग्रहण होता है अथवा उसकी प्रतीति होती है, इस कारण ऐसा कहा गया है ॥ १७ ॥

इयं मोहमहानिद्रा जगत्त्रयविसर्पिणी।
यदि क्षीणा तदा क्षिप्रं पिब ध्यानसुधारसं ॥ १८ ॥

अर्थ--हे भव्य! तीन जगतमें फैलनेवाली यह अज्ञानरूपी महानिद्रा जो तेरे क्षीण हो गई हो—नष्ट हो गई हो, तो तू ध्यानरूपी अमृतरसका पान कर। क्योंकि सुसुप्त अवस्थामें पीना नहिं हो सक्ता ॥ १८ ॥

बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसङ्गमूर्च्छा क्षयं गता।
यदि तत्त्वोपदेशेन ध्याने चेतस्तदार्पय ॥ १९ ॥

अर्थ--हे भव्य! यदि तेरे तत्त्वोंके उपदेशसे वाह्य और अभ्यन्तरकी समस्त मूर्च्छा (ममत्व परिणाम) नष्ट हो गई हो, तो तू अपने चित्तको ध्यानमें ही लगा। **भावार्थ**-परिग्रहका ममत्वरहनेसे ध्यानमें चित्त नहिं लग सकता, इस कारण ऐसा उपदेश किया गया है ॥ १९ ॥

प्रमादविषयग्राहदन्तयन्त्राद्यदि च्युतः।
त्वं तदा क्लेशसङ्घातघातकं ध्यानमाश्रय ॥ २० ॥

अर्थ—हे भव्य! यदि तू प्रमाद और इन्द्रियोंके विषयरूपी पिशाच अथवा जलजन्तु-ओंके दांतरूपी यंत्रसे छूट गया है, तो क्लेशोंके समूहको घात तथा नष्ट करनेवाले ध्यानका

आश्रय कर । **भावार्थ**—जबतक प्रमाद और इन्द्रियोंके विषयोंमें चित्तकी प्रवृत्ति रहती है; तबतक कोई ध्यानमें नहिं लग सकता, इस कारण ऐसा उपदेश है ॥ २० ॥

इमेऽनन्तभ्रमासारप्रसरैकपरायणाः ।
यदि रागादयः क्षीणास्तदा ध्यातुं विचेष्टयताम् ॥ २१ ॥

अर्थ—हे भव्य ! अनन्त भ्रमरूपवृष्टिके विस्तार करनेमें तत्पर ऐसे ये रागद्वेष मोहादिक भाव तेरे क्षीण हो गये हों, तो तुझे ध्यानकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि रागादिकका विस्तार रहते ध्यानमें प्रवर्त्तना नहिं हो सकती ॥ २१ ॥

यदि संवेगनिर्वेदविवेकैर्वासितं मनः ।
तदा धीर स्थिरीभूय स्वस्मिन् स्वान्तं निरूपय ॥ २२ ॥

अर्थ—हे धीर पुरुष ! जो संवेग अर्थात् मोक्ष वा मोक्षमार्गसे अनुराग, तथा निर्वेद अर्थात् संसारदेहभोगोंसे वैराग्य और विवेक अर्थात् स्वपरका भेदविज्ञान इससे तेरा मन वासित है, तो तू स्थिर होकर आपहीमें अपने मनको देख, कि—कैसा है ? **भावार्थ**—संवेग, निर्वेद और भेदविज्ञानके विना चित्तकी वृत्ति परमें ही रहती है, अपने स्वरूपकी ओर नहिं आती है ॥ २२ ॥

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥ २३ ॥

अर्थ—हे भव्य ! यदि तू कामभोगोंमें विरक्त होकर तथा शरीरमें स्पृहाको छोड़कर निर्ममताको प्राप्त हुआ है, तो ध्यान करनेवाला ध्याता हो सकता है, अन्यथा नहिं हो सकता क्योंकि भोगोंकी इच्छा वा भोग विलास करनेमें जब चित्त रहता है, तब ध्यानमें चित्त कैसे लगे ? तथा शरीरमें अनुराग होता है, तो उसको सँवारने तथा पुष्ट करनेमें ही मन लगा रहता है, अथवा रोगादिक होने वा नाश होनेका भय निरन्तर बना रहता है, तब ध्यानकरनेमें चित्त कैसे लगे ? इस कारण ध्याताको ध्यान करनेका पात्र बनानेसे ध्यान हो सकता है ॥ २३ ॥

निर्विण्णोऽसि यदा भ्रातर्दुरन्ताज्जन्मसंक्रमात् ।
तदा धीर परां ध्यानधुरां धैर्येण धारय ॥ २४ ॥

अर्थ—हे धीर पुरुष ! जो तू दुरन्त संसारके भ्रमणसे विरक्त है, तो उत्कृष्ट ध्यानकी धुराको धारण कर । क्योंकि संसारसे विरक्त हुए विना ध्यानमें चित्त नहिं ठहरता ॥ २४ ॥

पुनात्याकर्णितं चेतो दत्ते शिवमनुष्ठितम् ।
ध्यानतन्त्रमिदं धीर धन्ययोगीन्द्रगोचरम्[1] ॥ २५ ॥

---

१ " धन्ययोगीन्द्रसेवितं " इत्यपि पाठः ।

अर्थ—हे धीर पुरुष ! यह ध्यानका तंत्र (शास्त्र) सुननेसे चित्तको पवित्र करता है। तीव्ररागादिकका अभाव करके चित्तको विशुद्ध करता है। तथा आचरण किया हुआ मोक्ष देता है। योगीश्वरोंका जानाहुआ है, इस कारण इसको तू आस्वाद, धार वा सुन और ध्यानका आचरण कर ॥ २५ ॥

विस्तरेणैव तुष्यन्ति केऽप्यहो विस्तरप्रियाः ।
संक्षेपरुचयश्चान्ये विचित्राश्चित्तवृत्तयः ॥ २६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, अनेक पुरुष तो विस्तारसे ही प्रसन्न होते हैं और अनेक संक्षेपसे रुचि रखनेवाले होते हैं; । आश्चर्य है कि, चित्तकी वृत्तियां भी विचित्र होती हैं। **भावार्थ**—जैसे वक्ता और श्रोता होते हैं, वैसा ही कहना और सुनना होता है, अतएव प्रथम ही इस प्रकरणमें संक्षिप्तरुचिवाले श्रोताओंके लिये ध्यानका संक्षिप्तस्वरूप कहते हैं ॥ २६ ॥

संक्षेपरुचिभिः सूत्रात्तन्निरूप्यात्मनिश्चयात् ।
त्रिधैवाभिमतं कैश्चिद्यतो जीवाशयस्त्रिधा ॥ २७ ॥

अर्थ—आत्माका है निश्चय जिसमें, ऐसे सूत्रसे निरूपण करके कितने ही संक्षेपरुचिवालोंने तीन प्रकारका ही ध्यान माना है। क्योंकि जीवका आशय तीन प्रकारका ही है अर्थात्—अध्यात्मशास्त्रकी अपेक्षा आत्माके उपयोगकी प्रवृत्ति संक्षेपसे तीन प्रकारकी ही मानी गई ॥ २७ ॥

उन तीन प्रकारके आशयोंका व्याख्यान करते हैं,—

तत्र पुण्याशयः पूर्वस्तद्विपक्षोऽशुभाशयः ।
शुद्धोपयोगसंज्ञो यः स तृतीयः प्रकीर्त्तितः ॥ २८ ॥

अर्थ—उन तीनोंमें प्रथम पुण्यरूप शुभ आशय है और उसका विपक्षी दूसरा पापरूप अशुभ आशय है और तीसरा शुद्धोपयोगनामा आशय है ॥ २८ ॥

पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात् ।
चिन्तनाद्वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते ॥ २९ ॥

अर्थ—पुण्यरूप आशयके वशसे तथा शुद्धलेश्याके अवलंबनसे और वस्तुके यथार्थस्वरूप चिंतवनसे उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त कहाता है ॥ २९ ॥ और—

पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तुविभ्रमात् ।
कषायाज्जायतेऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जीवोंके पापरूप आशयके वशसे तथा मोह-मिथ्यात्व-कषाय और तत्त्वोंके अयथार्थ विभ्रमसे अप्रशस्त अर्थात् असमीचीन ध्यान होता है ॥ ३० ॥

क्षीणे रागादिसन्ताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि ।
यः स्वरूपोपलम्भः स्यात्स शुद्धाख्यः प्रकीर्तितः ॥ ३१ ॥

अर्थ—रागादिककी सन्तानके क्षीण होनेपर अन्तरंग आत्माके प्रसन्न होनेसे जो अपने स्वरूपका उपलंभन (आलंबन) होता है, वह शुद्ध ध्यान है ॥ ३१ ॥

शुभध्यानफलोद्भूतां श्रियं त्रिदशसंभवाम् ।
निर्विशन्ति नरा नाके क्रमाद्यान्ति परं पदम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—मनुष्य शुभध्यानके फलसे उत्पन्न हुई स्वर्गकी लक्ष्मीको स्वर्गमें भोगते हैं और क्रमसे मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

दुर्ध्यानाद्दुर्गतेर्बीजं जायते कर्म देहिनाम् ।
क्षीयते यन्न कष्टेन महतापि कथंचन ॥ ३३ ॥

अर्थ—दुर्ध्यानसे जीवोंकी दुर्गतिका कारणभूत अशुभकर्म होता है, जो कि बड़े कष्टसे भी कभी क्षय नहिं होता ॥ ३३ ॥

निःशेषक्लेशनिर्मुक्तं स्वभावजमनश्वरम् ।
फलं शुद्धोपयोगस्य ज्ञानराज्यं शरीरिणाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—जीवोंके शुद्धोपयोगका फल समस्त दुःखोंसे रहित, स्वभावसे उत्पन्न, और अविनाशी ज्ञानरूपी राज्यका पाना है । **भावार्थ**—शुद्धोपयोगसे जीवोंको केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ ३४ ॥

इति संक्षेपतो ध्यानलक्षणं समुदाहृतम् ॥
बन्धमोक्षफलोपेतं सङ्क्षेपरुचिरञ्जकम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—इस प्रकार संक्षेपसे संक्षेपरुचिपुरुषोंको रंजन करनेवाला बन्धमोक्षके फलसहित ध्यानका लक्षण कहा गया । **भावार्थ**—शुभध्यानसे पुण्यवन्ध तथा अशुभध्यानसे पापवन्ध होता है और शुद्धध्यानसे पापपुण्यरूप बंधोंका नाश होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ३५ ॥

अत्र इस अधिकारको पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

शिखरिणी ।

अविद्याविक्रान्तैश्चपलचरितैर्दुर्नयशतै-
र्जगल्लुप्तालोकं कृतमतिघनध्वान्तनिचितम् ।
त्वयोच्छेद्याशेषं परमततमोव्रातमतुलं
प्रणीतं भव्यानां शिवपदमयानन्दनिलयम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—अविद्याके कारण विकाररूप होकर अनिश्चयरूप तथा भ्रमात्मक आचरणवाले

मिथ्यादृष्टियोंने सर्वथा एकान्तरूप सैकड़ों दुर्नीतियोंसे जगतको अतिसघनअन्धकारके समूहमें लुप्तालोक (प्रकाशरहित) कर दिया है अर्थात् हिताहितके मार्गसे विभ्रमरूप कर दिया है। इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे ज्ञानी आत्मन्! तू परमतरूप अतुल अंधकारके समस्त समूहोंको दूरकरके भव्यजीवोंको आनंददेनेवाले मोक्षरूपी घरको प्राप्त कर। **भावार्थ**—अन्यमतावलंबी एकान्ती विद्वानोंने सर्वथा एकान्तरूप कुनयको ग्रहण करके जगतके जीवोंको मिथ्यामार्गमें लगा दिया है। अतः ज्ञानी पुरुषोंको चाहिये कि, स्याद्वादनयको प्रगट करके यथार्थमार्गकी प्रवृत्ति करें, क्योंकि वस्तुका स्वरूप सर्वथा एकान्तरूप नाहिं है अर्थात् सर्वथा नित्यमें, सर्वथा अनित्यमें, सर्वथा एकमें, अनेकमें तथा सर्वथा शुद्धमें अथवा अशुद्धमें इत्यादि सर्वथा एकान्तनयसे आत्मामें ध्याता ध्यान ध्येय फलादि भेदरूप परिणाम सिद्ध नहिं होते। इसलिये अन्यवादी जो ध्यानकी कथनी करते हैं, वह भ्रममात्र है और स्याद्वादसे अनेक धर्मस्वरूप वस्तुमें सब ही सिद्ध होते हैं। इस कारण स्याद्वादमार्गका शरण लेकर ध्यानका साधन करना उचित है। ऐसा उपदेश है ॥ ३६ ॥

दोहा।

अशुभ क्रोध आदिक तजो, दया क्षमा शुभ धारि।
शुद्धभावमें लीन ह्वै, कर्मपाश निरवारि ॥ १ ॥

इस प्रकार संक्षेपसे अध्यात्मशास्त्रकी अपेक्षा शुभाशुभशुद्धपरिणाम स्वरूप ध्यानके तीन प्रकारके स्वरूपोंका वर्णन किया।

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते संक्षेपतो ध्यानलक्षणम् ॥ ३ ॥

अथ गुणदोषविचारः।



आगे विस्ताररूप ध्यानके प्रकारको प्रकरणमें प्रथम ही ध्यानका लक्षण चार प्रकारका है, उसे कहते हैं,—

यच्चतुर्धा मतं तज्ज्ञैः क्षीणमोहैर्मुनीश्वरैः।
पूर्वप्रकीर्णकाङ्गेषु ध्यानलक्ष्म सविस्तरम् ॥ १ ॥

अर्थ—ध्यानके जाननेवाले क्षीणमोह मुनीश्वरोंने सविस्तर ध्यानका लक्षण पूर्वप्रकीर्णकसहित द्वादश अंगोंमें चार प्रकारका माना है ॥ १ ॥

शतांशमपि तस्याद्य न कश्चिद्वक्तुमीश्वरः।
तदेतत्सुप्रसिद्ध्यर्थं दिङ्मात्रमिह वर्ण्यते ॥ २ ॥

अर्थ—द्वादशांगसूत्रमें जो ध्यानका लक्षण विस्तारसहित कहा गया है, उसका शतांश (सौवां भाग) भी आज कोई कहनेको समर्थ नहीं है, तथापि उसकी प्रसिद्धिके लिये इस ग्रन्थमें दिग्दर्शनमात्र वर्णन किया जाता है ॥ २ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणदोषैः प्रपञ्चितम् ।
हेयोपादेयभावेन सविकल्पं निगद्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—यह ध्यानका लक्षण गुण दोष और अन्वयव्यतिरेकसे जिस प्रकार विस्ताररूप है, उसी प्रकार हेयोपादेय भावोंसे भेदोंसहित कहा जाता है । **अन्वयगुणोंसे** अर्थात् ऐसे गुण हों तो वहां ध्यान होता है और **व्यतिरेकदोषोंसे** अर्थात् जहां ये दोष हों वहां ध्यान नहीं होता । तथा अप्रशस्तध्यान तो हेय है और प्रशस्तध्यान उपादेय है । और आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ऐसे चार भेद कहे गये हैं, सो इनके विशेषवर्णनसे विस्ताररूप ध्यानका स्वरूप कहा जावेगा ॥ ३ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

ध्याता ध्यानमितस्तदङ्गमखिलं दृग्बोधवृत्तान्वितं
ध्येयं तद्गुणदोषलक्षणयुतं नामानि कालः फलम् ।
एतत्सूत्रमहार्णवात्समुदितं यत्प्राक्प्रणीतं बुधैः
तत्सम्यक्परिभावयन्तु निपुणा अत्रोच्यमानं क्रमात् ॥ ४ ॥

अर्थ—पूर्वकालके ज्ञानी पुरुषोंने (पूर्वाचार्योंने) ध्यानकरनेवाला ध्याता, ध्यान, ध्यानके दर्शन ज्ञान चारित्र सहित समस्त अंग, ध्येय, तथा ध्येयके गुणदोष लक्षणसहित ध्यानके नाम, ध्यानका समय, और ध्यानका फल ये सब ही जो सूत्ररूप महासमुद्रसे प्रगट होके बुद्धिमानोंके द्वारा पूर्वमें प्रणीत किये गये हैं, वे ही सब इस ग्रन्थमें क्रमसे कहे जाते हैं । निपुण पुरुषोंको भले प्रकार इनका परिशीलन करना चाहिये ॥ ४ ॥

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं फलं चेति चतुष्टयम् ।
इति सूत्रसमासेन सविकल्पं निगद्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—ध्याता, ध्यान, ध्येय और फल यह चतुष्टय सूत्ररूप संक्षेपसे भेदसहित कहा जाता है ॥ ५ ॥

मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः ।
जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—शास्त्रमें ऐसे ध्याताकी प्रशंसा की गई है कि, मुमुक्षु हो, अर्थात् मोक्षकी इच्छा रखनेवाला हो । क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो, तो मोक्षके कारण ध्यानको क्यों करे ?

दूसरे संसारसे विरक्त हो। क्योंकि संसारसे विरक्त हुए विना ध्यानमें चित्त किसलिये लगावे? तीसरे क्षोभरहित शान्तचित्त हो। क्योंकि व्याकुलचित्तके ध्यानकी सिद्धि नहिं हो सकती। चौथे वशी कहिये जिसका मन अपने वशमें हो। क्योंकि मनके वश हुए विना वह ध्यानमें कैसे लगै? पांचवें स्थिर हो, शरीरके सांगोपांग आसनमें दृढ हो। क्योंकि काय चलायमान रहनेसे ध्यानकी सिद्धि नहिं होती। छट्ठे जिताक्ष (जितेन्द्रिय) हो। क्योंकि इन्द्रियोंके जीते विना वे विषयोंमें प्रवृत्त करती हैं, और ध्यानकी सिद्धि नहिं हो सकती। सातवें संवृत कहिये संवरयुक्त हो। क्योंकि खानपानादिमें विकल हो जावे तो, ध्यानमें चित्त कैसे स्थिर हो? आठवें धीर हो। उपसर्ग आनेपर ध्यानसे च्युत न होवे तव ध्यानकी सिद्धि होती है। ऐसे आठगुणसहित ध्याताके ध्यानकी सिद्धि हो सकती है, अन्यके नहीं होती ॥ ६ ॥

अब इस ही कथनका विस्तार करते हैं और प्रथम गृहस्थावस्थामें उत्तम ध्यानका निषेध करते हैं,—

उपजातिवृत्तम्।

उदीर्णकर्मेन्धनसंभवेन दुःखानलेनातिकदर्थ्यमानम्।
दन्दह्यते विश्वमिदं समन्तात्प्रमादमूढं च्युतसिद्धिमार्गम् ॥ ७ ॥

अर्थ—छोड दिया है मोक्षमार्ग जिसने ऐसा प्रमादसे मूढ होकर यह जगत् उदयमें आये हुए कर्मरूपी ईंधनसे उत्पन्न दुःखरूपी अग्निसे पीड़ित होता हुआ, चारों ओरसे जलता है ॥ ७ ॥

अब ऐसे जगतसे निकले हुए मुनिको उद्देश करके कहते हैं—

दह्यमाने जगत्यस्मिन्महता मोहवह्निना।
प्रमादमदमुत्सृज्य निःक्रान्ता योगिनः परम् ॥ ८ ॥

अर्थ—महामोहरूपी अग्निसे जलते हुए इस जगतमेंसे केवल मुनिगण ही प्रमादको छोड़कर निकलते हैं, अन्य कोई नहीं ॥ ८ ॥

न प्रमादजयं कर्तुं धीधनैरपि पार्यते।
महाव्यसनसंकीर्णे गृहवासेऽतिनिन्दिते ॥ ९ ॥

अर्थ—अनेक कष्टोंसे भरे हुए अतिनिंदित गृहवासमें बड़े २ बुद्धिमान् भी प्रमादको पराजित करनेमें समर्थ नहीं हैं। इस कारण गृहस्थावस्थामें ध्यानकी सिद्धि नहिं हो सकती ॥ ९ ॥

शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः।
अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहे स्थितिः ॥ १० ॥

अर्थ—गृहस्थगण घरमें रहते हुए अपने चपलमनको वश करनेमें असमर्थ होते हैं, अतएव चित्तकी शान्तिके अर्थ सत्पुरुषोंने घरमें रहना छोड़ दिया है और वे एकान्त स्थानमें रहकर ध्यानस्थ होनेको उद्यमी हुए हैं ॥ १० ॥

वंशस्थम् ।

प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्त्तचेतसां
नृणां दुराशाग्रहपीडितात्मनाम् ।
नितम्बिनीलोचनचौरसङ्कटे
गृहाश्रमे स्वात्महितं न सिद्ध्यति ॥ ११ ॥

अर्थ—सैकड़ों प्रकारके कलहोंसे दुःखितचित्त, और धनादिककी दुराशारूपी पिशाचीसे पीड़ित मनुष्योंके प्रतिक्षण स्त्रियोंके नेत्ररूपी चौरोंका है उपद्रव जिसमें, ऐसे इस गृहस्थाश्रममें अपने हितकी सिद्धि नहिं होती है ॥ ११ ॥

फिर भी कहते हैं,—

निरन्तरार्त्तानलदाहदुर्गमे
कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने ।
अनेकचिन्ताज्वरजिह्मितात्मनां
नृणां गृहे नात्महितं प्रसिद्ध्यति ॥ १२ ॥

अर्थ—निरन्तर पीड़ारूप आर्त्तध्यानकी अग्निके दाहसे दुर्गम, वसनेके अयोग्य, तथा कामक्रोधादिकी कुवासनारूपी अन्धकारसे विलुप्त हो गई है नेत्रोंकी दृष्टि जिसमें, ऐसे घरोंमें अनेक चिन्तारूपी ज्वरसे विकाररूप मनुष्योंके अपने आत्माका हित कदापि सिद्ध नहिं होता। ऐसे गृहस्थावासमें उत्तम ध्यान कैसे हो ? ॥ १२ ॥

आगे फिर भी कहते हैं:—

विपन्महापङ्कनिमग्नबुद्धयः
प्ररूढरागज्वरयन्त्रपीडिताः ।
परिग्रहव्यालविषाग्निमूर्च्छिता
विवेकवीथ्यां गृहिणः स्खलन्त्यमी ॥ १३ ॥

अर्थ—गृहस्थावस्थाकी आपदारूपी महान् कीचड़में जिनकी वुद्धि फँसी हुई है, तथा जो प्रचुरतासे बढ़े हुये रागरूपी ज्वरके यन्त्रसे पीड़ित हैं, और जो परिग्रहरूपी सर्पके विषकी ज्वालासे मूर्च्छित हुए हैं, वे गृहस्थगण विवेकरूपी वीथीमें (गलीमें) चलते हुए स्खलित हो जाते हैं अर्थात् च्युत हो जाते हैं। अथवा समीचीन मार्गसे (मोक्षमार्गसे) भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ १३ ॥

---

१ "नश्यति स्वात्मनो हितं" इत्यपि पाठः ।

हिताहितविमूढात्मा स्वं शश्वद्वेष्टयेद्गृही ।
अनेकारम्भजैः पापैः कोशकारः कृमिर्यथा ॥ १४ ॥

अर्थ—जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही मुखसे तारोंको निकालकर अपनेको ही उसमें आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार हिताहितमें विचारशून्य. होकर यह गृहस्थजन भी अनेक प्रकारके आरंभोंसे पापोपार्जन करके अपनेको शीघ्र ही पापजालमें फँसा-लेते हैं ॥ १४ ॥

जेतुं जन्मशतेनापि रागाद्यरिपताकिनी ।
विना संयमशस्त्रेण न सद्भिरपि शक्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—रागादिशत्रुओंकी सेना संयमरूपी शस्त्रके विना बड़े २ सत्पुरुषोंसे (राजाओंसे) सैकड़ों जन्म लेकर भी जब जीती नहिं जा सकती है, तो अन्यकी कथा ही क्या है ? ॥ १५ ॥

प्रचण्डपवनैः प्रायश्चाल्यन्ते यत्र भूभृतः ।
तत्राङ्गनादिभिः स्वान्तं निसर्गतरलं न किम् ॥ १६ ॥

अर्थ—स्त्रियां प्रचंड पवनके समान हैं। प्रचंड पवन बड़े २ भूभृतों (पर्वतों)को उड़ा देता है और स्त्रियां बड़े २ भूभृतों (राजाओंको) चला देती हैं। ऐसी स्त्रियोंसे जो स्वभावसे ही चंचल है ऐसा, मन क्या चलायमान नहिं होगा ? **भावार्थ**–स्त्रियोंके संसर्गमें ध्यानकी योग्यता कहां ? ॥ १६ ॥

खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते ।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥ १७ ॥

अर्थ—आकाशके पुष्प और गधेके सींग नहिं होते हैं। कदाचित् किसी देश वा कालमें इनके होनेकी प्रतीति हो सकती है, परन्तु गृहस्थाश्रममें ध्यानकी सिद्धि होनी तो किसी देश वा कालमें संभव नहीं है ॥ १७ ॥

इसप्रकार गृहस्थके ध्यानकी योग्यताका निषेध किया। शंका--यदि यहां कोई यह प्रश्न करे कि, "सिद्धान्तमें अविरतसम्यग्दृष्टि तथा श्रावकके धर्मध्यानका होना सुना है, यहां गृहस्थके सर्वथा ध्यानका निषेध क्यों किया ?"—इसका **समाधान**--

इस ग्रंथमें मोक्षके साधनरूप ध्यानका अधिकार है इसलिये उसकी अपेक्षा मुनियोंके ही ध्यानकी प्रधानता कही गई है । सम्यग्दृष्टि गृहस्थोंके धर्म ध्यान जघन्यतासे होता है, सो यहां गौण है। स्याद्वादमतमें प्राधान्य गौण कथनीमें विरोध नहीं होता।

अब मिथ्यादृष्टियोंके ध्यानकी सिद्धिका निषेध करते हैं,—

दुर्दृशामपि न ध्यानसिद्धिः स्वप्नेऽपि जायते।
गृह्णतां दृष्टिवैकल्याद्वस्तुजातं यदृच्छया ॥ १८ ॥

अर्थ—दृष्टिकी विकलतासे वस्तुसमूहको अपनी इच्छानुसार ग्रहण करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके ध्यानकी सिद्धि स्वप्नमें भी नहिं होती है ॥ १८ ॥

ध्यानसिद्धिर्यतित्वेऽपि न स्यात्पाषण्डिनां क्वचित् ।
पूर्वापरविरुद्धार्थमतसत्तावलम्बिनाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिको (अन्यथाश्रद्धानकरनेवाले अन्यमतीको) गृहस्थावस्था छोड़के मुनि होनेपर भी ध्यानकी सिद्धि नहिं होती । क्योंकि वे पूर्वापरविरुद्ध पदार्थोंके स्वरूपमें समीचीनता (सत्यता) माननेवाले हैं, अर्थात् अन्यमतमें सत्ता–यथार्थता नहीं है, ॥ १९ ॥ सो ही कहते हैं—

किं च पाषण्डिनः सर्वे सर्वथैकान्तदूषिताः ।
अनेकान्तात्मकं वस्तु प्रभवन्ति न वेदितुम् ॥ २० ॥

अर्थ—सब ही अन्यमती पाखंडी सर्वथा एकान्ततासे दूषित हैं, और वस्तुका स्वरूप अनेकान्तात्मक है अतः वे उसके यथार्थस्वरूपको जाननेमें असमर्थ हैं । स्याद्वादके जाने विना विरोध आदि दूषणोंका परिहार उनसे नहिं किया जा सकता है ॥ २० ॥

नित्यतां केचिदाचक्षुः केचिच्चानित्यतां खलाः ।
मिथ्यात्वान्नैव पश्यन्ति नित्यानित्यात्मकं जगत् ॥ २१ ॥

अर्थ—कोई २ तो वस्तुके नित्यता ही कहते हैं और कोई २ अनित्यता ही सिद्ध करते हैं । परन्तु यह जगत् नित्य अनित्य दोनों स्वरूप है ऐसा मिथ्यात्वके उदयसे नहीं देखते । **भावार्थ**—सांख्य, नैयायिक, वेदान्त और मीमांसकमतवाले तो आत्माको सर्वथा नित्य तथा जगतको अविद्यादिकके विलाससे विभ्रमरूप अनित्य मानते हैं और कहते हैं कि, 'आत्माको अनित्य माननेसे आत्माका नाश होकर नास्तिकताका मत आता है और नित्यानित्य दोनों स्वरूप माननेसे विरोधादिक दूषण आते हैं ।' इसप्रकार अपनी कपोलकल्पना करके आत्माको सर्वथा नित्य ही मानते हैं और बौद्धमती वस्तुको क्षणिक तथा अनित्यस्वरूप मानते हैं । नित्य माननेको अविद्या कहते हैं और नित्यानित्य माननेमें विरोधादि दूषण कहते हैं । किन्तु सबको जानना चाहिये कि, वास्तवमें वस्तुका स्वरूप जो नित्यानित्यरूप है, वह स्याद्वादसे ही सिद्ध होता है । उसमें विरोध आदि कोई भी दूषण नहिं आते । शोक है कि, ऐसा स्वरूप अन्यमती समझते नहीं है और अपनी बुद्धिसे कल्पना करके जिसतिसप्रकार सिद्धि करके सन्तुष्ट हो जाते हैं । परन्तु वास्तवमें विचार किया जावे, तो उनके ध्याता ध्यान ध्येयादिकी सिद्धि नहिं होती । इसकारण उनका कहना सब प्रलापमात्र जानना चाहिये ॥ २१ ॥

वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्किं ध्येयं क्व च भावना ।
ध्यानाभ्यासस्ततस्तेषां प्रयासायैव केवलम् ॥ २२ ॥

अर्थ—उक्त मिथ्यादृष्टी अन्यमतावलम्बियोंके यथार्थस्वरूपके ज्ञानके अभावसे ध्येय कहां और भावना कहां ? इसकारण उनका ध्यानका करना केवल प्रयासमात्र ही है अर्थात् निष्फल खेद करना है ॥ २२ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे ।

"शतमाशीतं प्रथितं क्रियाविदां वादिनां प्रचण्डानाम् ।
चतुरधिकाशीतिरपि प्रसिद्धमहसां विपक्षाणाम् ॥ १ ॥
षष्टिर्विज्ञानविदां सप्तसमेता प्रसिद्धबोधानाम् ।
द्वात्रिंशद्वैनयिका भवन्ति सर्वे प्रवादविदः ॥ २ ॥" (युग्मम्)

अर्थ—"प्रचंड क्रियावादियोंके तो विस्ताररूप एकसो अस्सी भेद हैं और उनके विपक्षी अक्रियावादियोंके चौरासी भेद प्रसिद्ध हैं। तथा प्रसिद्ध है ज्ञानवाद जिनका ऐसे ज्ञानवादियोंके सड़सठ भेद हैं और विनयवादियोंके बत्तीस भेद हैं। इस प्रकार तीनसौ त्रेसठ प्रकारके मत आदिनाथस्वामीके समयमें ही थे और अब तो इनके प्रभेद अनगिनती हो गये और होते जाते हैं। इन मतोंका विशेष वर्णन गोमठसार ग्रंथसे जानना" ॥

ज्ञानादेवेष्टसिद्धिः स्यात्ततोऽन्यः शास्त्रविस्तरः ।
मुक्तेरुक्तमतो बीजं विज्ञानं ज्ञानवादिभिः ॥ २३ ॥

अर्थ—ज्ञानवादियोंका मत तो ऐसा है कि एकमात्र ज्ञानसेही इष्टसिद्धि होती है। इससे अन्य जो कुछ है सो सब शास्त्रका विस्तारमात्र है। इस कारण मुक्तिका बीजभूत विज्ञान ही है ॥ २३ ॥

कैश्चिच्च कीर्त्तिता मुक्तिर्दर्शनादेव केवलम् ।
वादिनां खलु सर्वेषामपाकृत्य नयान्तरम् ॥ २४ ॥

अर्थ—और कई वादियोंने अन्यसमस्तवादियोंके अन्य नयपक्षोंका निराकरण करके केवल दर्शन (श्रद्धा) से ही मुक्ति होनी कही है ॥ २४ ॥

अथान्यैर्वृत्तमेवैकं मुक्त्यङ्गं परिकीर्तितम् ।
अपास्य दर्शनज्ञाने तत्कार्यविफलश्रमे ॥ २५ ॥

अर्थ—अथवा अन्य कई वादियोंने चारित्रको (क्रियाको) ही मुक्तिका अंग माना है और ज्ञानदर्शनको मुक्तिमार्गके कार्यमें व्यर्थ मानकर उसका खंडन किया है ॥ २५ ॥

विज्ञानादित्रिवर्गेऽस्मिन्द्वे द्वे इष्टे तथा परैः ।
स्वसिद्धान्तावलेपेन जन्मसन्ततिशातने ॥ २६ ॥

अर्थ—और कितनेही वादी अपने सिद्धान्तके गर्वसे संसारकी सन्ततिके नाशकी परिपाटीमें विज्ञान, दर्शन (श्रद्धान) और चरित्र इन तीनोंमेंसे दो दो को इष्ट कहते हैं, अर्थात् कोई तो दर्शन और ज्ञानकोही मानते हैं, किसीने दर्शन और चारित्रही माना है और कोई २ ज्ञान और चारित्रकोही मानते हैं। इस प्रकारसे तीन प्रकारके वादी हैं ॥ २६ ॥

एकैकं च त्रिभिर्नष्टं द्वे द्वे नष्टे तथाऽपरैः ।
त्रयं न रुच्यतेऽन्यस्य सप्तैते दुर्दृशः स्मृताः ॥ २७ ॥

अर्थ—इन वादियोंमें तीन वादियोंने तो एक एकको नष्ट किया और तीन वादियोंने दोदो को नष्ट किया। इनके अतिरिक्त एकको ये तीनोंही नहिं रुचते, इस प्रकार मिथ्यामतियोंके सात भेद हुए। **भावार्थ**—जिसने दर्शन और ज्ञान दोहीको मोक्षका मार्ग माना उसने तो एक चारित्रको नष्ट किया; जिसने ज्ञान और चारित्र माना, उसने एक दर्शनको नष्ट किया, और जिसने दर्शन और चारित्र ये दो माने उसने एक ज्ञानको नष्ट किया। इसी प्रकार जिसने एक दर्शनहीको माना उसने ज्ञान चारित्रको नष्ट किया और जिसने एक ज्ञानहीको माना उसने दर्शन और चारित्रको नष्ट किया और जिसने एक चारित्रकोही माना उसने दर्शन और ज्ञानपर पानी फेर दिया। इस प्रकार छह पक्ष तो ये हुए एक नास्तिकका पक्ष है, जो इन तीनोंमें किसीको नहिं मानता है। इस प्रकार सात पक्ष मिथ्यादृष्टियोंके हैं ॥ २७ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

"ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम् ।
तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥ १ ॥
ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम् ।
ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम् ॥ २ ॥
हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया ।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः ॥ ३ ॥"

अर्थ—"ज्ञानहीन पुरुषकी क्रिया फलदायक नहिं होती। जिसकी दृष्टि नष्ट हो गई है वह अन्धा पुरुष चलते २ जिस प्रकार वृक्षकी छायाको प्राप्त होता है, उसी प्रकार क्या उसके फलकोभी पासक्ता है? कदापि नहीं! ॥ १ ॥ पंगुमें तो वृक्षके फलका देख लेना प्रयोजनको नहिं साधता और अंधेमें फल जानकर तोड़नेरूप क्रिया प्रयोजनको नहिं साधती। श्रद्धारहितके ज्ञान और क्रिया दोनोंही (दवाईकी समान) प्रयोजनसाधक नहीं हैं, इस कारण ज्ञान क्रिया और श्रद्धा तीनों एकत्र होकर ही वांछित अर्थकी साधक होती हैं ॥ २ ॥ क्रियारहित तो ज्ञान नष्ट है और अज्ञा-

नीकी क्रिया नष्ट हुई। देखो दौड़ता २ तो अन्धा नष्ट हो गया और देखता २ पंगु (पांगला) नष्ट हुआ। **भावार्थ**—वनमें आग लगी अंधेने इधर उधर दौड़नेकी क्रिया तो की किन्तु दृष्टिके विना आगमें गिरकर जल गया. और पंगु (लंगड़ा) किधरको आग है और किधरको रस्ता है, सब देखता तो है, परन्तु दौड़ा नहिं गया इस कारण अग्निमें जलकर मर गया। इस कारण ज्ञान श्रद्धा और क्रिया इनसे ही प्रयोजनकी सिद्धि होती है"। ॥ ३ ॥

कारकादिक्रमो लोके व्यवहारश्च जायते।
न पक्षेऽन्विष्यमाणोऽपि सर्वथैकान्तवादिनाम् ॥ २८ ॥

अर्थ—सर्वथा एकान्तवादियोंके पक्षका विचार करनेसे उनके यहां कर्त्ता कर्म करण आदि कारकोंका क्रम (परिपाटी और व्यवहार) दृष्टिगोचर नहिं होता है ॥ २८ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

पृथिवी।

"इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेषः क्रमो
व्ययोऽयमनुषङ्गजं फलमिदं दशेयं मम।
अयं सुहृदयं द्विषन्नियतदेशकालाविमा-
विति प्रतिवितर्कयन्प्रयतते बुधो नेतरः ॥ १ ॥"

अर्थ—"जो विद्वान् हैं, वे ऐसा विचार करते हुए यत्न करते रहते हैं; कि, यह तो क्रिया है, यह करण है और यह इसका फल है, यह इसका क्रम है, यह इसमें व्यय है, यह अनुषंगसे उपजा हुआ फल है और यह मेरी दशा है। यह मित्र है, यह द्वेष करनेवाला शत्रु है और यह कार्यसंबंधी देश तथा काल है। इस प्रकारका विचार वस्तुका अनेकान्त स्वरूप बताता है, परन्तु मूढजन इनका विचार नहिं करते हैं" ॥ १ ॥

यस्य प्रज्ञा स्फुरत्युच्चैरनेकान्ते च्युतभ्रमा।
ध्यानसिद्धिर्विनिश्चेया तस्य साध्वी महात्मनः ॥ २९ ॥

अर्थ—जिस पुरुषकी बुद्धि अनेकान्तमें भ्रमरहित अतिशय स्फुरायमान है, उसी महात्माको उत्तम ध्यानकी सिद्धि निश्चयसे हो सकती है। सर्वथा एकान्तस्वरूप वस्तु ही सिद्ध न हो, तब ध्यानकी सिद्धि कैसे हो ? ॥ २९ ॥

इस प्रकार मिथ्यादृष्टियोंके ध्यानकी योग्यताका निषेध किया। अब ऐसा कहते हैं कि जो जैन मतके मुनि हैं और जिनाज्ञाके प्रतिकूल हैं, उनकोभी ध्यानकी सिद्धि नहीं है:—

ध्यानतन्त्रे निषिध्यन्ते नैते मिथ्यादृशः परं।
मुनयोऽपि जिनेशाज्ञाप्रत्यनीकाश्चलाशयाः ॥ ३० ॥

अर्थ—सिद्धान्तमें ध्यान केवल मात्र मिथ्यादृष्टियोंकेही नहीं निषेधते हैं, किन्तु जो जिनेन्द्र भगवान्‌की आज्ञासे प्रतिकूल हैं तथा जिनका चित्त चलित है और जैन-साधु कहाते हैं; उनकेभी ध्यानका निषेध किया जाता है । क्योंकि उनके ध्यानकी सिद्धि नहिं होती ॥ ३० ॥

योग्यता न यतित्वेऽपि येषां ध्यातुमिह क्षणम्।
अन्विष्य लिङ्गमेतेषां सूत्रसिद्धं निगद्यते ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस लोकमें जिनके मुनिअवस्थामें भी ध्यान करनेकी एक क्षणमात्रकी योग्यता नहीं है, उनकी पहिचान सूत्रसिद्ध (शास्त्रोक्त) कही जाती है ॥ ३१ ॥

यत्कर्मणि न तद्वाचि वाचि यत्तन्न चेतसि।
यतेर्यस्य स किं ध्यानपदवीमधिरोहति ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस यतिके जो कर्म (क्रिया) में है, सो वचनमें नहीं है; वचनमें और ही कुछ है । तथा जो कुछ वचनमें है सो चित्तमें नहीं है। ऐसे मायाचारी यति क्या ध्यानपदवीको पासकते हैं ? ॥ ३२ ॥

सङ्गेनापि महत्त्वं ये मन्यन्ते स्वस्य लाघवम्।
परेषां संगवैकल्यात्ते स्वबुद्ध्यैव वञ्चिताः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो मुनि होकर भी परिग्रह रखते हैं और उस परिग्रहसे अपना महत्त्व मानते हैं तथा अन्य कि जिनके परिग्रह नहीं है उनकी लघुता समझते हैं, वे अपनी ही बुद्धिसे ठगे गये हैं; क्योंकि मुनिका महत्व तो निर्ग्रन्थतासेही है ॥ ३३ ॥

सत्संयमधुरां धृत्वा तुच्छशीलैर्मदोद्धतैः।
त्यक्ता यैः सा च्युतस्थैर्यैर्ध्यातुमीशं क्व तन्मनः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिन निःसारस्वभावी मदोद्धत मुनियोंने समीचीन संयमकी धुरा धारण करके छोड़ दी और जिनका धैर्य छूट गया, उनका मन क्या ध्यान करनेमें समर्थ हो सक्ता है ? कदापि नहीं। क्योंकि हीनप्रकृति मदोद्धत धैर्यरहितके ध्यानकी योग्यता नहीं है ॥ ३४ ॥

कीर्तिपूजाभिमानार्तैर्लोकयात्रानुरञ्जितैः।
बोधचक्षुर्विलुप्तं यैस्तेषां ध्याने न योग्यता ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो मुनि कीर्ति प्रतिष्ठा और अभिमानके अर्थमें आसक्त हैं, दुःखित हैं तथा लोकयात्रासे प्रसन्न होते हैं अर्थात् हमारे पास बहुतसे लोग आवें जावें और हमको माने

जो ऐसी वांछा रखते हैं, उन्होंने अपने ज्ञानरूपी नेत्रको नष्ट किया है. ऐसे मुनियोंके ध्यानकी योग्यता नहीं हो सकती है ॥ ३५ ॥

अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं मिथ्यात्वविषमुद्धतम् ।
निष्ठ्यूतं यैर्न निःशेषं न तैस्तत्त्वं प्रमीयते ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंने अपने अन्तःकरणकी शुद्धताके लिये उत्कट मिथ्यात्वरूपी समस्त विष नहिं वमन किया (नहिं उगला) वे तत्त्वोंको प्रमाणरूप नहिं जान सकते हैं। क्योंकि मिथ्यात्वरूपी विष ऐसा प्रबल है कि, इसका लेशमात्रभी हृदयमें रहे, तो तत्त्वार्थका ज्ञान श्रद्धान प्रमाणरूप नहिं होता, तव ऐसी अवस्थामें ध्यानकी योग्यता कहां ? ॥ ३६ ॥

दुःषमत्वादयं कालः कार्यसिद्धेर्न साधकम् ।
इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषां कैश्चिद्ध्यानं निषिध्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ—कोई २ साधु ऐसा कहकर अपने तथा परके ध्यानका निषेध करते हैं कि, "यह काल दुःषमा (पंचम) है। इस कालमें ध्यानकी योग्यता किसीकेभी नहीं है" इस प्रकार कहनेवालोंके ध्यान कैसे हो ? ॥ ३७ ॥

संदिह्यते मतिस्तत्त्वे यस्य कामार्थलालसा ।
विप्रलब्धाऽन्यसिद्धान्तैः स कथं ध्यातुमर्हति ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिसकी बुद्धि अन्यमतके शास्त्रोंसे ठगी गई है तथा जो काम और अर्थमें लुब्ध होकर वस्तुके यथार्थ स्वरूपमें संदिग्धरूप (संदेहसहित) है वह ध्यान करनेका पात्र कैसे हो ? क्योंकि जवतक तत्त्वोंमें (वस्तुस्वरूपमें) संदेह होता है, तवतक मन निश्चल नहिं हो सकता और जव मनही निश्चल नहीं, तव ध्यान कैसे हो ? ॥ ३८ ॥

निसर्गचपलं चेतो नास्तिकैर्विप्रतारितम् ।
स्याद्यस्य स कथं ध्यानपरीक्षायां क्षमो भवेत् ॥ ३९ ॥

अर्थ—एक तो मन स्वभावहीसे चंचल है, तिसपरभी जिसका मन नास्तिक वादियों-द्वारा वंचित किया गया हो वह मुनि ध्यानकी परीक्षामें कैसे समर्थ हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता, क्योंकि नास्तिकमती खोटी २ युक्तियोंसे आत्माका नाशही सिद्ध करते हैं। उनकी कुयुक्तियोंमें जिसका मन फँस जाता है, उसके ध्यानकी योग्यता कहांसे हो सकती है ? ॥ ३९ ॥

कान्दर्पीप्रमुखाः पञ्च भावना रागरञ्जिताः ।
येषां हृदि पदं चक्रुः क्व तेषां वस्तुनिश्चयः ॥ ४० ॥

अर्थ—जिनके मनमें रागसे रंजित कांदर्पी आदि पांच भावनाओंने निवास किया है, उनके वस्तुनिश्चय (तत्त्वार्थज्ञान) कैसे हो ? ॥ ४० ॥

अब इन भावनाओंके नाम कहते हैं,—

कान्दर्पी कैल्बिषी चैव भावना चाभियोगिकी ।
दानवी चापि सम्मोही त्याज्या पञ्चतयी च सा ॥ ४१ ॥

अर्थ—कान्दर्पी (कामचेष्टा) कैल्बिषी (क्लेशकारिणी), आभियोगिकी (युद्धभावना), आसुरी (सर्वभक्षणी) और संमोहिनी (कुटुंबमोहनी); इस प्रकार ये पांच भावनायें पापरूप हैं सो पांचो ही त्यागने योग्य हैं ॥ ४१ ॥

मार्जाररसितप्रायं येषां वृत्तं त्रपाकरम् ।
तेषां स्वप्नेऽपि सद्ध्यानसिद्धिर्नैवोपजायते ॥ ४२ ॥

अर्थ—जिस मुनिका चारित्र बिलावके कहे हुए उपाख्यानके (कहानीके) समान लज्जाजनक है, उसके समीचीन ध्यानकी सिद्धि स्वप्नमेंभी नहिं हो सकती । बिलावका उपाख्यान लोकप्रसिद्ध है कि एक बिलाव मूषकोंसे कहा करताथा कि, मैने तीर्थमें जाकर मूषक मारने वा खानेका त्यागकर दिया है, तुम हमारे पास आते हुए कदापि शंका न करो । जब मूषक निःशंक होकर बिलावके पास आने लगे तब बिलावने क्रम २ से सब मूसोंको खा डाला । इसी प्रकार जो पुरुष पहिले तो मुनिदीक्षा लेकर प्रतिज्ञायें ग्रहण कर लें और फिर भ्रष्ट हो जावें उनके ध्यानकी सिद्धिका निषेध है ॥ ४२ ॥

अनिरुद्धाक्षसन्ताना अजितोग्रपरीषहाः ।
अत्यक्तचित्तचापल्या प्रस्खलन्त्यात्मनिश्चये ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिन्होंने इन्द्रियोंके विषयभोगनेकी प्रवृत्तिको नहिं रोका, उग्र परीषहैं नहिं जीती, और मनकी चपलता नहिं छोड़ी वे मुनि आत्माके निश्चयसे च्युत हो जाते हैं । **भावार्थ**—जिनके इन्द्रिय वशमें नहीं हैं और परीषह आनेपर जो चिग जाते हैं वा जिनका मन चंचल है, उनको आत्माका निश्चय वा ध्यानकी स्थिरता नहीं रहती ॥ ४३ ॥

अनासादितनिर्वेदा अविद्याव्याधवञ्चिताः ।
असंवर्द्धितसंवेगा न विदन्ति परं पदम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो विरागताको प्राप्त नहिं हुए हैं तथा मिथ्यात्वरूपी व्याधसे (शिकारीसे) वंचित किये गये हैं और जिनका मोक्ष और मोक्षमार्गमें अनुराग नहीं है, वे परमपद अर्थात् आत्माके स्वरूपकी प्राप्तिरूप मोक्षको नहिं जानते ॥ ४४ ॥

न चेतः करुणाक्रान्तं न च विज्ञानवासितम् ।
विरतं च न भोगेभ्यो यस्य ध्यातुं न स क्षमः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जिसका मन करुणासे व्याप्त नहिं हुआ, तथा भेदविज्ञानसे वासित नहिं हुआ, विषयभोगोंसे विरक्त नहिं हुआ वह ध्यान करनेमें समर्थ नहिं है ॥ ४५ ॥

लोकानुरञ्जकैः पापैः कर्मभिर्गौरवं श्रिताः ।
अरञ्जितनिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रताः ॥ ४६ ॥
अनुद्धृतमनःशल्या अकृताध्यात्मनिश्चयाः ।
अभिन्नभावदुर्लेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो लोगोंको रंजित करनेवाले पापरूप कार्योंसे गुरुताको प्राप्त हैं। नहिं रंजित हुआ है आत्मामें चित्त जिनका ऐसे हैं। तथा इन्द्रियोंके विषयोंकी गहनतामें लीन हैं। जिनने मनके शल्यको दूर नहिं किया है तथा अध्यात्मका निश्चय नहिं किया है और अपने भावोंसे दुर्लेश्याको दूर नहिं किया है, ऐसे पुरुष ध्यानसाधनमें निषेधित हैं। क्योंकि इनमें ध्यानकी योग्यता नहीं हैं ॥ ४६–४७ ॥

नर्मकौतुककौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः ।
अज्ञानज्वरशीर्णाङ्गा मोहनिद्रास्तचेतनाः ॥ ४८ ॥
अनुद्युक्तास्तपः कर्तुं विषयग्रासलालसाः ।
ससङ्गाः शङ्किता भीता मन्येऽमी दैववञ्चिताः ॥ ४९ ॥
एते तृणीकृतस्वार्था मुक्तिश्रीसङ्गनिःस्पृहाः ।
प्रभवन्ति न सद्ध्यानमन्वेषितुमपि क्षणं ॥ ५० ॥

अर्थ—जो हास्य, कौतूहल, कुटिलता, तथा हिंसादि पाप प्रवृत्तिके शास्त्रोंका उपदेश करनेवाले हैं, तथा मिथ्यात्वरूपी ज्वर रोगसे जिनकी आत्मा शीर्ण (रोगी) है विकाररूप है। और मोहरूप निद्रासे जिनकी चेतना नष्ट हो गई है। जो तप करनेको उद्यमी नही हैं। विषयोंकी जिनके अतिशय लालसा है। जो परिग्रह और शंकासहित हैं। वस्तुका निर्णय जिनको नहीं हैं। तथा जो भयभीत हैं। मैं ऐसा मानता हूं कि, ऐसे पुरुष दैवके द्वारा ठगे गये हैं। फिर ऐसे पुरुषोंसे ध्यान कैसे हो सकता है ? इन पुरुषोंने अपने हितको तृणके समान समझलिया है तथा मुक्तिरूपी स्त्रीके संगम करनेमें निस्पृह हो गये हैं। इस कारण ये समीचीन ध्यानके अन्वेषण करनेको क्षणमात्रभी समर्थ नहीं हो सकते हैं। **भावार्थ**—जिनके खोटी भावना लगी रहती हैं और जिनके अपने हिताहितका विचार नहीं होता, वे समीचीन ध्यानका अन्वेषण नहीं कर सकते ॥ ४८–४९–५० ॥

पापाभिचारकर्म्माणि सातर्द्धिरसलम्पटैः ।
यैः क्रियन्तेऽधमैर्मोहाद्धा हतं तैः स्वजीवितं ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो सातावेदनीयजनित सुख और अणिमा महिमादि तथा धनादिक ऋद्धि तथा रसीले भोजनादिकमें लंपट हैं; मोहसे पापाभिचार कर्म करते हैं; उनके लिये आचार्य महाराज खेदसहित कहते हैं कि, हाय ! हाय ! इन्होंने अपने जीवनका नाश किया और अपनेको संसारसमुद्रमें डुबा दिया ॥ ५१ ॥

वे पापाभिचार कर्म कौन २ हैं, सो कहते हैं,—

वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोच्चाटनं तथा ।
जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम् ॥ ५२ ॥
पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ ।
विद्याच्छेदस्तथा वेधं ज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सितम् ॥ ५३ ॥
यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः कालवञ्चना ।
पादुकाञ्जननिस्त्रिंशभूतभोगीन्द्रसाधनं ॥ ५४ ॥
इत्यादिविक्रियाकर्मरतैर्दुष्टचेष्टितैः ।
आत्मानमपि न ज्ञातुं नष्टं लोकद्वयच्युतैः ॥ ५५ ॥

अर्थ—वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन, तथा जल अग्नि विषका स्तंभन, रसकर्म, रसायन ॥ ५२ ॥ नगरमें क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्रजालसाधन, सेनाका स्तंभन करना, जीतहारका विधान बताना, विद्याके छेदनेका विधान साधना, वेधना, ज्योतिषका ज्ञान, वैद्यकविद्यासाधन ॥ ५३ ॥ यक्षिणीमंत्र, पातालसिद्धिके विधानका अभ्यास करना, कालवंचना (मृत्यु जीतनेका मंत्र साधना), पादुकासाधन (खड़ाऊं पहनकर आकाश वा जलमें विहार करनेकी विद्याका साधन) करना, अदृश्य होने तथा गडे हुए धन देखनेके अञ्जनका साधना, शस्त्रादिकका साधना, भूतसाधन, सर्पसाधन ॥ ५४ ॥ इत्यादि विक्रियारूप कार्योंमें अनुरक्त होकर दुष्ट चेष्टा करनेवाले जो हैं उन्होंने आत्मज्ञानसे भी हाथ धोया और अपने दोनों लोकका कार्यभी नष्ट किया । ऐसे पुरुषोंके ध्यानकी सिद्धि होनी कठिन है ॥ ५५ ॥

यतित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः ।
मातुः पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद्गतघृणाः ॥ ५६ ॥
निस्त्रपाः कर्म कुर्वन्ति यतित्वेऽप्यतिनिन्दितम् ।
ततो विराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे ॥ ५७ ॥

अर्थ—कई निर्दय, निर्लज्ज साधुपनमें भी अतिशय निंदा करनेयोग्य कार्य करते हैं । वे समीचीन हितरूप मार्गका विरोध कर नरकमें प्रवेश करते हैं । जैसे कोई अपनी माताको वेश्या बनाकर उससे धनोपार्जन करते हैं, तैसेही जो मुनि होकर उस मुनि-

दीक्षाको जीवनका उपाय बनाते हैं और उसके द्वारा धनोपार्जन करते हैं, वे अतिशय निर्दय तथा निर्लज्ज हैं ॥ ५६–५७ ॥

अविद्याश्रयणं युक्तं प्राग्गृहावस्थितैर्वरम् ।
मुक्त्यङ्गं लिङ्गमादाय न श्लाघ्यं लोकदम्भनं ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो गृहस्थावस्थामें हैं, उनको तो ऐसी अविद्याका आश्रय करना कदाचित् युक्त भी कहा जा सकता है, परन्तु मुक्तिके अंगस्वरूप मुनिके भेषको धारण करके लोकका ठगना कदापि प्रशंसनीय नहीं है। **भावार्थ**—साधुका भेष धारण करके कुक्रिया करनेसे तो पहिली गृहस्थावस्थाही अच्छी है। क्योंकि ऐसी अवस्थामें उक्त कार्य करनेवालोंकी कोई विशेष निंदा तो नहीं करते । यतिका भेष धारण करके निंदा नहीं करानी चाहिये, ध्यान तो दूर रहा ॥ ५८ ॥

मनुष्यत्वं समासाद्य यतित्वं च जगन्नतुम् ।
हेयमेवाशुभं कार्यं विवेच्य सुहितं बुधैः ॥ ५९ ॥

अर्थ—मनुष्यपन पाकर उसमें फिर जगत्पूज्य मुनिदीक्षाको ग्रहण करके विद्वानोंको अपना हित विचार अशुभ कर्म अवश्यही छोडना चाहिये ॥ ५९ ॥

अहो विभ्रान्तचित्तानां पश्य पुंसां विचेष्टितम् ।
यत्प्रपञ्चैर्यतित्वेऽपि नीयते जन्म निःफलम् ॥ ६० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—देखो, भ्रमरूप चित्तवाले पुरुषोंकी चेष्टा साधुपनेंमेंभी पाखंड प्रपंच करके जन्मको निष्फल कर देती है ॥ ६० ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे

वसन्ततिलका ।

" भुक्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम्
सन्तर्पिताः प्रणयिनः स्वधनैस्ततः किम् ।
न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम ॥ १ ॥

अर्थ—" इस जगतमें जीवोंकी समस्त कामनाओंके पूर्ण करनेवाली लक्ष्मी हुई और वह भोगनेमें आई तो उससे क्या लाभ? अथवा अपनी धनसम्पदादिकसे परिवार स्नेही मित्रोंको सन्तुष्ट किया तो क्या हुआ? तथा शत्रुओंको जीतकर उनके मस्तकपर पांव रख दिये, तो इसमेंभी कौनसी सिद्धि हुई? तथा इसी प्रकार शरीर बहुत वर्षपर्यन्त स्थिर रहा तो उस शरीरसे क्या लाभ? क्योंकि ये सबही निःसार और विनश्वर हैं ॥ १ ॥

V. Jayaraj...

तथा-

इत्थं न किंचिदपि साधनसाध्यमस्ति
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम् ।
तस्मादनन्तमजरं परमं विकाशि
तद्ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनास्ति' ॥ २ ॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे जगतमें कुछभी साधने योग्य साध्य (कार्य) नहीं है। क्योंकि जगतका कार्य स्वप्नके समान अथवा इन्द्रजालके समान क्षणविनश्वर और परमार्थसे शून्य है। इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे प्राणी जन हो ! यदि तुममें चेतना (बुद्धि) है तो ऐसे परम उत्कृष्ट प्रकाशरूप ज्ञानानंद स्वरूप अपने आत्माकी बांछा करो, जो अन्त और जरारहित है. और अन्य समस्त प्रकारकी अभिलाषाओंका त्याग कर दो " ॥ २ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

किं ते सन्ति न कोटिशोऽपि सुधियः स्फारैर्वचोभिः परम्
ये वार्तां प्रथयन्त्यमेयमहसां राशेः परब्रह्मणः ।
तत्रानन्दसुधासरस्वति पुनर्निमज्य मुञ्चन्ति ये
सन्तापं भवसम्भवं त्रिचतुरास्ते सन्ति वा नात्र वा ॥ ६१ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, इस जगतमें प्रचुर वचनोंसे (व्याख्यानोंसे) अमर्याद प्रतापकी राशिरूप परमात्माकी वार्ताको विस्तार करनेवाले करोड़ों विद्वान् क्या नहीं होते ? अवश्य होतेही हैं ! परन्तु उस परब्रह्मस्वरूप अमृतके समुद्रमें मग्न होकर संसारसे उत्पन्न हुए सन्तापको नष्ट करनेवाले जगतमें तीन वा चारही होते हैं; अथवा नहीं भी होते। **भावार्थ**—परमात्माकी कथनीको विस्ताररूपसे कहनेवाले तो जगतमें अनेक विद्वान् होते हैं, परन्तु परमात्मस्वरूपमें लीन होनेवाले विरलेही होते हैं। यहां तीन चार कहनेसे विरलवचन जानना चाहिये, संख्याका नियम समझलेना उचित नहीं है. क्योंकि थोड़े कहने हों, तो लौकिकमेंभी ऐसेही प्रायः कहा करते हैं ॥ ६१ ॥

अत्र इस अधिकारको पूर्ण करते हुए सामान्यरूपसे कहते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

एते पण्डितमानिनः शमदमस्वाध्यायचिन्तायुताः
रागादिग्रहवञ्चिता यतिगुणप्रध्वंसकृष्णाननाः ।
व्याकृष्टा विषयैर्मदैः प्रमुदिताः शङ्काभिरङ्गीकृता
न ध्यानं न विवेचनं न च तपः कर्तुं वराकाः क्षमाः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जो पंडित तो नहीं हैं, किन्तु अपनेको पंडित मानते हैं, और शम, दम

स्वाध्यायसे रहित, तथा रागद्वेष मोहादि पिशाचोंसे वञ्चित हैं, एवम् जो मुनिपनके गुण नष्ट करनेसे अपना मुँह काला करनेवाले, विषयोंसे आकर्षित, मदोंसे प्रसन्न, शंका संदेह शल्यभयादिकसे पकड़े गये हैं, ऐसे रंक पुरुष न ध्यान करनेको समर्थ हैं, न भेदज्ञान करनेमें समर्थ हैं और न तपही कर सक्ते हैं ॥ ६२ ॥

इस प्रकार ध्याताके गुण दोष वर्णन किये। जिसमें गृहस्थ, मिथ्यादृष्टी, अन्यमती, भेषी, पाषंडियोंके तथा जो जैनके यति (साधु) कहाकर आचारसे भ्रष्ट हैं, वा जो यतिपनेको केवल आजीविकाके निमित्त खोनेवाले हैं, उनके ध्यान करनेकी योग्यताका निषेध किया है।

सोरठा।

जो गृहत्यागी होय, सम्यगरत्नत्रयविना।
ध्यानयोग्य नहिं सोय, गृहवासीकी का कथा ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः सर्गः।

आगे ध्याता योगीश्वरोंकी प्रशंसा करते हैं,—

अथ निर्णीततत्त्वार्था धन्याः संविग्नमानसाः।
कीर्त्यन्ते यमिनो जन्मसंभूतसुखनिःस्पृहाः ॥ १ ॥

अर्थ—अथानन्तर जो संयमी मुनि तत्त्वार्थका (वस्तुका) यथार्थ स्वरूप जानते हैं, मनमें संवेगरूप हैं, मोक्ष तथा उसके मार्गमें अनुरागी हैं, और संसारजनित सुखोंमें निस्पृह (वांछारहित) हैं वे मुनि धन्य हैं। उनका कीर्त्तन वा प्रशंसा की जाती है ॥ १ ॥

भवभ्रमणनिर्विण्णा भावशुद्धिं समाश्रिताः।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे योगिनः पुण्यचेष्टिताः ॥ २ ॥

अर्थ—इस पृथिवीतलपर अनेक योगीश्वर संसारके चक्रसे विरक्त हैं, भावोंकी शुद्धतासहित हैं, तथा पवित्र चेष्टावाले हैं। यहां कोई यह पूछे कि, "इस कालमें तो ऐसे कोई साधु दीख नहि पड़ते?" तो इसका यह उत्तर है कि, यह ग्रंथ जिस समय रचा गया था, उस समय ऐसे अनेक योगीश्वर थे. और अब भी किसी दूर क्षेत्रमें हों तो क्या आश्चर्य है? ॥ २ ॥

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त कामभोगोंमें विरक्त होकर और शरीरमें स्पृहाको छोड़के स्थिरीभूत हुआ है, निश्चय करके उसीको ध्याता कहा है। वही प्रशंसनीय ध्याता है ॥ ३ ॥

सत्संयमधुरा धीरैर्नहि प्राणात्ययेऽपि यैः।
त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यानधनेश्वराः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंने महान् मुनिपनको अंगीकार करके प्राणोंका नाश होते भी समीचीन संयमकी धुरीको नहिं छोड़ा है, वेही ध्यानरूपी घनके ईश्वर (स्वामी) होते हैं। क्योंकि संयमसे च्युत होनेपर ध्यान नहिं होता ॥ ४ ॥

परीषहमहाव्यालैर्ग्राम्यैर्वा कण्टकैर्दृढैः।
मनागपि मनो येषां न स्वरूपात्परिच्युतम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंका चित्त परीषहरूप दुष्ट हस्तियों अथवा सर्पोंसे तथा ग्रामीण मनुष्योंके दुर्वचनरूपी कांटोंसे किंचिन्मात्रभी अपने स्वरूपसे च्युत नहिं हुआ; तथा—॥ ५ ॥

क्रोधादिभीमभोगीन्द्रै रागादिरजनीचरैः।
अजय्यैरपि विध्वस्तं न येषां यमजीवितम् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिन मुनिजनोंका संयमरूपी जीवन क्रोधादि कषायरूप सर्पोंसे तथा अजेय रागादि निशाचरोंसे नष्ट नहिं हुआ; तथा—॥ ६ ॥

मनः प्रीणयितुं येषां क्षमास्ता दिव्ययोषितः।
मैत्र्यादयः सतां सेव्या ब्रह्मचर्येऽप्यनिन्दिते ॥ ७ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंके अनिन्दित (प्रशंसनीय) ब्रह्मचर्यके होतेहुए मनको तृप्त करनेवाली प्रसिद्ध मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ, ये ४ भावनारूपी सुंदर तथा समर्थ स्त्रिया हैं। अर्थात् इन भावनाओंके भावनेसे जिनके चित्तमें कामादि विकारभाव नहिं उपजते; तथा—॥ ७ ॥

तपस्तरलतीव्रार्चिःप्रचये पातितः स्मरः।
यै रागरिपुभिः सार्द्धं पतङ्गप्रतिमीकृतः ॥ ८ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंने तपरूपी तीव्रअग्निकी ज्वालाके समूहमें रागादि शत्रुओंके साथ कामको डाल दिया और पतंगके समान भस्म कर दिया, तथा—॥ ८ ॥

निःसङ्गत्वं समासाद्य ज्ञानराज्यं समीप्सितम्।
जगत्त्रयचमत्कारि चित्रभूतं विचेष्टितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिन्होंने निष्परिग्रहपनको अंगीकार करके तीन जगतमें चमत्कार करनेवाले तथा आश्चर्यरूप चेष्टावाले ज्ञानरूपी राज्यकी वांछा की, तथा—॥ ९ ॥

अत्युग्रतपसाऽऽत्मानं पीडयन्तोऽपि निर्दयम् ।
जगद्विध्यापयन्त्युच्चैर्ये मोहदहनक्षतम् ॥ १० ॥

अर्थ—जो मुनि अपने आत्माको अति तीव्र तपसे निर्दयीके समान पीडा करते हैं, तो भी मोहरूपी अग्निसे जलते हुए जगतको अतिशयताके साथ बुझाते हैं अर्थात् शान्त करते हैं; तथा—॥ १० ॥

स्वभावजनिरातङ्कनिर्भरानन्दनन्दिताः ।
तृष्णार्चिःशान्तये धन्या येऽकालजलदोद्गमाः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो धन्य मुनि तृष्णारूपी अग्निकी ज्वालाको शान्त करनेके लिये अकालमें (ग्रीष्मकालमें) स्वभावसे उत्पन्न, दाहरहित, पूर्ण आनन्दसे आनन्दरूप मेघके उदयके समान हैं, तथा—॥ ११ ॥

अशेषसंगसंन्यासवशाज्जितमनोद्विजाः ।
विषयोद्दाममातङ्गघटासंघट्टघातकाः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मुनि समस्त परिग्रहके त्यागके कारण मनरूप चंचल पक्षीको जीतनेवाले हैं, तथा विषयरूपी मदोन्मत्त हस्तियोंके संघट्टके (समूहके) घातक हैं, तथा—॥ १२ ॥

वाक्पथातीतमाहात्म्या विश्वविद्याविशारदाः ।
शरीराहारसंसारकामभोगेषु निःस्पृहाः ॥ १३ ॥

अर्थ—जिनका वचनपथसे अगोचर माहात्म्य है, जो समस्त विद्याओंमें विशारद हैं और शरीर आहार-संसार-काम-भोगोंमें निस्पृह (वांछारहित) हैं, तथा—॥ १३ ॥

विशुद्धबोधपीयूषपानपुण्यीकृताशयाः ।
स्थिरेतरजगज्जन्तुकरुणावारिवार्द्धयः ॥ १४ ॥

अर्थ—जिनका चित्त निर्मल ज्ञानरूप अमृतके पानसे पवित्र है और जो स्थावर त्रस भेदयुक्त जगतके जीवोंको करुणारूपी जलके समुद्र हैं, तथा—॥ १४ ॥

स्वर्णाचल इवाकम्पा ज्योतिःपथ इवामलाः ।
समीर इव निःसङ्गा निर्ममत्वं समाश्रिताः ॥ १५ ॥

अर्थ—मेरुपर्वतके समान अचल हैं, आकाशवत् निर्मल हैं, पवनके समान निःसङ्ग हैं और निर्ममताको जिन्होंने आश्रय दिया है; तथा—॥ १५ ॥

हितोपदेशपर्जन्यैर्भव्यसारङ्गतर्पकाः ।
निरपेक्षाः शरीरेऽपि सापेक्षाः सिद्धिसङ्गमे ॥ १६ ॥

अर्थ—वे मुनि हितोपदेशरूप शब्दायमान मेघोंसे भव्यजीवरूपी चातक वा मयूरोंको तृप्त करनेवाले हैं, तथा शरीरमें निरपेक्ष हैं, तो भी मुक्तिके संगम करनेमें सापेक्ष हैं ॥ १६ ॥

इत्यादिपरमोदारपुण्याचरणलक्षिताः।
ध्यानसिद्धेः समाख्याताः पात्रं मुनिमहेश्वराः॥ १७॥

अर्थ—इत्यादिक परम-उदार-पवित्र-आचरणोंसे चिह्नित, मुनियोंमें प्रधान, मुनीश्वर ध्यानकी सिद्धिके पात्र कहे गये हैं॥ १७॥

तवारोढुं प्रवृत्तस्य मुक्तेर्भवनमुन्नतम्।
सोपानराजिकाऽमीषां पादच्छाया भविष्यति॥ १८॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे आत्मन्! मुक्तिरूपी मंदिरपर चढ़नेकी प्रवृत्ति करते हुए तुझे पूर्वोक्त प्रकारके मुनियोंके चरणोंकी छायाही सोपानकी पंक्तिसमान होवेगी। **भावार्थ**—जिनको ध्यानकी सिद्धि करनी हो, उन्हें ऐसे मुनियोंकी सेवा करनी चाहिये॥ १८॥

ध्यानसिद्धिर्मता सूत्रे मुनीनामेव केवलम्।
इत्याद्यमलविख्यातगुणलीलावलम्बिनाम्॥ १९॥

अर्थ—सूत्रमें (सिद्धान्तमें) उपर्युक्त गुणोंको आदि लेकर निर्मल प्रसिद्ध गुणोंमें प्रवर्त्तनरूप क्रीड़ाके अवलम्बन करनेवाले केवल मुनियोंकेही ध्यानकी सिद्धि मानी है। अर्थात् मुक्तिके कारणस्वरूप ध्यानकी सिद्धि अन्यके नहिं हो सक्ती॥ १९॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

निष्पन्दीकृतचित्तचण्डविहगाः पञ्चाक्षकक्षान्तकाः
ध्यानध्वस्तसमस्तकल्मषविषा विद्याम्बुधेः पारगाः
लीलोन्मूलितकर्मकन्दनिचयाः कारुण्यपुण्याशया
योगीन्द्रा भवभीमदैत्यदलनाः कुर्वन्तु ते निर्वृतिं॥ २०॥

अर्थ—पूर्वोक्त गुणोंके धारक योगीन्द्र गण हमारे तथा भव्य पुरुषोंके निर्वृति (सुख) रूप मोक्षको करो। कैसे हैं वे योगीन्द्र? निश्चलरूप किया है चित्तरूपी प्रचंड पक्षी जिन्होंने, पंचेन्द्रियरूप वनके दग्ध करनेवाले हैं, ध्यानसे समस्त पापोंके नाश करनेवाले हैं, विद्यारूप समुद्रके पारगामी हैं, क्रीडामात्रसे कर्मोंके मूलको उखाड़नेवाले हैं, करुणाभावरूप पुण्यसे पवित्र चित्तवाले हैं और संसाररूप भयानक दैत्यको चूर्ण करनेवाले हैं॥ २०॥

विन्ध्याद्रिर्नगरं गुहा वसतिकाः शय्या शिला पार्वती
दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना।
विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोद्देशकाः सन्तु नः॥ २१॥

अर्थ—जिन प्रशान्तात्मा मुनि महाराजाओंके विन्ध्याचल पर्वत नगर है, पर्वतकी गुफायें वसतिका (गृह) हैं, पर्वतकी शिला शय्यासमान हैं, चन्द्रमाकी किरणें दीपकवत् हैं, मृग सहचारी हैं, सर्वभूतमैत्री (दया) कुलीन स्त्री है, पीनेका जल विज्ञान और तप उत्तम भोजन है, वेही धन्य हैं। ऐसे मुनिराज हमको संसाररूप कर्दमसे निकलनेके मार्गका उपदेश देनेवाले हों ॥ २१

स्रग्धरा।

रुद्धे प्राणप्रचारे वपुषि नियमिते संवृतेऽक्षप्रपञ्चे
नेत्रस्पन्दे निरस्ते प्रलयमुपगतेऽन्तर्विकल्पेन्द्रजाले।
भिन्नो मोहान्धकारे प्रसरति महसि क्वापि विश्वप्रदीपे
धन्यो ध्यानावलम्बी कलयति परमानन्दसिन्धुप्रवेशं ॥ २२ ॥

अर्थ—श्वसोच्छ्वासके रुकते हुए, शरीरके निश्चल होतेहुए, इन्द्रियोंके प्रचारका संवरण होतेहुए, नेत्रोंकी चलनक्रियाके रहित होते हुए, समस्त विकल्परूप इन्द्रजालका प्रलय होते हुए, मोहान्धकारके दूर होते हुए, और समस्त वस्तुओंको प्रकाश करनेवाले तेजःपुंजको अपने हृदयमें विस्तरते हुए जो धन्य मुनि ध्यानावलंबी होते हैं वही परमानन्दरूपी समुद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करते हैं ॥ २२ ॥

शिखरिणी।

अहेयोपादेयं त्रिभुवनमपीदं व्यवसितः
शुभं वा पापं वा द्वयमपि दहन्कर्म महसा।
निजानन्दास्वादव्यवधिविधुरीभूतविषयः
प्रतीत्योच्चैः कश्चिद्विगलितविकल्पं विहरति ॥ २३ ॥

अर्थ—अपने स्वाभाविक आनंदके स्वादसे दूर हैं इन्द्रियविषय जिसके ऐसा कोई मुनि अपने तेजसे शुभाशुभ कर्मोंका दहन करता हुआ, भले प्रकार प्रतीतिगोचर करके इस अहेयोपादेयरूप त्रिभुवमनें विकल्परहित भ्रमण करता है। **भावार्थ**—ध्यानस्थ हो तब तो निश्चल अवस्था हैही; परन्तु विहार करते हुएभी निश्चलके समान है. अर्थात् जगतमें जिसके त्याग करने वा ग्रहण करने योग्य कुछभी नहीं है, और विषयोंकी वांछा नहीं है वही निर्विकल्परूप होकर कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ विचरता है ॥ २३ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

दुःप्रज्ञा बललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशयाः
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यता देहिनः।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मज्वरं
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्रा यदि ॥ २४ ॥

अर्थ—बुद्धिके बल वस्तुसमूहको लोपनेवाले (नास्तिक), सत्यार्थज्ञानसे शून्य चित्तवाले तथा अपने विषयादिकके प्रयोजनमें उद्यमी ऐसे प्राणी तो घरघरमें विद्यमान हैं, परन्तु आनन्दरूप अमृतके समुद्रके कणसमूहसे संसाररूप ज्वरके दाहको (अग्निको) बुझाकर मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखरूपी चन्द्रमाके विलोकन करनेमें जो तत्पर हैं, वे यदि हैं तो दो तीनही होंगे[१] ॥ २४ ॥

यैः सुप्तं हिमशैलशृङ्गसुभगप्रासादगर्भान्तरे
पल्यङ्के परमोपधानरचिते दिव्याङ्गनाभिः सह ।
तैरेवाद्य निरस्तविश्वविषयैरन्तःस्फुरज्ज्योतिषि
क्षोणीरन्ध्रशिलादिकोटरगतैर्धन्यैर्निशा नीयते ॥ २५ ॥

अर्थ—जिन्होंने पूर्वावस्थामें हिमालयके शिखरसमान सुंदर महलोंमें उत्कृष्ट उपधान हंसतूलिकादिसे रची हुई शय्यामें सुंदर स्त्रियोंके साथ शयन किया था, वेही समस्त संसारके विषयोंके निरस्त करनेवाले पुण्यशाली पुरुष अन्तरंगमें ज्ञानज्योतिके स्फुरण होनेसे पृथ्वीमें तथा पर्वतोंकी गुफाओंमें एवम् शिलाओंपर अथवा वृक्षके कोटरोंमें प्राप्त होकर रात्रि बिताते हैं. उन्हें धन्य है ॥ २५ ॥

चित्ते निश्चलतां गते प्रशमिते रागाद्यविद्यामये
विद्राणेऽक्षकदम्बके विघटिते ध्वान्ते भ्रमारम्भके ।
आनन्दे प्रविजृम्भिते पुरपतेर्ज्ञाने समुन्मीलिते
त्वां द्रक्ष्यन्ति कदा वनस्थमभितः पुस्तेच्छया श्वापदाः ॥ २६ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तेरे मनमें निश्चलता होते हुए रागादि अविद्यारूप रोगोंमें उपशमता होते हुए, इन्द्रियोंके समूहको विषयोंमें नहीं प्रवर्तते हुए, भ्रमोत्पादन करनेवाले अज्ञानांधकारके नष्ट होते हुए, और आनंदको विस्तारते हुए आत्मज्ञानके प्रगट होनेपर ऐसा कौनसा दिन होगा जब तुझे बनमें चारों ओरसे मृगादि पशु चित्रलिखित मूर्ति अथवा सूखे हुए वृक्षके ठूंठके समान देखेंगे। जिस समय तू ऐसी निश्चलमूर्तिमें ध्यानस्थ होगा, उसी समय धन्य होगा ॥ २६ ॥

स्रग्धरा ।

आत्मन्यात्मप्रचारे कृतसकलबहिःसंगसन्यासवीर्या-
दन्तर्ज्योतिःप्रकाशाद्विलयगतमहामोहनिद्रातिरेकः ।
निर्णीते स्वस्वरूपे स्फुरति जगदिदं यस्य शून्यं जडं वा
तस्य श्रीबोधवार्धेर्दिशतु तव शिवं पादपङ्केरुहश्रीः ॥ २७ ॥

१ यहां दो तीनका अर्थ विरलवचन जानना. संख्याका कुछ नियम नहीं है ।

अर्थ—जिसकी आत्मामें अपना प्रवर्तन है, परद्रव्यमें नहीं है, और बाह्यपरिग्रहके त्यागसे तथा अन्तरंगविज्ञानज्योतिके प्रकाश होनेसे जिसका महामोहरूप निद्राका उत्कर्ष नष्ट होगया है और जिसको स्वरूपका निश्चय होनेसे यह जगत शून्यवत वा जड़वत् प्रतिभासता है, ऐसे श्रीज्ञानसमुद्र मुनिके चरणकमलकी लक्ष्मी (शोभा) तुमको मोक्षपद प्रदान करै. ऐसा आशीर्वादात्मक उपदेश है ॥ २७ ॥

मन्दाक्रान्ता ।

आत्मायत्तं विषयविरसं तत्वचिन्तावलीनं
निर्व्यापारं स्वहितनिरतं निर्वृतानन्दपूर्णं ।
ज्ञानारूढं शमयमतपोध्यानलब्धावकाशं
कृत्वाऽऽत्मानं कलय सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम् ॥ २८ ॥

अर्थ—हे सुबुद्धि ! अपनेको प्रथम तो आत्मायत्त कहिये पराधीनतासे छुडाकर स्वाधीन कर । दूसरे–इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त कर । तीसरे–तत्त्वचिन्तामें मग्न (लीन) कर । चौथे–सांसारिक व्यापारसे रहित निश्चल कर । पांचवें–अपने हितमें लगा । छट्ठे–निर्वृत अर्थात् क्षोभरहित आनंदसे परिपूर्ण कर । सातवें–ज्ञानारूढ कर । आठवें—शम यम दम तपमें अवकाश मिलै ऐसा करके फिर दिव्यबोध कहिये केवल ज्ञानके अधिपतिपनेको प्राप्त कर । भावार्थ—उपर्युक्त आठ कार्योंसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ २८ ॥

अब इस अधिकारको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम् ॥

दृश्यन्ते भुवि किं न ते कृतधियः संख्याव्यतीताश्चिरम्
ये लीलाः परमेष्ठिनः प्रतिदिनं तन्वन्ति वाग्भिः परम् ।
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं पुन–
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति पुरुषा धन्यास्तु ते दुर्लभाः ॥ २९ ॥

अर्थ—इस पृथिवीपर परमेष्ठीकी नित्यप्रति केवल वचनोंसे बहुतकालपर्यन्त लीलास्तवनको विस्तृत करनेवाले कृतबुद्धि क्या गणनासे अतीत नहीं हैं ? अपि तु असंख्येय देखनेमें आते हैं । परन्तु नित्यपरमानन्दामृतकी राशिरूप उस परमेष्ठीको साक्षात् अनुभवगोचर कर संसारके भ्रमको दूर करते हैं, ऐसे पुरुष दुर्लभ हैं. और ऐसे ही पुरुष धन्य हैं ॥ २९ ॥

इस प्रकार ध्यान करनेवाले योगीश्वरोंकी प्रशंसा की गई । यद्यपि इस पंचम कालमें ऐसे योगीश्वर देखनेमें नहिं आते, तौ भी उनके गुणानुवाद सुनकर स्मरण करनेसे भव्यजीवोंका मन पवित्र होता है और अन्य कुलिंगियोंकी श्रद्धारूप मिथ्यात्वका नाश होता है ॥

दोहा ।

रत्नत्रयको धार जे, शम दम यम चित देंय ।
ध्यान करैं मन रोंकिकै, धन ते मुनि शिव लेंय ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः सर्गः ।



आगे ध्याता ध्यानके अंगस्वरूप सम्यग्दर्शनादिकका व्याख्यान करते हैं—

सुप्रयुक्तैः स्वयं साक्षात्सम्यग्दृग्बोधसंयमैः ।
त्रिभिरेवापवर्गश्रीर्घनाश्लेषं प्रयच्छति ॥ १ ॥

अर्थ—भलेप्रकार प्रयुक्त किये हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंसे अर्थात् तीनोंकी एकता होनेसे मोक्षरूपी लक्ष्मी उस रत्नत्रययुक्त आत्माको स्वयं दृढालिंगन देती है । **भावार्थ**—तीनोंकी एकता ही मोक्षमार्ग है ॥ १ ॥ क्योंकि—

तैरेव हि विशीर्यन्ते विचित्राणि बलीन्यपि ।
दृग्बोधसंयमैः कर्मनिगडानि शरीरिणाम् ॥ २ ॥

अर्थ—इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रसे ही जीवोंकी नानाप्रकारकी बलवान् कर्मरूपी बेड़ियां झरती हैं (टूटती हैं) ॥ २ ॥

त्रिशुद्धिपूर्वकं ध्यानमामनन्ति मनीषिणः ।
व्यर्थं स्यात्तामनासाद्य तदेवात्र शरीरिणाम् ॥ ३ ॥

अर्थ—विद्वानोंने दर्शन ज्ञान चारित्रकी शुद्धतापूर्वकही ध्यान कहा है । ऐसा आम्नाय है । इस कारण इन तीनोंकी शुद्धता पायेविना जीवोंका ध्यान करना व्यर्थ है । क्योंकि वह ध्यान मोक्षफलके अर्थ नहीं है ॥ ३ ॥

रत्नत्रयमनासाद्य यः साक्षाद्ध्यातुमिच्छति ।
खपुष्पैः कुरुते मूढः स वन्ध्यासुतशेखरम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जो पुरुष साक्षात् रत्नत्रयको (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रको) प्राप्त न होकर ध्यान करना चाहता है, वह मूर्ख आकाशके फूलोंसे वन्ध्याके पुत्रके लिये सेहरा (मौर) बनाना चाहता है । **भावार्थ**—रत्नत्रय पाये विना ध्यान होना असाध्य है ॥ ४ ॥

आर्या ।

तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वप्रख्यापकं भवेज्ज्ञानम् ।
पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रमुक्तं जिनेन्द्रेण ॥ ५ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवानने तत्त्वोंकी रुचि अर्थात् श्रद्धाप्रतीतिको सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) तत्त्वोंको प्रकर्षरूप कहने अर्थात् जाननेको सम्यग्ज्ञान, और पापक्रियाओंसे निवृत्त होनेको सम्यक्चारित्र कहा है ॥ ५ ॥

इन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रमेंसे प्रथम सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हैं,—

यज्जीवादिपदार्थानां श्रद्धानं तद्धि दर्शनम् ।
निसर्गेणाधिगत्या वा तद्भव्यस्यैव जायते ॥ ६ ॥

अर्थ—जो जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना है वही नियमसे दर्शन है । यह सम्यग्दर्शन निसर्गसे (स्वभावसे) अथवा अधिगमसे (परोपदेशसे) भव्य जीवोंकेही उत्पन्न होता है । अभव्यके नहिं होता ॥ ६ ॥

क्षीणप्रशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात् ।
तत् स्याद्द्रव्यादिसामग्र्या पुंसां सद्दर्शनं त्रिधा ॥ ७ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन पुरुषोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीसे दर्शन मोह कर्मकी तीन प्रकृतियोंके क्षय, उपशम तथा क्षयोपशमरूप होनेसे क्रमशः तीन प्रकारका है—क्षायिकसम्यक्त्व २ उपशमसम्यक्त्व और ३ क्षयोपशमसम्यक्त्व ॥ ७ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

"भव्यः पर्याप्तकः संज्ञी जीवः पञ्चेन्द्रियान्वितः ।
काललब्ध्यादिना युक्तः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥ १ ॥
सम्यक्त्वमथ तत्त्वार्थश्रद्धानं परिकीर्त्तितं ।
तस्यौपशमिको भेदः क्षायिको मिश्र इत्यपि ॥ २ ॥

अर्थ—"जो भव्य हो, पर्याप्तक हो, मनसहित संज्ञी पंचेन्द्री हो और काललब्धि आदि सामग्रीसहित हो वही जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है ॥ १ ॥ सात तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा गया है । उसके उपशम, क्षायिक और मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक ये तीन भेद हैं ॥ २ ॥

सप्तानां प्रशमात्सम्यक् क्षयादुभयतोऽपि च ।
प्रकृतीनामिति प्राहुस्तत्त्रैविध्यं सुमेधसः ॥ ३ ॥

अर्थ—मोहकर्मकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षायक और क्षायोपशम तीन प्रकार सम्यक्त्व होना सम्यग्ज्ञानी पंडितोंने कहा है । भावार्थ—उपशमसे उपशमसम्यक्त्व और क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व और कुछ क्षय तथा कुछ उपशम होनेसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है ॥ ३ ॥

स
पशो

एकं प्रशमसंवेगदयास्तिक्यादिलक्षणम् ।
आत्मनः शुद्धिमात्रं स्यादितरच्च समन्ततः ॥ ४ ॥ ”

अर्थ—एक सम्यक्त्व तो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य चिह्नसे चिह्नित है, जिसे सरागसम्यक्त्व कहते हैं। और दूसरा समस्त प्रकारतासे आत्माकी शुद्धिमात्र है, जिसे वीतरागसम्यक्त्व कहते हैं ॥ ४ ॥ ”

द्रव्यादिकमथासाद्य तज्जीवैः प्राप्यते क्वचित् ।
पञ्चविंशतिमुत्सृज्य दोषास्तच्छक्तिघातकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—अथवा यह सम्यग्दर्शन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीको प्राप्त होकर तथा सम्यग्दर्शनकी शक्तिके घात करनेवाले पच्चीस दोषोंको छोड़नेसे क्वचित् प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे–

“ मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट् ।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥ १ ॥ ”

अर्थ—“ तीन मूढ़ता, आठ मद (गर्व), छः अनायतन और शंकादि आठ दोष इस प्रकार पच्चीस दोष सम्यग्दर्शनके कहे गये हैं, इनका नाम स्वरूप आदि शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं. यहां ग्रन्थविस्तारभयसे नहिं लिखा गया है ॥ १ ॥ ”

अब सम्यक्त्वके विषयभूत सप्त तत्त्वोंका वर्णन करते हैं,—

जीवाजीवास्रवा बन्धः संवरो निर्जरा तथा ।
मोक्षश्चैतानि सप्तैव तत्त्वान्यूचुर्मनीषिणः ॥ ९ ॥

अर्थ—पंडितोंने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सातही तत्त्व कहे हैं ॥ ९ ॥

अब इन सप्त तत्वोंका विशेष वर्णन करते हैं,—

अनन्तः सर्वदा सर्वो जीवराशिर्द्विधा स्थितः ।
सिद्धेतरविकल्पेन त्रैलोक्यभुवनोदरे ॥ १० ॥

अर्थ—इस तीन लोकरूपी भुवनमें जीवराशि सदाकाल सर्व (अनन्त) है, और वह दो भेदरूप है–१ सिद्ध तथा २ संसारी ॥ १० ॥

सिद्धस्त्वेकस्वभावः स्याद्दृग्बोधानन्दशक्तिमान् ।
मृत्यूत्पादादिजन्मोत्थक्लेशप्रचयविच्युतः ॥ ११ ॥

अर्थ—उन दो भेदोंमेंसे जो सिद्ध है, सो तो दर्शन–ज्ञान–सुख–वीर्य–सहित एक स्वभाव है, और मरण–जन्म–आदि सांसारिक क्लेशोंसे रहित है ॥ ११ ॥

चरस्थिरभवोद्भूतविकल्पैः कल्पिताः पृथक् ।
भवन्त्यनेकभेदास्ते जीवाः संसारवर्तिनः ॥ १२ ॥

अर्थ—और संसारी जीव त्रस और स्थावररूप संसारसे उत्पन्न हुए भेदोंसे भिन्न २ अनेक प्रकारके हैं ॥ १२ ॥

पृथिव्यादिविभेदेन स्थावराः पञ्चधा मताः ।
त्रसास्त्वनेकभेदास्ते नानायोनिसमाश्रिताः ॥ १३ ॥

अर्थ—संसारी जीवोंमें स्थावर जीव पृथिवी, अप, तेज, वायु, और वनस्पति भेदसे पाच प्रकारके हैं और त्रस द्वीन्द्रियादिक भेदोंसे अनेक भेदरूप हैं तथा अनेक प्रकारकी योनिके आश्रित हैं ॥ १३ ॥

चतुर्धा गतिभेदेन भिद्यन्ते प्राणिनः परम् ।
मनुष्यामरतिर्यञ्चो नारकाश्च यथायथम् ॥ १४ ॥

अर्थ—और संसारी जीव गतिके भेदसे मनुष्य देव, तिर्यंच और नारक चार प्रकारके हैं ॥ १४ ॥

भ्रमन्ति नियतं जन्मकान्तारे कल्मषाशयाः ।
दुरन्तकर्मसम्पातप्रपञ्चवशवर्त्तिनः ॥ १५ ॥

अर्थ—ये पापाशयरूपी संसारी जीव दुरन्त कर्मके संपातके प्रपंचके वशवर्ती होकर संसाररूपी वनमें निरन्तर भ्रमण करते हैं ॥ १५ ॥

किन्तु तिर्यग्गतावेव स्थावरा विकलेन्द्रियाः ।
असंज्ञिनश्च नान्यत्र प्रभवन्त्यङ्गिनः क्वचित् ॥ १६ ॥

अर्थ—किन्तु स्थावर, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) और असंज्ञी (मनरहित पंचेन्द्रिय) ये तिर्यंचगतिमेंही होते हैं, अन्यत्र नहीं होते ॥ १६ ॥

उपसंहारविस्तारधर्मा दृग्बोधलाञ्छनः ।
कर्त्ता भोक्ता स्वयं जीवस्तनुमात्रोऽप्यमूर्त्तिमान् ॥ १७ ॥

अर्थ—जीव संकोच विस्तार धर्मको लिएहुए दर्शन ज्ञानसहित है और स्वयम् कर्त्ता, भोक्ता तथा शरीरप्रमाण होकर अमूर्तिमान् है ॥ १७ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—जीवव्युत्पत्तिः ।

" तत्र जीवत्यजीवीच्च जीविष्यति सचेतनः ।
यस्मात्तस्माद्बुधैः प्रोक्तो जीवस्तत्त्वविदां वरैः ॥ १ ॥ "

अर्थ—"उक्त सात तत्त्वोंमें जिससे चेतनासहित 'जीता है' 'जीता था' और 'जीवेगा' इस लिये तत्त्ववेत्ताओंमें जो श्रेष्ठ बुद्धिमान् हैं उन्होंने 'जीव' कहा है ॥ १ ॥ "

एको द्विधा त्रिधा जीवः चतुःसंक्रान्तिपञ्चमः ।
षट्कर्म सप्तभङ्गोऽष्टाश्रयो नवदशस्थितिः ॥ १८ ॥

अर्थ—जीव सामान्य चैतन्यरूपसे एक प्रकारके हैं । त्रस स्थावर भेदसे दो प्रकारके हैं । एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय भेदसे तीन प्रकारके हैं । एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी, भेदसे चार प्रकारके हैं । एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भेदसे पांच प्रकारके हैं । पांच स्थावर और एक त्रस इस प्रकार भेद करनेसे छह प्रकारके हैं । पांच स्थावर, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय, ऐसे भेद करनेसे सात प्रकारके हैं । पांच स्थावर, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी, ऐसे आठ प्रकारके हैं । पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, एक सकलेन्द्रिय ऐसे नव प्रकार हैं. और पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और संज्ञी तथा असंज्ञी ऐसे भेद करनेसे दश प्रकार भी हैं । इस प्रकार सामान्य विशेषके भेदसे जीव संख्यात असंख्यात तथा अनन्तभेदरूप हैं ॥ १८ ॥

भव्याभव्यविकल्पोऽयं जीवराशिर्निसर्गजः ।
मतः पूर्वोऽपवर्गाय जन्मपङ्काय चेतरः ॥ १९ ॥

अर्थ—यह जीवराशि स्वभावसे भव्य और अभव्य भेद स्वरूप है । पहिला अपवर्ग अर्थात् मोक्षके लिये और इतर अर्थात् दूसरा अभव्य संसारके लिये माना गया है. अर्थात् भव्य मोक्षगामी होता है और अभव्यको कभी मोक्ष नहिं होता है ॥ १९ ॥

सम्यग्ज्ञानादिरूपेण ये भविष्यन्ति जन्तवः ।
प्राप्य द्रव्यादिसामग्रीं ते भव्या मुनिभिर्मताः ॥ २० ॥

अर्थ—जो जीव द्रव्यक्षेत्रकालभावरूप सामग्रीको पाकर सम्यग्ज्ञानादिरूप परिणमैंगे, उन्हीको आचार्योंने 'भव्य' कहा है ॥ २० ॥

अन्धपाषाणकल्पं स्यादभव्यत्वं शरीरिणाम् ।
यस्माज्जन्मशतेनापि नात्मतत्त्वं पृथग्भवेत् ॥ २१ ॥

अर्थ—जीवोंका अभव्यपन अन्धपाषाणके समान है, जिससे सैकड़ों जन्मोंमेंभी आत्मतत्त्व पृथक् नहिं होता ॥ २१ ॥

अभव्यानां स्वभावेन सर्वदा जन्मसंक्रमः ।
भव्यानां भाविनी मुक्तिर्निःशेषदुरितक्षयात् ॥ २२ ॥

अर्थ—अभव्यजीवोंका स्वभावसे संसारमें सर्वदाही जन्म संक्रम अर्थात् भ्रमण होता है और भव्य जीवोंको समस्त कर्मोके क्षयसे मुक्ति होतीही है ॥ २२ ॥

यथा धातोर्मलैः सार्द्धं सम्बन्धोऽनादिसंभवः ।
तथा कर्ममलैर्ज्ञेयः संश्लेषोऽनादिदेहिनाम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्णादि धातुओंका मलके साथ अनादि संबंध है, उसी प्रकार जीवोंका कर्ममलसे अनादिकालका संबंध है ऐसे जानना चाहिये ॥ २३ ॥

द्वयोरनादिसंसारः सान्तः पर्यन्तवर्जितः ।
वस्तुस्वभावतो ज्ञेयो भव्याभव्याङ्गिनोः क्रमात् ॥ २४ ॥

अर्थ—भव्य अभव्य दोनोंहीको संसार आदिरहित है, परन्तु भव्यका संसार तो अन्तसहित है (क्योंकि इसको मुक्ति होती है ।) और अभव्यका अन्तरहित है, (क्योंकि इसको मुक्ति नहिं होती) ऐसा वस्तुस्वभावसेही जानना चाहिये । इसमें कोई अन्य हेतु नहीं है ॥ २४ ॥

चतुर्दशसमासेषु मार्गणासु गुणेषु च ।
ज्ञात्वा संसारिणो जीवाः श्रद्धेयाः शुद्धदृष्टिभिः ॥ २५ ॥

अर्थ—संसारी जीवोंको चौदह जीवसमास, चौदह मार्गणा और चौदह गुणस्थानोंमें जानकरके सम्यग्दृष्टियोंको श्रद्धान करना चाहिये । **भावार्थ**—संसारी जीवोंके भेद बहुत हैं, वे कहांतक कहे जावें, इस कारण यहां संक्षेपमेंही कह दिया गया है कि, जीव-समास, मार्गणा, गुणस्थानोंमें जीवोंका विशेष स्वरूप जानकर श्रद्धान करना चाहिये । जीव समासादिका विशेष स्वरूप गोमट्टसारादि अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिये ॥ २५ ॥

संक्षेपसे जीवतत्त्वका वर्णन करके अजीव तत्त्वका वर्णन करते हैं,—

धर्माधर्मनभःकालाः पुद्गलैः सह योगिभिः ।
द्रव्याणि षट् प्रणीतानि जीवपूर्वाण्यनुक्रमात् ॥ २६ ॥

अर्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल योगीश्वरोंने ये छह द्रव्य अनुक्रमसे कहे हैं ॥ २६ ॥

तत्र जीवादयः पञ्च प्रदेशप्रचयात्मकाः ।
कायाः कालं विना ज्ञेया भिन्नप्रकृतयोऽप्यमी ॥ २७ ॥

अर्थ—उन छह द्रव्योंमें एक कालको छोड़कर जीवादिक पांच द्रव्य अनेक प्रदेशात्मक होनेके कारण ‘काय’ कहे जाते हैं । कालाणु एकही प्रदेशस्वरूप है, अतः उसे ‘काय’ नहिं कहा । इन सब द्रव्योंको भिन्न २ स्वभाववाले जानना चाहिये ॥ २७ ॥

अचिद्रूपा विना जीवममूर्त्ता पुद्गलं विना ।
पदार्था वस्तुतः सर्वे स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकाः ॥ २८ ॥

अर्थ—इन छह द्रव्योंमेंसे जीवके विना अन्य पांच अचिद्रूप हैं अर्थात् चेतनारहित अजीव द्रव्य हैं । और पुद्गल द्रव्यके विना अन्य पांच अमूर्त्त हैं । स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गुण इनमें नहीं है । पुद्गल इन गुणोंसहित मूर्त है । तथा इन द्रव्योंको पदार्थ भी कहते हैं. क्योंकि ये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य—सहित हैं । पदार्थका स्वरूप द्रव्य पर्याया-

त्मक कहा गया है, इस कारण जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य-रूप होता है, वही पर्यायरूप भी होता है ॥ २८ ॥

अणुस्कन्धविभेदेन भिन्नाः स्युः पुद्गला द्विधा ।
मूर्ता वर्णरसस्पर्शगुणोपेताश्च रूपिणः ॥ २९ ॥

अर्थ—अणुस्कन्ध भेदसे यहां पुद्गल दो प्रकारका है, और वर्ण, रस, स्पर्श, गुण संहित होनेसे रूपी (मूर्त) हैं ॥ २९ ॥

किन्त्वेकं पुद्गलद्रव्यं षड्विकल्पं बुधैर्मतम् ।
स्थूलस्थूलादिभेदेन सूक्ष्मसूक्ष्मेन च क्रमात् ॥ ३० ॥

अर्थ—किन्तु एक एक पुद्गल द्रव्यको विद्वानोंने स्थूलस्थूल और सूक्ष्मसूक्ष्मादि भेदोंके क्रमसे छह प्रकारका कहा है । यथाः—स्थूलस्थूल,—तो पृथिवी पर्वतादिक हैं । स्थूल—जल दुग्धादिक तरल पदार्थ हैं । स्थूलसूक्ष्म—छाया आतपादि नेत्रइन्द्रियगोचर हैं । सूक्ष्मस्थूल—नेत्रके विना अन्य चार इन्द्रियोंसे ग्रहणमें आनेवाले शब्द गन्धादिक हैं । सूक्ष्म—कर्मवर्गणा हैं । और सूक्ष्मसूक्ष्म—परमाणु हैं । इस प्रकार पुद्गलके छह भेद हैं ॥ ३० ॥

प्रत्येकमेकद्रव्याणि धर्मादीनि यथायथम् ।
आकाशान्तान्यमूर्तानि निःक्रियाणि स्थिराणि च ॥ ३१ ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य भिन्न २ एकएक द्रव्य हैं और तीनोंही अमूर्तिक, निष्क्रिय और स्थिर हैं ॥ ३१ ॥

सलोकगगनव्यापी धर्मः स्याद्गतिलक्षणः ।
तावन्मात्रोऽप्यधर्मोऽयं स्थितिलक्ष्मः प्रकीर्तितः ॥ ३२ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य लोकाकाशमें व्यापक है और गतिमें सहकारी होना उसका लक्षण वा स्वभाव है । और अधर्म द्रव्यभी लोकाकाशव्यापी है, तथा स्थितिसहकारी उसका स्वभाव है ॥ ३२ ॥

स्वयं गन्तुं प्रवृत्तेषु जीवाजीवेषु सर्वदा ।
धर्मोऽयं सहकारी स्याज्जलं यादोऽङ्गिनामिव ॥ ३३ ॥

अर्थ—यह धर्मद्रव्य जीवपुद्गलका प्रेरक सहकारी नहिं है, किन्तु जीवपुद्गल स्वयम् गमन करनेमें प्रवर्तें तो यह सर्वकाल सहकारी (सहायक) है । जैसे जलमें रहनेवाले मत्स्यादिकको जल सहकारी है । जल प्रेरण करके मत्स्यादिक जलचरोंको नहिं चलाता, किन्तु वे चलते हैं तो उनका सहायक होता है ॥ ३३ ॥

दत्ते स्थितिं प्रपन्नानां जीवादीनामयं स्थितिं ।
अधर्मः सहकारित्वाद्यथा छायाऽध्ववर्त्तिनाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—अधर्म द्रव्य स्थितिको प्राप्त हुए जीवपुद्गलोंकी स्थिति करानेमें सहकारी है। जैसे मार्गमें चलते हुए पथिकोंको बैठनेके लिये छाया सहकारी है, उसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी जीवोंके ठहरानेमें सहकारी है। प्रेरक नहीं है ॥ ३४ ॥

अवकाशप्रदं व्योम सर्वगं स्वप्रतिष्ठितम् ।
लोकालोकविकल्पेन तस्य लक्ष्म प्रकीर्त्तितम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—आकाशद्रव्य अन्य पांचद्रव्योंको अवकाश देनेवाला और सर्वव्यापी है। तथा स्वप्रतिष्ठित है। अर्थात् अपने आपहीके आधार है, अन्य कोई आधार (आश्रय) नहीं है। यह लोक अलोकके भेदसे दो प्रकारका है ॥ ३५ ॥

लोकाकाशप्रदेशेषु ये भिन्ना अणवः स्थिताः ।
परिवर्त्ताय भावानां मुख्यकालः स वर्णितः ॥ ३६ ॥

अर्थ—लोकाकाशके प्रदेशोंमें जो कालके भिन्न २ अणु द्रव्योंका परिवर्तन करनेके लिये स्थित हैं उन्हे मुख्य काल अर्थात् निश्चयकाल कहते हैं ॥ ३६ ॥

समयादिकृतं यस्य मानं ज्योतिर्गणाश्रितम् ।
व्यवहाराभिधः कालः स कालज्ञैः प्रपञ्चितः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस कालका परिमाण ज्योतिषी देवोंके समूहके गमनागमनके आश्रयसे समय आदि भेदरूप किया गया है, उसे कालके जाननेवाले विद्वानोंने व्यवहारकाल कहा है ॥ ३७ ॥

यदमी परिवर्तन्ते पदार्था विश्ववर्तिनः ।
नवजीर्णादिरूपेण तत्कालस्यैव चेष्टितम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—लोकमें रहनेवाले ये समस्त पदार्थ जो नयेसे पुरानी अवस्थाको धारण करते हैं, सो सब कालकी चेष्टासे ही करते हैं। अर्थात् समस्त द्रव्योंके परिणमनेको कालकी वर्त्तना ही निमित्त है ॥ ३८ ॥

भाविनो वर्त्तमानत्वं वर्तमानास्त्वतीतताम् ।
पदार्थाः प्रतिपद्यन्ते कालकेलिकदर्थिताः ॥ ३९ ॥

अर्थ—पदार्थ कालहीकी लीलासे (वर्तना) से एक अवस्थासे अन्य अवस्थाको प्राप्त होते हैं। अर्थात् जो आगामी अवस्था होनेवाली है वह तो वर्तमानताको प्राप्त होती है और वर्त्तमान है वह अतीतपनको प्राप्त होती है। इस प्रकार समय समय अवस्था पलटती रहती है ॥ ३९ ॥

धर्माधर्मनभःकाला अर्थपर्यायगोचराः।
व्यञ्जनाख्यस्य संबन्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥ ४० ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ तो अर्थपर्यायगोचर हैं, और अन्य दो अर्थात् जीव तथा पुद्गल व्यञ्जनपर्यायके सम्बन्धरूप हैं। **भावार्थ**-धर्मादिक चार द्रव्योंके आकार पलटते नहीं, इस कारण हानिवृद्धिके परिणमनरूप अर्थपर्यायही इनके मुख्य कहे हैं। और जीव तथा पुद्गलोंके आकार पलटते रहते हैं इसकारण इनके व्यञ्जनपर्याय मुख्य कहे गए हैं ॥ ४० ॥

भावाः पञ्चैव जीवस्य द्वावन्त्यौ पुद्गलस्य च।[1]
धर्मादीनां तु शेषाणां स्याद्भावः पारिणामिकः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जीवके औदयिकादि पांचों ही भाव हैं और पुद्गलके अन्तिम दो अर्थात् सूत्रपाठकी अपेक्षा अन्तिम औदयिक और पारिणामिक हैं, तथा शेष धर्मादिक चार द्रव्योंके एक पारिणामिक भावही है ॥ ४१ ॥

अन्योऽन्यसंक्रमोत्पन्नो भावः स्यात्सान्निपातिकः।
षड्विंशद्भेदभिन्नात्मा स षष्ठो मुनिभिर्मतः ॥ ४२ ॥

अर्थ—जीवके इन पांच भावोंके परस्पर संयोगसे उत्पन्न हुआ सान्निपातिक नामका एक छठा भाव भी आचार्योंने माना है। वह छब्बीस प्रभेदोंसे भेदरूप है, तथा छत्तीस भेदरूप और इकतालीस भेदरूपभी कहा है। '**तत्त्वार्थवार्तिक**' नाम तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें भावोंका अच्छा विस्तार किया है.

यहां यदि कोई प्रश्न करे कि, जीवके पांच वा छह आदि भाव क्यों किये? क्योंकि जीवका यथार्थ भाव एक पारिणामिकही है। औदयिक आदिक भाव तो कर्मजन्य हैं, टीकामें उन्हें जीवके भाव कैसे कहते हो?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये भाव यद्यपि कर्मजनित हैं तथापि जीवही इन भावोंके रूपमें परिणमता है। अनादि कर्मबन्धके निमित्तसे जीवकी ऐसी ही सामर्थ्य है कि, जब जैसे कर्मका उदयादिक निमित्त हो वैसा ही यह भावरूप परिणमता है। यदि ऐसा नहिं माना जायगा, तो जीव सांख्यमती तथा वेदांतमतावलम्बियोंके समान नित्य कूटस्थ ठहरैगा और उसके संसारका होना भी नहिं ठहरैगा। और जब संसारअवस्था ही नहीं होगी तब फिर मोक्षका अभाव मानना पड़ेगा। तथा मोक्षका अभाव माननेसे बड़ाही दोष आवेगा। इस कारण जैनमतमें जीवके कर्मका बन्ध होना तथा कर्मके नाश होनेपर मोक्षहोना कहा गया है। और मोक्ष होनेका उपाय सम्यग्दर्शन, ज्ञान,

[1] औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक (मिश्र) और पारिणामिक ये पांच भाव हैं।

चारित्रसहित ध्यान करना कहा है । स्याद्वादन्यायसे सब संभवित होता है । वस्तुस्वरूप अनन्तधर्मी है, ऐसा प्रमाणसिद्ध है । इस कारण जैनियोंका कहना सर्वथा निराबाध है । और सर्वथा एकान्तीका कहना सर्वथा बाधासहित है । ऐसा निःसंदेह जानकर श्रद्धान करना उचित है ॥ ४२ ॥

धर्माधर्मैकजीवानां प्रदेशा गणनातिगाः ।
कियन्तोऽपि न कालस्य व्योम्नः पर्यन्तवर्जिताः ॥ ४३ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्यके प्रदेश गणनासे अतीत अर्थात् असंख्यात हैं और कालद्रव्यके एकही अणु मात्र प्रदेश है । इस कारण कालके कितने प्रदेश हैं, ऐसी कथनीही नहीं है । और आकाशके अन्तवर्जित अनन्तप्रदेश हैं ॥ ४३ ॥

एकाद्यः प्रदेशाः स्युः पुद्गलानां यथायथम् ।
संख्यातीताश्च संख्येया अनन्ता योगिकल्पिताः ॥ ४४ ॥

अर्थ—योगीश्वरोंने पुद्गलद्रव्यके एक प्रदेशको आदि ले जैसे हैं तैसे संख्यात असंख्यात और अनन्त कहे हैं । **भावार्थ**—पुद्गलद्रव्य एक परमाणु है वह मिलकर दो परमाणुसे लेकर संख्यात परमाणुतकका स्कन्ध होता है तथा असंख्यात परमाणु मिलकर असंख्यात परमाणुका स्कन्ध होता है और अनन्त परमाणुओंका स्कन्ध भी होता है । इस कारण पुद्गलस्कन्धके संख्यात असंख्यात वा अनन्त प्रदेश कहे हैं ॥ ४४ ॥

मूर्त्तो व्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वरः स्थिरः ।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञिकः ॥ ४५ ॥

अर्थ—व्यञ्जनपर्याय मूर्तिक है, वचनके गोचर है, अनश्वर है, स्थिर है । और अर्थपर्याय सूक्ष्म है तथा क्षणविध्वंसी है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार अजीवतत्त्वका वर्णन किया. अब बन्ध तत्त्वका वर्णन करते हैं:—

प्रकृत्यादिविकल्पेन ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विधः ।
ज्ञानावृत्यादिभेदेन सोऽष्टधा प्रथमः स्मृतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—प्रकृत्यादि भेदसे बन्ध चार प्रकारका है । उनमेंसे प्रथम प्रकृति बन्ध है, जो कि ज्ञानावरण दर्शनावरणादि भेदसे आठ प्रकारका है ॥ ४६ ॥

मिथ्यात्वाविरती योगः कषायाश्च यथाक्रमात् ।
प्रमादैः सह पञ्चैते विज्ञेया बन्धहेतवः ॥ ४७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, योग, कषाय और प्रमाद यथाक्रमसे ये पांच बन्धके हेतु अर्थात् कारण जानने चाहिये । अतत्त्वश्रद्धानको **मिथ्यात्व,** अत्यागरूप परिणामोंको **अविरति,** निश्चय व्यवहार चारित्रमें असावधानरूप परिणामोंको **प्रमाद,** क्रोध मान माया

लोभ रूप परिणामोंको **कषाय** और मनवचनकायके निमित्तसे आत्माके चंचलरूप होनेको **योग** कहते हैं. इस प्रकार बन्धके हेतु कहे हैं ॥ ४७ ॥

उत्कर्षेणापकर्षेण स्थितिर्या कर्मणां मता।
स्थितिबन्धः स विज्ञेय इतरस्तत्फलोदयः ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो उत्कृष्ट, जघन्य तथा मध्यके भेदोंरूप बढ़ती घटती कर्मोंकी स्थिति (कालकी मर्यादा) कही गई है, उसे **स्थितिबन्ध** और कर्मके फलके उदय होनेको इतर अर्थात् **अनुभागबंध** जानना चाहिये ॥ ४८ ॥

परस्परप्रदेशानुप्रवेशो जीवकर्मणोः।
यः संश्लेषः स निर्दिष्टो बन्धो विध्वस्तबन्धनैः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो जीव और कर्म इन दोनोंके प्रदेशोंका परस्पर अनुप्रवेश कहिये एकक्षेत्रावगाह होनेसे संबंध होता है, उसे बन्धरहित सर्वज्ञदेवने प्रदेशबन्ध कहा है। इस प्रकार बंधतत्त्वका वर्णन किया है ॥ ४९ ॥

प्रागेव भावनातन्त्रे निर्जरास्रवसंवराः।
कथिताः कीर्त्तयिष्यामि मोक्षमार्गं सहेतुकम् ॥ ५० ॥

अर्थ—निर्जरा, आस्रव और संवरका वर्णन पहिले द्वादश भावनाके प्रकरणमें कर आये हैं इस कारण यहां नहिं किया। आगे मोक्षतत्त्वका वर्णन हेतुसहित करते हैं ॥ ५० ॥

एवं द्रव्याणि तत्त्वानि पदार्थान् कायसंयुतान्।
यः श्रद्धत्ते स्वसिद्धान्तात्स स्यान्मुक्तेः स्वयं वरः ॥ ५१ ॥

अर्थ—इस प्रकार छह द्रव्य, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, वा पंचास्तिकायका अपने सिद्धान्तसे जो आत्मा श्रद्धान करता है वह मुक्तिका स्वयंवर होता है। अर्थात् मुक्तिरूपी कन्या उसे स्वयं वरण करती है। तात्पर्य यह कि उसे मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ५१ ॥

इति जीवादयो भावा दिङ्मात्रेणात्र वर्णिताः।
विशेषरुचिभिः सम्यग्विज्ञेयाः परमागमात् ॥ ५२ ॥

अर्थ—इस प्रकार जीवादि पदार्थोंका दिग्दर्शनमात्र इस ग्रंथमें किया गया. विशेष जाननेकी रुचि रखनेवाले पुरुषोंको परमागमसे अर्थात् तत्त्वार्थसूत्रकी टीका तथा **गोमठसारादि** अन्य शास्त्रोंसे जानना चाहिये ॥ ५२ ॥

सद्दर्शनमहारत्नं विश्वलोकैकभूषणम्।
मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन महारत्न समस्त लोकका आभूषण है और मोक्ष होनेपर्यन्त आत्माको कल्याण देनेवालोंमें चतुर है ॥ ५३ ॥

चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशमजीवितम् ।
तपःश्रुताद्यधिष्ठानं सद्भिः सद्दर्शनं मतम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शनको सत्पुरुषोंने चारित्र और ज्ञानका वीज अर्थात् उत्पन्न करनेका कारण माना है। क्योंकि इसके विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होताही नहीं, तथा यम (महाव्रतादि) और प्रशम (विशुद्धभाव) का यह जीवनस्वरूप है। इस सम्यग्दर्शनके विना यम व प्रशम निर्जीवके समान हैं। इसी प्रकार तप और स्वाध्यायका आश्रय है। इसके विना ये निराश्रय हैं। इस प्रकार जितने शमदमवोधव्रततपादि कहे हैं उनको यह सफल करता है। इसके विना वे मोक्षफलके दाता नहिं हो सकते हैं ॥ ५४ ॥

अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्युतम् ।
न पुनः संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते ॥ ५५ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन चारित्रज्ञानके न होनेपर भी प्रशंसनीय कहलाता है. और इसके विना संयम (चारित्र) और ज्ञान मिथ्यात्वरूपी विषसे दूपित होते हैं. अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके विना ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र कुचारित्र कहाता है ॥ ५५ ॥

अत्यल्पमपि सूत्रज्ञैर्दृष्टिपूर्वं यमादिकम् ।
प्रणीतं भवसम्भूतक्लेशप्राग्भारभेषजम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनसहित यम नियम तपादिक थोड़े भी हों तो उन्हें सूत्रके ज्ञाता आचार्योंने संसारसे उत्पन्न हुए क्लेशदुःखोंके वड़े भारको भी औपधिके समान कहा है। **भावार्थ**—सम्यग्दर्शनके होते हुए व्रतादिक अल्प होवें, तो भी वे संसारजनित दुःखरूपी रोगोंको नष्ट करनेके लिये औपधके समान हैं ॥ ५६ ॥

मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनं ।
यतस्तदेव मुक्त्यङ्गमग्रिमं परिकीर्तितम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि,— जिसको निर्मल अतीचाररहित सम्यग्दर्शन है वही पुण्यात्मा वा महाभाग्य मुक्त है ऐसा मैं मानता हूं। क्योंकि सम्यग्दर्शनही मोक्षका मुख्य अंग कहा गया है। मोक्षमार्गके प्रकरणमें सम्यग्दर्शनही मुख्य कहा गया है ॥ ५७ ॥

प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरणज्ञानविश्रुताः ।
अपि जीवा जगत्यस्मिन्न पुनर्दर्शनं विना ॥ ५८ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो जीव चारित्र और ज्ञानके कारण सदा जगतमें प्रसिद्ध हैं, वे भी सम्यग्दर्शनके विना मोक्षको नहिं पाते ॥ ५८ ॥

अब इस सम्यग्दर्शनके प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

मालिनी ।

अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं
जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम् ।
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं
पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे भव्य जीवो ! तुम सम्यग्दर्शन नामक अमृतका पान करो । क्योंकि यह सम्यग्दर्शन अतुल्यसुखका निधान (खजाना) है । समस्त कल्याणोंका बीज अर्थात् कारण है । संसाररूपी समुद्रसे तारनेके लिये जहाज है । तथा इसको धारण करनेवाले एक मात्र पात्र भव्य जीवही हैं । अभव्य जीव इसके पात्र कदापि नहिं हो सकते । और यह सम्यग्दर्शन पापरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठार (कुल्हाड़े) के समान है, तथा पवित्र तीर्थोमें यही प्रधान है, अर्थात् मुख्य है । और जीत लिया है अपने विपक्ष अर्थात् मिथ्यात्वरूपी शत्रुको जिसने ऐसा यह सम्यग्दर्शन है. अतः भव्यजीवोंको सबसे पहिले इसेही अंगीकार करना चाहिये ॥ ५९ ॥

छप्पय ।

सप्त तत्त्व षट् द्रव्य, पदारथ नव मुनि भाखे ।
अस्तिकायसम्यक्त्व, विषय नीके मन राखे ॥
तिनको सांचे जान, आप परभेद पिछानहु ।
उपादेय है आप, आन सब हेय बखानहु ॥
यह सरधा सांची धारकै, मिथ्याभाव निवारिये ।
तव सम्यग्दर्शन पायकै, थिर ह्वै मोक्ष पधारिये ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते
सम्यग्दर्शनप्रकरणम् ॥ ६ ॥

अथ सप्तमं प्रकरणम् ।

अब सम्यग्ज्ञानका वर्णन करते हैं—

त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुताः ।
यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिसमें तीनकालके गोचर अनन्तगुणपर्यायसंयुक्त पदार्थ अतिशयताके साथ प्रतिभासित होते हैं, उसको ज्ञानी पुरुषोंने ज्ञान कहा है । यह सामान्यतासे पूर्ण ज्ञानका

स्वरूप है। आकाशद्रव्य अनन्तानन्तप्रदेशी है। उसके मध्यमें असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश है। उसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये अनन्तद्रव्य हैं। उनके तीन काल संबंधी अनन्त २ भिन्न २ पर्याय हैं। उन सबको युगपत् (एक समयमें) जाननेवाला पूर्णज्ञान आत्माका निश्चय स्वभाव है। कर्मके निमित्तसे उसके भेद हो गये हैं ॥ १ ॥

ध्रौव्यादिकलितैर्भावैर्निर्भरं कलितं जगत् ।
चिन्तितं युगपद्यत्र तज्ज्ञानं योगिलोचनम् ॥ २ ॥

अर्थ—उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य–स्वभावी पदार्थोंसे अतिशय भरा हुआ यह जगत् जिस ज्ञानमें युगपत् प्रतिबिम्बित हो वही ज्ञान योगीश्वरोंके नेत्रके समान है। **भावार्थ**–अन्यमतावलम्बियोंमें योगिप्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं, वह यथार्थ नहीं है। उक्त ज्ञानही सत्यार्थ है ॥ २ ॥

अब कर्मके निमित्तसे जो ज्ञानके भेद होगये हैं, उनका वर्णन करते हैं,

मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययकेवलम् ।
तदित्थं सान्वयैर्भेदैः पञ्चधेति प्रकल्पितम् ॥ ३ ॥

अर्थ—यह ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन भेदोंसे पांच प्रकारका कल्पना किया गया है। **भावार्थ**–कर्मके निमित्तसे यह पांच प्रकारकी कल्पना की गई है। परमार्थसे ज्ञानमात्रमें कोई भेद नहीं है। केवल प्रत्यक्ष और परोक्षताका भेद मात्र है ॥ ३ ॥

अवग्रहादिभिर्भेदैर्बह्वाद्यन्तर्भवैः परैः ।
षट्त्रिंशत्त्रिशतं प्राहुर्मतिज्ञानं प्रपञ्चतः ॥ ४ ॥

अर्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा तथा बहु, बहुविधि, आदि बारह भेदोंसे विस्तार करनेसे मतिज्ञानके तीनसै छत्तीस भेद होते हैं। सो तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओंसे जानना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रसृतं बहुधाऽनेकैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः ।
स्याच्छब्दलाञ्छितं तद्धि श्रुतज्ञानमनेकधा ॥ ५ ॥

अर्थ—ग्यारह अंग, चौदह पूर्व और चौदह प्रकीर्णक इनसे बहुत प्रकारसे विस्तृत, स्यात् शब्दसे चिह्नित श्रुतज्ञान अनेक प्रकारका है। **भावार्थ**–शास्त्र सुननेके निमित्तसे उत्पन्न हुआ ज्ञान मुख्यतासे श्रुतज्ञान कहा जाता है. वह शास्त्र अंगपूर्वादिकसे अनेक भेदरूप है इस कारण ज्ञानभी अनेक प्रकारके हैं। और 'स्यात्' शब्द 'किसी प्रकारको' कहते हैं सो इस शब्दसे वह श्रुतज्ञान चिह्नित है। जिससे इसमें किसी प्रकारकी बाधा नहिं आती, इस कारण जो निर्बाध है वही श्रुतज्ञान है ॥ ५ ॥

देवनारकयोर्ज्ञेयस्त्ववधिर्भवसम्भवः।
षड्विकल्पश्च शेषाणां क्षयोपशमलक्षणः॥ ६॥

अर्थ—देव और नारकी जीवोंको तो अवधिज्ञान भवहीसे उत्पन्न होता है। उसका कारण नरकगति वा देवगतिही है, इस कारण उसे भवप्रत्यय अवधि कहते हैं. और मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंको जो क्षयोपशमसे होता है सो छह प्रकारका होता है—जैसे—अनुगामि १ अननुगामि २ हीयमान ३ वर्द्धमान ४ अवस्थित ५ अनवस्थित ६ इस प्रकार छह भेद हैं॥ ६॥

ऋजुर्विपुल इत्येवं स्यान्मनःपर्ययो द्विधा।
विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषोऽवगम्यताम्॥ ७॥

अर्थ—मनःपर्ययज्ञान—ऋजुमति तथा विपुलमति भेदसे दो प्रकारका है। इन दोनोंमें विशुद्धता और अप्रतिपातकी विशेषता है॥ ७॥

अशेषद्रव्यपर्यायविषयं विश्वलोचनम्।
अनन्तमेकमत्यक्षं केवलं कीर्तितं बुधैः॥ ८॥

अर्थ—जो समस्त द्रव्योंके पर्यायोंको जाननेवाला है, सब जगतके देखने जाननेका नेत्र है तथा अनंत है, एक है, और अतीन्द्रिय है अर्थात् मति श्रुत ज्ञानके समान इन्द्रियजनित नहीं है, केवल आत्मासेही जानता है, उसको विद्वानोंने केवल ज्ञान कहा है॥ ८॥

कल्पनातीतमभ्रान्तं स्वपरार्थावभासकम्।
जगज्ज्योतिरसंदिग्धमनन्तं सर्वदोदितम्॥ ९॥

अर्थ—तथा केवलज्ञान कल्पनातीत है. विषयको जाननेमें किसी प्रकारकी कल्पना नहीं है, स्पष्ट जानता है, तथा आपको और परको दोनोंको जानता है। जगतका प्रकाशकरनेवाला, संदेहरहित, अनन्त और सदाकाल उदयरूप है तथा इसका किसी समयमें किसी प्रकारसेभी अभाव नहीं होता है॥ ९॥

अनन्तानन्तभागेऽपि यस्य लोकश्चराचरः।
अलोकश्च स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिनां मतम्॥ १०॥

अर्थ—जिस केवल ज्ञानके अनन्तानन्त भाग करनेपरभी यह चराचर लोक प्रतिभासित होता है तथा अलोकाकाश अनन्तानन्त प्रदेशी है, यहभी प्रकट प्रतिभासता है इस प्रकार योगीश्वरोंके ज्योतिप्रकाशरूप कहा है। **भावार्थ**—केवल ज्ञानमें समस्त लोकालोक प्रकाशमान है। और यह ज्ञान योगीश्वरोंको ही होता है॥ १०॥

इस प्रकार सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा तो ये पांचोंही ज्ञान एक हैं, तथापि कर्मके निमि-

त्तसे पांच प्रकारके भेद कहे गये। क्योंकि मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान कर्मोंके क्षयोपशमसे होते हैं और केवल ज्ञान आत्माका निजस्वभाव है, जो घातिया कर्मोंके सर्वथा क्षय होनेसे प्रगट होता है। यह ज्ञान अविनाशी और अनन्त है, सदा जैसाका तैसा रहता है और इसको फिर कभी कर्ममल नहिं लगता है॥

अगम्यं यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेद्यं यद्रवेरपि।
तद्दुर्बोधोद्धतं ध्वान्तं ज्ञानभेद्यं प्रकीर्त्तितम्॥ ११॥

अर्थ—जिस मिथ्याज्ञानरूप उत्कट अन्धकारको चन्द्रमा तथा सूर्यभी नष्ट नहिं कर सक्ता ऐसा दुर्भेद्य है, वह मिथ्यात्वान्धकार ज्ञानसेही नष्ट किया जाता है। अर्थात् ज्ञानही उसको भेद सक्ता है॥ ११॥

दुःखज्वलनतप्तानां संसारोग्रमरुस्थले।
विज्ञानमेव जन्तूनां सुधाम्बुप्रीणनक्षमः॥ १२॥

अर्थ—इस संसाररूपी उग्रमरुस्थलमें दुःखरूप अग्निसे तप्तायमान जीवोंको यह सत्यार्थ ज्ञानही अमृतरूप जलसे तृप्त करनेको समर्थ है। **भावार्थ**—संसारके दुःख मिटानेको सम्यग्ज्ञानही समर्थ है॥ १२॥

निरालोकं जगत्सर्वमज्ञानतिमिराहतम्।
तावदास्ते उदेत्युच्चैर्न यावज्ज्ञानभास्करः॥ १३॥

अर्थ—जबतक ज्ञानरूपी सूर्यका उदय नहिं होता तभीतक यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी अन्धकारसे आच्छादित है। अर्थात् ज्ञानरूपी सूर्यका उदय होतेही अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है॥ १३॥

बोध एव दृढः पाशो हृषीकमृगबन्धने।
गारुडश्च महामन्त्रः चित्तभोगिविनिग्रहे॥ १४॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी मृगोंको बांधनेके लिये ज्ञानही एक दृढ फांसी है, अर्थात् ज्ञानके विना इन्द्रियां वश नहीं होतीं, तथा चित्तरूपी सर्पका निग्रह करनेके लिये ज्ञानही एक गारुड महामन्त्र है। अर्थात् मन भी ज्ञानहीसे वशीभूत होता है॥ १४॥

निशातं विद्धि निस्त्रिंशं भवारातिनिपातने।
तृतीयमथवा नेत्रं विश्वतत्त्वप्रकाशने॥ १५॥

अर्थ—ज्ञानही तो संसाररूप शत्रुको निपात (नष्ट) करनेके लिये तीक्ष्ण खड्ग है और ज्ञानही समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित करनेके लिये तीसरा नेत्र है॥ १५॥

क्षीणतन्द्रा जितक्लेशा वीतसङ्गाः स्थिराशयाः।
तस्यार्थेऽमी तपस्यन्ति योगिनः कृतनिश्चयाः॥ १६॥

अर्थ—प्रमादको क्षीण करनेवाले, क्लेशोंको जीतनेवाले, परिग्रहरहित, स्थिर आशयवाले ये योगिगण उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये यत्नपूर्वक तपस्या करते हैं। **भावार्थ**—ऐसे ज्ञानी मुनिही इस ज्ञानको पाते हैं ॥ १६ ॥

वेष्टयत्याऽऽत्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनैः।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे ॥ १७ ॥

अर्थ—अज्ञानी पुरुष आपको अपनेहींसे कर्मरूपी बन्धनोंसे वेष्टित करलेता है। और जो भेदविज्ञानी है वह किसी कालमें सावधान होकर अपनेको कर्मबंधोंसे छुड़ालेता है॥ १७ ॥

यज्जन्मकोटिभिः पापं जयत्यज्ञस्तपोबलात्।
तद्विज्ञानी क्षणार्द्धेन दहत्यतुलविक्रमः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी है वह तो करोड़ों जन्म लेकर तपके प्रभावसे पापको जीतता है। और उसी पापको अतुल्य पराक्रमवाला भेदविज्ञानी आधे क्षणहीमें भस्म कर देता है ॥१८ ॥

अज्ञानपूर्विका चेष्टा यतेर्यस्यात्र भूतले।
स बध्नात्यात्मनात्मानं कुर्वन्नपि तपश्चिरं ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस यतिकी इस पृथिवीपर अज्ञानपूर्वक चेष्टा (क्रिया) है वह चिरकाल तपस्या करता हुआ भी अपने आत्माको अपनेही कृत्यसे बांध लेता है। क्योंकि अज्ञानपूर्वक तप बन्धहीका कारण है ॥ १९ ॥

ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं निःशेषं यस्य योगिनः।
न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ॥ २० ॥

अर्थ—जिस मुनिके समस्त आचरण ज्ञानपूर्वक होते हैं उसको किसी कालमें भी कर्मबंध नहिं होता है। **भावार्थ**-अज्ञानीको तो बहुत काल तिष्ठनेवाला कर्मबंध होताहै, किन्तु ज्ञानीको कभी नहिं होता है ॥ २० ॥

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पण्डितः।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद् ध्रुवम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिस मार्गमें अज्ञानी चलते हैं उसी मार्गमें विद्वज्जन चलते हैं, परन्तु अज्ञानी तो अपने आत्माको बांध लेता है और तत्त्वज्ञानी बन्धरहित हो जाता है। यह ज्ञानक माहात्म्य है ॥ २१ ॥

मालिनी।

दुरिततिमिरहंसं मोक्षलक्ष्मीसरोजं
मदनभुजगमन्त्रं चित्तमातङ्गसिंहं।

व्यसनघनसमीरं विश्वतत्त्वैकदीपं
विषयशफरजालं ज्ञानमाराधय त्वं ॥ २२ ॥

अर्थ—हे भव्यजीव ! तू ज्ञानका आराधन कर । क्योंकि ज्ञान पापरूपी तिमिर (अंधकारको) नष्ट करनेके लिये सूर्यके समान है, और मोक्षरूपी लक्ष्मीके निवास करनेके लिये कमलके समान है, तथा कामरूपी सर्पके कीलनेको मंत्रके समान और मनरूपी हस्तीको सिंहके समान है, तथा व्यसन–आपदा–कष्टरूपी मेघोंको उड़ानेके लिये पवनके समान और समस्त तत्त्वोंको प्रकाश करनेके लिये दीपकके समान है, तथा विषयरूपी मत्स्योंको पकड़नेके लिये जालके समान है ॥ २२ ॥

अब ज्ञानके प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

स्रग्धरा ।

अस्मिन्संसारकक्षे यमभुजगविषाक्रान्तनिःशेषसत्त्वे
क्रोधाद्युत्तुङ्गशैले कुटिलगतिसरित्पातसन्तानभीमे ।
मोहान्धाः संचरन्ति स्खलनविधुरिताः प्राणिनस्तावदेते
यावद्विज्ञानभानुर्भवभयदमिदं नोच्छिनत्त्यन्धकारम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जबतक इस संसाररूपी वनमें यह सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य संसाररूप भयके देनेवाले अज्ञान अन्धकारका उच्छेद नहिं करता तबतकही मोहसे अंधे हुए प्राणी अपने स्वरूप उत्तम मार्गसे छूटनेसे गिरते पड़ते पीड़ित हुए चलते हैं । कैसा है संसाररूपी वन ? जिसमें कि–पापरूपी सर्पके विषसे समस्त प्राणी व्याप्त हैं अर्थात् दबे हैं. तथा–क्रोधादिक पापरूपी बड़े २ ऊंचे पर्वत हैं । और वक्र गमनवाली दुर्गतिरूपी नदियोंमें गिरनेसे उत्पन्न हुए सन्तापसे अतिशय भयानक है । ज्ञानरूप सूर्यके प्रकाश होनेसे किसी प्रकारका दुःख वा भय नहिं रहता । इस प्रकार सम्यग्ज्ञानका वर्णन किया ॥ २३ ॥

दोहा ।

सम्यकदर्शन पाइकै, ज्ञानविशेष बढाय ।
चारितकी विधि जानिकै, लागो ध्यान उपाय ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे श्रीशुभचंद्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे सम्यग्ज्ञानप्रकरणं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अथ अष्टमः सर्गः ।



आगे सम्यक्चारित्रका वर्णन करते हैं,—

यद्विशुद्धेः परं धाम यद्योगिजनजीवितम् ।
तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो विशुद्धताका उत्कृष्ट धाम है तथा योगीश्वरोंका जीवन है और समस्त प्रकारकी पापरूप प्रवृत्तियोंसे दूर रहनेका लक्षण है, उसको सम्यक्चारित्र कहते हैं। **भावार्थ**—जो चारित्र समस्तपापोंसे निवृत्तिस्वरूप है वही दर्शनको शुद्ध करता है और मुनिजनोंका वही एक जीवनसर्वस्व है. उसके विना मुनिपदवी हो ही नहिं सकती है ॥ १ ॥

सामायिकादिभेदेन पञ्चधा परिकीर्त्तितम् ।
ऋषभादिजिनैः पूर्वं चारित्रं सप्रपञ्चकम् ॥ २ ॥

अर्थ—यह चारित्र पूर्वकालमें श्रीऋषभदेवतीर्थंकर महाराजसे लेकर समस्त तीर्थंकरोंने सामायिक १, छेदोपस्थापना २, परिहारविशुद्धि ३, सूक्ष्मसांपराय ४ और यथाख्यातचारित्र ५ ऐसे पांच प्रकारका कहा है ॥ २ ॥

पञ्चमहाव्रतमूलं समितिप्रसरं नितान्तमनवद्यम् ।
गुप्तिफलभारनम्रं सन्मतिना कीर्त्तितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

अर्थ—तथा वही चारित्र श्रीवर्द्धमानस्वामी तीर्थंकर भगवान्ने तेरह प्रकारका कहा है। पांच महाव्रत हैं मूल जिसका तथा पांच समिति हैं प्रसर (फैलाव) जिसका और अत्यन्त निर्दोष तीन गुप्तिरूप फलके भारसे नम्रीभूत ऐसा चारित्ररूपी वृक्ष है। **भावार्थ**—चरित्र तेरह प्रकारका है। वह वृक्षकी उपमाको धारण करता है। उसकी जड़ पांच महाव्रत हैं; उसकी विस्तृत शाखायें पांच समिति हैं और उसके फल तीन गुप्तियां हैं ॥ ३ ॥

पञ्च पञ्च त्रिभिर्भेदैर्यदुक्तं मुक्तसंशयैः ।
भवभ्रमणभीतानां चरणं शरणं परम् ॥ ४ ॥

अर्थ—संशयरहित गणधरादिकोंने पांच पांच और तीन भेदसे जो चारित्र कहा है वह संसारके भ्रमणसे भयभीत पुरुषोंके हेतु एक उत्तम शरण है। अर्थात् जो मुनि संसारके भयसे भयभीत हैं वे इस चारित्रका पालन करनेसे भयरहित (अभय) हो जाते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चव्रतं समित्पंच गुप्तित्रयपवित्रितम् ।
श्रीवीरवदनोद्गीर्णं चरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥ ५ ॥

अर्थ—पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकारका चारित्र जो श्रीवीर (वर्द्धमान) तीर्थंकर भगवान्‌के मुखसे प्रगट हुआ है वह चन्द्रमाके समान निर्मल है ॥ ५ ॥

हिंसायामनृते स्तेये मैथुने च परिग्रहे ।
विरतिर्व्रतमित्युक्तं सर्वसत्त्वानुकम्पकैः ॥ ६ ॥

अर्थ—हिंसा, अनृत, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पापोंमें विरति कहिये त्यागभाव होना ही व्रत है । समस्त जीवोंपर दयालु मुनियोंने ऐसाही कहा है ॥ ६ ॥

इस प्रकार संक्षेपसे कहकर अब प्रथमही अहिंसा महाव्रतका वर्णन करते हैं,—

सत्याद्युत्तरनिःशेषयमजातनिबन्धनम् ।
शीलैश्वर्याद्यधिष्ठानमहिंसाख्यं महाव्रतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अहिंसा नामा महाव्रत सत्यादिक अगले ४ महाव्रतोंका तो कारण है, क्योंकि सत्य अचौर्यादि विना अहिंसाके नहिं हो सकते । और शीलादिसहित उत्तरगुणोंकी चर्याका स्थान भी यह अहिंसाही है । अर्थात् समस्त उत्तर गुणभी इस अहिंसा महाव्रतके आश्रय हैं ॥ ७ ॥

वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्त्तते ।
चरस्थिराङ्गिनां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसमें मनवचनकायसे त्रस और स्थावर जीवोंका घात स्वप्नमें भी न हो उसे आद्यव्रत (प्रथम महाव्रत–अहिंसा) कहते हैं ॥ ८ ॥

मृते वा जीविते वा स्याज्जन्तुजाते प्रमादिनाम् ।
बन्ध एव न बन्धः स्याद्धिंसायाः संवृतात्मनाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जीवोंके मरते वा जीते प्रमादी पुरुषोंको तो निरन्तरही हिंसाका पापबन्ध होताही रहता है । और जो संवरसहित अप्रमादी हैं उनको जीवोंकी हिंसा होते हुए भी हिंसारूप पापका बंध नहिं होता । **भावार्थ**—कर्मबन्ध होनेमें प्रधान कारण आत्माके परिणाम हैं; इस कारण जो प्रमादसहित विना यत्नके प्रवर्त्तते हैं उनको तो जीव मरे अथवा न मरे किन्तु कर्मबन्ध होताही है, और जो प्रमादरहित यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं उनके दैवयोगसे जीव मरै तौभी कर्मबन्ध नहिं होता है ॥ ९ ॥

संरम्भादित्रिकं योगैः कषायैर्व्याहतं क्रमात् ।
शतमष्टाधिकं ज्ञेयं हिंसाभेदैस्तु पिण्डितम् ॥ १० ॥

अर्थ—संरंभ, समारंभ और आरंभ इस त्रिकको मनवचनकायकी तीन २ प्रवृत्तियोंसे तथा क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों और कृत, कारित, अनुमोदना (अनुमति वा सम्मति) से क्रमसे गुणन करनेपर हिंसाके भेद (१०८) होते हैं, तथा अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषायोंके उत्तरभेदोंसे गुणन करनेसे ४३२ भेद भी हिंसाके होते हैं ॥ १० ॥

अतः प्रमादमुत्सृज्य भावशुद्धयाङ्गिसन्ततिम् ।
यमप्रशमसिद्धयर्थं बधुबुद्धया विलोकय ॥ ११ ॥

अर्थ—उपर्युक्त संरंभादिक हिंसापरिणामके १०८ अथवा ४३२ भेद हैं। अतः हे आत्मन्! तू प्रमादको छोड़कर भावोंकी शुद्धिके लिये जीवोंकी सन्ततिको (समूहको) बन्धु (भाई, हित, मित्र) की दृष्टिसे अवलोकन किया कर। अर्थात् प्राणीमात्रसे शत्रुभाव न रखकर सबसे मित्रभाव रख और सबकी रक्षामें मनवचनकायादिकसे प्रवृत्ति कर ॥ ११ ॥

यज्जन्तुबधसंजातकर्मपाकाच्छरीरिभिः ।
श्वभ्रादौ सह्यते दुःखं तद्वक्तुं केन पार्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—जीवोंके घात (हिंसा) करनेसे पापकर्म उपार्जन होता है उसका जो फल अर्थात् दुःख नरकादिक गतिमें जीव भोगते हैं वह वचनके अगोचर है। अर्थात् वचनसे कहनेमें नहिं आसकता ॥ १२ ॥

हिंसैव नरकागारप्रतोली प्रांशुविग्रहा ।
कुठारीव द्विधा कर्तुं भेत्तुं शूलोऽतितिर्द्दया ॥ १३ ॥

---

१ हिंसामें उद्यमरूप परिणामोंका होना तो **संरंभ** है, हिंसाके साधनोंमें अभ्यास करना (सामग्री मिलाना) **समारंभ** है और हिंसामें प्रवर्त्तन करना **आरंभ** है। इन तीनको मनवचनकायके योगसे गुणा करनेसे नव भेद होते हैं और कृत, कारित, अनुमोदनासे गुणा करनेसे २७ फिर इनको क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंसे गुणनेसे १०८ हिंसाके भेद होते हैं। **कृत**–आप स्वाधीन होकर करै, **कारित**–अन्यसे करवाये और अन्य कोई हिंसा करता हो उसको भला जाने उसे **अनुमोदना** वा अनुमत कहते हैं। जैसे–क्रोधकृतकायसंरंभ १ मानकृतकायसंरंभ २ मायाकृतकायसंरंभ ३ लोभकृतकायसंरंभ ४ क्रोधकारितकायसंरंभ ५ मानकारित कायसंरंभ ६ मायाकारित कायसंरंभ ७ लोभकारित कायसंरंभ ८ क्रोधानुमत कायसंरंभ ९ मानानुमत कायसंरंभ १० मायानुमत कायसंरंभ ११ लोभानुमत कायसंरंभ १२ इस प्रकार कायके संरंभके १२ भेद, इसी प्रकार वचनसंरंभके १२ भेद और मनसंरंभके १२ भेद मिलकर ३६ भेद संरंभके हुए और इसी प्रकार ३६ समारंभके और ३६ आरंभके सब मिलकर १०८ भेद हिंसाके होते हैं। और क्रोध, मान, माया, तथा लोभ इन चार कषायोंके अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन इन चार भेदोंसे गुणन करनेसे ४३२ भेद भी हिंसाके होते हैं. जप करनेकी मालामें ३ दाने ऊपर और १०८ दाने मालामें होते हैं सो इसी संरंभ समारंभ आरंभके तीन दाने मूलमें रखकर उसके भेदरूप (शाखारूप) १०८ दाने डाले जाते हैं। अर्थात सामायिक (संध्यावंदन जाप्यादि) करते समय क्रमसे १०८ आरंभोंका (हिंसारूप पापकर्मोंका) परमेष्ठीके नामस्मरणपूर्वक त्याग करना चाहिये, तत्पश्चात् धर्मध्यानमें लगना चाहिये।

अर्थ—यह हिंसाही नरकरूपी घरमें प्रवेश करनेके लिये प्रतोली (मुख्य दरवाजा) है. तथा जीवोंको काटनेके लिये कुठार (कुल्हाड़ा) और विदारनेके लिये निर्दयरूपी शूली है ॥ १३ ॥

क्षमादिपरमोदारैर्यमैर्यो वर्द्धितश्चिरम् ।
हन्यते स क्षणादेव हिंसया धर्मपादपः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो धर्मरूप वृक्ष उत्तम क्षमादिक परम उदार संयमोंसे वहुत कालसे बढ़ाया है वह इस हिंसारूप कुठारसे क्षणमात्रमें नष्ट हो जाता है । **भावार्थ**—जहां हिंसा होती है वहां धर्मका लेशभी नहीं है ॥ १४ ॥

तपोयमसमाधीनां ध्यानाध्ययनकर्मणां ।
तनोत्यविरतं पीडां हृदि हिंसा क्षणस्थिता ॥ १५ ॥

अर्थ—हृदयमें क्षणभर भी स्थान पाई हुई यह हिंसा तप, यम, समाधि और ध्यानाध्ययनादि कार्योंको निरंतर पीड़ा देती है । **भावार्थ**—क्रोधादि कषायरूप परिणाम (हिंसारूप परिणाम) किसी कारणसे एकवार उत्पन्न हो जाते हैं तो उनका संस्कार (स्मरण) लगा रहता है । वह तप, यम, समाधि और ध्यानाध्ययनकार्योंमें चित्तको नहिं ठहरने देता, इस कारण यह हिंसा महा अनर्थकारिणी है ॥ १५ ॥

अहो व्यसनविध्वस्तैर्लोकः पाखण्डिभिर्वलात् ।
नीयते नरकं घोरं हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज आश्चर्यके साथ कहते हैं कि देखो ! धर्म तो दयामयी जगतमें प्रसिद्ध है परन्तु विषयकषायसे पीडित पाखण्डी हिंसाका उपदेश देनेवाले (यज्ञादिकमें पशुहोमने तथा देवी आदिके वलिदान करने आदि हिंसाविधान करनेवाले) शास्त्रोंको रचकर जगतके जीवोंको वलात्कार नरकादिकमें ले जाते हैं । यह वड़ाही अनर्थ है ॥ १६ ॥

रौरवादिषु घोरेषु विशन्ति पिशिताशनाः ।
तेष्वेव हि कदर्थ्यन्ते जन्तुघातकृतोद्यमाः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मांसके खानेवाले हैं वे सातवें नरकके रौरवादि विलोंमें प्रवेश करते हैं और वहींपर जीवोंको घात करनेवाले शिकारी आदिक भी पीडित होते हैं । **भावार्थ**—जो जीवघातक मांसभक्षी पापी हैं, वे नरकमें ही जाते हैं । और जो जीवघातको ही धर्म मानकरके उपदेश करते हैं वे अपने और परके दोनोंके घातक हैं; अतः वे भी नरकहीके पात्र हैं ॥ १७ ॥

शान्त्यर्थं देवपूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभिः।
कृतः प्राणभृतां घातः पातयत्यविलम्बितं॥ १८॥

अर्थ—अपनी शान्तिके अर्थ अथवा देवपूजाके तथा यज्ञके अर्थ जो मनुष्य जीवघात (जीवहिंसा) करते हैं वह घात भी जीवोंको शीघ्रही नरकमें डालता है॥ १८॥

हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं हिंसैव दुरितार्णवः।
हिंसैव नरकं घोरं हिंसैव गहनं तमः॥ १९॥

अर्थ—हिंसा ही दुर्गतिका द्वार है, पापका समुद्र है तथा हिंसाही घोर नरक और महा अन्धकार है। **भावार्थ**–समस्त पापोंमें मुख्य हिंसाही है। जितनी खोटी उपमायें हैं सब हिंसाको लगती हैं॥ १९॥

निःस्पृहत्वं महत्वं च नैराश्यं दुष्करं तपः।
कायक्लेशश्च दानं च हिंसकानामपार्थकम्॥ २०॥

अर्थ—जो हिंसक पुरुष हैं उनकी निस्पृहता, महत्ता, आशारहितता, दुष्कर तप करना, कायक्लेश और दान करना आदि समस्त धर्मकार्य व्यर्थ हैं अर्थात् निष्फल हैं॥ २०॥

कुलक्रमागता हिंसा कुलनाशाय कीर्तिता।
कृता च विघ्नशान्त्यर्थं विघ्नौघायैव जायते॥ २१॥

अर्थ—कुलक्रमसे जो हिंसा चलीआई है वह उस कुलको नाश करनेके लियेही कही गई है तथा विघ्नकी शान्तिके अर्थ जो हिंसा की जाती है वह विघ्नसमूहको बुलानेके लियेही है। **भावार्थ**–कोई कहै कि हमारे कुलमें देवी आदिका पूजन चला आता है अतएव हम बकरे भैंसेका घात करके देवीको चढ़ाते हैं और इसीसे कुलदेवीको सन्तुष्ट हुई मानते हैं. तथा ऐसा करनेसे कुलदेवी कुलकी वृद्धि करती है, इस प्रकार श्रद्धान करके जो बकरे आदिकी हिंसा की जाती है वह कुलनाशके लियेही होती है, कुलवृद्धिके लिये कदापि नहीं। तथा कोई २ अज्ञानी विघ्नशान्त्यर्थ हिंसा करते हैं और यज्ञ कराते हैं उनको उलटा विघ्नही होता है और उनका कभी कल्याण नहिं हो सकता है॥ २१॥

सौख्यार्थे दुःखसन्तानं मङ्गलार्थेऽप्यमङ्गलम्।
जीवितार्थे ध्रुवं मृत्युं कृता हिंसा प्रयच्छति॥ २२॥

अर्थ—सुखके अर्थ की हुई हिंसा दुःखकी परिपाटी करती है, मंगलार्थ की हुई हिंसा अमङ्गल करती है, तथा जीवनार्थ की हुई हिंसा मृत्युको प्राप्त करती है। इस बातको निश्चय जानना॥ २२॥

तितीर्षति ध्रुवं मूढः स शिलाभिर्नदीपतिं।
धर्मबुद्ध्याऽधमो यस्तु घातयत्यङ्गिसंचयम्॥ २३॥

अर्थ—जो मूढ अधम धर्मकी बुद्धिसे जीवोंको मारता है सो पाषाणकी शिलाओंपर बैठकर समुद्रको तैरनेकी इच्छा करता है। क्योंकि वह नियमसे डूबेगा ॥ २३ ॥

प्रमाणीकृत्य शास्त्राणि यैर्वधः क्रियतेऽधमैः।
सह्यते परलोके तैः श्वभ्रे शूलाधिरोहणम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो अधम शास्त्रोंका प्रमाण देकर जीवोंका वध करना धर्म बताते हैं वे मृत्यु होनेपर नरकमें शूलीपर चढ़ाये जाते हैं। **भावार्थ**—अनेक अज्ञानी कहते हैं कि वेदशास्त्रमें यज्ञके समय जीववध करना कहा है, उसीको ईश्वरकृत प्रमाणभूत मानकर हम पशुवध करते हैं। परंतु ऐसा कहनेवाले अधर्मी हैं। क्योंकि जिस शास्त्रमें जीववध धर्म कहा हो वह शास्त्र कदापि प्रमाणभूत नहिं कहा जा सकता। उसको जो अज्ञानी प्रमाण मानकर हिंसा करते हैं वे अवश्यही नरकमें पड़ते हैं ॥ २४ ॥

निर्दयेन हि किं तेन श्रुतेनाचरणेन च।
यस्य स्वीकारमात्रेण जन्तवो यान्ति दुर्गतिम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जिसमें दया नहीं है ऐसे शास्त्र तथा आचरणसे क्या लाभ? क्योंकि ऐसे शास्त्रके वा आचरणके अंगीकार मात्रहीसे जीव दुर्गतिको चले जाते हैं ॥ २५ ॥

वरमेकाक्षरं ग्राह्यं सर्वसत्त्वानुकम्पनम्।
न त्वक्षपोषकं पापं कुशास्त्रं धूर्त्तचर्चितम् ॥ २६ ॥

अर्थ—सर्व प्राणियोंपर दया करनेवाला तो एक अक्षर श्रेष्ठ है और ग्रहण करने योग्य है, परन्तु धूर्त तथा विषयकषायी पुरुषोंका रचा हुआ इन्द्रियोंको पोषनेवाला जो पापरूप कुशास्त्र है वह श्रेष्ठ नहीं है ॥ २६ ॥

चरुमन्त्रौषधानां वा हेतोरन्यस्य वा क्वचित् ॥
कृता सती नरैर्हिंसा पातयत्यविलम्बितम् ॥ २७ ॥

अर्थ—देवताकी पूजाके लिये रचेहुए नैवेद्य तथा मंत्र और औषधके निमित्त अथवा अन्य किसीभी कार्यके लिये की हुई हिंसा जीवोंको नरकमें लेजाती है ॥ २७ ॥

वंशस्थम्।

विहाय धर्मं शमशीललाञ्छितं
दयावहं भूतहितं गुणाकरम्।
मदोद्धता अक्षकषायवञ्चिता
दिशन्ति हिंसामपि दुःखशान्तये ॥ २८ ॥

अर्थ—जो पुरुष गर्वसे उद्धत हैं और इन्द्रियोंके विषय तथा कषायोंसे ठगे गये हैं वेही मन्दकषाय तथा उपशमरूप शीलसे चिह्नित दयामयी जीवोंके हितकरनेवाले गुणोंके

खानि दयाधर्मको छांड़कर दुःखकी शान्तिके लिये हिंसाको भी धर्म कहकर उपदेश करते हैं। **भावार्थ**—हिंसामें धर्म कहनेवाले विघातक गर्वमें मदोन्मत्त हो रहे हैं और वे विषयलम्पट और कषायी हैं ॥ २८ ॥

धर्मबुद्धयाऽधर्मैः पापं जन्तुघातादिलक्षणम् ।
क्रियते जीवितस्यार्थे पीयते विषमं विषं ॥ २९ ॥

अर्थ—जो पापी धर्मकी बुद्धिसे जीवघातरूपी पापको करते हैं वे अपने जीवनकी इच्छासे हालाहल विषको पीते हैं ॥ २९ ॥

एतत्समयसर्वस्वमेतत्सिद्धान्तजीवितम् ।
यज्जन्तुजातरक्षाथ भावशुद्धया दृढं व्रतम् ॥ ३० ॥

अर्थ—वही तो मतका सर्वस्व है और वही सिद्धान्तका रहस्य है जो जीवोंके समूहकी रक्षाके लिये है। एवम् वही भावशुद्धिपूर्वक दृढ व्रत है ॥ ३० ॥

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च ।
" अहिंसालक्षणो धर्मस्तद्विपक्षश्च पातकम् " ॥ ३१ ॥

अर्थ—समस्त मतोंके समस्त शास्त्रोंमें यही सुना जाता है कि **अहिंसालक्षण तो धर्म** है और इसका प्रतिपक्षी हिंसा करनाही पाप है. इस सिद्धान्तसे जो विपरीत वचन हो वह सब विषयाभिलाषी जिव्हालंपट जीवोंके दूरहीसे तजने योग्य जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

अहिंसव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः ।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥ ३२ ॥

अर्थ—अहिंसाही तो जगतकी माता है। क्योंकि समस्त जीवोंकी प्रतिपालना करनेवाली है। अहिंसाही आनन्दकी सन्तति अर्थात् परिपाटी है। अहिंसाही उत्तम गति और शाश्वती लक्ष्मी है। जगतमें जितने उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब इस अहिंसाहीमें हैं ॥ ३२ ॥

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियं ।
अहिंसैव हितं कुर्याद्व्यसनानि निरस्यति ॥ ३३ ॥

अर्थ---यह अहिंसाही मुक्तिको करती है तथा स्वर्गकी लक्ष्मीको देती है और अहिंसाही आत्माका हित करती है तथा समस्त कष्टरूप आपदाओंको नष्ट करती है ३३ ॥

सप्तद्वीपवतीं धात्रीं कुलाचलसमन्विताम् ।
नैकप्राणिवधोत्पन्नं दत्वा दोषं व्यपोहति ॥ ३४ ॥

अर्थ—यदि कुलाचल पर्वतोंके सहित सातद्वीपकी पृथ्वी भी दान करदी जाय तौ भी एक प्राणीको मारनेका पाप दूर नहिं हो सकता है **भावार्थ**—समस्त दानोंमें अभयदान

प्रधान है। क्योंकि एक प्राणीके घातसे उत्पन्न हुआ पाप सात द्वीप और कुलाचलोंसहित पृथिवी दान करनेसे भी दूर नहिं होता॥ ३४॥

सकलजलधिवेलावारिसीमां धरित्रीं
नगरनगसमग्रां स्वर्णरत्नादिपूर्णाम्।
यदि मरणनिमित्ते कोऽपि दद्यात्कथंचित्
तदपि न मनुजानां जीविते त्यागबुद्धिः॥ ३५॥

अर्थ—जो कोई किसी मनुष्यको मरजानेके बदलेमें नगर, पर्वत तथा सुवर्ण रत्न धन धान्यादिसे भरी हुई समुद्रपर्यन्तकी पृथिवीका दान करै तौ भी अपने जीवनको त्याग करनेमें उसकी इच्छा नहिं होगी। **भावार्थ**—मनुष्योंको जीवन इतना प्यारा है कि मरनेके लिये जो कोई समस्त पृथिवीका राज्य दे तौ भी मरना नहीं चाहता। इस कारण एक जीवको बचानेमें जो पुण्य होता है वह समस्त पृथिवीके दानसे भी अधिक होता है॥ ३५॥

आत्मैवोत्क्षिप्य तेनाशु प्रक्षिप्तः श्वभ्रसागरे।
स्नेहभ्रमभयेनापि येन हिंसा समर्थिता॥ ३६॥

अर्थ—जिस पुरुषने किसीकी प्रीतिके भ्रमसे अथवा किसीके भयसे हिंसाका समर्थन किया कि हिंसाकरना बुरा नहीं है तो ऐसा समझो कि उसने अपनी आत्माको उसी समय नरकरूपी समुद्रमें डाल दिया॥ ३६॥

शूलचक्रासिकोदण्डैरुद्युक्ताः सत्वखण्डने।
येऽधमास्तेऽपि निस्त्रिंशैर्देवत्वेन प्रकल्पिताः॥ ३७॥

अर्थ—जो पापी त्रिशूल, चक्र, तरवार और धनुष्य इत्यादि शस्त्रोंसे जीवोंको घात करनेमें उद्यत हैं ऐसे चंडी, काली, भैरवादिकोंको भी निर्दय पुरुष देवता मानकर उनकी स्थापना करते हैं। **भावार्थ**—जो जीवोंके घात करनेमें प्रवृत्ति करे वह काहेका देव? परन्तु जो निर्दयी जन हैं उनको ऐसे निर्दयी देवही इष्ट लगते हैं॥ ३७॥

बलिभिर्दुर्बलस्यात्र क्रियते यः पराभवः।
परलोके स तैस्तस्मादनन्तः प्रविषह्यते॥ ३८॥

अर्थ—जो बलवान् पुरुष इस लोकमें निर्बलका पराभव करता वा सताता है वह परलोकमें उससे अनन्तगुणा पराभव सहता है। **अर्थात्**—जो कोई बलवान् निर्बलको दुःख देता है तो उसका अनन्त गुणा दुःख वह स्वयम् अगले जन्ममें भोगता है॥ ३८॥

भयवेपितसर्वाङ्गाननाथान् जीवितप्रियान्।
निघ्नद्भिः प्राणिनः किं तैः स्वं ज्ञातमजरामरं॥ ३९॥

अर्थ—जिनके सब अंग भयसे कंपित हैं, जिनका कोई रक्षक नहीं, जो अनाथ हैं, जिनको जीवनही एक मात्र प्रियवस्तु है, ऐसे प्राणियोंको जो मारते हैं उन्होने क्या अपनेको अजरामर जान लिया ? । **भावार्थ**—अपनेको भी कोई मारेगा यह उन्होंने नहिं जाना ॥ ३९ ॥

स्वपुत्रपौत्रसन्तानं वर्द्धयन्त्यादरैर्जनाः ।
व्यापादयन्ति चान्येषामत्र हेतुर्न बुद्ध्यते ॥ ४० ॥

अर्थ—यह बड़ा आश्चर्य है कि अपने पुत्रपौत्रादिसन्तानको तो बड़े यत्नसे पालते और बढ़ाते हैं परन्तु दूसरोंकी सन्तानका घात करते हैं । न मालूम कि इसमें क्या हेतु है ? । **भावार्थ**—यह महामोहका (अज्ञानका) ही माहात्म्य है ॥ ४० ॥

परमाणोः परं नाल्पं न महद्गगनात्परं ।
यथा किञ्चित्तथा धर्मो नाहिंसालक्षणात्परः ॥ ४१ ॥

अर्थ—इस लोकमें जैसे परमाणुसे तो कोई छोटा वा अल्प नहिं है और आकाशसे कोई बड़ा नहीं है । इसी प्रकार अहिंसारूप धर्मसे बड़ा कोई धर्म नहीं है । यह जगत्प्रसिद्ध लोकोक्ति है । यथा-**" अहिंसा परमो धर्मः हिंसा सर्वत्र गर्हिता "** ॥ ४१ ॥

तपःश्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणां ।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ॥ ४२ ॥

अर्थ—तप, श्रुत (शास्त्रका ज्ञान), यम (महाव्रत), ज्ञान (बहुत जानना), ध्यान और दान करना तथा सत्यशील व्रतादिक जितने उत्तम कार्य हैं उन सबकी माता एक अहिंसाही है । अहिंसाव्रतके पालन विना उपर्युक्त गुणोंमेंसे एक भी नहिं होता इस कारण अहिंसाही समस्त धर्मकार्योंकी उत्पन्न करनेवाली माता है ॥ ४२ ॥

करुणार्द्रं च विज्ञानवासितं यस्य मानसम् ।
इन्द्रियार्थेषु निःसङ्गं तस्य सिद्धं समीहितम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस पुरुषका मन करुणासे आर्द्र (गीला) हो तथा विशिष्ट ज्ञानसहित हो और इन्द्रियोंके विषयोंसे दूर हो उसीको मनोवांछित कार्यकी सिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

निस्त्रिंश एव निस्त्रिंशं यस्य चेतोऽस्ति जन्तुषु ।
तपःश्रुताद्यनुष्ठानं तस्य क्लेशाय केवलम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—जिस पुरुषका चित्त जीवोंके लिये शस्त्रके समान निर्दय है उसका तप करना और शास्त्रका पढ़ना आदि कार्य केवल कष्टके लियेही होता है किंतु कुछ भलाईके लिये नहीं होता ॥ ४४ ॥

द्वयोरपि समं पापं निर्णीतं परमागमे ।
वधानुमोदयोः कर्त्रोरसत्संकल्पसंश्रयात् ॥ ४५ ॥

अर्थ—घातकरनेवाला और घातकरनेवालेकी प्रशंसा करनेवाला इन दोनोंका पाप परमागममें समानही निर्णय किया गया है। क्योंकि जैसे घात करनेवालेको जो पाप हुआ सोभी अशुभ परिणामोंसे हुआ है, उसी प्रकार भले जाननेवालेके भी अशुभ संकल्प हुए विना उसकी अनुमोदना नहिं हो सकती है; इसकारण हिंसा करने और उसको भला जाननेवालेको पाप बराबर लगता है॥ ४५ ॥

संकल्पाच्छालिमत्स्योऽपि स्वयंभूरमणार्णवे ।
महामत्स्याशुभेन स्वं नियोज्य नरकं गतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—देखो स्वयंभूरमणसमुद्रमें शालिमत्स्य महामत्स्यके परिणामोंसे अपने परिणाम मिलाकर नरकको गया। यह अन्य कोई हिंसा करै उसका जो आप अनुमोदन करै तो उसके संकलपमात्रसे उसीके समान पाप होनेका उदाहरण है॥ ४६

अहिंसैकाऽपि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम् ।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपःश्रुतयमोत्करः ॥ ४७ ॥

अर्थ—यह अहिंसा अकेली जीवोंको जो सुख, कल्याण वा अभ्युदय देती है वह तप, स्वाध्याय और यमनियमादि नहिं दे सकते हैं। क्योंकि धर्मके समस्त अंगोंमें अहिंसाही एक मात्र प्रधान है॥ ४७ ॥

दूयते यस्तृणेनापि स्वशरीरे कदर्थिते ।
स निर्दयः परस्याङ्गे कथं शस्त्रं निपातयेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने शरीरमें तिनका चुभनेपर भी अपनेको दुःखी हुआ मानता है वह निर्दय होकर परके शरीरपर शस्त्र कैसे चलाता है? यह बड़ा अनर्थ है॥ ४८ ॥

जन्मोग्रभयभीतानामहिंसैवौषधिः परा ।
तथाऽमरपुरीं गन्तुं पाथेयं पथि पुष्कलम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस संसाररूप तीव्र भयसे भयभीत होनेवाले जीवोंको यह अहिंसाही एक परम औषधि है। क्योंकि यह सबका भय दूर करती है तथा स्वर्ग जानेके लिये अहिंसाही मार्गमें अतिशय वा पुष्टिकारक पाथेयस्वरूप (भोजनादिकी सामग्री) है॥ ४९ ॥

किन्त्वहिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी ।
तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती ॥ ५० ॥

अर्थ—यह अहिंसा इतनीही नहीं है, किन्तु जीवोंको माताके समान रक्षा करनेवाली

और स्त्रीके समान चित्तको आनन्द देनेवाली है तथा सदुपदेश देनेके लिये सरस्वतीके समान है ॥ ९० ॥

स्वान्ययोरप्यनालोक्य सुखं दुःखं हिताहितम् ।
जन्तून् यः पातकी हन्यात्स नरत्वेऽपि राक्षसः ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो पापी नर अपने और अन्यके सुख दुःख वा हित अनहितको न विचार कर जीवोंको मारता है वह मनुष्यजन्ममें भी राक्षस है । क्योंकि मनुष्य होता तो अपना वा परका हिताहित विचारता ॥ ९१ ॥

अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम् ।
पश्यात्मसदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि– हे भव्य ! तू जीवोंके लिये अभयदान दे तथा उनसे प्रशंसनीय मित्रता कर और समस्त त्रस तथा स्थावर जीवोंको अपने समान देख ॥ ९२ ॥

जायन्ते भूतयः पुंसां याः कृपाक्रान्तचेतसाम् ।
चिरेणापि न ता वक्तुं शक्ता देव्यपि भारती ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिनका चित्त दयालु है उन पुरुषोंको जो सम्पदा होती हैं, उनका वर्णन सरस्वती देवी भी बहुतकालपर्यन्त करे तो भी उससे नहीं हो सकता फिर अन्यसे तो किया ही कैसे जा सकता है ! ॥ ९३ ॥

किं न तप्तं तपस्तेन किं न दत्तं महात्मना ।
वितीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिस महापुरुषने जीवोंको प्रीतिका आश्रय देकर अभयदान दिया उस महात्माने कौनसा तप नहिं किया और कौनसा दान नहिं दिया ! । अर्थात् उस महापुरुषने समस्त तप, दान किया । क्योंकि अभयदानमें सब तप, दान आजाते हैं ॥ ९४ ॥

यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम् ।
तथा तथा विवेकश्रीः परां प्रीतिं प्रकाशते ॥ ५५ ॥

अर्थ—पुरुषोंके हृदयमें जैसे जैसे करुणाभाव स्थिरताको प्राप्त करता है तैसे तैसे विवेकरूपी लक्ष्मी उससे परमप्रीति प्रगट करती रहती है । **भावार्थ**—करुणा (दया) विवेकको वढ़ाती है ॥ ९५ ॥

अन्ययोगव्यवच्छेदादहिंसा श्रीजिनागमे ।
परैश्च योगमात्रेण कीर्तिता सा यदृच्छया ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्के मार्गमें तो अहिंसा अन्ययोगव्यवच्छेदसे कही है । अर्थात् अन्यमतोंमें ऐसी अहिंसाका योगही नहीं है । इस जिनमतमें तो हिंसाका सर्वथा निषेधही

है और अन्यमतियोंने जो अहिंसा कही है सो योगमात्रसेही कही है। अर्थात् कहीं अहिंसा कही है और कहीं हिंसाका पोषण किया है, सो स्वेच्छापूर्वक उन्मत्तकी तरह कही है। **भावार्थ**—जिनागममें हिंसाका सर्वथा निषेध है किन्तु अन्यमतियोंने पागलके जैसे कहीं तो हिंसाका निषेध किया है और कहीं उसका पोषण किया है ॥ ५६ ॥

आर्या।

तन्नास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणम्।
यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण ॥ ५७ ॥

अर्थ—इस जीवलोकमें (जगतमें) जीवरक्षाके अनुरागसे मनुष्य समस्त कल्याणरूप पदको प्राप्त होते हैं। ऐसा कोई भी तीर्थंकर देवेन्द्र चक्रवर्तित्वरूप कल्याणपद लोकमें नहीं है जो दयावान् नहिं पावें। अर्थात् अहिंसा (दया) सर्वोत्तमपदकी देनेवाली है ॥ ५७ ॥

यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम्।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसासंभवं ज्ञेयम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—संसारमें जीवोंके जो कुछ दुःख शोक भयका बीज कर्म है तथा दुर्भाग्यादिक हैं वे समस्त एकमात्र हिंसासे उत्पन्न हुए जानो। **भावार्थ**—समस्त पापकर्मोंका मूल हिंसाही है ॥ ५८ ॥

अब अहिंसाका प्रकरण पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

स्रग्धरा।

ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रो हरिरमृतभुजां चण्डरोचिर्ग्रहाणाम्
कल्पाङ्घ्रिः पादपानां सलिलनिधिरपां स्वर्णशैलो गिरीणाम्।
देवः श्रीवीतरागस्त्रिदशमुनिगणस्यात्र नाथो यथाऽयम्
तद्वच्छीलव्रतानां शमयमतपसां विद्ध्यहिंसां प्रधानाम् ॥५९॥

अर्थ—हे भव्य जीव! जिस प्रकार ज्योतिश्चक्रोंमें प्रधान स्वामी चंद्रमा है तथा देवोंमें इन्द्र, ग्रहोंमें सूर्य, वृक्षोंमें कल्पवृक्ष, जलाशयोंमें समुद्र, पर्वतोंमें मेरु, और देवोंमें मुनियोंके नाथ (स्वामी) श्रीवीतराग देव प्रधान हैं उसी प्रकार शील और व्रतोंमें तथा शमभाव, यम (महाव्रत) और तपोंमें अहिंसाको प्रधान जानो। ऐसे अहिंसा महाव्रतका वर्णन किया गया ॥ ५९ ॥

दोहा।

रागादिक निश्चय कही, व्यवहारै परघात।
हिंसा त्यागैं जे जती, मेटैं सब उत्पात ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते अहिंसामहाव्रतप्रकरणं ॥ ८ ॥

अथ सत्यमहाव्रतस्वरूपम्।



आगे सत्य महाव्रतका वर्णन करते हैं,—

यः संयमधुरां धत्ते धैर्यमालम्ब्य संयमी।
स पालयति यत्नेन वाग्वने सत्यपादपम्॥ १॥

अर्थ—जो संयमी मुनि धैर्यावलंबन करके संयमकी धुराको (मुनिदीक्षाको) धारण करता है वह मुनि वचनरूपी वनमें सत्यरूपी वृक्षको यत्नके साथ पालन करता है॥ १॥

अहिंसाव्रतरक्षार्थं यमजातं जिनैर्मतम्।
नारोहति परां कोटिं तदेवासत्यदूषितम्॥ २॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्ने जो यमनियमादिव्रतोंका समूह कहा है वह एकमात्र अहिंसाव्रतकी रक्षाके लियेही कहा है। क्योंकि अहिंसाव्रत यदि असत्यवचनसे दूषित हो तो वह उत्कृष्टपदको प्राप्त नहिं होता। अर्थात् असत्य वचनके होनेसे अहिंसाव्रत पूर्ण नहिं होता॥ २॥

असत्यमपि तत्सत्यं यत्सत्त्वाशंसकं वचः।
सावद्यं यच्च पुष्णाति तत्सत्यमपि निन्दितम्॥ ३॥

अर्थ—जो वचन जीवोंका इष्ट हित करनेवाला हो वह असत्य हो तौ भी सत्य है और जो वचन पापसहित हिंसारूप कार्यको पुष्ट करता हो वह सत्यभी हो तो असत्य और निन्दनीय है॥ ३॥

अनेकजन्मजक्लेशशुद्ध्यर्थं यस्तपस्यति।
सर्वं सत्त्वहितं शश्वत्स ब्रूते सूनृतं वचः॥ ४॥

अर्थ—जो मुनि अनेक जन्ममें उत्पन्न क्लेशों (दुःखों) की शान्तिके लिये तपश्चरण करता है वह निरन्तर सत्यवचनही बोलता है। क्योंकि असत्यवचन बोलनेसे मुनिपन नहीं संभवता है॥ ४॥

सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम्।
अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं वचः शास्त्रे प्रशस्यते॥ ५॥

अर्थ—जो वचन सत्य हो, करुणासे व्याप्त हो, विरुद्ध न हो, आकुलतारहित हो, छोटे ग्रामोंकासा गँवारीवचन न हो और गौरवसहित हो अर्थात् जिसमें हलकापन नहीं हो वही वचन शास्त्रमें प्रशंसा किया गया है॥ ५॥

मौनमेव हितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।
वचो वाचि प्रियं तथ्यं सर्वसत्वोपकारि यत् ॥ ६ ॥

अर्थ—पुरुषोंको प्रथम तो समस्त प्रयोजनोंका सिद्ध करनेवाला निरंतर मौनही अवलंबन करना हितकारी है। और यदि वचन कहनाही पड़े तो ऐसा कहना चाहिये जो सबको प्यारा हो, सत्य हो और समस्त जनोंका हित करनेवाला हो ॥ ६ ॥

यो जिनैर्जगतां मार्गः प्रणीतोऽत्यन्तशाश्वतः ।
असत्यबलतः सोऽपि निर्दयैः कथ्यतेऽन्यथा ॥ ७ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र सर्वज्ञ देवाधिदेवने निजमतके जीवोंको जो अन्तरहित शाश्वत (सनातन, ध्रुव) मार्ग कहा है, उस मार्गको भी निर्दय पुरुषोंने असत्यके बलसे अन्यथा वर्णन किया है। **भावार्थ**—विषयी तथा कषायी पुरुष अपने विषयकषाय पुष्ट करनेके लिये उत्तम मार्गका भी उत्थापन करके कुमार्गको चलाते हैं। यह मिथ्यात्वका माहात्म्य है। संसारमें मिथ्यात्व बड़ा बलवान् है ॥ ७ ॥

विचर्च्यासत्यसंदोहं खलैर्लोकः खलीकृतः ।
कुशास्त्रैः स्वमुखोद्गीर्णैरुत्पाद्य गहनं तमः ॥ ८ ॥

अर्थ—दुष्ट निःसार पुरुषोंने असत्यके समूहका विशेष प्रकारसे आन्दोलन करके अपने कपोलकल्पित मिथ्याशास्त्रोंद्वारा गहन अज्ञानान्धकारको उत्पन्न करके इस जगतको दुष्ट वा निःसार बना दिया है। सो ठीक है, जो स्वार्थी होते हैं वे ऐसी ही दुष्टता करते हैं; किन्तु परके हिताहितमें कुछ भी विचार न करके जिस किसी प्रकारसे अपना स्वार्थ साधन करते हैं ॥ ८ ॥

जयन्ति ते जगद्वन्द्या यैः सत्यकरुणामये ।
अवञ्चकेऽपि लोकोऽयं पथि शश्वत्प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने इस लोकको सत्यरूप, करुणामय तथा वंचनारहित मार्गमें निरंतर चलाया वेही जयशाली हैं और वेही जगतमें वन्दनीय व पूजनीय हैं ॥ ९ ॥

असद्वदनवल्मीके विशाला विषसर्पिणी ।
उद्वेजयति वागेव जगदन्तर्विषोल्बणा ॥ १० ॥

अर्थ—दुष्ट पुरुषोंके मुखरूपी बांबीमें अन्तरंगमें विषसे उत्कृष्ट ऐसी विस्तीर्ण विषवाली जो असत्यवाणीरूपी सर्पिणी रहती है, वही जगत भरको दुःख देती है ॥ १० ॥

इन्द्रवंशा ।

न सास्ति काचिद्व्यवहारवर्तिनी न यत्र वाग्विस्फुरति प्रवर्तिका ।
ब्रुवन्नसत्यामिह तां हताशयः करोति विश्वव्यवहारविप्लवम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इस जगतमें व्यवहारमें प्रवर्तनेवाली वाणी ऐसी नहीं है कि जिसमें समस्त व्यवहारोंको सिद्ध करनेवाली स्याद्वादरूप सत्यार्थ वाणी स्फुरायमान न हो, किन्तु ऐसी स्याद्वाद-रूप सत्यार्थ वाणीको भी मिथ्यादृष्टी नष्टचित्तपुरुष असत्य कहते हुए समस्त व्यवहारका लोप करते हैं। **भावार्थ**—मिथ्यादृष्टी (सर्वथा एकान्ती) स्याद्वादका निषेध करते हैं अतएव वह नष्टाशय हैं। क्योंकि सर्वथा एकान्त असत्य है। उस असत्य वचनसे न तो लोकव्यवहारकी सिद्धि होती और न धर्मव्यवहारहीकी सिद्धि होती है। ऐसे असत्य वचनको कहते हुए मिथ्यादृष्टी समस्त व्यवहारोंका लोप करते हैं॥ ११ ॥

पृष्टैरपि न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कथंचन ।
वचः शङ्काकुलं पापं दोषाढ्यं चाभिसूयकम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जो वचन सन्देहरूप हो तथा पापरूप हो और दोषोंसे संयुक्त हो एवम् ईर्षाको उत्पन्न करनेवाला हो वह अन्यके पूछनेपरभी नहिं कहना चाहिये। तथा किसी प्रकार सुनना भी नहिं चाहिये । **भावार्थ**—निषिद्धवचनका प्रसंगभी नहिं करना चाहिये ॥ १२ ॥

मर्मच्छेदि मनःशल्यं च्युतस्थैर्यं विरोधकम् ।
निर्दयं च वचस्त्याज्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ १३ ॥

अर्थ—तथा मर्मका छेदनेवाला, मनमें शल्य उपजानेवाला, स्थिरतारहित (चंचल-रूप), विरोध उपजानेवाला, तथा दयारहित वचन कण्ठगतप्राण होनेपर भी नहिं बोलना चाहिये ॥ १३ ॥

धन्यास्ते हृदये येषामुदीर्णः करुणाम्बुधिः ।
वाग्वीचिसञ्चयोल्लासैर्निर्वापयति देहिनः ॥ १४ ॥

अर्थ—इस जगतमें वे पुरुष धन्य हैं जिनके हृदयमें करुणारूप समुद्र उदय होकर वचनरूप लहरोंके समूहोंके उल्लासोंसे जीवोंको शान्तिप्रदान करता है। **भावार्थ**—करुणारूप वचनोंको सुनकर दुःखी जीवभी सुखी हो जाते हैं ॥ १४ ॥

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तार्थविप्लवे ।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने ॥ १५ ॥

अर्थ—जहां धर्मका नाश हो, क्रिया विगड़ती हो तथा समीचीन सिद्धान्तका लोप होता हो उस जगह समीचीन धर्मक्रिया और सिद्धान्तके प्रकाशनार्थ विना पूछे भी विद्वानोंको बोलना चाहिये। क्योंकि यह सत्पुरुषोंका कार्य है ॥ १५ ॥

या मुहुर्मोहयत्येव विश्रान्ता कर्णयोर्जनम् ।
विषमं विषमुत्सृज्य साऽवश्यं पन्नगी न गीः ॥ १६ ॥

अर्थ—जो वाणी लोकके कानोंमें वारंवार पड़ी हुई तथा विषमविषको उगलती हुई जीवोंको मोहरूप करती है और समीचीनमार्गको भुलाती है वह वाणी नहीं है किन्तु सर्पिणी है। **भावार्थ**—जिन वचनोंको सुनतेही संसारी प्राणी उत्तम मार्गको छोड़कर कुमार्गमें पड़ जाँय वह वचन सर्पके समान हैं ॥ १६ ॥

असत्येनैव विक्रम्य चार्वाकद्विजकौलिकैः ।
सर्वाक्षपोषकं धूर्तैः पश्य पक्षं प्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अर्थ—इस असत्य वचनके प्रभावसेही चावार्क (नास्तिकमती) और ब्राह्मणकुल (मीमांसक आदि) पाखण्डियोंने सत्यार्थ मार्गसे च्युत होकर समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको पोषनेवाला अपना पक्ष (मत) स्थापन किया है ॥ १७ ॥

मन्ये पुरजलावर्त्तप्रतिमं तन्मुखोदरम् ।
यतो वाचः प्रवर्त्तन्ते कश्मलाः कार्यनिष्फलाः ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूं कि चार्वाक आदि अन्यमती तथा अन्य अनेक असत्य वादियोंके मुखका जो छिद्र है वह नगरके जल निकलनेके पौनाले (मोरी) के समान है। क्योंकि जैसे नगरके पौनालेका जल मैला होता है तथा किसीके कामका नही होता। तैसेही उनके मुखसे जो वचन निकलते हैं वेभी मलीन हैं, व कार्यसे शून्य और निःसार हैं ॥ १८ ॥

प्राप्नुवन्त्यतिघोरेषु रौरवादिषु संभवम् ।
तिर्यक्ष्वथ निगोदेषु मृषावाक्ये देहिनः ॥ १९ ॥

अर्थ—इस असत्यवचनसे प्राणी अतितीव्र रौरवादि नरकोंके विलोंमें तथा तिर्यग्योनि एवम् निगोदमें उत्पन्न हुए दुःखोंको प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

न तथा चन्दनं चन्द्रो मणयो मालतीस्रजः ।
कुर्वन्ति निर्वृतिं पुंसां यथा वाणी श्रुतिप्रिया ॥ २० ॥

अर्थ—जीवोंको जिसप्रकार कर्णप्रिय वाणी सुखी करती है उस प्रकार चन्दन, चंद्रमा, चन्द्रमणि मोती तथा मालतीके पुष्पोंकी माला आदि शीतल पदार्थ सुखी नहिं कर सक्ते हैं। यह प्रसिद्ध लोकोक्ति है ॥ २० ॥

अपि दावानलप्लुष्टं शाड्वलं जायते वनम् ।
न लोकः सुचिरेणापि जिह्वानलकदर्थितः ॥ २१ ॥

अर्थ—दावानल अग्निसे दग्ध हुआ वन तो किसी कालमें हरित (हरा) होभी जाता है, परन्तु जिह्वारूपी अग्निसे (कठोर मर्मच्छेदी वचनोंसे) पीडित हुआ लोक बहुतकाल बीत जानेपरभी हरित (प्रसन्नमुख) नहिं होता। **भावार्थ**—दुर्वचनका दाग मिटना कठिन है ॥ २१ ॥

सर्वलोकप्रिये तथ्ये प्रसन्ने ललिताक्षरे ।
वाक्ये सत्यपि किं ब्रूते निकृष्टः परुषं वचः ॥ २२ ॥

अर्थ—जो वचन सर्वलोकको प्रिय, सत्य तथा प्रसन्न करनेवाले व ललिताक्षरवाले हैं उनके होते हुए भी नीचपुरुष कठोर वचन किसलिये कहते हैं सो मालूम नहिं होता है ? ॥ २२ ॥

सतां विज्ञाततत्त्वानां सत्यशीलावलम्बिनाम् ।
चरणस्पर्शमात्रेण विशुद्धयति धरातलम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो महापुरुष सत्यवचन बोलनेवाले हैं, तत्वोंके यथार्थ स्वरूपको जानते हैं, और सत्यशीलादिके अवलंबी हैं उनके चरणोंके स्पर्शमात्रसे यह धरातल पवित्र होता है। ऐसेही लोग उत्तम पुरुष हैं। और जो असत्य बोलते हैं वेही नीच हैं ॥ २३ ॥

यमव्रतगुणोपेतं सत्यश्रुतसमन्वितम् ।
यैर्जन्म सफलं नीतं ते धन्या धीमतां मताः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने अपना जन्म यमव्रतादि गुणोंसे युक्त सत्यशास्त्रोंके अध्ययनपूर्वक सफल किया है वेही धन्य और विद्वानोंके द्वारा पूजनीय हैं ॥ २४ ॥

नृजन्मन्यपि यः सत्यप्रतिज्ञाप्रच्युतोऽधमः ।
स केन कर्मणा पश्चाज्जन्मपङ्कात्तरिष्यति ॥ २५ ॥

अर्थ—जो अधम पापी नीचपुरुष मनुष्यजन्म पाकरभी सत्यप्रतिज्ञासे रहित है, वह पापी फिर संसाररूप कर्दमसे किस कार्यसे पार होगा ? । **भावार्थ**—तरनेका अवसर तो मनुष्यजन्मही है। इसमे ही धर्माचरण तथा प्रतिज्ञादि वन सकते हैं। इसके चलेजानेपर फिर तरनेका अवसर प्राप्त होना कठिन है; अतएव मनुष्यजन्मको सत्यशीलादिसे सफल करना चाहिये ॥ २५ ॥

अदयैः संप्रयुक्तानि वाक्छस्त्राणीह भूतले ।
सद्यो मर्माणि कृन्तन्ति शितास्त्राणीव देहिनाम् ॥ २६ ॥

अर्थ—निर्दय पुरुषोंके द्वारा चलाये हुए वचनरूप शस्त्र इस पृथिवीतलपर जीवोंके मर्मको तीक्ष्णशस्त्रोंके समान तत्काल छेदन करते हैं, । क्योंकि असत्य वचनके समान दूसरा कोईभी शस्त्र नहीं है ॥ २६ ॥

व्रतश्रुतयमस्थानं विद्याविनयभूषणम् ।
चरणज्ञानयोर्बीजं सत्यसंज्ञं व्रतं मतम् ॥ २७ ॥

अर्थ—यह सत्यनामा व्रत व्रत, श्रुत और यमोंका तो स्थान है, तथा विद्या

और विनयका भूषण है । क्योंकि विद्या और विनय सत्यवचनहीसे शोभाको प्राप्त होते हैं । और सम्यक्चारित्र तथा सम्यग्ज्ञानका बीज उत्पन्न करनेका कारण सत्यवचनही है ॥ २७ ॥

न हि सत्यप्रतिज्ञस्य पुण्यकर्मावलम्बिनः ।
प्रत्यूहकरणे शक्ता अपि दैत्योरगादयः ॥ २८ ॥

अर्थ—सत्यप्रतिज्ञावाले पुण्यकर्मावलंबी पुरुषका दुष्ट दैत्य तथा सर्पादिक कुछ भी बुरा करनेको समर्थ नहिं हो सक्ते हैं ॥ २८ ॥

चन्द्रमूर्तिरिवानन्दं वर्द्धयन्ती जगत्त्रये ।
स्वर्गिभिर्ध्रियते मूर्ध्ना कीर्त्तिः सत्योत्थिता नृणां ॥ २९ ॥

अर्थ—तीन लोकमें चन्द्रमाके समान आनंदको बढ़ानेवाली सत्यवचनसे उत्पन्न हुई मनुष्योंकी कीर्तिको देवता भी मस्तकपर धारण करते हैं ॥ २९ ॥

खण्डितानां विरूपाणां दुर्विधानां च रोगिणाम् ।
कुलजात्यादिहीनानां सत्यमेकं विभूषणं ॥ ३० ॥

अर्थ—जिनके हाथ नाक आदि अवयव कटे हों तथा जो विरूप हों, और जो दरिद्री तथा रोगी हों वा कुलजात्यादिसे हीन हों उनका भूषण सत्यवचन बोलनाही है । अर्थात् यही उनकी शोभा करनेवाला है । क्योंकि जो उक्त समस्त बातोंसे हीन और सत्यवचन बोलता हो, उसकी सब कोई प्रशंसा करते हैं ॥ ३० ॥

यस्तपस्वी जटी मुण्डो नग्नो वा चीवरावृतः ।
सोऽप्यसत्यं यदि ब्रूते निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो तपस्वी हो, जटाधारी हो, मस्तक मुँडाये हो अथवा नग्न (दिगम्बर) हो, वा वस्त्रधारी हो और असत्य बोलता हो तो वह चंडालसेभी बुरा और अतिशय निंदनीय है ॥ ३१ ॥

कुटुम्बं जीवितं वित्तं यद्यसत्येन वर्द्धते ।
तथापि युज्यते वक्तुं नासत्यं शीलशालिभिः ॥ ३२ ॥

अर्थ—यदि असत्य वचनसे अपने कुटुंब, जीवन और धनकी वृद्धि हो तौ भी; शीलसे शोभित पुरुषोंको असत्यवचन कहना उचित नहीं है ॥ ३२ ॥

एकतः सकलं पापं असत्योत्थं ततोऽन्यतः ।
साम्यमेव वदन्त्यार्यास्तुलायां धृतयोस्तयोः ॥ ३३ ॥

अर्थ—आर्य पुरुषोंने तराजूमें एक तरफ तो समस्त पापोंको रक्खा और एक तरफ

असत्यसे उत्पन्न हुए पापको रखकर तौला तो दोनो समान हुए। भावार्थ—असत्य अकेलाही समस्त पापोंके बराबर है ॥ ३३ ॥

मूकता मतिवैकल्यं मूर्खता बोधविच्युतिः।
बाधिर्यं मुखरोगित्वमसत्यादेव देहिनाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—गूंगापन, बुद्धिकी विकलता, मूर्खता, अज्ञानता, बधिरता तथा मुखमें रोग होना इत्यादि जो सबही जीवोंके होते हैं वे असत्यवचन बोलनेके पापहीसे होते हैं ॥ ३४ ॥

श्वपाकोलूकमार्जारवृकगोमायुमण्डलाः।
स्वीक्रियन्ते क्वचिल्लोकैर्न सत्यच्युतचेतसः ॥ ३५ ॥

अर्थ—चण्डाल, उल्लू (घूघू), बिलाव, भेड़िया और कुत्ता आदि यद्यपि निंदित हैं तथापि इन्हें अनेक लोग अंगीकार करते हैं; परन्तु असत्यवादियोंको कोई अंगीकार नहीं करता अतएव असत्यवादी इन सबसे भी अधिक निंदनीय है ॥ ३५ ॥

प्रसन्नोन्नतवृत्तानां गुणानां चन्द्ररोचिषां।
सङ्घातं घातयत्येव सकृदप्युदितं मृषा ॥ ३६ ॥

अर्थ—एकबार भी बोला हुआ अयत्यवचन चन्द्रमाकी किरणोंके समान प्रसन्न (निर्मल) तथा उन्नत गुणोंके समूहको नष्ट करता है। भावार्थ—असत्य वचन ऐसा मलिन है कि चंद्रवत् निर्मल गुणोंको भी मलिन कर देता है ॥ ३६ ॥

न हि स्वप्नेऽपि संसर्गमसत्यमलिनैः सह।
कश्चित्करोति पुण्यात्मा दुरितोल्मुकशङ्कया ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो असत्यसे मलिन पुरुष हैं उनके साथ पापरूप कालिमाके भयसे कोई पुण्यात्मा पुरुष स्वप्नमें भी साक्षात् (मुलाकात) नहिं करते। भावार्थ—झूठेकी संगतसे सच्चेको भी कालिमा लगती है ॥ ३७ ॥

जगद्वन्द्ये सतां सेव्ये भव्यव्यसनशुद्धिदे।
शुभे कर्मणि योग्यः स्यान्नासत्यमलिनो जनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जगतके वंदनीय, सत्पुरुषोंके पूजनीय, संसारके कष्ट आपदाओंसे शुद्धिके देनेवाले शुभ कार्योंमें असत्यसे मैले पुरुष योग्य नहिं गिने जाते। भावार्थ—शुभकार्योंमें झुठेका अधिकार नहीं है ॥ ३८ ॥

महामतिभिर्निष्ठ्यूतं देवदेवैर्निषेधितम्।
असत्यं पोषितं पापैर्दुःशीलाधमनास्तिकैः ॥ ३९ ॥

अर्थ—बड़े २ बुद्धिमानोंने तो असत्य वचनको त्याग दिया है और देवाधिदेव सर्वज्ञ वीतरागने इसका निषेध किया है किन्तु खोटे स्वभाववाले नीच नास्तिक पापियोंने इसका

दोहा ।

सत्यवचन संसारमें, करै सकल कल्यान ।
मुनि पालै पूरण इसे, पावै मोक्षनिधान ॥ १ ॥

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते सत्यमहाव्रतं नाम नवमं प्रकरणं ॥ ९ ॥

अथ अस्तेयमहाव्रतप्रकरणम् ।

अस्तेय महाव्रतका वर्णन करते हैं,—

अनासाद्य व्रतं नाम तृतीयं गुणभूषणम् ।
नापवर्गपथि प्रायः क्वचिद्धत्ते मुनिः स्थितिम् ॥ १ ॥

र्थ—मुनि गुणोंका भूषणस्वरूप तीसरे अस्तेयनामा महाव्रतको अंगीकार नहिं करे गेमें प्रायः कहींभी स्थिरताको प्राप्त नहिं होता ॥ १ ॥

यः समीप्सति जन्माब्धेः पारमाक्रमितुं सुधीः ।
स त्रिशुद्ध्यातिनिःशङ्को नादत्ते कुरुते मतिं ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरुष संसारसमुद्रसे पार होनेकी इच्छा रखता है वह सुबुद्धि निःशंक य) होकर मनवचनकायसे अदत्त (विना दीहुई) वस्तुके ग्रहण करनेकी इच्छा ा ॥ २ ॥

वित्तमेव मतं सूत्रे प्राणा बाह्याः शरीरिणाम् ।
तस्यापहारमात्रेण स्युस्ते प्रागेव घातिताः ॥ ३ ॥

अर्थ—धन शास्त्रोंमें जीवोंका बाह्यप्राण कहा गया है. इसकारण, उस धनका हरण ते जीवोंके प्राण घातित हो जाते हैं । **भावार्थ**—यदि किसीने किसीका धन हरण तो उसने उसके प्राणही हरे ऐसा समझना चाहिये । इस चोरीका करनाभी े ॥ ३ ॥

गुणा गौणत्वमायान्ति यान्ति विद्या विडम्बनाम् ।
चौर्येणाकीर्तयः पुंसां शिरस्याद्धते पदं ॥ ४ ॥

र्थ—चोरी करनेवालेके गुण तो गौणताको प्राप्त हो जाते हैं तथा विद्या विडंब- होती है और अकीर्तियें (निंदायें) मस्तकपर पग धरती हैं । **भावार्थ**—चोरी रुषके गुणको कोई भी नहिं गाता है तथा शास्त्र पढ़ना आदि विद्यायें विपरीत हो और अकीर्तिका टीका ललाटपर लगाना पड़ता है ॥ ४

पुण्यानुष्ठानजातानि प्रणश्यन्तीह देहिनाम् ।
परवित्तामिषग्रासलालसानां धरातले ॥ ५ ॥

अर्थ—इस पृथिवीमें परधनरूपी मांसके ग्रासमें आसक्त जनोंके पुण्यरूप आचरणोंके समूह इसी लोकमें नष्ट हो जाते हैं । **भावार्थ**–चोरी करनेवालेके आचरण उत्तम नहिं रहते ॥ ५ ॥

परद्रव्यग्रहार्त्तस्य तस्करस्येह निर्द्दया ।
गुरुबन्धुसुतान्हन्तुं प्रायः प्रज्ञा प्रवर्त्तते ॥ ६ ॥

अर्थ—परद्रव्यका ग्रह कहिये ग्रहण करना अथवा परद्रव्यरूपी पिशाचसे पीड़ित चोरके गुरु, भाई और पुत्रको मार डालनेकी निर्दयरूप इच्छा प्रायः हो जाया करती है । **भावार्थ**–चोरको किसीको मारनेमें दया नहिं होती ॥ ६ ॥

हृदि यस्य पदं धत्ते परवित्तामिषस्पृहा ।
करोति किं न किं तस्य कण्ठलग्नेव सर्पिणी ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके हृदयमें परधनरूप मांसभक्षणकी इच्छा स्थान पालेती है वह उसके कंठमें लगीहुई सर्पिणीके समान है, और वह क्या क्या इच्छा नहिं करती ? अर्थात् सबही अनिष्ट करती है ॥ ७ ॥

चुराशीलं विनिश्चित्य परित्यजति शङ्किता ।
वित्तापहारदोषेण जनन्यपि सुतं निजम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसका स्वभाव चोरी करनेका हो जाता है ऐसे अपने पुत्रको माताभी यह जानकर अपने धन हरेजानेके भयसे भयभीत होकर छोड़ देती है । अन्यकी तो कथाही क्या ? ॥ ८ ॥

भ्रातरः पितरः पुत्राः स्वकुल्या मित्रबान्धवाः ।
संसर्गमपि नेच्छन्ति क्षणार्द्धमिह तस्करैः ॥ ९ ॥

अर्थ—भाई, पिता, पुत्र, कुटुंबी–निजस्त्री, मित्र तथा हितू आदि कोईभी चोरका संसर्ग क्षणभरके लिये नहिं चाहते, अर्थात् चोरका कोईभी सगा (संघाती) नहिं होता ॥९॥

न जने न वने चेतः स्वस्थं चौरस्य जायते ।
मृगस्येवोद्धतव्याधादाशङ्क्य वधमात्मनः ॥ १० ॥

अर्थ—चोरका चित्त न तो मनुष्योंमें बैठनेपर स्थिर रहता है और न वनहीमें निश्चिन्त रहता है. जैसे किसी मृगके पीछे शिकारी लग जाय तो अपना घात होनेके भयसे उसका चित्त ठिकाने नहिं रहता, उसी प्रकार चोरकोभी अपने पकड़े जानेका भय निरंतर रहा करता है ॥ १० ॥

संत्रासोद्भ्रान्तचेतस्कश्चौरो जागर्त्यहर्निशम् ।
वध्येयात्र म्रियेयात्र मार्येयात्रेति शङ्कितः ॥ ११ ॥

अर्थ—मैं यहां पकड़ा जाऊंगा या मारा जाऊंगा तथा यहांपर पीटा जाऊंगा इत्यादि आकुलतासे पागलसा होकर चोर रातदिन जागता रहता है, अर्थात् सचेत रहता है अतः कभी असावधान नहिं रहता ॥ ११ ॥

नात्मरक्षां न दाक्षिण्यं नोपकारं न धर्मतां ।
न सतां शंसितं कर्म चौरः स्वप्नेऽपि बुद्ध्यति ॥ १२ ॥

अर्थ—चोर अपनी रक्षाको नहिं जानता सब चतुराई भूल जाता है, वह परोपकार तथा धर्मकोभी नहिं जानता और न सत्पुरुषोंके करने योग्य कार्योंकोही स्वप्नमें याद करता है। **भावार्थ**—चोरका चित्त निरन्तर चोरी करनेमें और भयमें मग्न रहता है, उसे उत्तमकार्य करनेका अवसर कैसे मिले ? ॥ १२ ॥

गुरवो लाघवं नीता गुणिनोऽप्यत्र खण्डिताः ।
चौरसंश्रयदोषेण यतयो निधनं गताः ॥ १३ ॥

अर्थ—इस लोकमें चोरकी संगतिसे बड़े २ महापुरुष तो लघुताको प्राप्त हुए तथा गुणी पुरुष खंडित किये गये और मुनिगणभी मारे गये। **भावार्थ**—चोरका संसर्गमात्र भी महादुःखदायक है ॥ १३ ॥

तृणाङ्कुरमिवादाय घातयन्त्यविलम्बितम् ।
चौरं विज्ञाय निःशङ्कं धीमन्तोऽपि धरातले ॥ १४ ॥

अर्थ—इस पृथिवीतलमें चोर जाननेपर बुद्धिमान् पुरुष भी तत्काल उसे तृणांकुरके समान पकड़कर निःशंक हो मारने पीटने लग जाते हैं। **भावार्थ**—चोरपर कोईभी दया नहिं करता ॥ १४ ॥

विशन्ति नरकं घोरं दुःखज्वालाकरालितं ।
अमुत्र नियतं मूढाः प्राणिनश्चौर्यचर्विताः ॥ १५ ॥

अर्थ—चोरी करनेवाले मूढ पुरुष परलोकमें दुःखरूपी ज्वालासे भयानक घोर नरकमें नियमपूर्वक प्रवेश करते हैं ॥ १५ ॥

सरित्पुरगिरिग्रामवनवेश्मजलादिषु ।
स्थापितं पतितं नष्टं परस्वं त्यज सर्वथा ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन् ! नदी, नगर, पर्वत, ग्राम, वन, घर तथा जल इत्यादिमें रक्खेहुए, गिरेहुए तथा नष्ट हुए धनको मन—वचन—कायसे ग्रहण करना छोड़ ॥ १६ ॥

चिदचिद्रूपतापन्नं यत्परस्वमनेकधा ।
तत्त्याज्यं संयमोद्दामसीमासंरक्षणोद्यमैः ॥ १७ ॥

अर्थ—परधनके दो भेद हैं. एक चेतन, दूसरा अचेतन. चेतन तो दासी, दास, पुत्र, पौत्र, स्त्री, गौ, महिष तथा घोड़े आदि हैं. और अचेतन धन धान्य, सुवर्णादि हैं । वे अनेक प्रकारके हैं । अतः यदि संयमकी उत्तम मर्यादा (प्रतिज्ञा) की रक्षा करनी हो तो उनको अवश्य छोड़ना योग्य है. अर्थात् परद्रव्य कुछभी नहिं लेना चाहिये ॥ १८ ॥

आस्तां परधनादित्सां कर्तुं स्वप्नेऽपि धीमताम् ।
तृणमात्रमपि ग्राह्यं नादत्तं दन्तशुद्धये ॥ १८ ॥

अर्थ—बुद्धिमानोंको परधन ग्रहण करनेकी इच्छा करनी तो स्वप्नमेंभी दूर रहे; किन्तु दन्त धोनेको तृण (दांतोन) भी विना दिया हुआ परका ग्रहण करना योग्य नहीं है ॥ १८ ॥

आर्या ।

अतुलसुखसिद्धिहेतो,-र्धर्मयशश्चरणरक्षणार्थं च ।
इह परलोकहितार्थं, कलयत चित्तेऽपि मा चौर्यम् ॥ १९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि—हे भव्य जीवो ! तुम इस चोरीको उपर्युक्त प्रकारसे निंद्य जानकर अतुल्य सुखकी सिद्धिके लिये; एवम् धर्म, यश और चारित्रकी रक्षाके लिये तथा उभय लोकमें हितके लिये चित्तमेभी इसे मत विचारो । अर्थात् चोरी करना तो दूर रहा, इसको चित्तमेंभी न लाओ ॥ १९ ॥

अब इस अधिकारको पूर्ण करते हुए कहते हैं।—

मालिनी ।

विषयविरतिमूलं संयमोद्दामशाखम्
यमदलशमपुष्पं ज्ञानलीलाफलाढ्यम् ।
विबुधजनशकुन्तैः सेवितं धर्मवृक्षं
दहति मुनिरपीह स्तेयतीव्रानलेन ॥ २० ॥

अर्थ—जिस धर्मरूपी वृक्षकी जड़ विषयोंसे विरक्त होना है. जिसकी संयमरूपी बड़ी शाखायें हैं, यम नियमादि पत्र हैं, उपशम-भाव पुष्प हैं. ज्ञानानन्दरूपी फलोंसे भरा है, और जो पंडित तथा देवतारूपी पक्षियोंसे सेवित है; ऐसे धर्मरूपी वृक्षको मुनिभी चोरीरूपी तीव्र अग्निसे जला देता है तो अन्य साधारणकी तो कथा ही क्या ? इस कारण चोरीका संसर्ग करनाभी महापाप है । इस प्रकार अस्तेयमहाव्रतका वर्णन किया गया ॥ २० ॥

सोरठा।

जो अदत्त कछु लेत, ताको सगो न कोइ है।
गुणनि जलांजलि देत, नरकवास परभव लहै ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे अस्तेय-महाव्रतप्रकरणम् ॥ १० ॥

अथ ब्रह्मचर्यमहाव्रतप्रकरणं ।



आगे ब्रह्मचर्यमहाव्रतका निरूपण करते हैं—

**विन्दन्ति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः ।
तद्व्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्धीरधौरेयगोचरम् ॥ १ ॥**

अर्थ—जिस व्रतका आलंबन करके योगीगण परब्रह्म परमात्माको जानते हैं अर्थात् उसे अनुभवते हैं. और जिसको धीरवीर पुरुषही धारण कर सकते हैं। किन्तु सामान्य मनुष्य धारण नहिं कर सकते, वह ब्रह्मचर्य नामका महाव्रत है ॥ १ ॥

**सप्रपञ्चं प्रवक्ष्यामि ज्ञात्वेदं गहनं व्रतम् ।
स्वल्पोऽपि न सतां क्लेशः कार्योऽस्यालोक्य विस्तरम् ॥ २ ॥**

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं इस व्रतको गहन जानकर विस्तारके साथ कहूंगा, परन्तु सत्पुरुषोंको इसके विस्तारको देखकर स्वल्पभी क्लेश न करना चाहिये ॥ २ ॥

**एकमेव व्रतं श्लाघ्यं ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये ।
यद्विशुद्धिं समापन्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥ ३ ॥**

अर्थ—इन तीन जगतोंमें ब्रह्मचर्यनामका व्रत ही प्रशंसा करने योग्य है. क्योंकि जिन पुरुषोंने इस व्रतकी निर्मलता निरतिचारतापूर्वक प्राप्त की है वे पूज्य पुरुषोंके द्वारा भी पूजे जाते हैं। **भावार्थ**—अर्हन्त भगवान् ब्रह्मचर्यकी पूर्णताको प्राप्त हुए हैं, अतः उनकी पूजा मुनि और गणधरादिक सबही पूज्य पुरुष करते हैं ॥ ३ ॥

**ब्रह्मव्रतमिदं जीयाच्चरणस्यैव जीवितम् ।
स्युः सन्तोऽपि गुणा येन विना क्लेशाय देहिनाम् ॥ ४ ॥**

अर्थ—आचार्य महाराज आशीर्वादपूर्वक कहते हैं कि–यह ब्रह्मचर्यनामा महाव्रत जयवन्त हो। क्योंकि यह चारित्रका तो एकमात्र जीवन है और इसके विना अन्य जितने गुण हैं वे सब जीवोंको क्लेशकेही कारण होते हैं ॥ ४ ॥

**नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाक्षनिर्जितैः ।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥ ५ ॥**

अर्थ—जो अल्पशक्ति पुरुष हैं, शीलरहित हैं, दीन हैं और इन्द्रियोंसे जीते गये हैं वे इस ब्रह्मचर्यको धारण करनेको स्वप्नमें भी समर्थ नहीं होसकते हैं. अर्थात् बड़ी शक्तिके धारक पुरुषही ऐसे कठिनव्रतके आचरण करनेके लिये समर्थ होते हैं ॥ ५ ॥

अब इस ब्रह्मचर्यको धारण करनेवालोंके त्यागने योग्य दश प्रकारके मैथुनको कहते हैं,—

पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम् ।
योषित्संगाद्विरक्तेन त्याज्यमेव मनीषिणा ॥ ६ ॥

अर्थ—इस ब्रह्मचर्य व्रतका प्रतिपक्षी मैथुन (कामसेवन) है । सो दशप्रकारका है। और अन्तमें विरस है । इस कारण जो पुरुष स्त्रीसे विरक्त हैं तथा बुद्धिमान् हैं उनको अवश्यही त्यागना योग्य है ॥ ६ ॥

उन दशप्रकारके मैथुनोंके नाम तीन श्लोकोंसे कहते हैं,—

आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम् ।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संसर्गस्तुर्यमिष्यते ॥ ७ ॥
योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्त्तितम् ।
तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतम् ॥ ८ ॥
पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् ।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम् ॥ ९ ॥

अर्थ—प्रथम तो शरीरका संस्कार करना (शृंगारादि करना) १, दूसरा—पुष्टरसका सेवन करना २, तीसरा—तौर्यत्रिक कहिये गीतनृत्यवादित्रका देखना सुनना ३, चौथा—स्त्रीका संसर्ग करना ४, पांचवां—स्त्रीमें किसी प्रकारका संकल्प वा विचार करना ५, छट्ठा—स्त्रीके अंग देखना ६, सातवां—उस देखनेका संस्कार (हृदयमें अंकित) रहना ७, आठवां—पूर्वमें किये हुए संभोगका स्मरण करना ८, नवां—आगामी भोगनेकी चिन्ता करनी ९ और दशवां शुक्रका क्षरण १० । इस प्रकार मैथुनके दश भेद हैं. इन्हे ब्रह्मचारीको सर्वथा त्यागना चाहिये ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

किम्पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् ।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥ १० ॥

अर्थ—जिस प्रकार किंपाकफल (इन्द्रायणका फल) देखने, सूंघने और खानेमें रमणीय (सुस्वादु) है, और विपाक होनेपर हालाहल (विष) का काम करता है; उसी प्रकार यह मैथुन भी कुछ कालपर्यन्त रमणीक वा सुखदायक मालूम होता है; परन्तु विपाकसमयमें (अन्तमें) बहुतही भयका देनेवाला है ॥ १० ॥

विरज्य कामभोगेषु ये ब्रह्म समुपासते ।
एते दश महादोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये ॥ ११ ॥

अर्थ—जो पुरुष काम और भोगोंमें विरक्त होकर ब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं उनको भावशुद्धिके लिये उपर्युक्त दश प्रकारके मैथुन त्याग देने चाहिये । क्योंकि इन दोषोंके त्यागे विना भावोंकी शुद्धि नहिं होती ॥ ११ ॥

अब और भी विशेषतासे कहते हैं,—

स्मरप्रकोपसंभूतान्स्त्रीकृतान्मैथुनोत्थितान् ।
संसर्गप्रभवान्ज्ञात्वा दोषान् स्त्रीषु विरज्यताम् ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! कामके प्रकोपसे उत्पन्न हुए दोषों तथा स्त्रीके किये दोषों और मैथुनकृत दोषों तथा संसर्गजन्य दोषोंको जानकर स्त्रियोंसे विरक्त हो ॥ १२ ॥

अब प्रथमही कामका प्रकोप होनेसे जो दोष होते हैं उनका वर्णन करते हैं,—

सिक्तोऽप्यम्बुधरव्रातैः प्लावितोऽप्यम्बुराशिभिः ।
न हि त्यजति संतापं कामवह्निप्रदीपितः ॥ १३ ॥

अर्थ—कामरूपी अग्निका ताप ऐसा होता है कि वह प्रज्वलित होनेपर मेघके समूहोंसे सिंचन होनेपर भी दूर नहिं होता । अथवा कामाग्निसे प्रज्वलित पुरुषको समुद्रमें डुवा रक्खो तौ भी सन्ताप दूर नहिं होता ॥ १३ ॥

मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि भास्करः ।
न प्लोषति तथा लोकं यथा दीप्तः स्मरानलः ॥ १४ ॥

अर्थ—कामरूप अग्नि प्रज्वलित होकर जिस प्रकार लोकको सन्तापित करती है उस प्रकार जेठमहीनेके मूलनक्षत्रमें वादलरहित आकाशमें प्रकाशमान मध्यान्हका सूर्यभी नहिं कर सकता ॥ १४ ॥

हृदि ज्वलति कामाग्निः पूर्वमेव शरीरिणाम् ।
भस्मसात्कुरुते पश्चादङ्गोपाङ्गानि निर्दयः ॥ १५ ॥

अर्थ—कामरूपी निर्दय अग्नि प्रथम तो जीवोंके हृदयमें प्रज्वलित होती है, तत्पश्चात् जब वृद्धिको प्राप्त होती है तब शरीरके अंग उपांगोंको भस्म कर देती है । अर्थात् सुखा देती है ॥ १५ ॥

अचिन्त्यकामभोगीन्द्रविषव्यापारमूर्छितम् ।
वीक्ष्य विश्वं विवेकाय यतन्ते योगिनः परं ॥ १६ ॥

अर्थ—जो परम योगी हैं वे इस लोकको अचिन्त्य कामरूपी सर्पके विषकी क्रियासे

मूर्छित हुआ देखकरही अपने आत्मस्वरूपके भेदविज्ञानार्थ यत्न करते हैं। **भावार्थ**–इस कामसे योगीश्वरही बचे हैं ॥ १६ ॥

स्मरव्यालविषोद्गारैर्वीक्ष्य विश्वं कदर्थितम् ।
यमिनः शरणं जग्मुर्विवेकविनतासुतम् ॥ १७ ॥

अर्थ—कामरूपी सर्पके विषोद्गारसे पीडित समस्त जगतको देखकर संयमी मुनिगण विवेकरूपी गरुडकी शरणमें प्राप्त हुए हैं। **भावार्थ**–कामसे बचनेका उपाय विवेक अर्थात् भेदज्ञानही है ॥ १७ ॥

एक एव स्मरो वीरः स चैकोऽचिन्त्यविक्रमः ।
अवज्ञयैव येनेदं पादपीठीकृतं जगत् ॥ १८ ॥

अर्थ–इस जगतमें वीर एकमात्र कामही है, और वह अद्वितीय है। क्योंकि जिसका अचिन्त्य पराक्रम है, जिसने अवज्ञामात्रसे इस जगतको अपने पावोंतले दबालिया है; अर्थात् वशीभूत कर लिया है। जैसे–कोई किसीको तिरस्कारमात्र कर वश करले उसीप्रकार वश कर लिया है ॥ १८ ॥

एकाक्यपि नयत्येष जीवलोकं चराचरम् ।
मनोभूर्भङ्गमानीय स्वशक्त्याऽव्याहतक्रमः ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसका पराक्रम अव्याहत अर्थात् अखण्डित है ऐसा यह काम अकेलाही इस चराचरस्वरूप जगतको अपनी शक्तिसे भंगताको प्राप्त किये है। अर्थात् भिन्न २ को अपने मार्गमें चलाता है ॥ १९ ॥

पीडयत्येव निःशङ्को मनोभूर्भुवनत्रयम् ।
प्रतीकारशतेनापि यस्य भङ्गो न भूतले ॥ २० ॥

अर्थ—यह काम निर्भय होकर इस तीन भुवनको पीड़ित (दुःखित) करता है और इस पृथिवीपर सैकड़ों उपाय करनेपर भी इसका भंग (नाश) नहिं होता ॥ २० ॥

कालकूटादहं मन्ये स्मरसंज्ञं महाविषम् ।
स्यात्पूर्वं सप्रतीकारं निःप्रतीकारमुत्तरम् ॥ २१ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि–इस कामस्वरूपी विषको मैं कालकूट (हलाहल) विषसे भी महाविष मानता हूं। क्योंकि पहिला जो कालकूट विष है वह तो उपाय करनेसे मिट जाता है; परन्तु दूसरा जो कामरूपी विष है वह उपायरहित है। अर्थात् इलाज करनेसे भी नहीं मिटता है ॥ २१ ॥

जन्तुजातमिदं मन्ये स्मरवह्निप्रदीपितम् ।
मज्जत्यगाधमध्यास्य पुरन्ध्रीकायकर्दमम् ॥ २२ ॥

अर्थ—फिर भी कहते हैं कि मैं इस जीवोंके समूहको कामरूपी अग्निसे जलता हुआ मानता हूं। क्योंकि—यह प्राणिसमूह स्त्रीके शरीररूपी कीचड़में प्रवेश करके डूबता है। **भावार्थ**—कामी पुरुष कामरूप अग्निके तापसे संतप्त हो स्त्रीके शरीररूपी कीचड़में प्रवेश करके शीतल होना चाहता है ॥ २२ ॥

अनन्तव्यसनासारदुर्गे भवमरुस्थले ।
स्मरज्वरपिपासार्त्ता विपद्यन्ते शरीरिणः ॥ २३ ॥

अर्थ—ये संसारी जीव कामज्वरके दाहसे उत्पन्न हुई तृषासे पीड़ित होकर अनन्त कष्टोंके समूहस्वरूप दुर्गम संसाररूपी मरुस्थलमें दुःख सहन करते हैं ॥ २३ ॥

घृणास्पदमतिक्रूरं पापाढ्यं योगिदूषितम् ।
जनोऽयं कुरुते कर्म स्मरशार्दूलचर्वितः ॥ २४ ॥

अर्थ—कामरूपी सिंहसे चर्वित हुआ यह मनुष्य योगियोंसे निन्दित, पापसे भरे, अतिशय क्रूरतारूप तथा घृणास्पद कार्यको भी करता है ॥ २४ ॥

दिग्मूढमथ विभ्रान्तमुन्मत्तं शङ्किताशयम् ।
विलक्ष्यं कुरुते लोकं स्मरवैरिविजृम्भितः ॥ २५ ॥

अर्थ—यह कामरूपी वैरी लोगोंको दिशामूढ अथवा विभ्रमरूप करता है। तथा उन्मत्त और भयभीत करता है। एवं विलक्ष्य कहिये लक्ष्यभ्रष्ट (इष्ट कार्यसे विमुख) करता है। **भावार्थ**—जब कामोद्दीपन होता है तब समस्त समीचीन कार्योंको भूलकर एकमात्र उसका ही चिंतवन-स्मरणका ध्यान रहता है ॥ २५ ॥

न हि क्षणमपि स्वस्थं चेतः स्वप्नेऽपि जायते ।
मनोभवशरव्रातैर्भिद्यमानं शरीरिणाम् ॥ २६ ॥

अर्थ—कामके बाणोंके समूहसे भिदता हुआ जीवोंका चित्त क्षणभरके लिये स्वप्नमें भी स्वस्थताको प्राप्त नहिं होता ॥ २६ ॥

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
लोकः कामानलज्वालाकलापकवलीकृतः ॥ २७ ॥

अर्थ—यह लोक है सो कामरूपी अग्निकी ज्वालाके समूहसे ग्रसा हुआ जानता हुआ भी कुछ नहिं जानता और देखता हुआ भी कुछ नाहिं देखता। इस प्रकार अचेत (बेखबर) हो जाता है ॥ २७ ॥

भोगिदष्टस्य जायन्ते वेगाः सप्तैव देहिनः ।
स्मरभोगीन्द्रदष्टानां दश स्युस्ते भयानकाः ॥ २८ ॥

अर्थ—सर्पसे काटे हुए प्राणीके तो सात ही वेग होते हैं, परन्तु कामरूपी सर्पके डसे हुए जीवोंके दश वेग होते हैं. जो बड़े भयानक हैं ॥ २८ ॥

प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।
तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥ २९ ॥
पञ्चमे दृह्यते गात्रं षष्ठे भुक्तं न रोचते ।
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥ ३० ॥
नवमे प्राणसन्देहो दशमे मुच्यतेऽसुभिः ।
एतैर्वेगैः समाक्रान्तो जीवस्तत्त्वं न पश्यति ॥ ३१ ॥

अर्थ—कामके उद्दीपन होनेपर प्रथम ही तो चिन्ता होती है कि स्त्रीका संपर्क कैसे हो, दूसरे वेगमें उसके देखनेकी इच्छा होती है, तीसरे वेगवें दीर्घ निःश्वास लेता है और कहता है, कि हाय देखना नहीं हुआ, चौथे वेगमें ज्वर होता है अर्थात् बुखार (ताप) चढ़ आता है, पांचवें वेगमें शरीर दग्ध होने लगता है, छठे वेगमें किया हुआ भोजन नहीं रुचता, सातवें वेगमें महामूर्च्छा हो जाती है अर्थात् अचेत (बेहोश) हो जाता है, आठवें वेगमें उन्मत्त (पागल) हो जाता है तथा यद्वा तद्वा प्रलाप करने (बकने) लग जाता है, नववें वेगमें प्राणोंका संदेह हो जाता है कि अब मैं जीवित नही रहूँगा । और दशवां वेग ऐसा आता है कि जिससे मरण हो जाता है । इस प्रकार कामके दश वेग होते हैं । इन वेगोंसे व्याप्त हुआ जीव यथार्थ तत्त्व अर्थात् वस्तुस्वरूपको नहिं देखता । जब लोकव्यवहारहीका ज्ञान नहिं रहे तब परमार्थका ज्ञान कैसे हो ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

संकल्पवशतस्तीव्रा वेगा मन्दाश्च मध्यमाः ।
कामज्वरप्रकोपेन प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—संकल्पके वशसे और कामज्वरके प्रकोपके तीव्र, मन्द, मध्यम होनेसे ये दश वेग तीव्र, मध्यम और मंद भी होते हैं । सब ही एकसे नहिं होते ॥ ३२ ॥

अपि मानसमुत्तुङ्गनगशृङ्गाग्रवर्त्तिनाम् ।
स्मरवीरः क्षणार्द्धेन विधत्ते मानखण्डनम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो पुरुष मानरूपी ऊंचे पर्वतके शिखरके अग्रभागपर चढ़े हुए हैं अर्थात् बलके बड़े अभिमानी हैं उनका भी मान यह स्मरवीर क्षणभरमें खंडित कर देता है । **भावार्थ**—कामकी ज्वालाके सामने किसीका मान नहिं रहता । यह काम नीचसे नीच काम कराकर उसके मानरूपी पहाड़को धूलिमें मिला देता है ॥ ३३ ॥

शीलशालमतिक्रम्य धीधनैरपि तन्यते ।
दासत्वमन्त्यजस्त्रीणां संभोगाय स्मराज्ञया ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो बड़े २ बुद्धिमान् हैं वे भी कामदेवकी आज्ञासे अपने शीलरूपी कोटको

उल्लंघन कर संभोगके लिये चांडालकी स्त्रीका दासत्व स्वीकार करलेते हैं । **भावार्थ**—कामके वशीभूत होकर बड़े २ बुद्धिमान् चांडालकी स्त्रियोंतकके दास हो जाते हैं, और वे जो जो नाच नचाती हैं वे सबही उनको नाचने पड़ते हैं ॥ ३४ ॥

प्रवृद्धमपि चारित्रं ध्वंसयत्याशु देहिनाम् ।
निरुणद्धि श्रुतं सत्यं धैर्यं च मदनव्यथा ॥ ३५ ॥

अर्थ—मदनकी व्यथा जब उठती है तब वह जीवोंके बहुत दिनसे बढ़ाये तथा पाले-हुए चारित्रको ध्वंस करदेती है । एवं शास्त्राध्ययन, धैर्य और सत्यभाषणादिको भी बंद कर देती है । **भावार्थ**—जब कामकी पीड़ा व्यापती है तब चारित्र विगड़ जाता है । शास्त्र पढ़ना, सत्य बोलना और धैर्य रखना आदि सब ही भूल जाते हैं ॥ ३५ ॥

नासने शयने याने स्वजने भोजने स्थितिम् ।
क्षणमात्रमपि प्राणी प्राप्नोति स्मरशल्यतः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिसको कामरूपी कांटा चुभता रहता है वह प्राणी बैठने, सोने, चलने, भोजन करनेमें तथा स्वजनोंमें क्षणभर भी स्थिरताको प्राप्त नहिं होता । अर्थात् सर्वत्र डामाडोल रहता है ॥ ३६ ॥

वित्तवृत्तबलस्यान्तं स्वकुलस्य च लाञ्छनम् ।
मरणं वा समीपस्थं न स्मरार्त्तः प्रपश्यति ॥ ३७ ॥

अर्थ—कामपीडित पुरुष अपने धन, चारित्र और बलके नाश होनेको तथा अपने कुलपर कलंक लगनेको, वा मरण भी निकट आजाय तो उसको भी नहिं देखता है । अर्थात् उसके चित्तमें हिताहितका कुछ भी विचार नहिं रहता ॥ ३७ ॥

न पिशाचोरगा रोगा न दैत्यग्रहराक्षसाः ।
पीडयन्ति तथा लोकं यथाऽयं मदनज्वरः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जैसा कष्ट यह कामज्वर जगतको देता है वैसा पिशाच, सर्प, रोग, आदि नहिं देते और न दैत्य—ग्रह—राक्षसादिक ही देते हैं । **भावार्थ**—कामकी पीड़ा सबसे अधिक है ॥ ३८ ॥

अनासाद्य जनः कामी कामिनीं हृदयप्रियाम् ।
विषशस्त्रानलोपायैः सद्यः स्वं हन्तुमिच्छति ॥ ३९ ॥

अर्थ—कामी पुरुष यदि अपनी मनकी प्यारी कामिनीको नहिं प्राप्त होता है तो विष, शस्त्र, अग्नि आदिसे त्वरित ही अपना अपघात करनेको तैयार हो जाता है । **भावार्थ**—जिस स्त्रीसे कामीका मन आकर्पित होता है वह प्राप्त नहिं होती तो कामी अपना मरना विचार लेता है ॥ ३९ ॥

दक्षो मूढः क्षमी क्षुद्रः शूरो भीरुर्गुरुर्लघुः ।
तीक्ष्णः कुण्ठो वशी भ्रष्टो जनः स्यात्स्मरवञ्चितः ॥ ४० ॥

अर्थ—कामसे ठगा हुआ मनुष्य चतुर भी मूर्ख हो जाता है, क्षमावान् क्रोधी होजाता है, शूरवीर कायर हो जाता है, गुरु लघु हो जाता है, उद्यमी आलसी हो जाता है और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है ॥ ४० ॥

कुर्वन्ति वनिताहेतोरचिन्त्यमपि साहसम् ।
नराः कामहठात्कारविधुरीकृतमानसाः ॥ ४१ ॥

अर्थ—कामके बलात्कार (जबरदस्तीसे) से जिनका चित्त दुःखित है वे स्त्रीकी प्राप्तिके लिये ऐसे काम करनेका भी साहस करते हैं जो चिन्तवनमें भी न आवें ॥ ४१ ॥

उन्मूलयत्यविश्रान्तं पूज्यं श्रीधर्मपादपम् ।
मनोभवमहादन्ती मनुष्याणां निरङ्कुशः ॥ ४२ ॥

अर्थ—कामरूपी हस्ती निरंकुश है इसकारण वह मनुष्योंके निरन्तर पूजने योग्य धर्मरूपी वृक्षको जड़से उखाड़ डालता है ॥ ४२ ॥

प्रकुप्यति नरः कामी बहुलं ब्रह्मचारिणे ।
जनाय जाग्रते चौरो रजन्यां संचरन्निव ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार रात्रिमें धनार्थ फिरते हुए चौर जागनेवाले मनुष्यपर कोप करते हैं; उसी प्रकार कामी पुरुष भी बहुधा ब्रह्मचारी पुरुषोंपर कोप किया करता है । यह स्वाभाविक नियम है ॥ ४३ ॥

स्नुषां श्वश्रूं सुतां धात्रीं गुरुपत्नीं तपस्विनीम् ।
तिरश्चीमपि कामार्तो नरः स्त्रीं भोक्तुमिच्छति ॥ ४४ ॥

अर्थ—कामसे पीड़ित पुरुष पुत्रवधू, सास, पुत्री, दुग्ध पिलानेवाली धाय अथवा माता, गुरुकी स्त्री, तपस्विनी और तिरश्ची (परजातिकी स्त्री) को भी भोगनेकी इच्छा करता है । क्योंकि, कामी पुरुषके योग्य अयोग्यका कुछ भी विचार नहिं होता ॥ ४४ ॥

किं च कामशरव्रातजर्जरे मनसि स्थितिम् ।
निमेषमपि बध्नाति न विवेकसुधारसः ॥ ४५ ॥

अर्थ—हिताहितका विचार न होनेका कारण यह है कि कामके बाणोंके समूहसे जर्जरित हुए मनमें निमेषमात्र भी विवेकरूपी अमृतकी बूंद नहिं ठहर सकती है । **भावार्थ**—जैसे फूटे घड़ेमें पानी नहिं ठहरता उसी प्रकार कामके बाणोंसे छिद्र किये हुए चित्तरूपी घड़ेमें विवेकरूपी अमृत—जल नहिं ठहरता ॥ ४५ ॥

आर्या ।

हरिहरपितामहाद्या बलिनोऽपि तथा स्मरेण विध्वस्ताः ।
त्यक्तत्रपा यथैते स्वाङ्कान्नारीं न मुञ्चन्ति ॥ ४६ ॥

अर्थ—जैसे ये निर्लज्ज जन अपनी गोदमें स्थित स्त्रीको नहीं छोड़ते वैसे ही हरि, हर, और ब्रह्मादिक बलिष्ठोंको भी कामने नष्ट करदिया है अर्थात् वे भी स्त्रीको गोदसे कभी बाहर नहीं करते ॥ ४६ ॥

यदि प्राप्तं त्वया मूढ नृत्वं जन्मोग्रसंक्रमात् ।
तदा तत्कुरु येनेयं स्मरज्वाला विलीयते ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी ! जो तूने संसारमें भ्रमण करते २ इस मनुष्यभवको पाया है तो तू वह काम कर जिससे कि तेरी कामरूपी ज्वाला नष्ट हो जाय ॥ ४७ ॥

अब इस प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

मालिनी ।

स्मरदहनसुतीव्रानन्तसन्तापविद्धं
भुवनमिति समस्तं वीक्ष्य योगिप्रवीराः ।
विगतविषयसङ्गाः प्रत्यहं संश्रयन्ते
प्रशमजलधितीरं संयमारामरम्यम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—विषयसंगरहित योगिप्रवीर (श्रेष्ठ योगिजन) इस संसारको कामाग्निके प्रचण्ड और अनंत संतापोंसे पीडित देखकर प्रतिदिन संयमरूप बगीचेसे शोभायमान ऐसे शान्तिसागरके तटका आश्रय लेते हैं ॥ ४८ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते कामप्रकोपप्रकरणम् ॥ ११ ॥

अथ द्वादशं प्रकरणम् ।



कुर्वन्ति यन्मदोद्रेकदर्पिता भुवि योषितः ।
शतांशमपि तस्येह न वक्तुं कश्चिदीश्वरः ॥ १ ॥

अर्थ—इस पृथ्वीतलमें मदके आधिक्यसे गर्वित स्त्रियां जो कर डालती हैं, उसका शतांश कहनेके लिये भी कोई समर्थ नहीं है ॥ १ ॥

धारयन्त्यमृतं वाचि हृदि हालाहलं विषम् ।
निसर्गकुटिला नार्यो न विद्मः केन निर्मिताः ॥ २ ॥

अर्थ—जो वाणीमें तो अमृतको धारण करती हैं और हृदयमें विष भरे हुए हैं, इस प्रकार स्वभावसे ही कुटिल इन स्त्रियोंको किसने बनाया है यह हम नहीं जानते । **भावार्थ**—

जिनका बोल तो अमृतके समान मीठा है, और हृदयमें जहर भरा हुआ है; इस प्रकार क्रूर स्वभाववाली स्त्रियोंको किसने बनाया ? यह हम नहीं जान सकते ॥ २ ॥

वज्रज्वलनलेखेव भोगिदंष्ट्रेव केवलम् ।
वनितेयं मनुष्याणां संतापभयदायिनी ॥ ३ ॥

अर्थ—यह स्त्री मनुष्योंको वज्राग्निकी ज्वालाके समान और सांपकी डाढ़के समान भय तथा संताप देनेवाली है । **भावार्थ**—जैसे वज्रपातजनित अग्निज्वाला और सांपकी डाढ़ मनुष्योंको कष्ट और भय उपजानेवाली है, वैसे ही यह स्त्री भी है । इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ ३ ॥

उद्वासयति निश्शङ्का जगत्पूज्यं गुणव्रजम् ।
बध्नती वसतिं चित्ते सतामपि नितम्बिनी ॥ ४ ॥

अर्थ—मनमें स्थान (अड्डा) जमाती हुई शंकारहित स्त्री सज्जनोंके भी जगतमें पूजने योग्य गुणसमूहको दूर भगादेती है । **भावार्थ**—साधारण मनुष्योंकी क्या कथा ? किंतु यदि निडर स्त्रीने मनमें डेरा कर लिया तो सत्पुरुषोंके भी विश्ववन्द्य गुणोंको दूर हटा देती है । अर्थात् मनसे स्त्रीका ध्यानमात्र करनेसे ही वंदनीय पुरुष भी निंदनीय हो जाते हैं ॥ ४ ॥

वरमालिङ्गिता क्रुद्धा चलल्लोलाऽत्र सर्पिणी ।
न पुनः कौतुकेनापि नारी नरकपद्धतिः ॥ ५ ॥

अर्थ—क्रोधसे फुंकार मारती चलती हुई सर्पिणीका आलिंगन करना श्रेष्ठ है किन्तु स्त्रीको कौतुकमात्रसे भी आलिंगन करना श्रेष्ठ नहीं । क्योंकि सर्पिणी यदि दंश करै (काटै) तो एक बार ही मरण होता है; और स्त्री तो नरककी पद्धतिस्वरूप है अर्थात् यह वारवार मरण कराकर नरकमें लेजानेवाली है ॥ ५ ॥

हृदि दत्ते तथा दाहं न स्पृष्टा हुतभुक्शिखा ।
वनितेयं यथा पुंसामिन्द्रियार्थप्रकोपिनी ॥ ६ ॥

अर्थ—यह स्त्री इन्द्रियोंके कोपको बढ़ानेवाली है, सो स्पर्श की हुई ऐसा दाह उत्पन्न करती है कि जैसा स्पर्श की हुई अग्निकी शिखा भी नहिं करती ॥ ६ ॥

सन्ध्येव क्षणरागाढ्या निम्नगेवाधरप्रिया ।
वक्रा बालेन्दुलेखेव भवन्ति नियतं स्त्रियः ॥ ७ ॥

अर्थ—ये स्त्रियें सन्ध्याके समान क्षणभर रागसहित रहनेवाली (क्षणभर प्रीति रखनेवाली) हैं और नदीके समान अधरप्रिया हैं अर्थात् जैसे नदी नीची भूमिकी तरफ जाती है उसी प्रकार स्त्रियें भी प्रायः नीच पुरुषसे रमण करनेवाली होती हैं । तथा द्वितीयाके

चन्द्रमाके समान वक्र (टेढ़ी) रहती हैं। अर्थात् स्त्रियें हृदयमें कपटभाव अवश्य रखती हैं॥ ७॥

धूमावल्य इवाशङ्काः कुर्वन्ति मालिनं क्षणात्।
मदनोन्मादसंभ्रान्ता योषितः स्वकुलं गृहम्॥ ८॥

अर्थ—मदनके वेगसे उन्मादयुक्त होकर स्त्रियां अपने कुल और घरको क्षणभरमें मलिन (कलंकित) करदेती हैं; इस कारण धूमावलीके समान आशंका करने योग्य हैं। अर्थात् जिस प्रकार धूमावलीसे घर काला होनेकी शंका है इसी प्रकार स्त्रियोंकी तरफसे भी शंका रहनी चाहिये॥ ८॥

निर्दयत्वमनार्यत्वं मूर्खत्वमतिचापलम्।
वञ्चकत्वं कुशीलत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥ ९॥

अर्थ—निर्दयता, अनार्यता (अपवित्रता), मूर्खता, अतिचपलता, वंचकता और- कुशीलता इतने दोष प्रायः स्त्रियोंके स्वाभाविक होते हैं। अर्थात् विना शिखाये ही आजाते हैं॥ ९॥

विचरन्ति कुशीलेषु लङ्घयन्ति कुलक्रमम्।
न स्मरन्ति गुरुं मित्रं पतिं पुत्रं च योषितः॥ १०॥

अर्थ— ये स्त्रियां व्यभिचारी पुरुषोंमें विचरने लग जाती हैं और अपने कुलक्रमका उल्लंघन करदेती हैं तथा अपने गुरु मित्र (हितैषी) पति पुत्रका स्मरणतक नहिं करतीं॥ १०॥

वश्याञ्जनादितन्त्राणि मन्त्रयन्त्राद्यनेकधा।
व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि वनिताराधनं प्रति॥ ११॥

अर्थ—स्त्रीकी आराधनाके लिये (प्रसन्न करनेके लिये) वशीकरण, अञ्जनादि तथा अनेक प्रकारके यन्त्र-मन्त्र-तंत्रादि समस्त व्यर्थ हो जाते हैं॥ ११॥

अगाधक्रोधवेगान्धाः कर्म कुर्वन्ति तास्त्रियः।
सद्यः पतति येनैतद्भुवनं दुःखसागरे॥ १२॥

अर्थ—ये स्त्रियां अगाध क्रोधके वेगसे ऐसा काम करती हैं कि जिससे शीघ्र ही यह जगत् दुःखसागरमें पड़ जाता है॥ १२॥

स्वातन्त्र्यमभिवाञ्छन्त्यः कुलकल्पमहीरुहम्।
अविचार्यैव निघ्नन्ति स्त्रियोऽभीष्टफलप्रदम्॥ १३॥

अर्थ—स्वतन्त्रताकी वांछा करती हुई स्त्रियें अभीष्ट (मनोवांछित) फल देनेवाले अपने कुलरूपी कल्पवृक्षको विना विचारे ही मूर्खतासे काट डालती हैं॥ १३॥

न दानं न च सौजन्यं न प्रतिष्ठां न गौरवम् ।
न च पश्यन्ति कामान्धा योषितः स्वान्ययोर्हितम् ॥ १४ ॥

अर्थ—कामान्ध स्त्रियां न तो दान सुजनताको देखतीं हैं न अपने गौरव और प्रतिष्ठाका विचार करती हैं और न अपना वा पराया हित ही देखती हैं; किन्तु जो चित्तमें आया सो विना विचारे ही कर बैठतीं हैं ॥ १४ ॥

न तत् क्रुद्धा हरिव्याघ्रव्यालानलनरेश्वराः ।
कुर्वन्ति यत्करोत्येका नरि नारी निरङ्कुशा ॥ १५ ॥

अर्थ—एक निरंकुश स्त्री ही नर (मनुष्यके) लिये वह काम करती है कि जिसको क्रोधित हुए सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और राजा भी नहिं करसकते । **भावार्थ**—पुरुषोंको स्वतंत्र स्त्री जैसा कष्ट देती है वैसा कोई भी नहिं दे सकता ॥ १५ ॥

यामासाद्य त्वया कान्तां सोढव्या नारकी व्यथा ।
तस्या वार्त्तापि न श्लाघ्या कथमालिङ्गनादिकम् ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज समझाते हैं कि—हे आत्मन्! जिस स्त्रीकी संगतिसे तुझे नरकके दुःख सहने पड़ें ऐसी स्त्रीकी चर्चा करना भी तेरे लिये प्रशंसनीय नहीं है; तो उससे आलिंगनादि करना कैसे प्रशंसनीय हो सकता है ॥ १६ ॥

स कोऽपि स्मर्यतां देवो मन्त्रो वाऽऽलम्ब्य साहसम् ।
यतोऽङ्गनापिशाचीयं ग्रसितुं नोपसर्पति ॥ १७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन! तू ऐसे किसी देव वा मंत्रको स्मरण कर अथवा ऐसा कोई साहस कर जिससे यह स्त्रीरूपी पिशाचिनी तुझे भक्षण करनेको निकट न आवे ॥ १७ ॥

एकैव वनिताव्याली दुर्विचिन्त्यपराक्रमा ।
लीलयैव यया मूढ खण्डितं जगतां त्रयम् ॥ १८ ॥

अर्थ—हे मूढ! आत्मन्! यह स्त्रीरूपी सर्पिणी ऐसी है कि जिसका पराक्रम अचिन्त्य है अर्थात् चिन्तवनमें नहिं आसकता। क्योंकि जिस अकेलीने ही इन तीनों भुवनोंको खण्डित करदिया है, सो तू देख ॥ १८ ॥

न तद्दृष्टं श्रुतं ज्ञातं न तच्छास्त्रेषु चर्चितम् ।
यत्कुर्वन्ति महापापं स्त्रियः कामकलङ्किताः ॥ १९ ॥

अर्थ—ये स्त्रियें कामसे कलंकित हो ऐसा भी कोई महापाप कर बैठती हैं कि जिसको न तो किसीने देखा, न सुना तथा न शास्त्रोंमें ही जिसकी चर्चा आई हो ॥ १९ ॥

यमजिह्वानलज्वालावज्रविद्युद्विषङ्कुरान् ।
समाहृत्य कृता मन्ये वेधसेयं विलासिनी ॥ २० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि–मैं ऐसा मानताहूं कि–विधाताने यमराजकी जीभ, अग्निकी ज्वाला, विजली तथा विष इनके अंकूर (सार भाग) इन सबको संग्रह करके यह विलासिनी (स्त्री) बनाई है. क्योंकि इससे कोईभी नहिं बचता ॥ २० ॥

मनस्यन्यद्वचस्यन्यद्वपुष्यन्यद्विचेष्टितम् ।
यासां प्रकृतिदोषेण प्रेम तासां कियद्वरम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके स्वभावसेही मनमें तो कुछ, वचनमें कुछ और शरीरसे कुछ और ही चेष्टा है उनका प्रेम कबतक स्थिर रह सक्ता है ? अर्थात् वहुत समयतक नहीं ठहरता ॥ २१ ॥

अप्युत्तुङ्गाः पतिष्यन्ति नरा नार्यङ्गसंगताः ।
यथा वामिति लोकस्य स्तनाभ्यां प्रकटीकृतम् ॥ २२ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके दोनों स्तन प्रगट करते हैं अर्थात् परस्पर कहते हैं कि देखो, भाई ! स्त्रीके अंगसंगसे जिसप्रकार हमारा अधःपतन हुआ है इसी प्रकार जगतके वड़े २ पुरुष स्त्रीके अंगसंगसे नीचे गिरैंगे । अर्थात् नीची अवस्थाको प्राप्त होंगे ॥ २२ ॥

यदीन्दुस्तीव्रतां धत्ते चण्डरोचिश्च शीतताम् ।
दैवात्तथापि नो धत्ते नरि नारी स्थिरं मनः ॥ २३ ॥

अर्थ—कदाचित् दैवयोगसे चन्द्रमा उष्णस्वभावी और सूर्य शीतल भलेही होजाय परन्तु स्त्रीका मन किसी एक पुरुषमें स्थिर नहि होसकता । अर्थात् उसे अन्य २ पुरुषकी कामना बनीही करती है ॥ २४ ॥

देवदैत्योरगव्यालग्रहचन्द्रार्कचेष्टितम् ।
विदन्ति ये महाप्राज्ञास्तेऽपि वृत्तं न योषिताम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो महाविद्वान् देव, दैत्य, नाग, हस्ती, ग्रह, चन्द्रमा और सूर्य इन सबकी चेष्टाओंको जानते हैं, वे भी स्त्रियोंके चरित्रको नहि जान सकते । क्योंकि स्त्रीचरित्र अगाध है. यह जगत्प्रसिद्ध उक्ति है ॥ २४ ॥

सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि ये विजानन्ति ।
मुह्यन्ति तेऽपि नूनं तत्त्वविदश्चेष्टिते स्त्रीणाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जो तत्त्वज्ञानी सुख–दुःख, जय पराजय और जीवित मरण आदिकको निमित्तज्ञानके वलसे जानते हैं, वेभी स्त्रियोंकी चेष्टा जाननेमें मोहको प्राप्त होते हैं । अर्थात् स्त्रियोंके चरित्र जाननेके लिये अज्ञानमूढ होजाते हैं ॥ २५ ॥

जलधेर्यानपात्राणि ग्रहाद्या गगनस्य च ।
यान्ति पारं न तु स्त्रीणां दुश्चरित्रस्य केचन ॥ २६ ॥

अर्थ—यद्यपि समुद्र और आकाश अपार है तथापि जहाजपर बैठनेवाले समुद्रके और ग्रहादिक आकाशके अन्तको पासकते हैं परन्तु स्त्रियोंके दुश्चरित्रका पार कोईभी नहिं पासकता ॥ २६ ॥

आरोपयन्ति संदेहतुलायामतिनिर्दयाः ।
नार्यः पतिं च पुत्रं च पितरं च क्षणादपि ॥ २७ ॥

अर्थ—स्त्रियें ऐसी निर्दय हैं कि क्षणमात्रमें अपने पति पुत्र पितादिको संदेहकी तुलापर चढ़ादेती हैं। **भावार्थ**-स्त्रियें जो दुश्चरित्र करैं और पति पितादिकको ज्ञात होजाय तो तत्काल ऐसी चेष्टा करती हैं कि जिससे उनको ऐसा संदेह होजाता है कि इसने यह दुश्चरित्र नहिं किया होगा; मुझे व्यर्थही भ्रम होगया है ॥ २७ ॥

गृह्णन्ति विपिने व्याघ्रं शकुन्तं गगने स्थितम् ।
सरिद्ध्रदगतं मीनं न स्त्रीणां चपलं मनः ॥ २८ ॥

अर्थ—कई पुरुष वनमेंसे व्याघ्रको पकड़ते हैं, आकाशगामी पक्षीको पकड़ते हैं तथा नदी वा तड़ागमेंसे मछलीको पकड़ते हैं; परन्तु स्त्रियोंके मनको कोईभी पकड़ नहीं सकता अर्थात् वशीभूत नहिं करसकता ॥ २८ ॥

न तदस्ति जगत्यस्मिन् मणिमन्त्रौषधाञ्जनम् ।
विद्याश्च येन सद्भावं प्रयास्यन्तीह योषितः ॥ २९ ॥

अर्थ—इस जगतमें ऐसा कोईभी मणि, मन्त्र, औषध, अंजन अथवा विद्या नहीं है कि जिससे स्त्रियें सद्भावको प्राप्त हो अर्थात् कुटिलतारहित होजायँ ॥ २९ ॥

मनोभवसमं शूरं कुलीनं भुवनेश्वरम् ।
हत्वा पतिं स्त्रियः सद्यो रमन्ते चेटिकासुतैः ॥ ३० ॥

अर्थ—स्त्रियें ऐसी दुष्टा हैं कि अपना पति कामदेवकी समान सुंदर, शूरवीर, कुलीन और राजा ही क्यों न हो तोभी उसे मारकर तत्काल दासीके पुत्रसे रमने लग जाती हैं ॥ ३० ॥

स्मरोत्सङ्गमपि प्राप्य वाञ्छन्ति पुरुषान्तरम् ।
नार्यः सर्वाः स्वभावेन वदन्तीत्यमलाशयाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—निर्मलाशय विद्वज्जन ऐसा कहते है कि सबही स्त्रियें कामदेवसरीखे पतिको पाकरभी अन्य पुरुषकी वांछा करती हैं ॥ ३१ ॥

विनाञ्जनेन तन्त्रेण मन्त्रेण विनयेन च ।
वञ्चयन्ति नरं नार्यः प्रज्ञाधनमपि क्षणात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—स्त्रियोंमें कोई ऐसीही मोहिनी विद्या है कि विना मन्त्र तंत्र अञ्जनके अथवा विना प्रार्थनाकेभी क्षणमात्रमें पंडित पुरुषकोभी ठगलेती हैं। अर्थात् अपने प्रेममें फँसा लेती हैं ॥ ३२ ॥

कुलजातिगुणभ्रष्टं निकृष्टं दुष्टचेष्टितम् ।
अस्पृश्यमधमं प्रायो मन्ये स्त्रीणां प्रियं नरम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—मैं ऐसा मानता हूं कि कुल–जाति–गुणसे भ्रष्ट, निकृष्ट, दुश्चरित्र, अस्पृश्य और नीच पुरुषही स्त्रियोंको प्रिय होता है। क्योंकि प्रायः ऐसाही देखनेमें आता है कि स्त्रियें उत्तम पुरुषको छोड़ नीचसेही प्रीति कर लेती हैं ॥ ३३ ॥

वैरिवारणदन्ताग्रे समारुह्य स्थिरीकृता ।
वीरश्रीयैर्महासत्त्वैर्योषिद्भिस्तेऽपि खण्डिताः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिन महापराक्रमी वीर पुरुषोंने युद्धमें शत्रुके हस्तीके दांतोंपर चढ़कर वीरश्रीको दृढ किया है, अर्थात् विजय प्राप्त किया है, ऐसे शूरवीर योद्धाभी स्त्रियोंके द्वारा खण्डित (भूपतित) होजाते हैं. अर्थात् स्त्रीके सामने किसीकाभी पराक्रम नहिं चल्ता ॥ ३४ ॥

गौरवेषु प्रतिष्ठासु गुणेष्वाराध्यकोटिषु ।
धृता अपि निमज्जन्ति दोषपङ्के स्वयं स्त्रियः ॥ ३५ ॥

अर्थ—गौरव, प्रतिष्ठा और आराधना करनेयोग्य गुणोंसे भूषित कर रक्खी हुईभी स्त्रियें अपने दुश्चरित्ररूपी कीचड़में फँस जाती हैं। अर्थात् स्त्रियें किसीकेभी वशमें नहीं रहतीं किंतु स्वच्छन्द वर्तने लग जाती हैं ॥ ३५ ॥

दोषान्गुणेषु पश्यन्ति प्रिये कुर्वन्ति विप्रियम् ।
सन्मानिताः प्रकुप्यन्ति निसर्गकुटिलाः स्त्रियः ॥ ३६ ॥

अर्थ—कुटिल स्त्रियोंका स्वभाव ऐसा है कि–वे गुणोंमें तो दोष देखती हैं और जो प्यार करे उसमें अप्रियताका आचरण करतीं हैं और सन्मान करनेसे कुपित होती हैं ॥ ३६ ॥

कृत्वाऽपकार्यलक्षाणि प्रत्यक्षमपि योषितः ।
छादयन्त्येव निःशङ्का विश्ववञ्चनपण्डिताः ॥ ३७ ॥

अर्थ—ये स्त्रियां लाखों बुरे कार्य प्रत्यक्षमें करकेभी निःशंक होकर उन्हें छिपालेती हैं। क्योंकि ये स्त्रियें जगतको ठगनेके लिये अतिशय चतुर हैं। इनकी मायाचातुरीका कोई भी पार नहिं पासक्ता ॥ ३७ ॥

दानसन्मानसंभोगप्रणतिप्रतिपत्तिभिः ।
अपि सेवापरं नार्यं घ्नन्ति नार्योऽतिनिर्दयाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—ये स्त्रियें ऐसी निर्दय होती हैं कि दान, सन्मान, संभोग, नमस्कार करने, आदर करने आदि खुशामदके कार्योंसे सेवा करनेमें तत्पर ऐसे पतिको भी मार-डालतीं हैं ॥ ३८ ॥

विषमध्ये सुधास्यन्दं सस्यजातं शिलोच्चये ।
संभाव्यं न तु संभाव्यं चेतः स्त्रीणामकश्मलम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि विषमें कदाचित् अमृतका झरना अथवा पर्वतपर (शिलाओंके समूहपर) धान्यका उत्पन्न होना संभव है, परन्तु स्त्रियोंका चित्त निष्पाप कदापि न समझना । अर्थात् ये स्त्रियें निष्पाप (उज्ज्वल) कभी नहिं होतीं ॥ ३९ ॥

वन्ध्याङ्गजस्य राज्यश्रीः पुष्पश्रीर्गगनस्य च ।
स्याद्दैवान्न तु नारीणां मनःशुद्धिर्मनागपि ॥ ४० ॥

अर्थ—दैवात् वन्ध्यापुत्रकी राज्यलक्ष्मी और आकाशमें पुष्पोंकी शोभा होना संभव है; परन्तु स्त्रियोंके मनकी शुद्धि किंचिन्मात्रभी नहिं होती ॥ ४० ॥

कुलद्वयमहाकक्षं भस्मसात्कुरुते क्षणात् ।
दुश्चरित्रसमीरालीप्रदीप्तो वनितानलः ४१

अर्थ—दुश्चरित्ररूपी पवनसे प्रदीप्त हुई वनितारूपी अग्नि क्षणमात्रें अपने उभय-कुलरूपी वनको भस्म करदेती है ॥ ४१ ॥

सुराचल इवाकम्पा अगाधा वार्द्धिवद्भृशम् ।
नीयन्तेऽत्र नराः स्त्रीभिरवधूर्तिं क्षणान्तरे ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो पुरुष सुमेरु पर्वतके समान अचल (अकंप) हैं तथा समुद्रके समान अगाध अर्थात् गंभीरप्रकृति हैं वेभी इस जगतमें स्त्रियोंके द्वारा क्षणमात्रमें चलायमान वा तिरस्कृत किये जाते हैं तो अन्य सामान्य पुरुषोंकी तो कथाही क्या ? ॥ ४२ ॥

वित्तहीनो जरी रोगी दुर्बलः स्थानविच्युतः ।
कुलीनाभिरपि स्त्रीभिः सद्यो भर्त्ता विमुच्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका पति यदि धनरहित (दरिद्री) हो, वृद्ध हो, रोगी अथवा निर्बल हो तथा स्थानभ्रष्ट हो तो भले कुलकी स्त्रियेंभी अपने भरतारको शीघ्रही छोड़ देती हैं और किसी अन्यसे रमण करने लग जाती हैं ॥ ४३ ॥

भेत्तुं शूलमसिं छेत्तुं कर्त्तितुं क्रकचं दृढम् ।
नरान्पीडयितुं यन्त्रं वेधसा विहिताः स्त्रियः ॥ ४४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि कहिये ब्रह्माने जो स्त्रियें बनाई हैं, वे मनुष्योंको बेधनेके लिये शूली, काटनेके लिये तरवार, कतरनेके लिये दृढ करोत (आरा), अथवा पेलनेके लिये मानों यंत्र ही बनाये हैं ॥ ४४ ॥

विधुर्वधूभिर्मन्येऽहं नभस्थोऽपि प्रतारितः ।
अन्यथा क्षीयते कस्मात्कलङ्काऽपहतप्रभः ॥ ४५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज फिरभी उत्प्रेक्षा करते हैं कि आकाशमें रहनेवाला यह चन्द्रमाभी स्त्रियोंसे वंचित किया गया है, अर्थात् मोहित किया गया है । क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो यह कलंकसे प्रभारहित होकर प्रतिदिन क्षीण क्यों होता है ? ॥ ४५ ॥

आचार्य महाराज फिरभी उत्प्रेक्षा करते हैं—

यद्रागं सन्ध्ययोर्द्धत्ते यद्भ्रमत्यविलम्बितम् ।
तन्मन्ये वनितासार्थैर्विप्रलब्धः खरद्युतिः ॥ ४६ ॥

अर्थ—यह सूर्य जो दोनों सन्धाओंके समय ललाईको धारण करता है और निरन्तर भ्रमण करता रहता है सो मैं ऐसा मानता हूं कि यह भी स्त्रियोंके समूहोंसे ठगा गया है ॥ ४६ ॥

फिरभी उत्प्रेक्षा करते हैं—

अन्तःशून्यो भृशं रौति वेलाव्याजेन वेपते ।
धीरोऽपि मथितो बद्धः स्त्रीनिमित्ते सरित्पतिः ॥ ४७ ॥

अर्थ—यह समुद्र स्त्रीके निमित्तही नारायणसे मथागया और रामचन्द्रजीसे बांधा गया इस कारण अन्तःशून्य होकर गर्जनाके बहानेसे (मिससे) तो रोता है और धीर होते हुए भी लहरोंके बहानेसे मानों कम्पायमान होता है ॥ ४७ ॥

सुरेन्द्रप्रतिमा धीरा अप्यचिन्त्यपराक्रमाः ।
दशग्रीवादयो याताः कृते स्त्रीणां रसातलम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—देखो, इन्द्रके समान धीर वीर अचिन्त्यपराक्रमी रावण आदिक बड़े २ छत्रधारी राजाभी स्त्रियोंके निमित्त रसातलको (नरकको) चले गये तो अन्य सामान्य जनोंको तो कहनाही क्या ॥ ४८ ॥

दुःखखानिरगाधेयं कलेर्मूलं भयस्य च ।
पापबीजं शुचां कन्दः श्वभ्रभूमिर्नितम्बिनी ॥ ४९ ॥

अर्थ—यह स्त्री दुःखोंकी तो अगाध खानि है, जिसमेंसे कि दुःखही दुःख निकल्ते रहते हैं और कलह तथा भयकी जड़ है, पापका बीज और चिन्ताओंका कंद (मूल) है तथा नरककी पृथिवी है ॥ ४९ ॥

यदि मूर्त्ताः प्रजायन्ते स्त्रीणां दोषाः कथंचन ।
पूरयेयुस्तदा नूनं निःशेषं भुवनोदरम् ॥ ५० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षासे कहते हैं कि—स्त्रियोंके दोष यदि किसी प्रकारसे मूर्तिमान् होजायँ तो मैं समझता हूं कि उन दोषोंसे निश्चयकरके समस्त त्रिलोकी परिपूर्ण भरजायगी ॥ ५० ॥

कौतुकेन समाहर्तुं विश्ववर्त्यङ्गिसंचयम् ।
वेधसेयं कृता मन्ये नारी व्यसनवागुरा ॥ ५१ ॥

अर्थ—आचार्य माहराज उत्प्रेक्षासे कहते हैं कि—ब्रह्माने जो स्त्री बनाई है सो मानों उसने कौतूहलसे जगतके समस्त जीवोंका संग्रह करनेके वास्ते आकर्षण करनेके लिये कष्टरूपी फांसीही बनाई है ॥ ५१ ॥

एकं दृशा परं भावैर्वाग्भिरन्यं तथेङ्गितैः ।
संज्ञयाऽन्यं रतैश्चान्यं रमयन्त्यङ्गना जनम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—स्त्रियें किसी एकको तो दृष्टिसेही प्रसन्न करदेती हैं, किसी दूसरेको भावोंसे-ही रमाती हैं, और अन्य किसी एकको वचनमात्रसे तृप्त करके किसीको इशारोंसेही प्रसन्न करदेती हैं, और शरीरके संकेत किसी औरहीसे करती हैं और रतिसे किसी औरहीसे रमण करती हैं । इस प्रकार अनेक पुरुषोंके चित्तको प्रसन्न करके अपने वश कर लेते हैं ॥ ५२ ॥

धीरैर्धैर्यं समालम्ब्य विवेकामललोचनैः ।
त्यक्ताः स्वप्नेऽपि निःसङ्गैर्नार्यः श्रीसूरिपुङ्गवैः ॥ ५३ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—जो धीर वीर और आचर्योंमें प्रधान हैं उन्होंके धीरजका अवलंबन करके स्वप्नमेंभी स्त्रियोंका त्याग कर दिया है. ऐसे महापुरुष-ही धन्य हैं ॥ ५३ ॥

अब इस कथनको पूर्ण करनेके लिये संकोचते हुए उपदेश करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

यद्वक्तुं न बृहस्पतिः शतमखः श्रोतुं न साक्षात्क्षमः
तत्स्त्रीणामगुणव्रजं निगदितुं मन्ये न कोऽपि प्रभुः ।

आलोक्य स्वमनीषया कतिपयैर्वर्णैर्यदुक्तं मया।
तच्छ्रुत्वा गुणिनस्त्यजन्तु वनितासंभोगपापग्रहं ॥ ५४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि स्त्रियोंके दोषसमूहको कहनेके लिये तो बृहस्पति समर्थ नहीं, और सुननेके लिये इंद्र समर्थ नहीं, इस कारण मैं ऐसा मानता हूं कि और कोईभी स्त्रियोंके दोषोंका वर्णन नहिं करसकता। तिसपरभी मैंने स्त्रियोंके अवगुण देखकर कितनेही अक्षरोंमें जो कहे हैं सो इनको सुनकर जो गुणी पुरुष हैं वे वनिताके संभोग-रूपी पापके आग्रहको छोडो, यह हमारा उपदेश है ॥ ५४ ॥

मालिनी।

परिभवफलवल्लीं दुःखदावानलालीम्
विषयजलधिवेलां श्वभ्रसौधप्रतोलीम्।
मदनभुजगदंष्ट्रां मोहतन्द्रासवित्रीम्
परिहर परिणामैर्धैर्यमालम्ब्यतारीं ॥ ५५ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू धैर्यके अवलम्बनपूर्वक चित्तसे स्त्रीका प्रसंग छोड़। क्योंकि यह स्त्री अपमानरूपी फलको उत्पन्न करनेके लिये तो वेल (लता) है और दुःखरूपी दावाग्निकी पंक्ति है तथा विषयरूपी समुद्रकी लहर और नरकरूपी महलमें प्रवेश करनेके लिये प्रतोली है अर्थात् प्रवेशद्वार वा घर है तथा कामरूपी सर्पकी दाढ़ और मोह वा तंद्रा (आलस्य) की माता है ॥ ५५ ॥

इस प्रकार दोषोंके आश्रय स्त्रीका निषेध किया. अब यह कहते हैं कि, समस्त स्त्रियें दोषयुक्तही हैं ऐसा एकान्त नहीं है; किन्तु जिनमें शीलसंयमादि गुण होते हैं वे प्रशंसा करनेयोग्यभी हैं—

यमिभिर्जन्मनिर्विण्णैर्दूषिता यद्यपि स्त्रियः।
तथाप्येकान्ततस्तासां विद्यते नाघसंभवः ॥ ५६ ॥

अर्थ—यद्यपि संसारसे विरक्त हुए संयमी मुनियोंने स्त्रियोंको दूषितही किया है अर्थात् दोषयुक्तही वर्णन किया है. तथापि उनमें एकान्ततासे पापकाही संभव नहीं है किंतु उनमेंसे किसी २ स्त्रीमें गुणभी होते हैं. सोही कहते हैं ॥ ५६ ॥

आर्या।

ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः।
निजवंशतिलकभूताः श्रुतसत्यसमन्विता नार्यः ॥ ५७ ॥

अर्थ—अहो! इस जगतमें अनेक स्त्रियां ऐसीभी हैं कि—जे शमभाव (मंदकषायरूप परिणाम) और शीलसंयमसे भूषित हैं तथा अपने वंशमें तिलकभूत हैं अर्थात्

अपने वंशको शोभायमान करती हैं और शास्त्राध्ययन तथा सत्यवचनकरके सहित भी हैं ॥ ५७ ॥

सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च ।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—अनेक स्त्रियां ऐसी हैं जो अपने पतिव्रतपनसे, महत्त्वसे, चारित्रसे (सदाचरणोंसे,) विनयसे और विवेकसे इस पृथिवीतलको भूषित (शोभायुक्त) करती हैं ॥ ५८ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

निर्विण्णैर्भवसंक्रमाच्छ्रुतधरैरेकान्ततो निस्पृहै-
र्नार्यो यद्यपि दूषिताः[1] शमधनैर्ब्रह्मव्रतालम्बिभिः ।
निन्द्यन्ते न तथापि निर्मलयमस्वाध्यायवृत्ताङ्किता
निर्वेदप्रशमादिपुण्यचरितैर्याः शुद्धिभूता भुवि ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो संसारके भ्रमणसे विरक्त हैं, शास्त्रोंके पारगामी और स्त्रियोंसे सर्वथा निस्पृह हैं तथा उपशमभावही है धन जिनके ऐसे ब्रह्मचर्यावलंबी मुनिगणोंने यद्यपि स्त्रियोंकी निंदा की है तथापि जो स्त्रियां निर्मल और पवित्र यमनियमस्वाध्यायचारित्रादिसे भूषित हैं और वैराग्य—उपशमादि पवित्राचरणोंसे पवित्र हैं वे निंदा करने योग्य नहीं हैं। क्योंकि निंदा दोषोंकीही की जाती है, किंतु गुणोंकी निंदा नहीं होती ॥ ५९ ॥

इस प्रकार स्त्रियोंकी दोषोंके आश्रय निंदा और गुणोंके आश्रय निंदा नहीं ऐसा वर्णन किया।

कवित्त ।

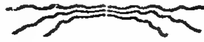
जे प्रमदाजन हैं जगमें तिनके गुण दोष कहे लखि नैनन ।
कामकलंकित हैं तिनके कुचारित्र अनेक बसैं तनुसैनन ॥
वर्णन कौन सकै करने कछु देखि सुने वरने वच ऐनन ।
शील क्षमाव्रतवान सुयोषित हैं तिनकी महिमा जिनवैनन ॥ १२ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते स्त्रीस्वरूपवर्णनरूपो द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

---

१ "निन्दिताः" इत्यपि पाठः ।

अथ त्रयोदशः सर्गः ।



अत्र मैथुन (कामसेवन) का वर्णन करते हैं—

स्मरज्वलनसंभ्रान्तो यः प्रतीकारमिच्छति ।
मैथुनेन स दुर्बुद्धिराज्येनाग्निं निषेधति ॥ १ ॥

अर्थ—जो पुरुष कामरूपी अग्निसे पीड़ित होकर मैथुनसे उस पीड़ाको शान्त करनेकी इच्छा करता है, वह दुर्बुद्धि घृतसे अग्निको बुझाना चाहता है ॥ १ ॥

वरमाज्यच्छटासिक्तः परिरब्धो हुताशनः ।
न पुनर्दुर्गतेर्द्वारं योषितां जघनस्थलम् ॥ २ ॥

अर्थ—घृतकी छटाओंसे सिंचन किये हुए अग्निका आलिंगन करना श्रेष्ठ है, परन्तु स्त्रीके जघनस्थलका आलिंगन करना कदापि श्रेष्ठ नहीं; क्योंकि वह दुर्गतिका द्वार है । अर्थात् अग्निसे जला हुआ तो इस जन्ममें ही किंचित् कष्ट पाता है, किन्तु स्त्रीका आलिंगन करनेमे दुर्गतिमें नाना प्रकारके कष्ट सहने पड़ते हैं ॥ २ ॥

स्मरशीतज्वरातङ्कशङ्किताः शीर्णबुद्धयः ।
विशन्ति वनितापङ्के तत्प्रतीकारवाञ्छया ॥ ३ ॥

अर्थ—कामरूपी शीतज्वरके भयसे नष्ट बुद्धि पुरुप उसके प्रतीकारकी वांछाकरके स्त्रीरूपी कर्दममें (कीचड़में) प्रवेश करते हैं; परन्तु यह समीचीन उपाय नहीं है ॥ ३ ॥

वासनाजनितं मन्ये सौख्यं स्त्रीसङ्गसंभवम् ।
सेव्यमानं यदन्ते स्याद्वैरस्यायैव केवलम् ॥ ४ ॥

अर्थ—स्त्रीके संगसे उत्पन्न हुए सुखका सेवन करना अन्तमें केवल विरसताका ही कारण है । इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्राणीकी पूर्व वासना ऐसीही है; उसीसे ऐसा होता है, किंतु परमार्थसे विचार किया जाय तो यह सुख दुःखही है ॥ ४ ॥

प्रपश्यति यथोन्मत्तः शश्वल्लोष्टेऽपि काञ्चनम् ।
मैथुनेऽपि तथा सौख्यं प्राणी रागान्धमानसः ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष धतूरा खानेसे उन्मत्त होकर मिट्टीके ढेलेमें सोना समझता है, उसी प्रकार रागसे अन्ध होगया है चित्त जिसका ऐसा यह प्राणी मैथुनमेंभी (दुःखमेंभी) सुखानुभव करता है. किंतु वास्तवमें इसमें सुख नहीं है ॥ ५ ॥

अपथ्यानि यथा रोगी पथ्यबुद्ध्या निषेवते ।
सुखबुद्ध्या तथाङ्गानि स्त्रीणां कामी गतत्रपः ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसे रोगी पथ्यकी इच्छासे अपथ्य सेवन करता है उसी प्रकार कामी पुरुष निर्लज्ज होकर सुखकी इच्छासे स्त्रियोंके अंगोंका दर्शनस्पर्शनादि करता है; परंतु उसकी बड़ी भूल है ॥ ६ ॥

कश्चिद्भ्रूते यथा दीपं निर्वाणमपि नन्दितम् ।
स्मरमूढः सुखं तद्वद्दुःखमप्यत्र मैथुने ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार दीपकके बुझजानेपर अनेक जन कहा करते हैं कि 'दीपक बढ़ गया' इसी प्रकार काममूढ पुरुषभी मैथुनमें दुःखही दुःख है तोभी उसको सुख कल्पना करलेता है ॥ ७ ॥

किम्पाकफलसमानं वनितासंभोगसंभवं सौख्यम् ।
आपाते रमणीयं प्रजायते विरसमवसाने ॥ ८ ॥

अर्थ—स्त्रीके संभोगसे उत्पन्न हुआ सुख किम्पाकफल (इन्द्रायणके फल) के समान सेवन करते समय तो रमणीय भासता है, परन्तु अन्तमें विरस है । **भावार्थ**—जैसे–इन्द्रायणका फल देखनेमें सुन्दर सुगन्धित और खानेमें मिष्ट होता है; परन्तु उदरमें जाकर हलाहल विषकासा काम करता है, इसी प्रकार स्त्रीजनित सुखभी सेवन करते रमणीक हैं परन्तु तज्जन्य पापसे नरक निगोदादि दुर्गतियोंके दुःख सहने पड़ते हैं ॥ ८ ॥

मैथुनाचरणे कर्म निर्घृणैः क्रियतेऽधमम् ।
पीयते वदनं स्त्रीणां लालाम्बुकलुषीकृतम् ॥ ९ ॥

अर्थ—निर्दय अथवा ग्लानिरहित पुरुष मैथुनावस्थामें कैसा नीचकर्म करते हैं कि–स्त्रियोंके मुखसे निकली हुई लारोंसे मैले किये हुए मुखका पान करते हैं, अर्थात् चुंबन करते हैं । हा ! इन मूर्खोंको ग्लानिभी नहिं आती ॥ ९ ॥

कण्डूयनतनुस्वेदाद्वेत्ति कुष्ठी यथा सुखम् ।
तीव्रस्मररुजातङ्कपीडितो मैथुनं तथा ॥ १० ॥

अर्थ—जैसे कोढ़ी पुरुष शरीरको खुजाने तथा तपानेसे सुख मानता है उसी प्रकार तीव्र कामरूपी रोगसे दुःखित हुआ पुरुषभी मैथुनकर्मको सुख मानता है । यह बड़ा विपर्यय है, क्योंकि जैसे खुजानेसे खाज बढ़ती है और अन्तमें कष्टदायक जलनको पैदा करती है इसी प्रकार स्त्रीका सेवनभी कामसेवनेच्छाको उत्तरोत्तर बढ़ाता है और अन्तमें कष्टदायक होता है ॥ १० ॥

अशुचीन्यङ्गनाङ्गानि स्मराशीविषमूर्छिताः ।
जिह्वाभिर्विलिहन्त्युच्चैः शुनीनामिव कुक्कुराः ॥ ११ ॥

अर्थ—यद्यपि स्त्रियोंके अंग अशुचि हैं अर्थात् अपवित्र हैं परन्तु उन्हे कामरूपी

सर्पसे काटे हुए अचेत पुरुष अतिशय आसक्त हो जैसे कुत्ते कुतियाके अंगोंको चाटते हैं उसी प्रकार चाटते हैं। हा! इन निर्लज्जोंको ग्लानिभी नहिं आती ॥ ११ ॥

ग्लानिर्मूर्च्छा भ्रमः कम्पः श्रमः स्वेदोऽङ्गविक्रिया ।
क्षयरोगादयो दोषा मैथुनोत्थाः शरीरिणाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जीवोंके यद्यपि ग्लानि, क्षीणता, मूर्च्छा, अचेतनता, भ्रम, कंपन, खेद, स्वेद (पसेव), अंगविकार और क्षयरोग इत्यादि दोष मैथुनसेही उपजते हैं तौभी यह मूर्ख प्राणी ताको सेवता ही है ॥ १२ ॥

अनेकदुःखसन्ताननिदानं विद्धि मैथुनम् ।
कथं तदपि सेवन्ते हन्त रागान्धबुद्धयः ॥ १३ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस मैथुनकर्मको अनेक दुःखोंका कारण जान। आचार्य महाराज खेदपूर्वक कहते हैं,—प्रत्यक्ष दुःखदायक जानकरभी रागान्ध पुरुष इसका सेवन करते हैं, सो बड़ा खेद है ॥ १३ ॥

कुष्टव्रणमिवाजस्रं वाति स्रवति पूतिकम् ।
यत्स्त्रीणां जघनद्वारं रतये तद्धि रागिणाम् ॥ १४ ॥

अर्थ—स्त्रीयोंका जघनद्वार जो कुष्ठके (कोढ़के) घावके समान निरन्तर झरता है तथा दुर्गन्धसे वासता है वहभी रागी पुरुषोंकी रति (प्रीति) के लिये है, यह आश्चर्य है ॥ १४ ॥

काकः कृमिकुलाकीर्णे करङ्के कुरुते रतिं ।
यथा तद्वद्वराकोऽयं कामी स्त्रीगुह्यमन्थने ॥ १५ ॥

अर्थ—जैसे काक कीड़ोंके समूहसे भरे हाड़ वा फलविशेषमें रति (प्रीति) करता है उसी प्रकार यह पामर प्राणीभी स्त्रीके गुह्यस्थानके मंथन करनेमें प्रीति करता है ॥ १५ ॥

आर्या ।

वक्तुमपि लज्जनीये दुर्गन्धे मूत्रशोणितद्वारे ।
जघनबिले वनितानां रमते बालो न तत्त्वज्ञः ॥ १६ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके योनिछिद्रका नाम लेतेही लज्जा आती है, फिर दुर्गन्धमय और मूत्र तथा रुधिरके झरनेका द्वार है। ऐसेमें अज्ञानी ही रमता है. तत्त्वज्ञानी तो कभी नहिं रमता ॥ १६ ॥

वंशस्थः ।

स्वतालुरक्तं किल कुक्कुराधमैः प्रपीयते यद्वदिहास्थिचर्वणात् ।
तथा विटैर्विद्धि वपुर्विडम्बनैर्निषेव्यते मैथुनसंभवं सुखम् ॥१७॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू ऐसा जान कि–जैसे नीच कुत्ते हाड़के चर्वण करनेसे अपने ही तालुसे निकलनेवाले रक्तका पान करके प्रसन्न होते हैं कि यह रुधिर इस हाड़मेंसेही निकलता है इसी प्रकार व्यभिचारी जन अपने और स्त्रीके शरीरकी विडंबनासे उत्पन्न हुए सुखका सेवन करते हैं॥ १७॥

अशुचिष्वङ्गनाङ्गेषु संगताः पश्य रागिणः।
जुगुप्सां जनयन्त्येते लोलन्तः कृमयो यथा॥ १८॥

अर्थ—देखो, जिसप्रकार अपवित्र मलादिकमें कीड़े कलबलाहट करते हैं उसी प्रकार ये चपल कामिजन स्त्रियोंके अपवित्र अंगोंकी संगति करते हुए ग्लानिको उत्पन्न करते हैं॥ १८॥

योनिरन्ध्रमिदं स्त्रीणां दुर्गतेर्द्वारमग्रिमम्।
तत्त्यजन्ति ध्रुवं धन्या न दीना दैववञ्चिताः॥ १९॥

अर्थ—स्त्रियोंका योनिरन्ध्र दुर्गतिका प्रथम (मुख्य) द्वार है, इस कारण उसे जो धन्य पुरुष हैं वे तो अवश्यही त्यागते हैं। किन्तु जो दीन हैं अर्थात् नीच हैं वे नहीं छोड़ते क्योंकि वे दैवसे ठगे हुए अर्थात् अभागी हैं॥ १९॥

मालतीव मृदून्यासां विद्धि चाङ्गानि योषितां।
दारयिष्यन्ति मर्माणि विपाके ज्ञास्यसि स्वयम्॥ २०॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू इन स्त्रियोंके अंगोंको मालती पुष्पके समान कोमल जानता है, परन्तु अन्तमें जब ए तेरे मर्मोंका विदारण करेंगे तब तुझे अपने आप मालूम हो जायगा। **भावार्थ**—तू स्त्रियोंके अंगोंको कोमल समझ स्पर्शनादि करता है, परन्तु इनके फल (दुर्गतियां) बहुतही कष्टकर होंगे॥ २०॥

मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिंगसंघप्रपीडिताः॥ २१॥

अर्थ—हे मूढ! योनिरंध्रमें असंख्यजीवोंकी कोटिकी (समूहकी) उत्पत्ति होती है सो मैथुनाचरणसे वे सब जीव घाते जाते हैं उनकी हिंसासेही दुर्गतिमें दुःख सहने पड़ते हैं॥ २१॥

बीभत्सानेकदुर्गन्धमलाक्तं स्वकलेवरम्।
यत्र तत्र वपुः स्त्रीणां कस्यास्तु रतये भुवि॥ २२॥

अर्थ—इस पृथिवीमें जब अपनाही शरीर जहां तहां बीभत्स अनेक दुर्गन्धियों तथा मलोंसे भरा है तो फिर स्त्रियोंका शरीर किसके रति करने योग्य हो। अर्थात् किसीको प्रीतिके अर्थ नहीं होसकता॥ २२॥

उत्तानोच्छूनमण्डूकदारितोदरसन्निभे ।
चर्मरन्ध्रे मनुष्याणामपूर्वः कोऽप्यसद्ग्रहः ॥ २३ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका योनिरन्ध्र उत्तान कहिये उलटे किये और उच्छून कहिये सूझे हुए मेंडकके विदारे फाड़े हुए शरीरकी आकृतिके समान घृणास्पद है । सोही कवि कहता है कि ऐसे घृणास्पद अपवित्र स्थानमें कोई अपूर्व असमीचीन दुराग्रह है, जो मनुष्य मलिनाचरण करते हैं ॥ २३ ॥

सर्वाशुचिमये काये दुर्गन्धामेध्यसंभृते ।
रमन्ते रागिणः स्त्रीणां विरमन्ति तपस्विनः ॥ २४ ॥

अर्थ—दुर्गन्ध विष्टादिकसे भरे और सर्वत्र अशुचिमय स्त्रियोंके शरीरमें रागीजनही रमते हैं किन्तु तपस्वी उससे विरक्त ही रहते हैं ॥ २४ ॥

मालिनी ।

कुथितकुणपगन्धं योषितां योनिरन्ध्रं
कृमिकुलशतपूर्णं निर्झरत्क्षारवारि ।
त्यजति मुनिनिकायः क्षीणजन्मप्रबन्धो
भजति मदनवीरप्रेरितोऽङ्गी वराकः ॥ २५ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका योनिरन्ध्र बिगड़े हुए व सड़े हुए मुर्देकीसी दुर्गंधवाला है, कीड़ोंके सकेंड़ा समूहोंसे भराहुआ है और क्षारजल (मूत्र) झरता रहता है सो जिनके संसारका अन्त आगया है ऐसे मुनिगण तो इसे छोड़ते हैं और जो रंक कामरूपी सुभटकरके प्रेरित हैं वे सेवन करते हैं ॥ २५ ॥

सोरठा ।

कामीकें रति होय, अशुचि मलिनतियतनविषै ।
पावै दुर्गति सोय, मुनि त्यागै दिव शिव लहै ॥ १३ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते मैथुनप्रकरणं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशः सर्गः ।



आगे स्त्रियोंके संसर्गसे ब्रह्मचर्य भङ्ग होता है इस कारण उसके निषेधका वर्णन करते हैं,—

विरज्याशेषसंगेभ्यो यो वृणीते शिवश्रियम् ।
स क्रुद्धाहेरिव स्त्रीणां संसर्गाद्विनिवर्त्तते ॥ १ ॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त परिग्रहोंसे विरक्त हो क्रुधित सर्पसे कोई जिस प्रकार दूर रहता है उसी प्रकार स्त्रियोंके संसर्गसे दूर रहता है, वही मुक्तिरूपी लक्ष्मीको वरता है। अर्थात् प्राप्त होता है ॥ १ ॥

यथा सद्यो विलीयन्ते गिरयो वज्रताडिताः ।
तथा मत्ताङ्गनापाङ्गप्रहारेणाल्पचेतसः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे वज्रपातसे ताड़े हुए पर्वत शीघ्रही खंड खंड होजाते हैं तैसे यौवनसे मदोन्मत्त स्त्रियोंके नेत्रकटाक्षोंके प्रहारसे अल्पज्ञानी खण्ड २ हो स्त्रियोंमें तन्मय हो जाते हैं। अर्थात् स्त्रियोंका संसर्ग अल्पज्ञोंको खराब करता है ॥ २ ॥

यस्तपस्वी व्रती मौनी संवृतात्मा जितेन्द्रियः ।
कलङ्कयति निःशङ्कं स्त्रीसखः सोऽपि संयमं ॥ ३ ॥

अर्थ—जो मुनि, तपस्वी, व्रती, मौनी, संवरस्वरूप, तथा जितेन्द्रिय हो और स्त्रीकी संगति करता हो वह अपने संयमको कलंक ही लगावै ॥ ३ ॥

मासे मासे व्यतिक्रान्ते यः पिबत्यम्बु केवलम् ।
विमुह्यति नरः सोऽपि संगमासाद्य सुभ्रुवः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मुनि महीने २ का उपवास करके केवल मात्र जलही ग्रहण करता है ऐसा तपस्वीभी स्त्रीकी संगति पा मोहित होजाता है ॥ ४ ॥

सर्वत्राप्युपचीयन्ते संयमाद्यास्तपस्विनाम् ।
गुणाः किन्त्वङ्गनासङ्गं प्राप्य यान्ति क्षयं क्षणात् ॥ ५ ॥

अर्थ—तपस्वियोंके संयमादि गुण सब जगह वृद्धिको प्राप्त होते हैं किन्तु अंगनाके संसर्गको प्राप्त होकर वे गुण क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं ॥ ५ ॥

संचरन्ति जगत्यस्मिन्स्वेच्छया यमिनां गुणाः ।
विलीयन्ते पुनर्नारीवदनेन्दुविलोकनात् ॥ ६ ॥

अर्थ—संयमी गणोंके गुण इस जगतमें स्वेच्छासे यत्र तत्र विस्तारताको प्राप्त होते हैं परन्तु स्त्रियोंके मुखरूपी चंद्रमाके देखनेसे विलीन हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तावद्धत्ते मुनिः स्थैर्यं श्रुतं शीलं कुलक्रमं ।
यावन्मत्ताङ्गनानेत्रवागुराभिर्न रुद्ध्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—मुनि है सो स्थिरता, शास्त्राध्ययन, शील और कुलक्रम (गुरु आम्नायको) तबतकही धारण करता है जबतक यौवन—मदोन्मत्त स्त्रीके नेत्ररूपी फांसीसे नहिं बँधता। अर्थात् स्त्रियोंके नेत्र—कटाक्षपात होते ही शास्त्राध्ययनादि सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

नवनीतनिभं पुंसां मनः सद्यो विलीयते ।
वनितावह्निसंतप्तं सतामपि न संशयः ॥ ८ ॥

अर्थ—पुरुषोंका मन नवनीत (मक्खन) सदृश है सो स्त्रीरूपी अग्निका संयोग होनेपर सत्पुरुषोंका चित्तभी चलायमान हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं ॥ ८ ॥

अन्तःसुप्तोऽपि जागर्त्ति स्मरः संगेन योषिताम् ।
रोगव्रज इवापथ्यसेवासंभावितात्मनाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जैसे अपथ्य सेवन करनेवाले मनुष्योंके रोगोंका समूह उत्पन्न हो जाता है, तैसेही काम है सो अन्तरंग (मनमें) सोता है तोभी स्त्रीके संगममात्रसे जागता है ॥ ९ ॥

क्रियते यैर्मनः स्वस्थं श्रुतप्रशमसंयमैः ।
तेऽपि संसर्गमासाद्य वनितानां क्षयं गताः ॥ १० ॥

अर्थ—जिन परुषोंने शास्त्राध्ययन, प्रशमभाव और संयमसे अपने मनको स्वस्थ (वशीभूत) कर लिया है वे भी स्त्रियोंके संसर्गको प्राप्त होकर नष्ट हो गये हैं ॥ १० ॥

स्थिरीकृत्य मनस्तत्त्वे तावत्तिष्ठति संयमी ।
यावन्नितम्बिनीभोगिभृकुटिं न समीक्षते ॥ ११ ॥

अर्थ—संयमी पुरुष तवतकही मनको तत्त्वमें स्थिर करके रहता है जबतक कि स्त्रीरूपी सर्पकी भृकुटीको नहिं देखता है ॥ ११ ॥

यासां संकल्पलेशोऽपि तनोति मदनज्वरम् ।
प्रत्यासत्तिर्न किं तासां रुणद्धि चरणश्रियम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके संकल्पका लेश मात्र भी मनमें हो तो वह मदनज्वरको वढा देता है तो उनकी निकटता क्या चारित्ररूपी लक्ष्मीको नष्ट भ्रष्ट नहिं करैगी ? ॥ १२ ॥

यस्याः संसर्गमात्रेण यतिभावः कलङ्क्यते ।
तस्याः किं न कथालापैर्भ्रूभङ्गैश्चारुविभ्रमैः ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस स्त्रीके संसर्गमात्रसे ही मुनिपन कलंकित होता है उसके साथ वार्तालाप करने, भौंहके टेढ़ेपन और सुंदर विभ्रम विलासोंके देखनेसे क्या यतिपन नष्ट नहिं होता ? अर्थात् होताही है ॥ १३ ॥

सुचिरं सुष्ठु निर्णीतं लब्धं वा वृद्धसंनिधौ ।
लुप्यते स्त्रीमुखालोकाद्वृत्तरत्नं शरीरिणाम् ॥ १४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हमने वहुत काल बड़ोंकी संगतिमें रहकर भले प्रकार निर्णय कर लिया है तथा यह सिद्धान्त प्राप्त किया है कि—स्त्रीके मुखावलोकन करनेसे जीवोंका संयमरूपी रत्न अवश्यही नष्ट होजाता है ॥ १४ ॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त परिग्रहोंसे विरक्त हो क्रुधित सर्पसे कोई जिस प्रकार दूर रहता है उसी प्रकार स्त्रियोंके संसर्गसे दूर रहता है, वही मुक्तिरूपी लक्ष्मीको वरता है। अर्थात् प्राप्त होता है ॥ १ ॥

यथा सद्यो विलीयन्ते गिरयो वज्रताडिताः।
तथा मत्ताङ्गनापाङ्गप्रहारेणाल्पचेतसः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे वज्रपातसे ताड़े हुए पर्वत शीघ्रही खंड खंड होजाते हैं तैसे यौवनसे मदोन्मत्त स्त्रियोंके नेत्रकटाक्षोंके प्रहारसे अल्पज्ञानी खण्ड २ हो स्त्रियोंमें तन्मय हो जाते हैं। अर्थात् स्त्रियोंका संसर्ग अल्पज्ञोंको खराब करता है ॥ २ ॥

यस्तपस्वी व्रती मौनी संवृतात्मा जितेन्द्रियः।
कलङ्कयति निःशङ्कं स्त्रीसखः सोऽपि संयमं ॥ ३ ॥

अर्थ—जो मुनि, तपस्वी, व्रती, मौनी, संवरस्वरूप, तथा जितेन्द्रिय हो और स्त्रीकी संगति करता हो वह अपने संयमको कलंक ही लगावै ॥ ३ ॥

मासे मासे व्यतिक्रान्ते यः पिबत्यम्बु केवलम्।
विमुह्यति नरः सोऽपि संगमासाद्य सुभ्रुवः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मुनि महीने २ का उपवास करके केवल मात्र जलही ग्रहण करता है ऐसा तपस्वीभी स्त्रीकी संगति पा मोहित होजाता है ॥ ४ ॥

सर्वत्राप्युपचीयन्ते संयमाद्यास्तपस्विनाम्।
गुणाः किन्त्वङ्गनासङ्गं प्राप्य यान्ति क्षयं क्षणात् ॥ ५ ॥

अर्थ—तपस्वियोंके संयमादि गुण सब जगह वृद्धिको प्राप्त होते हैं किन्तु अंगनाके संसर्गको प्राप्त होकर वे गुण क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं ॥ ५ ॥

संचरन्ति जगत्यस्मिन्स्वेच्छया यमिनां गुणाः।
विलीयन्ते पुनर्नारीवदनेन्दुविलोकनात् ॥ ६ ॥

अर्थ—संयमी गणोंके गुण इस जगतमें स्वेच्छासे यत्र तत्र विस्तारताको प्राप्त होते हैं परन्तु स्त्रियोंके मुखरूपी चंद्रमाके देखनेसे विलीन हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तावद्धत्ते मुनिः स्थैर्यं श्रुतं शीलं कुलक्रमं।
यावन्मत्ताङ्गनानेत्रवागुराभिर्न रुद्ध्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—मुनि है सो स्थिरता, शास्त्राध्ययन, शील और कुलक्रम (गुरु आम्नायको) तवतकही धारण करता है जबतक यौवन—मदोन्मत्त स्त्रीके नेत्ररूपी फांसीसे नहिं बँधता। अर्थात् स्त्रियोंके नेत्र–कटाक्षपात होते ही शास्त्राध्ययनादि सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

नवनीतनिभं पुंसां मनः सद्यो विलीयते ।
वनितावह्निसंतप्तं सतामपि न संशयः ॥ ८ ॥

अर्थ—पुरुषोंका मन नवनीत (मक्खन) सदृश है सो स्त्रीरूपी अग्निका संयोग होनेपर सत्पुरुषोंका चित्तभी चलायमान हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं ॥ ८ ॥

अन्तःसुप्तोऽपि जागर्त्ति स्मरः संगेन योषिताम् ।
रोगव्रज इवापथ्यसेवासंभावितात्मनाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जैसे अपथ्य सेवन करनेवाले मनुष्योंके रोगोंका समूह उत्पन्न हो जाता है, तैसेही काम है सो अन्तरंग (मनमें) सोता है तोभी स्त्रीके संगममात्रसे जागता है ॥ ९ ॥

क्रियते यैर्मनः स्वस्थं श्रुतप्रशमसंयमैः ।
तेऽपि संसर्गमासाद्य वनितानां क्षयं गताः ॥ १० ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने शास्त्राध्ययन, प्रशमभाव और संयमसे अपने मनको स्वस्थ (वशीभूत) कर लिया है वे भी स्त्रियोंके संसर्गको प्राप्त होकर नष्ट हो गये हैं ॥ १० ॥

स्थिरीकृत्य मनस्तत्त्वे तावत्तिष्ठति संयमी ।
यावन्नितम्बिनीभोगिभृकुटिं न समीक्षते ॥ ११ ॥

अर्थ—संयमी पुरुष तबतकही मनको तत्त्वमें स्थिर करके रहता है जबतक कि स्त्रीरूपी सर्पकी भृकुटीको नहिं देखता है ॥ ११ ॥

यासां संकल्पलेशोऽपि तनोति मदनज्वरम् ।
प्रत्यासत्तिर्न किं तासां रुणद्धि चरणश्रियम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके संकल्पका लेश मात्र भी मनमें हो तो वह मदनज्वरको बढा देता है तो उनकी निकटता क्या चारित्ररूपी लक्ष्मीको नष्ट भ्रष्ट नहिं करैगी ? ॥ १२ ॥

यस्याः संसर्गमात्रेण यतिभावः कलङ्क्यते ।
तस्याः किं न कथालापैर्भ्रूभङ्गैश्चारुविभ्रमैः ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस स्त्रीके संसर्गमात्रसे ही मुनिपन कलंकित होता है उसके साथ वार्तालाप करने, भौंहके टेढ़ेपन और सुंदर विभ्रम विलासोंके देखनेसे क्या यतिपन नष्ट नहिं होता ? अर्थात् होताही है ॥ १३ ॥

सुचिरं सुष्ठु निर्णीतं लब्धं वा वृद्धसंनिधौ ।
लुप्यते स्त्रीमुखालोकाद्व्रत्तरत्नं शरीरिणाम् ॥ १४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हमने बहुत काल बड़ोंकी संगतिमें रहकर भले प्रकार निर्णय कर लिया है तथा यह सिद्धान्त प्राप्त किया है कि—स्त्रीके मुखावलोकन करनेसे जीवोंका संयमरूपी रत्न अवश्यही नष्ट होजाता है ॥ १४ ॥

पुस्तोपलविनिष्पन्नं दारुचित्रादिकल्पितम् ।
अपि वीक्ष्य वपुः स्त्रीणां मुह्यत्यङ्गी न संशयः ॥ १५ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके शरीरकी आकृति पुस्त[1] (मिट्टी आदिसे) व पाषाणसे रची हुई तथा काष्ठ चित्रादिसे रची हुईको देखकरभी प्राणी मोहको प्राप्त होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है. फिर साक्षात् स्त्रीको देखनेसे क्यों नहीं मोहित होगा ? अर्थात् अवश्यही होगा. ॥ १५ ॥

यहां स्त्रीका संसर्ग होनेपर क्या क्या अवस्था होती हैं सो कहते हैं—

दृष्टिपातो भवेत्पूर्वं व्यामुह्यति ततो मनः ।
प्रणिधत्ते जनः पश्चात्तत्कथागुणकीर्त्तने ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रथम तौ स्त्रीपर दृष्टि पड़ती है, तत्पश्चात् चित्त मोहित होता है, तत्पश्चात् उस स्त्रीकी कथा और गुणकीर्तनमें मन लगाता है ॥ १६ ॥

ततः प्रेमानुबन्धः स्यादुभयोरपि निर्भरम् ।
उत्कण्ठते ततश्चेतः प्रेमकाष्ठप्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अर्थ—गुणकीर्तनके पश्चात् दोनोंके परस्पर प्रेमस्नेहकी अतिशयतासे प्रेमग्रंथि पड़ जाती है, तत्पश्चात् चित्त स्नेहकी सीमापर स्थित हो उत्कंठित रहता है कि कब मिलाप हो ॥ १७ ॥

दानदाक्षिण्यविश्वासैरुभयोर्वर्द्धते स्मरः ।
ततः शाखोपशाखाभिः प्रीतिवल्ली विसर्पति ॥ १८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्तप्रकारसे तथा दान-दाक्षिण्य-विश्वासादिसे दोनोंके शरीरमें कामकी वृद्धि होती है । तत्पश्चात् शाखा उपशाखाओंसे वह प्रीतिरूपी लता (बेल) विस्तृत हो जाती है ॥ १८ ॥

मनो मिलति चान्योऽन्यं निःशङ्कं संगलालसं ।
प्रणश्यति ततो लज्जा प्रेमप्रसरपीडिता ॥ १९ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् निःशंक संगमका लोलुप दोनोंका मन परस्पर एक हो जाता है। तत्पश्चात् प्रेमके प्रसर (वेग) से पीडित होकर लज्जा नष्ट हो जाती है। अर्थात् दोनों ऐसे निर्लज्ज हो जाते हैं, कि बड़ोंके निकट रहनेपर भी परस्पर वचनालाप दृष्टिसाम्यतादि निर्लज्जताके कार्य होने लगते हैं ॥ [illegible]

नि[illegible] [illegible]विलम्बितम् ।
[illegible] प्रविजृम्भते ॥ २० ॥

१ "[illegible] कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते " ॥ १ ॥
[illegible] किये हुए पदार्थको पुस्त कहते हैं॥ १॥

अर्थ—तत्पश्चात् दोनों एकान्तस्थान पातेही निःशंक हो हास्यरूप वार्तालाप करते रहते हैं. तत्पश्चाद्दर्शन स्पर्शनादि इंधनसे उत्पन्न हुई कामाग्नि प्रज्वलित (तीव्र) हो जाती है ॥ २० ॥

बहिरन्तस्ततस्तेन दह्यमानोऽग्निना भृशम् ।
अविचार्य जनः शीघ्रं ततः पापे प्रवर्त्तते ॥ २१ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् यह मनुष्य उस कामरूपी अग्निसे बाह्यमें तौ शरीर और अन्तरंगमें चित्तके अतिशय दाहरूप होनेसे विना विचारेही पापकार्यमें प्रवर्त्तने लग जाता है. इसप्रकार अनुक्रमसे स्त्रीके संसर्गसे मनुष्यकी पापाचरणमें प्रवृत्ति हो जाती है ॥ २१ ॥

श्रुतं सत्यं तपः शीलं विज्ञानं वृत्तमुत्तमम् ।
इन्धनीकुरुते मूढः प्रविश्य वनितानले ॥ २२ ॥

अर्थ—इसप्रकार यह मूढ प्राणी स्त्रीरूपी अग्निमें प्रवेश करके शास्त्राध्ययन, सत्यव्रत, तप, शील (ब्रह्मचर्य), विज्ञान और उत्तम चारित्र इनको इंधनकी समान जला देता है। अर्थात्—स्त्रीके संसर्गसे समस्त धर्म कर्म नष्ट कर देता है ॥ २२ ॥

स्फुरन्ति हृदि संकल्पा ये स्त्रीव्यासक्तचेतसां ।
रागिणां तानि हे भ्रातर्न कोऽपि गदितुं क्षमः ॥ २३ ॥

अर्थ—हे भाई ! जिन पुरुषोंका चित्त स्त्रियोंमें आसक्त है उन रागियोंके मनमें जो जो संकल्प होते हैं उन्हे कहनेको कोईभी समर्थ है ? कदापि नहीं. क्योंकि कामीके मनमें क्षणक्षणमें अनेक संकल्प होते रहते हैं ॥ २३ ॥

संसर्गप्रभवा नूनं गुणा दोषाश्च देहिनाम् ।
एकान्ततः स दोषाय स्त्रीभिः सार्द्धं कृतः क्षणम् ॥ २४ ॥

अर्थ—सामान्यतासे संसर्गसे जीवोंके गुण दोष दोनोंही होते हैं, परन्तु स्त्रियोंके साथ जो संसर्ग क्षणभरके लियेभी कियाजाय तो वह केवल दोषोंके लियेही होता है ॥ २४ ॥

पुण्यानुष्ठानसम्भूतं महत्वं क्षीयते नृणाम् ।
सद्यः कलङ्क्यते वृत्तं साहचर्येण योषिताम् ॥ २५ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके साथ संसर्ग रहनेसे मनुष्योंका अनेक पुण्यकार्योंसे प्राप्त हुआ महत्व (बड़प्पन) तत्काल नष्ट हो जाता है और जो व्रत चारित्र हैं वे कलंकित हो जाते हैं ॥ २५ ॥

अपवादमहापङ्के निमज्जन्ति न संशयः ।
यमिनोऽपि जगद्वन्द्यवृत्ता रामास्पदं श्रिताः ॥ २६ ॥

अर्थ—जो संयमी मुनि जगतसे वंदनेयोग्य चारित्रवाले हैं वे भी स्त्रीके संसर्गसे अपवादरूपी महाकर्दममें निःसंदेह डूबजाते हैं अर्थात् फँस जाते हैं ॥ २६ ॥

अनन्तमहिमाकीर्णं प्रोत्तुङ्गं वृत्तपादपम् ।
वामा कुठारधारेव विच्छिनत्त्याशु देहिनाम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जीवोंके अनन्तमहिमायुक्त, बहुत ऊंचा चारित्ररूपी जो वृक्ष है उसे स्त्री कुल्हाडेके समान तत्काल काट डालती है ॥ २७ ॥

लोचनेषु मृगाक्षीणां क्षिप्तं किंचित्तदञ्जनम् ।
येनापाङ्गैः क्षणादेव मुह्यत्यासां जगत्त्रयम् ॥ २८ ॥

अर्थ—आचार्यमहाराज उत्प्रेक्षासे कहते हैं कि स्त्रियोंके नेत्रोंमें विधाताने कोई ऐसाही मोहिनी अंजन डाल दिया है कि जिससे इनके कटाक्षोंको देखनेसे क्षणभरमें यह तीनो लोक मोहित हो जाते हैं ॥ २८ ॥

कौतुकेन भ्रमेणापि दृष्टिर्लग्नाङ्गनामुखे ।
क्रष्टुं न शक्यते लोकैः पङ्कमग्नेव हस्तिनी ॥ २९ ॥

अर्थ—जैसे हस्तिनी कर्दममें फँसजाती है तो उसको निकालना बड़ा कठिन होता है, उसी प्रकार मनुष्योंकी दृष्टि कौतुक वा भ्रमसे भी स्त्रीके मुखपर पड़जाती है तो वे उसे खींचनेको असमर्थ होते हैं ॥ २९ ॥

एकत्र वसतिः साध्वी वरं व्याघ्रोरगैः सह ।
पिशाचैर्वा न नारीभिर्निमेषमपि शस्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—व्याघ्र, सर्प तथा पिशाचोंके साथ एकत्र रहना तो श्रेष्ठ है परन्तु स्त्रियोंके साथ निमेषमात्र भी रहना श्रेष्ठ नहीं है ॥ ३० ॥

भ्रूलताचलनैर्येषां स्खलत्यमरमण्डली ।
तेऽपि संसर्गमात्रेण वनितानां विडम्बिताः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिनकी भौंहरूपी लताके हिलनेमात्रसे देवोंका समूह स्खलित (भयभीत वा क्षुभित) हो जाता है, ऐसे चक्रवर्त्यादिक बड़े २ महापुरुष भी स्त्रियोंके संसर्गमात्रसे विडंबनारूप हो जाते हैं; फिर सामान्य मनुष्यका तो कहनाही क्या ? ॥ ३१ ॥

त्यजन्ति वनिताचौररुद्धाश्चारित्रमौक्तिकम् ।
यतयोऽपि तपोभङ्गकलङ्कमलिनाननाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—स्त्रीरूपी चोरके रोकनेसे (ललकारनेपर) तप भंग करनेके कलंकसे मलिन है मुख जिनका ऐसे मुनिगण भी अपना चारित्ररूपी मोतियोंका हार उसके सामने डाल देते हैं, अन्यकी तो कथाही क्या ? ॥ ३२ ॥

ब्रह्मचर्यच्युतः सद्यो महानप्यवमन्यते ।
सर्वैरपि जनैर्लोके विध्यात इव पावकः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो कोई बड़ा प्रतिष्ठित हो और ब्रह्मचर्यसे च्युत होजाय तो वहभी सबके द्वारा अपमानित किया जाता है। क्योंकि जैसे अग्निके बुझ जानेपर उससे किसीकोभी भय नहिं रहता उसी प्रकार ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट होनेपर बड़े पुरुषकाभी किसीको भय नहिं रहता। अर्थात् उसका अपमान हरकोई करसकता है ॥ ३३ ॥

विशुद्ध्यति जगद्येषां स्वीकृतं पादपांसुभिः ।
वञ्चिता बहुशस्तेऽपि वनितापाङ्गवीक्षणात् ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिन महापुरुषोंके चरणोंकी रजसे यह जगत् पवित्र हो जाता है वेभी प्रायः स्त्रियोंके कियेहुए कटाक्षोंके देखनेसे वञ्चित (नष्ट) हो गये हैं। ऐसे महापुरुषोंकी कथा जगतमें तथा शास्त्रोंमें बहुत हैं ॥ ३४ ॥

तपःश्रुतकृताभ्यासा ध्यानधैर्यावलम्बिनः ।
श्रूयन्ते यमिनः पूर्वं योषाभिः कश्मलीकृताः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जिनके तप और शास्त्रोंका अभ्यास है तथा जो ध्यानमें धैर्य (दृढता) का अवलंबन करनेवाले हैं ऐसे मुनिभी स्त्रियोंसे कलंकित हुए सुने जाते हैं, अन्य क्षुद्र पुरुषोंका तो कहनाही क्या ॥ ३५ ॥

उह्यते यत्र मातङ्गैर्नगोत्तुङ्गैर्जलप्लवे ।
तत्र व्यूढा न संदेहः प्रागेव मृगशावकाः ॥ ३६ ॥

अर्थ—क्योंकि जिस जलके प्रवाहमें पर्वतसरीखे बड़े २ हाथीभी बह जाते हैं, उसमें यदि पहिले मृगोंके बच्चे बह गये तो इसमें क्या संदेह है ? ॥ ३६ ॥

मालिनी ।

इह हि वदनकञ्जं हावभावालसाढ्यं
मृगमदललिताङ्कं विस्फुरद्भ्रूविलासम् ।
क्षणमपि रमणीनां लोचनैर्वीक्ष्यमाणं
जनयति हृदि कम्पं धैर्यनाशं च पुंसाम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—इस जगतमें हावभाव आदि विलासोंसे भरे हुए, कस्तूरीकी सुन्दर बिन्दीवाले तथा विशेषताके साथ चंचल हैं भौंहके विलास जिसमें ऐसे स्त्रियोंके मुखरूपी कमलको क्षणभरभी नेत्रोंसे देखनेपर वह पुरुषोंके हृदयमें कम्प उत्पन्न करके धैर्यको नष्ट कर देता है ॥ ३७ ॥

स्रग्धरा ।

यासां सीमन्तिनीनां कुरबकतिलकाशोकमाकन्दवृक्षाः
प्राप्योच्चैर्विक्रियन्ते ललितभुजलतालिङ्गनादीन्विलासान् ।

तासां पूर्णेन्दुगौरं मुखकमलमलं वीक्ष्य लीलारसाढ्यं
को योगी यस्तदानीं कलयति कुशलो मानसं निर्विकारम् ॥३८॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके सुंदर भुजलताओंके आलिंगनादि विलासोंको प्राप्त होकर कुरबक, तिलक, अशोक और आम्रवृक्षभी अतिशय विकारको प्राप्त होते हैं अर्थात् फलते फूलते हैं तो उन स्त्रियोंके पूर्णचन्द्रमाके समान गौर लीलारसयुक्त मुखकमलको देखकर ऐसा कौनसा योगी यति प्रवीण है जो अपने मनको उस समय निर्विकार रखसके? अर्थात् कोईभी नहीं ॥ ३८ ॥

फिरभी विशेषताके साथ कहते हैं,—

तावद्धत्ते प्रतिष्ठां परिहरति मनश्चापलं चैष तावत्
तावत्सिद्धान्तसूत्रं स्फुरति हृदि परं विश्वतत्त्वैकदीपम् ।
क्षीराकूपारवेलावलयविलसितैर्मानिनीनां कटाक्षै-
र्यावन्नो हन्यमानं कलयति हृदयं दीर्घदोलायितानि ॥ ३९ ॥

अर्थ—यह पुरुष जबतक क्षीरसमुद्रकी लहरोंके वलयसरीखे विलासरूप मानिनी स्त्रियोंके कटाक्षोंसे हननेमें आये हुए हृदयके दीर्घ दोलायमान चंचलभावको प्राप्त नहिं होता तबतकही यह मनुष्य प्रतिष्ठाको धारण करता और मनकी चंचलताको छोड़कर स्थिरता रखसकता है और तबतकही समस्त तत्त्वोंको प्रकाश करनेके लिये दीपकके सम सिद्धान्तसूत्र हृदयमें स्फुरित होते हैं। अर्थात् स्त्रियोंके सुंदर कटाक्षोंको देखनेसे किसका मन स्थिर रह सकता है? ॥ ३९ ॥

संसर्गाद्दुर्बलां दीनां संत्रस्तामप्यनिच्छतीम् ।
कुष्ठिनीं रोगिणीं जीर्णां दुःखितां क्षीणविग्रहाम् ॥ ४० ॥
निन्दितां निन्द्यजातीयां स्वजातीयां तपस्विनीम् ।
बालामपि तिरश्चीं स्त्रीं कामी भोक्तुं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥

अर्थ—स्त्रीके संसर्गसे भ्रष्ट हुये कामी पुरुष दुर्बल, दीन (भिखारिनी), भयभीत, विनाइच्छती, कोढ़नी, रोगिणी, बुढ़िया, दुःखिनी, क्षीणशरीरवाली, निंदित (वेश्यादिक) तथा निन्द्यजातिकी चंडालनी आदि, तथा स्वजातीया, तपस्विनी, बालिका, और तो क्या तिर्यंचनीसेभी व्यभिचार करने लग जाते हैं. इसकारण ब्रह्मचारियोंको स्त्रीका संसर्ग सर्वथा छोड़ना चाहिये ॥ ४० ॥ ४१ ॥

अङ्गनापाङ्गबाणालीं प्रपतन्तीं निवारय ।
विधाय हृदयं धीर दृढं वैराग्यवर्मितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—अब आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि—हे धीर वीर, अपने हृदयको

वैराग्यरूपी दृढ कवचसे वेष्टित करके स्त्रियोंके कटाक्षबाणोंकी पड़ती हुई पंक्तिको निवारण कर ॥ ४२ ॥

ब्रह्मचर्यविशुद्ध्यर्थं सङ्गः स्त्रीणां न केवलम् ।
त्याज्यः पुंसामपि प्रायो विटविद्यावलम्बिनाम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—हे भाई ! ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये केवल स्त्रियोंके संसर्गकाही निषेध नहीं किया है; किन्तु विटविद्यावलम्बी व्यभिचारी स्त्रीपुरुषोंका संगभी त्यागनेयोग्य कहा है ॥ ४३ ॥

मदान्धैः कामुकैः पापैर्वञ्चकैर्मार्गविच्युतैः
स्तब्धलुब्धाधमैः सार्द्धं संगो लोकद्वयान्तकः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो मदसे अंधे हैं, कामी हैं, पापी हैं, ठग हैं, कुमार्गी हैं, स्तब्ध हैं, मानी हैं, अधम हैं तथा नीच हैं, इनमेंसे किसीकेभी साथ संसर्ग करना दोनों लोकोंका बिगाड़नेवाला है, इसकारण इनकी संगति करना सर्वथा त्याज्य है ॥ ४४ ॥

अब इस प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

स्रग्धरा ।

सूत्रे दत्तावधानाः प्रशमयमतपोध्यानलब्धावकाशाः
शश्वत्संन्यस्तसंगा विमलगुणमणिग्राममभाजः स्वयं ये ।
श्रूयन्ते कामिनीनां स्तनजघनमुखालोकनात्तेऽपि भग्ना
मज्जन्तो मोहवार्धौ जिनपतियतयः प्राक् प्रसिद्धाः कथासु ॥४५॥

अर्थ—सिद्धान्तसूत्रोंमें दिया है चित्त जिन्होंने, ऐसे तथा प्रशमभाव और यम–नियम–तप–ध्यानादिमें समस्त काल बितानेवाले, निरन्तर परिग्रहके त्यागी, निर्मलगुणरूपी मणियोंके समूहको धारण करनेवाले ऐसे जैनयती (रुद्रादिक) भी स्त्रियोंके स्तन, जघन व मुखके देखनेसे भ्रष्ट होकर मोहरूपी समुद्रमें डूबेहुए कथाओंमें प्रसिद्ध हैं अर्थात् सुने जाते हैं। **भावार्थ**—स्त्रीका संसर्गही ऐसा है कि जिससे कोईभी नहिं बचते । और जो धीर, वीर महापुरुष इसके संसर्गसे बचते हैं वे धन्य हैं ॥ ४५ ॥

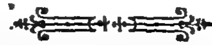
इसप्रकार स्त्रीके संसर्गका निषेध वर्णन किया—

दोहा ।

तपसी मौनी संयमी, श्रुतपाठी युत मान।
तरुणीके संसर्गतें, बिगड़ैं तजहु सुजान ॥ १४ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते ब्रह्मचर्यमहाव्रतान्तर्गतस्त्रीसंसर्गनिषेधवर्णनं नाम चतुर्दश प्रकरणम् ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदश प्रकरणम् ।



आगे इस ब्रह्मचर्यमहाव्रतके वर्णनमें वृद्धसेवाका वर्णन करके इस महाव्रतका व्याख्यान पूर्ण करते हैं—

लोकद्वयविशुद्ध्यर्थं भावशुद्ध्यर्थमञ्जसा ।
विद्याविनयवृद्ध्यर्थं वृद्धसेवैव शस्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनायास दोनों लोकोंकी सिद्धिके लिये, भावोंकी शुद्धताके लिये तथा विद्याविनयकी वृद्धिके लिये वृद्धपुरुषोंकी (गुरुजनोंकी) सेवाहीकी प्रशंसा कीगई है । **भावार्थ**—गुरुजनोंके (बड़ोंके) निकट रहने तथा उनकी सेवा करनेसे यह लोक परलोक सुधरता है, अपने परिणाम शुद्ध रहते हैं, विद्याविनयादिक बढ़ते हैं और मानकषायकी हानि इत्यादि गुण होते हैं ॥ १ ॥

कषायदहनः शान्तिं याति रागादिभिः समम् ।
चेतः प्रसत्तिमाधत्ते वृद्धसेवावलम्बिनाम् ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरुष वृद्धसेवा करनेवाले हैं उनकी कषायरूपी अग्नि रागादिसहित शान्त होजाती है और चित्त प्रसन्न वा निर्मल होजाता है. बड़ोंकी सेवासेही ये गुण होते हैं ॥ २ ॥

निश्चलीकुरु वैराग्यं चित्तदैत्यं नियन्त्रय ।
आसादय वरां बुद्धिं[१] दुर्बुद्धे वृद्धसाक्षिकम् ॥ ३ ॥

अर्थ—आचार्यमहाराज यहां उपदेश करते हैं कि-हे दुर्बुद्धि आत्मा ! गुरुजनोंकी साक्षीपूर्वक अर्थात् गुरुजनोंके निकट रहकर तू अपने वैराग्यको तो निर्मल कर और संसारदेह-भोगोंसे लेशमात्रभी राग मत कर, तथा चित्तरूपी दैत्य (राक्षस) जो कि स्वेच्छासे प्रवर्तता है उसे वशमें कर और उत्कृष्ट बुद्धिको (विवेकिताको) अंगीकार कर । क्योंकि ये गुण गुरुजनोंकी सेवा करनेसेही प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

अब वृद्धोंका स्वरूप कहते हैं,—

स्वतत्त्वनिकषोद्भूतं विवेकालोकवर्द्धितम् ।
येषां बोधमयं चक्षुस्ते वृद्धा विदुषां मताः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिनके आत्मतत्त्वरूप कसोटीसे उत्पन्न भेदज्ञानरूप आलोकसे बढ़ाया हुआ ज्ञानरूपी नेत्र है उनकोही विद्वानोंने वृद्ध कहा है । **भावार्थ**—स्वपर पदार्थोंको

---

१ 'परां शुद्धिं' इत्यपि पाठः ।

जाननेवाला जिनका ज्ञान है ऐसे ज्ञानीही वृद्ध कहाते हैं, केवल अवस्यासेही वृद्ध नहिं होते ॥ ४ ॥

तपःश्रुतधृतिध्यानविवेकयमसंयमैः ।
ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यन्ते न पुनः पलिताङ्कुरैः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो मुनि तप, शास्त्राध्ययन, धैर्य, ध्यान, विवेक (भेदज्ञान), यम, तथा संयमादिकसे वृद्ध (बढे हुए) अर्थात् बड़े हैं वेही वृद्ध होते हैं। केवल अवस्था (उमर) मात्र अधिक होनेसे वा केश सफेद होनेसेही वृद्ध नहिं होते ॥ ५ ॥

प्रत्यासत्तिं समायातैर्विषयैः स्वान्तरञ्जकैः ।
न धैर्यं स्खलितं येषां ते वृद्धा विबुधैर्मताः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिनके निकट मनको रंजन करनेवाले विषयोंके प्राप्त होनेपरभी चित्तसे धीरता स्खलित (नष्ट) नहिं होती उनकोही विद्वानोंने वृद्ध माना है, अर्थात् विषयोंसे चलायमान होजांय वे बड़े काहेके ? ॥ ६ ॥

न हि स्वप्नेऽपि संयाता येषां सद्वृत्तवाच्यता ।
यौवनेऽपि मता वृद्धास्ते धन्याः शीलशालिभिः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिनके सदाचरण स्वप्नमेंभी कभी कलंकित (मैले) नहिं हुए वे यौवनावस्थामेंभी वृद्ध हैं और वेही धन्य पुरुष हैं ऐसा ब्रह्मचारी महात्माओंने माना है ॥ ७ ॥

यहां विशेष कहते हैं,—

प्रायःशरीरशैथिल्यात्स्यात्स्वस्था मतिरङ्गिनाम् ।
यौवने तु क्वचित्कुर्याद्दृष्टतत्त्वोऽपि विक्रियाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—यद्यपि शरीरके शिथिल होनेसे (वृद्धावस्था होनेसे) जीवोंकी बुद्धिभी स्वस्थ (निश्चित) होजाती है परन्तु यौवनावस्थामें तो जिसने तत्त्वोंका स्वरूप जाना है वहभी कुछ विक्रियाको धारण करता है। **भावार्थ**—युवावस्थामें जो चलायमान नहिं होते वेही धन्य पुरुष हैं ॥ ८ ॥

वार्द्धक्येन वपुर्धत्ते शैथिल्यं च यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां विषयाशा निवर्त्तते ॥ ९ ॥

अर्थ—मनुष्योंका शरीर जैसे जैसे शिथिलताको धारण करता है तैसे तैसेही विषयोंकी आशा घटती है. परन्तु युवावस्थामें जिनके आशाका नाश हो यही अधिकता है ॥ ९ ॥

हीनाचरणसंभ्रान्तो वृद्धोऽपि तरुणायते ।
तरुणोऽपि सतां धत्ते श्रियं सत्संगवासितः ॥ १० ॥

अर्थ—जो वृद्ध होकर हीनाचरणोंसे व्याकुल हो भ्रमता फिरै वह वृद्ध होनेपरभी तरुण है और जो सत्संगतिसे रहता है वह तरुण होनेपरभी सत्पुरुषोंकीसी प्रतिष्ठा पाता है, अर्थात् वास्तविक वृद्ध कहाता है ॥ १० ॥

साक्षाद्वृद्धानुसेवेयं मातेव हितकारिणी ।
विनेत्री वागिवाप्तानां दीपिकेवार्थदर्शिनी ॥ ११ ॥

अर्थ—यह वृद्धसेवा साक्षात् माताकी समान तौ हित करनेवाली है और आप्तवाणी (जिनवाणी) के समान समीचीन शिक्षा देनेवाली है तथा दीपकके समान पदार्थोंको दिखानेवाली है ॥ ११ ॥

कदाचिद्दैववैमुख्यान्मातापि विकृतिं भजेत् ।
न देशकालयोः क्वापि वृद्धसेवा कृता सती ॥ १२ ॥

अर्थ—दैवके विमुख होनेसे माता तो कदाचित् पुत्रको अहितैषिणी होभी जाय तौ आश्चर्य नहीं किन्तु कीहुई वृद्धसेवा किसीभी देश वा कालमें हानिकारक नहिं होती। **भावार्थ**—यह वृद्धसेवा निरन्तर जीवोंका हितही करती है ॥ १२ ॥

अन्ध एव वराकोऽसौ न सतां यस्य भारती ।
श्रुतिरन्ध्रं समासाद्य प्रस्फुरत्यधिकं हृदि ॥ १३ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी पवित्रवाणी जिसके कानोंमें प्राप्त होकर हृदयमें प्रकाशमान नहिं हुई वह रंक अन्धाही है । क्योंकि—सत्पुरुषोंकी वाणी मनुष्यके हृदयनेत्रको खोल देती है. सो जिसके हृदयमें सत्पुरुषोंकी वाणीने प्रवेश नहिं किया वह वास्तवमें अंधाही है ॥ १३ ॥

सत्संसर्गसुधास्यन्दैः पुंसां हृदि पवित्रिते ।
ज्ञानलक्ष्मीः पदं धत्ते विवेकमुदिता सती ॥ १४ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंके सत्संसर्गरूपी अमृतके झरनेसे पुरुषोंका हृदय पवित्र होकर उसमें विवेकसे प्रसन्न हुई ज्ञानलक्ष्मी निवास करती है । **भावार्थ**—सत्पुरुषोंकी संगतिसे समीचीन ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

वृद्धोपदेशघर्मांशुं प्राप्य चित्तकुशेशयम् ।
न प्राबोधि कथं तत्र संयमश्रीः स्थितिं दधे ॥ १५ ॥

अर्थ—मनुष्योंका चित्तरूपी कमल यदि वृद्धपुरुषोंके उपदेशरूपी सूर्यको प्राप्त होजाय तो उसमें संयमरूप लक्ष्मी क्यों नहीं निवास करै ? अर्थात्—सत्पुरुषोंके वचन जब चित्तमें रहैं तबही संयम दृढ रहता है ॥ १५ ॥

अनुपास्यैव यो वृद्धमण्डलीं मन्दविक्रमः ।
जगत्तत्त्वस्थितिं वेत्ति स मिमीते नभः करैः ॥ १६ ॥

अर्थ—जो पुरुष अल्पशक्तिवाला है और सत्पुरुषोंकी मंडलीमें रहे विनाही जगत्के तत्त्वस्वरूपकी अवस्थाको जानना चाहता है, वह आकाशको हाथोंसे मापता है । भावार्थ—सत्पुरुषोंकी सेवाके विना अल्पशक्तिवालेको जगतकी रीतिनीतिका ज्ञान नहिं हो सकता ॥ १६ ॥

शीतांशुरश्मिसंपर्काद्विसर्पति यथाम्बुधिः ।
तथा सद्वृत्तसंसर्गान्नृणां प्रज्ञापयोनिधिः ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणोंसे समुद्र बढ़ता है उसी प्रकार समीचीन वृत्तोंके धारण करनेवाले सत्पुरुषोंकी संगतिसे मनुष्योंका प्रज्ञारूपी समुद्र बढ़ता है ॥ १७ ॥

नैराश्यमनुबध्नाति विध्याप्याशाहविर्भुजं ।
आसाद्य यमिनां योगी वाक्पथातीतसंयमम् ॥ १८ ॥

अर्थ—योगी (मुनि) संयमी पुरुषोंके महान् वचनमार्गसे अगोचर संयमको प्राप्त हो, आशारूप अग्निको बुझाकर, निराशाका अवलंबन करता है । भावार्थ—संयमी मुनियोंकी संगतिसे आशा नष्ट होकर चित्त शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

वृद्धानुजीविनामेव स्युश्चारित्रादिसम्पदः ।
भवत्यपि च निर्लेपं मनः क्रोधादिकश्मलम् ॥ १९ ॥

अर्थ—वृद्धों (सत्पुरुषों) की सेवा करनेवाले पुरुषोंके ही चारित्र आदि सम्पदा होती हैं और क्रोधादि कषायोंसे मैला मन निर्लेप (निर्मल) हो जाता है ॥ १९ ॥

सुलभेष्वपि भोगेषु नृणां तृष्णा निवर्त्तते ।
सत्संसर्गसुधास्यन्दैः शश्वदार्द्रीकृतात्मनाम् ॥ २० ॥

अर्थ—जिनका आत्मा सत्पुरुषोंके संसर्गरूपी अमृतके झरनेसे आर्द्र (भीजाहुआ-गीला) रहता है उन पुरुषोंके ही भोग सुलभ होते हैं और उनके ही उन प्राप्त हुए भोगोंमें तृष्णाकी निवृत्ति (निस्पृहता) होती है ॥ २० ॥

कातरत्वं परित्यज्य धैर्यमेवावलम्बते ।
सत्संगजपरिज्ञानरञ्जितात्मा जनः स्वयम् ॥ २१ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी संगतिसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे रंजायमान हो गया है आत्मा जिसका ऐसा पुरुष अपने आपही कायरताको छोड़ धैर्यावलंबन करता है । भावार्थ—सत्पुरुषोंकी संगतिसे ज्ञान होता है और कायरता नष्ट होकर धीरता आती है. कष्ट आनेपर पुरुष समीचीन मार्गसे च्युत नहिं होता ॥ २१ ॥

पुण्यात्मना गुणग्रामसीमासंसक्तमानसैः ।
तीर्यते यमिभिः किं न कुविद्यारागसागरः ॥ २२ ॥

अर्थ—पुण्यपुरुषोंके गुणग्रामकी सीमामें जिनका मन लगाहुआ है वे मुनि क्या कुविद्यारूपी समुद्रको नहिं तिरैंगे ? अवश्य तिरैंगे । क्योंकि जब सत्पुरुषोंके गुणोंमें मन लग जाता है तब अन्य पदार्थोंसे प्रीति हट जाती है ॥ २२ ॥

तत्त्वे तपसि वैराग्ये परां प्रीतिं समश्नुते ।
हृदि स्फुरति यस्योच्चैर्वृद्धवाग्दीपसन्ततिः ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यके हृदयमें सत्पुरुषोंके वचनरूपी दीपककी सन्तति (परिपाटी) प्रकाशमान है उसकी तत्त्वोंमें, तपमें तथा वैराग्यमें अतिशय उत्कृष्ट प्रीति हो जाती है ॥ २३ ॥

मिथ्यात्वादिनगोत्तुङ्गशृङ्गभङ्गाय कल्पितः ।
विवेकः साधुसगोत्थो वज्रादप्यजयो नृणाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी संगतिसे उत्पन्न हुआ मनुष्योंका विवेक मिथ्यात्वादि पर्वतोंके ऊंचे शिखरोंको (विचारमें आये मिथ्यात्वादि भावोंको) खंड खंड करनेके लिये वज्रसे अधिक अजेय है ॥ २४ ॥

अप्यनादिसमुद्भूतं क्षीयते निबिडं तमः ।
वृद्धानुयायिनां च स्याद्विश्वतत्त्वैकनिश्चयः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो वृद्धपुरुषोंके (सत्पुरुषोंके) अनुयायी हैं उनका अनादिकालका उत्पन्न निबिड़ अज्ञानरूप अन्धकार नष्ट हो जाता है और समस्त तत्त्वोंका अद्वितीय निश्चय हो जाता है, अर्थात् अज्ञानका लेशमात्रभी नहिं रहता ॥ २५ ॥

अन्तःकरणजं कर्म यः स्फोटयितुमिच्छति ।
स योगिवृन्दमाराध्य करोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पुरुष अन्तःकरणसे (मनसे) उपजे कर्मको दूर करनेकी इच्छा करता है वह पुरुष योगीश्वरोंके समूहकी सेवा करता है और वही अपनी आत्मामें तिष्ठता है। अर्थात् योगीश्वरोंको सत्संगतिमें रहनेसे ही आत्मानुभवकी प्राप्ति और कर्मोंका नाश होता है ॥ २६ ॥

एकैव महतां सेवा स्याज्जेत्री भुवनत्रये ।
ययैव यमिनामुच्चैरन्तर्ज्योतिर्विजृम्भते ॥ २७ ॥

अर्थ—इस त्रिभुवनमें सत्पुरुषोंकी सेवा ही एकमात्र जयनशील (कर्मोंको जीतनेवाली) है। इससेही मुनियोंके अन्तःकरणमें ज्ञानरूप ज्योतिका प्रकाश विस्तृत होता है ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा श्रुत्वा यमी योगिपुण्यानुष्ठानमूर्जितम् ।
आक्रामति निरातङ्कः पदवीं तैरुपासिताम् ॥ २८ ॥

अर्थ—संयमी मुनि योगीश्वरोंके महापवित्र आचरणके अनुष्ठानको देखकर वा सुनकर उन योगीश्वरोंकी सेईहुई पदवीको निरुपद्रव प्राप्त करता है। **भावार्थ**—जब बड़ोंका बड़ा पवित्र आचरण देखै, सुनै तब आपभी वैसा होनेका यत्न करता है ॥ २८ ॥

विश्वविद्यासु चातुर्यं विनयेष्वतिकौशलम् ।
भावशुद्धिः स्वसिद्धान्ते सत्संगादेव देहिनाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जीवोंको समस्त विद्याओंमें चतुरता और विनयमें अतिप्रवीणता तथा अपने सिद्धान्तमें भावोंकी शुद्धि अर्थात् निःसंदेहता आदि गुण सत्पुरुषोंकी संगतिसे ही प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

यथात्र शुद्धिमाधत्ते स्वर्णमत्यन्तमग्निना ।
मनःसिद्धिं तथा ध्यानी योगिसंसर्गवह्निना ॥ ३० ॥

अर्थ—जैसे इस जगतमें सुवर्ण अग्निके संयोगसे अत्यन्त शुद्ध (निर्मल) हो जाता है उसीप्रकार योगीश्वरोंकी संगतिरूपी अग्निसे ध्यानी मुनि अपने मनकी शुद्धिको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

भयलज्जाभिमानेन धैर्यमेवावलम्बते ।
साहचर्यं समासाद्य संयमी पुण्यकर्मणाम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—संयमी मुनि पवित्राचरणवाले सत्पुरुषोंकी संगतिको प्राप्त हो, उनके भयसे वा लज्जा तथा अभिमानसे धैर्यका ही अवलंबन करता है। **भावार्थ**—कर्मोंके उदयसे परिणाम बिगड़ने लग जायँ तौ महापुरुषोंकी संगतिमें रहनेसे भय, लज्जा वा अपने अभिमानसे ही वह मुनि मार्गसे च्युत नहिं होता। इसीकारणही सत्पुरुषोंमें रहना अतिशय श्रेष्ठ है॥३१॥

शरीराहारसंसारकामभोगेष्वपि स्फुटम् ।
विरज्यति नरः क्षिप्रं सद्भिः सूत्रे प्रतिष्ठितः ॥ ३२ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंके द्वारा सूत्रमें शिक्षित किया हुआ पुरुष शरीर, आहार, संसार, काम, भोगादिकमें तत्काल ही विरक्त हो जाता है। सत्पुरुषोंकी शिक्षाका ही फल ऐसा होता है, शरीरादिकमें वैराग्य होनेके कारण मोक्षमार्गसे च्युत नहिं होता। यह स्पष्टतया जाना ॥ ३२ ॥

यथा यथा मुनिर्धत्ते चेतः सत्संगवासितम् ।
तथा तथा तपोलक्ष्मीः परां प्रीतिं प्रकाशयेत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जैसे जैसे मुनि अपने चित्तको सत्पुरुषोंकी संगतिमें लगाता है तैसे तैसे ही इससे तपरूपी लक्ष्मी उत्तम प्रीतिको प्रकाश करती है ॥ ३३ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे ।

आर्या ।

नहि भवति निर्विगोपक्रमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् ।
प्रकटितपश्चिमभागं पश्यत नृत्यं मयूरस्य ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिसने गुरुकुलकी (सत्पुरुषोंके समूहकी) उपासना नहीं की, उसका विज्ञान (भेदज्ञान, कला, चतुराई) प्रशंसा करने योग्य नहीं है; किन्तु निंदासहित होता है। देखो! मयूर नृत्य करतेसमय अपना पृष्ठभाग (मलद्वार) उघाड़ कर नृत्य करता है। **भावार्थ**—मयूर नाचता है सो अपनी बुद्धिसे नाचता है, नृत्य करनेका विधान सुंदर श्रृंगारसहित होता है, सो मयूरने किसीसे सीखा नहीं इसी कारण वह नाच करते समय अपने पृष्ठ भागको (गुदाको) उघाड़ देता है; सो ऐसा नृत्य प्रशंसनीय नहिं होता। इसी प्रकार तपस्वी गुरु जनोंके निकट सीखे विना जो क्रिया की जाय वह यथावत् नहिं होती। इसकारण बड़े योगीश्वरादि महापुरुषोंकी संगतिमें रहकरही उनकी आज्ञानुसार प्रवर्तना चाहिये ॥ १४ ॥

तपः कुर्वन्तु वा मा वा चेद्वृद्धान्समुपासते ।
तीर्त्वा व्यसनकान्तारं यान्ति पुण्यां गतिं नराः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो पुरुष सत्पुरुषोंकी उपासना (सेवा) करते हैं वे तप करें अथवा मत करें किंतु दुःख रूपी बनको पार करके अवश्यही पवित्र (उत्तम) गतिको प्राप्त होते हैं। **भावार्थ**—तप तो शक्त्यनुसार करना कहा है, यदि तप करनेकी शक्ति नहीं और सत्पुरुषोंकी संगतिमें रहकर उनकी उपासना करता रहै तो उसको भी उत्तम गति प्राप्त हो ॥ ३५ ॥

कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं विदन्नपि श्रुतार्णवम् ।
नासादयति कल्याणं चेद्वृद्धानवमन्यते ॥ ३६ ॥

अर्थ—तीव्र तप करता हुआ भी तथा शास्त्ररूपी समुद्रका अवगाहन करता हुआ भी यदि वृद्धसेवा नहिं करता है अर्थात् सत्पुरुषोंकी आज्ञामें नहिं रहता है तो उसका कदापि कल्याण नहिं हो सकता ॥ ३६ ॥

मनोऽभिमतनिःशेषफलसंपादनक्षमं ।
कल्पवृक्षमिवोदारं साहचर्यं महात्मनाम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—महापुरुषोंका संग करना कल्पवृक्षकी समान समस्त प्रकारके मनोवांछित फलको देनेमें समर्थ है; अत एव सत्पुरुषोंकी संगति अवश्य करनी चाहिये ॥ ३७ ॥

जायते यत्समासाद्य न हि स्वप्नेऽपि दुर्मतिः ।
मुक्तिबीजं तदेकं स्यादुपदेशाक्षरं सताम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंके उपदेशका एक अक्षरही मुक्तिका बीज होता है क्योंकि सदुप-

देशके प्राप्त होनेसे स्वप्नमें भी मनुष्यके कुबुद्धिका प्रादुर्भाव नहिं होता। भावार्थ—सत्पुरुषोंके उपदेशसे दुर्मति नष्ट होती है और सुमतिकी प्राप्ति होती है ॥ ३८ ॥

तन्न लोके परं धाम न तत्कल्याणमग्रिमं।
यद्योगिपदराजीवसंश्रितैर्नाधिगम्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—जगतमें न तो ऐसा कोई उत्कृष्ट स्थान (मंदिर) है और न कोई ऐसा कल्याण है, जो योगीश्वरोंके चरणकमलोंकी सेवा करनेवालोंको प्राप्त न हो। अर्थात् योगीश्वरोंकी सेवा करनेवालोंको समस्त प्रकारके कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

अन्तर्लीनमपि ध्वान्तमनादिप्रभवं नृणाम्।
क्षीयते साधुसंसर्गप्रदीपप्रसराहतम् ॥ ४० ॥

अर्थ—अनादिकालसे उत्पन्न हुआ पुरुषोंके अन्तरंगका अज्ञानरूप अन्धकार भी साधु महात्माओंके संसर्गरूपी प्रदीपके प्रकाशसे नष्ट हो जाता है। अर्थात् साधुओंकी संगतिसे अज्ञान नहिं रहता ॥ ४० ॥

मालिनी।

दहति दुरितकक्षं कर्मबन्धं लुनीते
वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति।
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥ ४१ ॥

अर्थ—मनुष्योंको वृद्धोंकी (सत्पुरुषोंकी) सेवाही करना उत्तम है. क्योंकि यह वृद्धसेवा पापरूपी वनको दग्ध करती है, कर्मके बंधोंको काटती है, चारित्रकी सिद्धिको देती है, और भावोंकी शुद्धताका विस्तार करके संसारसे पारकर ज्ञानराज्यको (केवलज्ञान वा श्रुतज्ञानकी पूर्णताको) देती है ॥ ४१ ॥

इसप्रकार वृद्धसेवाका (सत्संगतिका) वर्णन किया। इस वृद्धसेवासे मनुष्यके समस्त दोष बिलाय जाते हैं और समस्त गुणोंकी प्राप्ति होती है ॥ अब ब्रह्मचर्य महाव्रतके कथनको समाप्त करते हुए कहते हैं,—

विरम विरम संगान्मुञ्च मुञ्च प्रपंचं
विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम्।
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं
कुरु कुरु पुरुपार्थं निर्वृतानन्दहेतोः ॥ ४२ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन्! तू परिग्रहसे विरक्त हो विरक्त हो, प्रपंच मायाशल्यको छोड़ छोड़, और जगतके मोहको दूर कर दूर कर, निज-

तत्त्वको जान जान, चारित्रका अभ्यास कर कर अपने स्वरूपको देख देख, और मोक्षके सुखार्थ पुरुषार्थ कर कर। इसप्रकार दोदोबार कहनेसे आचार्य महाराजने अत्यन्त प्रेरणा की है, क्यों कि श्रीगुरु महाराज बड़े दयालु हैं सो बारंबार हितके लिये प्रेरणा करते हैं॥ ४२॥

अतुलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानबीजं
विलयगतकलङ्कं शान्तविश्वप्रचारम्।
गलितसकलशङ्कं विश्वरूपं विशालं
भज विगतविकारं स्वात्मनात्मानमेव॥ ४३॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू अपने आत्माको आपही कर भज अर्थात् सेव। तेरा आत्मा कैसा है कि अतुल्य (अतीन्द्रिय) सुखका निधान है, ज्ञान और विज्ञान (भेदज्ञान) का बीज है, जिसके मिथ्यात्वभावरूपी कलंक नष्ट होगये हैं, जिसमें नानाप्रकारके विकल्पोंका विस्तार शान्त हो गया है, अर्थात् जो निर्विकल्प स्वरूप है तथा जिसकी समस्त शंकायें नष्ट हो गई हैं, जो समस्त ज्ञेयोंके आकारस्वरूप विश्वमय है, विशाल है, अपने गुण पर्यायोंमें फैला हुआ है और समस्त प्रकारके विकारोंसे रहित होगया है। इस प्रकारके अपने आत्माको भजना, उसीमें लीन रहना, इसीको परम ब्रह्मचर्य कहते हैं; । ब्रह्म कहिये आत्मामें चरना (लीन होना) योही ब्रह्मचर्य है॥ ४३॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

धन्यास्ते मुनिमण्डलस्य गुरुतां प्राप्ताः स्वयं योगिनः
शुद्ध्यत्येव जगत्त्रयी शमवतां श्रीपादरागाङ्किता।
तेषां संयमसिद्धयः सुकृतिनां स्वप्नेऽपि येषां मनो
नालीढं विषयैर्न कामविशिखैर्नैवाङ्गनालोचनैः॥ ४४॥

अर्थ—जिन मुनियोंका मन विषयोंसे स्वप्नमें भी आलीढ (विद्ध) नहिं हुआ और कामके बाण तथा स्त्रियोंके नेत्रकटाक्षोंसे स्पृष्ट नहिं हुआ वे ही सुकृती धन्य हैं। उनके ही संयमकी सिद्धियें होती हैं और वेही मुनि योगीश्वरोंके समूहमें प्रधानताको (आचार्यपदको) प्राप्त होते हैं तथा उन्हीं शान्तभावयुक्त योगीश्वरोंके शोभायमान चरणोंके रागसे अङ्कित यह तीन भुवन निश्चय करके पवित्र होते हैं॥ ४४॥

येषां वाग्भुवनोपकारचतुरा प्रज्ञा विवेकास्पदम्
ध्यानं ध्वस्तसमस्तकर्मकवचं वृत्तं कलङ्कोज्झितम्।
सम्यग्ज्ञानसुधातरङ्गनिचयैश्चेतश्च निर्वापितं
धन्यास्ते शमयन्त्वनङ्गविशिखव्यापारजाता रुजः॥ ४५॥

अर्थ—जिन योगीश्वरोंके वचन तो लोकोपकारमें चतुर हैं और प्रज्ञा (बुद्धि) विवेकका स्थान है और जिनके ध्यानने कर्मबन्धरूपी कवचको (बक्तरको) नष्ट करदिया है तथा

जिनका चारित्र कलंकरहित (निर्मल) है, व जिनका चित्त सम्यग्ज्ञानरूपी अमृतकी तरंगोंके समूहसे शान्त होगया है वेही योगी मुनि धन्य हैं। वेही हमारे कामबाणके व्यापारसे उत्पन्न हुई पीडाका शमन करो ॥ ४५ ॥

चञ्चद्भिश्चिरमप्यनङ्गपरशुप्रख्यैर्वधूलोचनै-
र्येषामिष्टफलप्रदः कृतधियां नाच्छेदि शीलद्रुमः।
धन्यास्ते शमयन्तु सन्ततमिलद्दुर्वारकामानल-
ज्वालाजालकरालमानसमिदं विश्वं विवेकाम्बुभिः ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंका इष्ट फलका देनेवाला शीलरूपी वृक्ष चंचल तथा चमकते हुए कामके कुठारसमान स्त्रियोंके नेत्रोंसे चिरकालसे नहिं छेदागया वे महाभाग्य कृतबुद्धि धन्य हैं। वे मुनिमहाराज निरन्तर प्राप्त होनेवाली दुर्निवार कामरूपी अग्निकी ज्वालाओंके समूहसे जलते हुए इस जगतको विवेकरूपी किरणोंसे शीतल करो ॥ ४६ ॥

मालिनी।

यदि विषयपिशाची निर्गता देहगेहात्
सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेकः।
यदि युवतिकरङ्के निर्ममत्वं प्रपन्नो
झगिति ननु विधेहि ब्रह्मवीथीविहारम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! जो तेरे देहरूपी घरसे विषयरूपी पिशाची निकलगई हो, तथा मोहरूप निद्राकी तीव्रता क्षीण हो गई हो, और स्त्रीके शरीरमें तू निर्ममत्व (निस्पृहता) को प्राप्त हुआ हो तो तू शीघ्रही ब्रह्मचर्यरूपी गलीमें विहार कर (सैर कर) अर्थात् उक्तप्रकारका होगया है तो ब्रह्मचर्य अंगीकार करनेमें ढील मत कर, ऐसा उपदेश है ॥ ४७ ॥

स्मरभोगीन्द्रदुर्वारविषानलकरालितम्।
जगद्यैः शान्तिमानीतं ते जिनाः सन्तु शान्तये ॥ ४८ ॥

अर्थ—कामरूपी सर्पके दुर्निवार विपरूपी अग्निकी ज्वालासे प्रज्वलित इस जगतको जिन महात्माओंने शान्तरूप किया, ऐसे सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान् जगतको शान्तरूप करनेवाले हों ऐसा आशीर्वाद दिया है ॥ ४८ ॥

इसप्रकार ब्रह्मचर्यनामा महाव्रतका वर्णन किया। जिसमें कामका प्रकोप, मैथुन, स्त्रीका स्वरूप, और संसर्ग इनका वर्णन किया, सो इनका त्याग करके जब मुनिमहाराजोंके निकट रहै और उनकी सेवा करै तबहीं ब्रह्मचर्य दृढ रहै और तबहीं परमार्थरूप ब्रह्मचर्य (आत्मामें लीन होनेरूप ध्यान) की सिद्धि होती है। इस कारण इस व्रतका वर्णन कुछ विस्तारसे किया है। यहां बारंबार कहनेमें पुनरुक्ति दोष न समझना, किंतु अतिस्पष्टता जाननी।

छप्पय।

कामकोप मैथुन निवारि, पियछार निरंतर।
वामसंग साधन बिसारि गुरु धारि सुअन्तर॥
सेय बड़निका संग विषयआशा जु गिरावहु॥
ब्रह्मचर्यको पारि शुद्ध आतम लय लावहु॥
इमि ध्यानसिद्धिकरि घाति हति केवलबोध उपायकै।
संबोध्य भव्य सब कर्म हरि, दुःख हरो शिव पायकै॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते ब्रह्मचर्यमहाव्रत-वर्णनं नाम पञ्चदश प्रकरणम् ॥ १५ ॥

अथ षोडशं प्रकरणम्।

अब परिग्रहत्याग महाव्रतका वर्णन करते हैं; सो प्रथम ही परिग्रहके दोष दिखाते हैं.

यानपात्रमिवाम्भोधौ गुणवानपि मज्जति।
परिग्रहगुरुत्वेन संयमी जन्मसागरे॥ १॥

अर्थ—जिसप्रकार नावमें पाषाणादिका बोझ बढ़नेसे गुणवान् अर्थात रस्सीसे बँधी हुईभी नाव समुद्रमें डूब जाती है; उसीप्रकार संयमी मुनि यदि गुणवान् है तौभी परिग्रहके भारसे संसाररूपी सागरमें डूब जाता है॥ १॥

बाह्यान्तर्भूतभेदेन द्विधा ते स्युः परिग्रहाः।
चिदचिद्रूपिणो बाह्या अन्तरङ्गास्तु चेतनाः॥ २॥

अर्थ—बाह्य अन्तरंगके भेदसे परिग्रह दो प्रकारके हैं। बाह्य परिग्रह तो चेतन और अचेतन दोप्रकारके हैं और अन्तरंग परिग्रह केवल चेतनरूपही हैं। क्योंकि वे सब आत्माके परिणाम हैं॥ २॥

दश ग्रन्था मता बाह्या अन्तरङ्गाश्चतुर्दश।
तान्मुक्त्वा भव निःसंगो भावशुद्ध्या भृशं मुने॥ ३॥

अर्थ—बाहरके परिग्रह तो दश हैं और अन्तरंगके परिग्रह चौदह हैं, सो हे मुने! इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंको छोड़ कर अत्यन्त निःसंग (निष्परिग्रहरूप) होओ, यह उपदेश है॥ ३॥

वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं द्विपदाश्च चतुष्पदाः।
शयनासनयानं च कुप्यं भाण्डममी दश॥ ४॥

अर्थ—वास्तु (घर), क्षेत्र (खेत), धन, धान्य; द्विपद (मनुष्य,) चतुष्पद (पशु, हाथी, घोड़े,) शयनासन, यान, कुप्य और भांड ये बाहरके दश परिग्रह हैं ॥ ४ ॥

निःसङ्गोऽपि मुनिर्न स्यात्समूर्च्छः संगवर्जितः ।
यतो मूर्च्छैव तत्त्वज्ञैः संगसूतिः प्रकीर्तिता ॥ ५ ॥

अर्थ—जो मुनि निःसंग हो अर्थात् बाह्य परिग्रहसे रहित हो और ममत्व करता हो वह निःपरिग्रही नहिं हो सकता । क्योंकि, तत्त्वज्ञानी विद्वानोंने मूर्च्छाको (ममत्त्वरूप परिणामोंको) ही परिग्रहकी उत्पत्तिका स्थान माना है ॥ ५ ॥

आर्या ।

स्वजनधनधान्यदाराः पशुपुत्रपुराकरा गृहं भृत्याः ।
मणिकनकरचितशय्या वस्त्राभरणादि बाह्यार्थाः ॥ ६ ॥

अर्थ—स्वजन, धन, धान्य, स्त्री, पशु, पुत्र, पुर, खानि, घर, नौकर, माणिक, रत्न, सोना, रूपा, शय्या, वस्त्र, आभरण, इत्यादि सब ही पदार्थ बाह्य परिग्रह हैं ॥ ६ ॥

उक्तं च ।

"मिथ्यात्ववेदरागा दोषा हास्यादयोऽपि षट् चैव ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥ १ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व १ वेदराग ३ हास्यादिक (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) ६ और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय, इसप्रकार अन्तरंगके चौदह परिग्रह हैं ॥ १ ॥"

संवृतस्य सुवृत्तस्य जिताक्षस्यापि योगिनः ।
व्यामुह्यति मनः क्षिप्रं धनाशाव्यालविप्लुतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो मुनि संवरसहित हो उत्तम चरित्रसहित हो तथा जितेन्द्रिय हो उसका भी मन धनाशारूपी सर्पसे पीड़ित होता हुआ तत्काल ही मोहको प्राप्त होता है; इसकारण धनकी आशा अवश्य छोड़नी चाहिये ॥ ७ ॥

त्याज्य एवाखिलः संगो मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ।
स चेत्त्यक्तुं न शक्नोति कार्यस्तर्ह्यात्मदर्शिभिः ॥ ८ ॥

अर्थ—मुक्त होनेके इच्छक मुनियोंको समस्त प्रकारका परिग्रह अर्थात् सर्व पदार्थोंका संग छोड़ना चाहिये । कदाचित् अन्तरंगके परिग्रहमेंसे कोई परिग्रह विद्यमान रहै तौ जो आत्मदर्शी बड़े मुनि हों उनकी संगतिमें रहै । क्योंकि मुनिको समस्त संग त्याग ध्यानस्थ रहना कहा है । यदि ध्यानस्थ नहिं रहा जाय तो आचार्योंके साथ संघमें रहै ॥ ८ ॥

नाणवोऽपि गुणा लोके दोषा शैलेन्द्रसन्निभाः ।
भवन्त्यत्र न सन्देहः संगमासाद्य देहिनाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—इस लोकमें जीवोंके परिग्रहके प्राप्त होनेसे गुण तो अणुमात्र भी नहिं होते किन्तु दोष सुमेरु पर्वतसरीखे बड़े २ होते हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ ९ ॥

अन्तर्बाह्यभुवोः शुद्ध्योर्योगाद्योगी विशुद्ध्यति ।
नह्येकं पत्रमालम्ब्य व्योम्नि पत्री विसर्पति ॥ १० ॥

अर्थ—योगी बाह्याभ्यन्तर दोनोंप्रकारकी शुद्धियोंका योग होनेसे ही विशुद्ध होता है, किंतु एक प्रकारकी विशुद्धिसे ही नहिं होता. जैसे—पक्षी एक ही पंखके आलम्बनसे आकाशमें नहिं उड़सकता, किंतु दोनों पखोंके होनेसे ही उड़ सकता है. इसीप्रकार दोनोंप्रकारकी शुद्धि होनेसे ही मुनि निर्मल हो सकता है ॥ १० ॥

साध्वीयं स्याद्बहिःशुद्धिरन्तःशुध्याऽत्र देहिनाम् ।
फल्गुभावं भजत्येव बाह्या त्वाध्यात्मिकीं विना ॥ ११ ॥

अर्थ—जीवोंके बाह्यकी शुद्धता अन्तरंगकी शुद्धतासे उत्तम होती है और फलदायक है । क्योंकि, अन्तरंगकी आध्यात्मिकी शुद्धिके विना बाह्यशुद्धि व्यर्थ ही रहती है । अर्थात् निष्फल है ॥ ११ ॥

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाऽशुभम् ।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम् ॥ १२ ॥

अर्थ—परिग्रहसे काम (वांछा) होता है, कामसे क्रोध, क्रोधसे हिंसा, हिंसासे पाप, और पापसे नरकगति होती है । उस नरकगतिमें वचनोंके अगोचर अतिदुःख होता है । इसप्रकार दुःखका मूल परिग्रह है ॥ १२ ॥

संग एव मतः सूत्रे निःशेषानर्थमन्दिरं ।
येनासन्तोऽपि सूयन्ते रागाद्या रिपवः क्षणे ॥ १३ ॥

अर्थ—सूत्र—सिद्धान्तमें परिग्रह ही समस्त अनर्थोंका मूल माना गया है । क्योंकि, जिसके होनेसे रागादिक शत्रु न हों तो भी क्षणमात्रमें उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १३ ॥

रागादिविजयः सत्यं क्षमा शौचं वितृष्णता ।
मुनेः प्रच्याव्यते नूनं संगैर्व्यामोहितात्मनः ॥ १४ ॥

अर्थ—परिग्रहोंसे मोहित मुनिक रागादिकोंका जीतना, सत्य, क्षमा, शौच और तृष्णारहितपना आदि गुण नष्ट होजाते हैं ॥ १४ ॥

संगाः शरीरमासाद्य स्वीक्रियन्ते शरीरिभिः ।
तत्प्रागेव मुनिःसारं योगिभिः परिकीर्तितम् ॥ १५ ॥

अर्थ—संसारी जीव शरीरको प्राप्त होकर ही परिग्रहोंको ग्रहण करते हैं, सो योगी महात्माओंने शरीरको पहिले ही निःसार कहदिया है १५ ॥

हृषीकराक्षसानीकं कषायभुजगव्रजम्।
वित्तामिषमुपादाय धत्ते कामप्युदीर्णताम्॥ १६॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी राक्षसोंकी सेना और कषायरूपी सर्पोंका समूह धनरूपी मांसको ग्रहण करके कोई ऐसी उत्कटता धारण करते हैं; जो कि चिन्तवनमें ही नहिं आती॥ १६॥

उन्मूलयति निर्वेदविवेकद्रुममञ्जरीः।
प्रत्यासत्तिं समायातः सतामपि परिग्रहः॥ १७॥

अर्थ—यह परिग्रह निकट प्राप्त होनेपर सत्पुरुषोंके भी वैराग्य विवेकरूपी वृक्षकी मंजरियोंका उन्मूलन करदेता है॥ १७॥

लुप्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणैः।
रुध्यते वनिताव्याधैर्नरः सङ्गैरभिद्रुतः॥ १८॥

अर्थ—यह मनुष्य परिग्रहोंसे पीडित होकर विषयरूपी सर्पोंसे तो काटा जाता है, कामको बाणोंसे चीरा जाता है और स्त्रीरूप व्याधसे (शिकारीसे) रोका जाता है, अर्थात् बांधा जाता है॥ १८॥

यः संगपङ्कनिर्मग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते।
स मूढः पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात्त्रिदशाचलम्॥ १९॥

अर्थ—जो प्राणी परिग्रहरूपी कीचड़में फँसा हुआ भी मोक्षप्राप्तिके लिये चेष्टा (उपाय) करता है, वह मूढ फूलोंके बाणसे मेरुपर्वतको तोड़ना चाहता है। **भावार्थ**—परिग्रह धारण करनेवालोंको मोक्षकी प्राप्ति होना असंभव है॥ १९॥

अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत्।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शान्तये॥ २०॥

अर्थ—अणुमात्र परिग्रहके रखनेसे मोहकर्मकी ग्रन्थि (गांठ) दृढ होती है और इससे तृष्णाकी ऐसी वृद्धि होजाती है कि उसकी शान्तिके लिये समस्त लोकके राज्यसे भी पूरा नहिं पड़ता॥ २०॥

परीषहरिपुव्रातं तुच्छवृत्तैकभीतिदम्।
वीक्ष्य धैर्यं विमुञ्चन्ति यतयः सङ्गसङ्गताः॥ २१॥

अर्थ—परिग्रह रखनेवाले यती तुच्छवृत्तवालोंकोही भयके देनेवाले परीषहरूपी शत्रुओंके समूहको देखते ही धैर्यको छोड़ देते हैं. अर्थात् परिग्रही मुनि परीषहोंके आनेपर दृढ नहिं रहसकता, किंतु मार्गसे हट जाता है॥ २१॥

सर्वसंगपरित्यागः कीर्त्यते श्रीजिनागमे।
यस्तमेवान्यथा ब्रूते स हीनः स्वान्यघातकः॥ २२॥

अर्थ—श्रीमज्जिनेन्द्रभगवानके परमागममें समस्त परिग्रहोंका त्याग ही महाव्रत कहा है। उसको जो कोई अन्यथा कहता है वह नीच है तथा अपना और दूसरोंका घातक है ॥ २२ ॥

यमप्रशमजं राज्यं तपःश्रुतपरिग्रहं।
योगिनोऽपि विमुञ्चन्ति वित्तवेतालपीडिताः ॥ २३ ॥

अर्थ—जो धनरूपी पिशाचसे पीडित हैं ऐसे योगी मुनि भी यम, नियम व शान्तभावोंसे उत्पन्न राज्यको तथा तप और शास्त्रस्वाध्यायादिके ग्रहणको छोड देते हैं ॥ २३ ॥

पुण्यानुष्ठानजातेषु निःशेषाभीष्टसिद्धिषु।
कुर्वन्ति नियतं पुंसां प्रत्यूहं धनसंग्रहाः ॥ २४ ॥

अर्थ—धनका संग्रह पुरुषोंके पुण्यकार्योंसे उत्पन्न हुई समस्त मनोवांछितकी देनेवाली सिद्धियोंमें विघ्न करता है ॥ २४ ॥

अत्यक्तसंगसन्तानो मोक्तुमात्मानमुद्यतः।
बध्नन्नपि न जानाति स्वं धनैः कर्मबन्धनैः २५ ॥

अर्थ—नहि तजी है परिग्रहकी वासना जिसने ऐसा पुरुष अपनेको मुक्त करनेके लिये उद्यमी है, परन्तु अपना आत्मा परिग्रहके कारण कर्मोंके दृढबंधनोंसे बँधता है तो भी उसे नहिं जानता। क्योंकि, परिग्रहलोलुप प्रायः अंधेकी समान होता है ॥ २५ ॥

अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलः।
न पुनः संगसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः ॥ २६ ॥

अर्थ—कदाचित् सूर्य तो अपना प्रकाश छोड़दे और सुमेरुपर्वत स्थिरता (अचलता) छोड़दे तो संभव है; परन्तु परिग्रहसहित मुनि कदापि जितेन्द्रिय नहिं हो सकता ॥ २६ ॥

बाह्यानपि च यः सङ्गान्परित्यक्तुमनीश्वरः।
स क्लीबः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ॥ २७ ॥

अर्थ—जो पुरुष बाह्यके परिग्रहको भी छोड़नेमें असमर्थ है वह नपुंसक (नामर्द वा कायर) आगे कर्मोंकी सेनाको कैसे हनैगा ? ॥ २७ ॥

स्मरभोगीन्द्रवल्मीकं रागाद्यरिनिकेतनं।
क्रीडास्पदमविद्यानां बुधैर्वित्तं प्रकीर्तितम् ॥ २८ ॥

अर्थ—विद्वानोंने (ज्ञानीपुरुषोंने) धनको कामरूपी सर्पकी वांवी तथा रागादि दुश्मनोंके रहनेका घर और अविद्याओंके क्रीडा करनेका स्थानस्वरूप कहा है ॥ २८ ॥

अत्यल्पे धनजम्बाले निमग्नो गुणवानपि।
जगत्यस्मिन् जनः क्षिप्रं दोषलक्षैः कलङ्क्यते ॥ २९ ॥

अर्थ—थोड़ेसे भी धनरूपी कीचड़–सैवालमें फँसा हुआ गुणवान् पुरुष भी इस जगतमें तत्काल लक्षावधि दोषोंसे कलंकित होता है। भावार्थ–थोड़ेसे भी धनसे कालिमा लगती है ॥ २९ ॥

संन्यस्तसर्वसंगेभ्यो गुरुभ्योऽप्यतिशंक्यते ।
धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—धनाढ्य पुरुष समस्त परिग्रहके त्यागनेवाले अपने गुरुसे भी शंकायुक्त रहता है तथा धनकी रक्षाके लिये रात्रिको सोता भी नहीं। **भावार्थ**–कोई मेरा धन न ले जाय ऐसी शंका उसे निरन्तर रहती है ॥ ३० ॥

सुतस्वजनभूपालदुष्टचौरारिविड्वरात् ।
बन्धुमित्रकलत्रेभ्यो धनिभिः शङ्क्यते भृशं ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो धनवान् होते हैं वे पुत्र, स्वजन, राजा, दुष्ट, चौर, वैरी, बन्धु, स्त्री, मित्र अथवा परचक्र आदिसे निरन्तर शंकित रहते है ॥ ३१ ॥

कर्म बध्नाति यज्जीवो धनाशाकश्मलीकृतः ।
तस्य शान्तिर्यदि क्लेशाद्बहुभिर्जन्मकोटिभिः ॥ ३२ ॥

अर्थ—यह जीव धनकी आशासे मलिन होकर जो कर्म वांधता है उस कर्मकी शान्ति वहुत ही करोड़ों जन्मसे और बड़े कष्टसे होती है. क्योंकि, एक जन्मका वांधा हुआ कर्म अनेक जन्मोंमें क्लेश भोगनेपर ही छूटता है ॥ ३२ ॥

सर्वसंगविनिर्मुक्तः संवृताक्षः स्थिराशयः ।
धत्ते ध्यानधुरां धीरः संयमी वीरवर्णितां ॥ ३३ ॥

अर्थ—समस्त परिग्रहोंसे तो रहित हो और इन्द्रियोंको संवररूप करनेवाला हो ऐसा स्थिरचित्त संयमी मुनि ही श्रीवर्धमान भगवानकी कही हुई ध्यानकी धुराको धारण करसकता है. क्योंकि ऐसा हुए विना ध्यानकी सिद्धि नहिं होती ॥ ३३ ॥

संगपङ्कात्समुत्तीर्णो नैराश्यमवलम्बते ।
ततो नाक्रम्यते दुःखैः पारतन्त्र्यैः क्वचिन्मुनिः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो मुनि परिग्रहरूपी कर्दमसे निकल गया हो वही निराशताका (निस्पृहताका) अवलंबन कर सकता है. और उस निराशताके होनेपर वह मुनि परतन्त्रता स्वरूप दुःखोंसे कदापि नहिं घेरा वा दवाया जाता। सो ठीक ही है, आशारहित होनेपर फिर पराधीनताका दुःख क्यों होय? ॥ ३४ ॥

विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा ।
सर्वत्राप्रतिबद्धः स्यात्संयमी संगवर्जितः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो परिग्रहरहित संयमी है वह चाहै तो निर्जन वनमें रहो, चाहे वसतीमें रहो, चाहे सुखसे रहो, चाहे दुःखसे रहो, उसको कहीं भी प्रतिबद्धता नहीं है. अर्थात् वह सब जगह सम्बन्धरहित निर्मोही रहता है ॥ ३९ ॥

दुःखमेव धनव्यालविषविध्वस्तचेतसां ।
अर्जने रक्षणे नाशे पुंसां तस्य परिक्षये ॥ ३६ ॥

अर्थ—धनरूपी सर्पके विषसे जिनका चित्त बिगड़ गया है उन पुरुषोंको धनोपार्जनमें, रक्षा करनेमें अथवा नाश होने वा व्यय (खर्च) करनेमें सदैव दुःख ही होता है ॥ ३६ ॥

स्वजातीयैरपि प्राणी सद्योऽभिद्रूयते[1] धनी ।
यथात्र सामिषः पक्षी पक्षिभिर्बद्धमण्डलैः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार किसी पक्षीके पास मांसका खंड हो तो वह अन्यान्य मांसभक्षी पक्षियोंसे पीड़ित वा दुःखित किया जाता है, उसी प्रकार धनाढ्य पुरुष भी अपनी जातिवालोंसे दुःखित वा पीडित किया जाता है ॥ ३७ ॥

आरम्भो जन्तुघातश्च कषायाश्च परिग्रहात् ।
जायन्तेऽत्र ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे ॥ ३८ ॥

अर्थ—जीवोंके परिग्रहसे इस लोकमें तो आरंभ होता है, हिंसा होती है, और कषाय होते हैं. उससे फिर नरकोंमें पतन होता है ॥ ३८ ॥

न स्याद्ध्यातुं प्रवृत्तस्य चेतः स्वप्नेऽपि निश्चलं ।
मुनेः परिग्रहग्राहैर्भिद्यमानमनेकधा ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त परिग्रहरूपी पिशाचोंसे अनेक प्रकार पीडित है उसका चित्त ध्यान करते समय कदापि स्वप्नमें भी स्थिर (निश्चल) नहिं रह सकता ॥ ३९ ॥

मालिनी

सकलविषयबीजं सर्वसावद्यमूलं
नरकनगरकेतुं वित्तजातं विहाय ।
अनुसर मुनिवृन्दानन्दि सन्तोषराज्य—
मभिलषसि यदि त्वं जन्मबन्धव्यपायम् ॥ ४० ॥

अर्थ—अब आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन्! यदि तू संसारके बंधका नाश करना चाहता है तो धनके समूहको छोड़कर मुनियोंके समूहको आनंद देनेवाले सन्तोषरूपी राज्यको अंगीकार कर । क्योंकि, धनका समूह समस्त इन्द्रियोंके विषयका

(१ ' अभिभूयते ' इत्यपि पाठः ।)

तो बीज है तथा समस्त पापोंका मूल है और नरकनगरकी ध्वजा है। सो ऐसे अनर्थकारी धनको छोड़कर संतोषको अंगीकार कर, जिससे संसारका फंद कटता है॥ ४०॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

एनः किं न धनप्रसक्तमनसां नासादि हिंसादिना
कस्तस्यार्जनरक्षणक्षयकृतैर्नादाहि दुःखानलैः।
तत्प्रागेव विचार्य वर्जय वरं व्यामूढ वित्तस्पृहां
येनैकास्पदतां न यासि विषयैः पापस्य तापस्य च॥ ४१॥

अर्थ—हे व्यामूढ आत्मन्! जिनका मन धनमें लवलीन है उन्होने क्या हिंसादिक कार्योंसे पापार्जन नहिं किया? तथा उस धनके उपार्जन, रक्षण वा व्यय करनेसे दुःखरूपी अग्निसे कौन नहिं जला? इस कारण पहिले ही विचार कर इस धनकी स्पृहाको (इच्छाको) छोड़; जिससे तू विषयोंसहित पाप तापकी एकताको प्राप्त न हो। अर्थात् विषयों और पाप-तापोंका संगी न हो॥ ४१॥

पुनश्च।

एवं तावदहं लभेय विभवं रक्षेयमेवं तत-
स्तद्वृद्धिं गमयेयमेवमनिशं भुञ्जीय चैवं पुनः।
द्रव्याशारसरुद्धमानस भृशं नात्मानमुत्पश्यसि
क्रुद्ध्यत्क्रूरकृतान्तदन्तपटलीयन्त्रान्तरालस्थितम्॥ ४२॥

अर्थ—हे आत्मन्! धनकी आशारूपी रससे मन रुक जानेसे तू ऐसा विचारता है कि—'प्रथम तो मैं धनोपार्जन कर सम्पदाको प्राप्त होऊंगा, फिर ऐसे उसकी रक्षा करूंगा, इस प्रकार उसकी वृद्धि करूंगा तथा अमुक प्रकारसे उसको भोग कर व्यय करूंगा' इत्यादि विचार करता रहता है; परन्तु क्रोधायमान यमके दांतोंकी दोनो पंक्तिरूपी चक्कीके बीचमें अपनेको आया हुआ नहिं देखता, सो यह तेरा बड़ा अज्ञान है॥ ४२॥

इसप्रकार परिग्रहत्याग महाव्रतके वर्णनमें परिग्रहदोप वर्णन किये—

दोहा।

सर्व पापको मूल यह, ग्रहण परिग्रह जानि।
त्यागै सो मुनि ध्यानमें, थिरता पावै मानि॥ १६॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते षोडशं प्रकरणम्॥ १६॥

अथ सप्तदशं प्रकरणम् ।

आगे इस परिग्रहके वर्णनमें आशाके निषेधका वर्णन करते हैं,—

बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसंगसंन्याससिद्धये ।
आशां सद्भिर्निराकृत्य नैराश्यमवलंब्यते ॥ १ ॥

अर्थ—जो सत्पुरुष हैं वे बाह्याभ्यन्तरके समस्त परिग्रहोंके त्यागकी सिद्धिके लिये प्रथम ही आशाको छोड़कर निराशताका आलंबन करते हैं. क्योंकि, आशाके छूटनेसे ही परिग्रहका त्याग होता है ॥ १ ॥

यावद्यावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति ।
तावत्तावन्मनुष्याणां मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—मनुष्योंके जैसे जैसे शरीर तथा धनमें आशा फैलती है तैसे २ उनके मोह-कर्मकी गांठ दृढ होती जाती है ॥ २ ॥

अनिरुद्धा सती शश्वदाशा विश्वं प्रसर्पति ।
ततो निबद्धमूलाऽसौ पुनश्छेत्तुं न शक्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—इस आशाको रोका नहिं जाय तो यह निरन्तर समस्त लोकपर्यन्त विस्तरती रहती है और उससे इसका मूल दृढ होता जाता है फिर इसका काटना अशक्य हो जाता है । इसकारण इसका रोकना श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥

यद्याशा शान्तिमायाता तदा सिद्धं समीहितम् ।
अन्यथा भवसंभूतो दुःखवार्धिर्दुरुत्तरः ॥ ४ ॥

अर्थ—यदि आशा शान्तिको प्राप्त हो जाती है तो फिर उसी समय सर्व मनोवांछितकी सिद्धि हो जाती है, यदि शान्त न हुई तो फिर संसारसे उत्पन्न हुआ दुःखरूपी समुद्र दुस्तर हो जाता है । **भावार्थ**—फिर संसारका दुःख नहिं मिटैगा ॥ ४ ॥

यमप्रशमराज्यस्य सद्बोधार्कोदयस्य च ।
विवेकस्यापि लोकानामाशैव प्रतिषेधिका ॥ ५ ॥

अर्थ—लोगोंके यम, नियम वा प्रशम भावोंके राज्यका तथा सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्यके उदयका प्रतिषेध (निषेध) करनेवाली और विवेकको रोकनेवाली एक मात्र यह आशाही है. आशाके नष्ट होनेसे ही सर्व सिद्धि है ॥ ५ ॥

आशामपि न सर्पन्तीं यः क्षणं रक्षितुं क्षमः ।
तस्यापवर्गसिद्ध्यर्थं वृथा मन्ये परिश्रमम् ॥ ६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—जो पुरुष बढ़ती हुई आशाको क्षणभर भी रोकनेको असमर्थ है उसका मोक्षकी सिद्धिके लिये परिश्रम करना व्यर्थ है, ऐसा मै मानता हूं ॥ ६ ॥

आशैव मदिराऽक्षाणामाशैव विषमञ्जरी ।
आशामूलानि दुःखानि प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—संसारी जीवोंके आशा ही तो इन्द्रियोंको उन्मत्त करनेवाली मदिरा है, और आशा ही विषको बढ़ानेवाली मंजरी है, तथा संसारमें जितने दुःख होते हैं उनकी एकमात्र यह आशा ही मूलकारण है ॥ ७ ॥

त एव सुखिनो धीरा यैराशाराक्षसी हता ।
महाव्यसनसंकीर्णश्चोत्तीर्णः क्लेशसागरः ॥ ८ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने आशारूपी राक्षसीको नष्ट किया वे ही पुरुष धीर, वीर और सुखी हैं, तथा वे ही अनेक आपदा वा कष्टोंके भरे हुए दुःखरूपी संसारसमुद्रसे पार हुए हैं ॥ ८ ॥

येषामाशा कुतस्तेषां मनःशुद्धिः शरीरिणाम् ।
अतो नैराश्यमालंव्य शिवीभूता मनीषिणः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंके आशा लगी है उनके मनकी शुद्धि कैसे हो, इसकारण जो बुद्धिमान् पुरुष हैं उन्होंने निराशताका अवलंवन करके ही अपना कल्याण साधन किया है । **भावार्थ**-जो जो निराश हुए उन्होंने ही अपना कल्याण किया है ॥ ९ ॥

सर्वाशां यो निराकृत्य नैराश्यमवलम्बते ।
तस्य क्वचिदपि स्वान्तं संगपङ्कैर्न लिप्यते ॥ १० ॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त आशाओंका निराकरण करके निराशाका अवलंवन करता है, उसका मन किसी कालमें भी परिग्रहरूपी कर्दमसे नहिं लिपता । **भावार्थ**—जो आशा छोड़ै उसको परिग्रहरूपी मल काहेको लगै ? ॥ १० ॥

तस्य सत्यं श्रुतं वृत्तं विवेकस्तत्त्वनिश्चयः ।
निर्ममत्वं च यस्याशापिशाची निधनं गता ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके आशारूपी पिशाची नष्टताको प्राप्त हुई उसका शास्त्राध्ययन करना, चारित्र पालना, विवेक, तत्त्वोंका निश्चय और निर्ममता आदि सत्यार्थ (सच्चे) हैं वा सार्थक हैं ॥ ११ ॥

यावदाशानलश्चित्ते जाज्वलीति विशृङ्खलः ।
तावत्तव महादुःखदाहशान्तिः कुतस्तनी ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जबतक तेरे चित्तमें आशारूपी अग्नि स्वतंत्रतासे नितान्त प्रज्वलित होरही है तबतक तेरे महादुःखरूपी दाहकी शान्ति कहांसे हो ॥ १२ ॥

निराशतासुधापूरैर्यस्य चेतः पवित्रितम् ।
तमालिङ्गति सोत्कण्ठं शमश्रीर्बद्धसौहृदा ॥ १३ ॥

अर्थ—जिसका चित्त निराशतारूपी अमृतके प्रवाहोंसे पवित्र हो चुका है, उस पुरुषको प्रीतिसे बँधी हुई उपशमभावरूपी लक्ष्मी उत्कंठापूर्वक आलिंगन करती है । भावार्थ—आशासे मैले हुए चित्तमें उपशमभाव नहिं आ सकते ॥ १३ ॥

न मज्जति मनो येषामाशाम्भसि दुरुत्तरे ।
तेषामेव जगत्यस्मिन्फलितो ज्ञानपादपः ॥ १४ ॥

अर्थ—इस जगतमें जिनका मन दुस्तर आशारूपी जलमें नहिं डूबता उनके ही ज्ञानरूपी वृक्ष फलता है । भावार्थ—आशारूपी दुस्तर जलमें ज्ञानरूपी वृक्ष गल जाता है, इसकारण फल नहिं लगता ॥ १४ ॥

शक्रोऽपि न सुखी स्वर्गे स्यादाशानलदीपितः
विध्याप्याशानलज्वालां श्रयन्ति यमिनः शिवम् ॥ १५ ॥

अर्थ—स्वर्गका इन्द्र भी आशारूपी अग्निसे जलता हुआ सुखी नहीं है, और मुनिगण तो आशारूपी अग्निकी ज्वालाको बुझाकर मोक्षका आश्रय करलेते हैं । अर्थात् मुनिगण निराशताका अवलंबन करके सर्वथा सुखी हो जाते हैं ॥ १५ ॥

चरस्थिरार्थजातेषु यस्याशा प्रलयं गता ।
किं किं न तस्य लोकेऽस्मिन्मन्ये सिद्धं समीहितं ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—जिस पुरुषकी चराचर (चित् अचित्) पदार्थोंमें आशा नष्ट हो गई है, उसके इसलोकमें क्या क्या मनोवांछित सिद्ध नहिं हुए ? अर्थात् सर्व मनोवांछित सिद्ध हुए, ऐसा मैं मानता हूं ॥ १६ ॥

चापलं त्यजति स्वान्तं विक्रियाश्चाक्षदन्तिनः ।
प्रशाम्यति कषायाग्निर्नैराश्याधिष्ठितात्मनाम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिनकी आत्माने निराशताको स्वीकृत किया है, उनका मन तो चपलताको छोड़ देता है, और इन्द्रियरूपी हस्ती विषयविकारताको छोड़ देते हैं, तथा कषायरूपी अग्नि शान्त हो जातीहै ॥ १७ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन यस्याशा निधनं गता ।
स एव महतां सेव्यो लोकद्वयविशुद्धये ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि बहुत कहांतक कहैं ? इतना ही बहुत है कि

जिसकी आशा नष्ट हो गई वही पुरुष उभयलोककी विशुद्धताके लिये महापुरुषोंके द्वारा सेवा करनेयोग्य है। **भावार्थ**–आशारहित मुनिको बड़े २ सत्पुरुष सेवा करते हैं ॥ १८ ॥

आशा जन्मोग्रपङ्काय शिवायाशाविपर्ययः ।
इति सम्यक्समालोच्य यद्धितं तत्समाचर ॥ १९ ॥

अर्थ—आशा है सो संसाररूपी कर्दममें फँसानेवाली है और उसके विपर्यय अर्थात् आशाका अभाव मोक्षका करनेवाला है। अब तू इन दोनोंका भलेप्रकार विचार कर, जिसमें अपना हित समझे उसीका आचरण कर। यह उपदेश है ॥ १९ ॥

न स्याद्विक्षिप्तचित्तानां स्वेष्टसिद्धिः क्वचिन्नृणाम् ।
कथं मक्षीणविक्षेपा भवन्त्याशाग्रहक्षताः ॥ २० ॥

अर्थ—जो आशारूपी पिशाचसे क्षत अर्थात् पीडित हैं वे विक्षिप्तचित्त हैं। सो जिनका चित्त विक्षिप्त है उन मनुष्योंकी इष्टसिद्धि कहीं भी नहीं है। उनकी विक्षिप्तता कैसे नष्ट होगी सो नहीं कहा जा सकता ॥ २० ॥

अब इस प्रकरणको पूरा करते हुए कहते हैं,—

मालिनी।

विषयविपिनवीथीसंकटे पर्यटन्ती
झटितिघटितवृद्धिः क्वापि लब्धावकाशा ।
अपि नियमिनरेन्द्रानाकुलत्वं नयन्ती
छलयति खलु कं वा नेयमाशापिशाची ॥ २१ ॥

अर्थ—विषयरूपी वनकी गलियोंमें फिरती हुई, तत्काल बढ़ती जहां तह स्वतन्त्र (बेरोकटोक) विचरनेवाली, संयमी मुनियोंको आकुलित करनेवाली यह आशारूपी पिशाची किस २ को नहिं छलती ? । अर्थात् सबको छलती फिरती है ॥ २१ ॥

इसप्रकार आशापिशाचीका वर्णन किया—

दोहा।

आशा माता कर्मकी, आतमसों प्रतिकूल ।
जेते घट वरतै यहे, ध्यान न शिवसुखमूल ॥ १७ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे शुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे आशापिशाचीवर्णनं नाम सप्तदशं प्रकरणम् ॥ १७ ॥

अथाष्टादशं प्रकरणम् ।

उक्तप्रकारसे सम्यक्चारित्रके वर्णनमें पांच महाव्रतोंका वर्णन किया गया. अब महाव्रत शब्दका अर्थ कहकर इनके दृढ करनेवाली पच्चीस भावनाओंको तथा पांच समिति, व तीन गुप्तियोंको संक्षेपसे कहकर रत्नत्रयके प्रकरणको पूर्ण करेंगे; अतएव प्रथम ही महाव्रत शब्दका अक्षरार्थ कहतें हैं,—

उपेन्द्रवज्रा ।

महत्वहेतोर्गुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नुतानि ।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि महाव्रतानीति सतां मतानि ॥ १ ॥

अर्थ—प्रथम तो ये महाव्रत महत्ताके कारण हैं, इस कारण इनका गुणी पुरुषोंने आश्रय किया है अर्थात् धारण करते हैं। दूसरे—ये स्वयं महान् हैं इसकारण देवताओंने भी इन्हे नमस्कार किया है। तीसरे—महान् अतीन्द्रिय सुख और ज्ञानके कारण हैं, इसकारण ही सत्पुरुषोंने इनको महाव्रत माना है ॥ १ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे।

आर्या ।

"आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम् ।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥ १ ॥

अर्थ—अन्य ग्रन्थमें भी कहा है कि इन पांच महाव्रतोंको महापुरुषोंने आचरण किया है, तथा महान् पदार्थ कहिये मोक्षको साधते हैं, तथा स्वयं भी बड़े हैं अर्थात् निर्दोष हैं इसकारण इनका महाव्रत ऐसा नाम कहा गया है ॥ १ ॥"

महाव्रतविशुद्ध्यर्थं भावनाः पञ्चविंशतिः ।
परमासाद्य निर्वेदपदवीं भव्य भावय ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्यमहाराज कहते हैं कि—हे भव्य ! ये पांच महाव्रत कहे उनकी शुद्धताके लिये (निर्मलताके लिये) पच्चीस भावना कही हैं, उन्हें अंगीकार करके वैराग्यपदवीकी भावना कर ॥ २ ॥

इन २५ भावनाओंके नाम तत्त्वार्थसूत्रादिकी टीकामें प्रसिद्ध हैं, इसकारण यहां नहीं कहे। अब पांच समितियोंको कहते हैं,—

ईर्य्या भाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञकाः ।
सद्भिः समितयः पञ्च निर्दिष्टाः संयतात्मभिः ॥ ३ ॥

अर्थ—संयमसहित है आत्मा जिनका ऐसे सत्पुरुषोंने ईर्य्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग ये हैं नाम जिनके ऐसी पांच समितियें कही हैं ॥ ३ ॥

वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकं ।
त्रियोगरोधनं वा स्याद्यत्तद्गुप्तित्रयं मतम् ॥ ४ ॥

अर्थ—मन वचन कायसे उत्पन्न अनेक पापसहित प्रवृत्तियोंका प्रतिषेध करनेवाला प्रवर्त्तन, अथवा तीनों योग (मनवचनकायकी क्रिया) का रोकना ये तीन गुप्तियें कही गई हैं ॥ ४ ॥

अव इन पांच समिति और तीन गुप्तियोंका भिन्न २ स्वरूप कहते हैं:—

सिद्धक्षेत्राणि सिद्धानि जिनबिम्बानि वन्दितुम् ।
गुर्वाचार्यतपोवृद्धान्सेवितुं व्रजतोऽथवा ॥ ५ ॥
दिवा सूर्यकरैः स्पष्टं मार्गं लोकातिवाहितम् ।
दयार्द्रस्याङ्गिरक्षार्थं शनैः संश्रयतो मुनेः ॥ ६ ॥
प्रागेवालोक्य यत्नेन युगमात्राहितेऽक्षिणः ।
प्रमादरहितस्यास्य समितीर्या प्रकीर्तिता ॥ ७ ॥

अर्थ—जो मुनि प्रसिद्ध सिद्धक्षेत्रोंको तथा जिनप्रतिमाओंको वंदनेके लिये तथा गुरु, आचार्य वा जो तपसे बड़े हों उनकी सेवा करनेके लिये गमन करता हो उसके ॥ ५ ॥ तथा दिनमें सूर्यकी किरणोंसे स्पष्ट दीखनेवाले, बहुत लोग जिसमें गमन करते हों ऐसे मार्गमें दयासे आर्द्रचित्त होकर जीवोंकी रक्षा करता हुआ धीरे २ गमन करै उस मुनिके ॥ ६ ॥ तथा चलनेसे पहिले ही जिसने युग (जूड़े) परिमाण (चार हाथ) मार्गको भले प्रकार देखलिया हो और प्रमादरहित हो ऐसे मुनिके ईर्या समिति कही गई है ॥ ७ ॥

धूर्तकामुकक्रव्यादचौरचार्वाकसेविता ।
शङ्कासङ्केतपापाढ्या त्याज्या भाषा मनीषिभिः ॥ ८ ॥
दशदोषविनिर्मुक्तां सूत्रोक्तां साधुसम्मताम् ।
गदतोऽस्य मुनेर्भाषां स्याद्भाषासमितिः परा ॥ ९ ॥

अर्थ—धूर्त (मायावी), कामी, मांसभक्षी, चौर, नास्तिकमती चार्वाकादिसे व्यवहारमें लाई हुई भाषा तथा संदेह उपजानेवाली, व पापसंयुक्त हो ऐसी भाषा बुद्धिमानोंको त्यागनी चाहिये ॥ ८ ॥ तथा वचनोंके दशदोषरहित सूत्रानुसार साधुपुरुषोंको मान्य हो ऐसी भाषाको कहनेवाले मुनिके उत्कृष्ट भाषासमिति होती है ॥ ९ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे ।

“ कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी ।
छेद्याङ्कुरा मध्यकृशाऽतिमानिनी भयंकरी[1] ॥ १ ॥

---

१ “ मानिन्यतिभयंकरी ” इति पाठः समीचीन इति मामकीनमतम् ।

भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजेत् ।
हितं मितमसंदिग्धं स्याद्भाषासमितिर्मुनेः ॥ २ ॥

अर्थ—कर्कश, परुष, कटु, निष्ठुर, परकोपी, छेद्यांकुरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, भयंकरी, और जीवोंकी हिंसा करानेवाली, ये दश दुर्भाषा हैं. इनको छोड़ै, तथा हितकारी, मर्यादासहित असंदिग्ध वचन बोले उसी मुनिके भाषासमिति होती है ॥ २ ॥ "

उद्गमोत्पादसंज्ञैस्तैर्धूमाङ्गारादिगैस्तथा ।
दोषैर्मलैर्विनिर्मुक्तं विघ्नशङ्कादिवर्जितम् ।
शुद्धं काले परैर्दत्तमनुद्दिष्टमयाचितम् ।
अदतोऽन्नं मुनेर्ज्ञेया एषणासमितिः परा ॥ ११ ॥

अर्थ—जो उद्गमदोष १६, उत्पादनदोष १६, एषणादोष १०, धुआं अंगार प्रमाण संयोजन ये ४ चार मिलाकर ४६ दोषरहित-तथा मांसादिक १४ मलदोष और अन्तराय शंकादिसे रहित, शुद्ध, कालमें परके द्वारा दिया हुआ, विना उद्देशा हुआ और याचनारहित आहार करै उस मुनिके उत्तम एषणा समिति कही गई है ॥ १० ॥ ११ ॥ इन दोषादिकोंका स्वरूप (**आचारवृत्ति**) आदिक ग्रंन्थोंसे जानना ॥

शय्यासनोपधानानि शास्त्रोपकरणानि च ।
पूर्वं सम्यक्समालोच्य प्रतिलिख्य पुनः पुनः ॥ १२ ॥
गृह्णतोऽस्य प्रयत्नेन क्षिपतो वा धरातले ।
भवत्यविकला साधोरादानसमितिः स्फुटं ॥ १३ ॥

अर्थ—जो मुनि शय्या, आसन, उपधान, शास्त्र और उपकरण आदिको पहिले भले प्रकार देखकर फिर उठावै अथवा रक्खै उसके तथा बड़े यत्नसे ग्रहण करते हुएके तथा पृथिवीपर धरते हुए साधुके अविकल (पूर्ण) आदान निक्षेपणसमिति स्पष्टतया पलती है ॥ १२ ॥ १३ ॥

विजन्तुकधरापृष्ठे मूत्रश्लेष्ममलादिकम् ।
क्षिपतोऽतिप्रयत्नेन व्युत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥ १४ ॥

अर्थ—जीवरहित पृथिवीपर मल, मूत्र, श्लेष्मादिकको बड़े यत्नसे (प्रमादरहिततासे) क्षेपण करनेवाले मुनिके उत्सर्गसमिति होती है ॥ १४ ॥

विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान् ।
स्वाधीनं कुरुते चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥
सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतोऽथवा ।
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः ॥ १६ ॥

अर्थ—रागद्वेषसे अवलंवित समस्त संकल्पोंको छोड़ कर जो मुनि अपने मनको स्वाधीन करता है और समताभावोंमें स्थिर करता है तथा—सिद्धान्तके सूत्रकी रचनामें निरन्तर प्रेरणारूप करता है उस बुद्धिमान् मुनिके सम्पूर्ण मनोगुप्ति होती हैं ॥१५॥ ॥ १६ ॥

साधुसंवृतवाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुनेः ।
संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामुनेः ॥ १७ ॥

अर्थ—भले प्रकार संवररूप (वश) करी है वचनोंकी प्रवृत्ति जिसने ऐसे मुनिके तथा समस्यादिका त्याग कर मौनारूढ होनेवाले महामुनिके वचनगुप्ति होती है ॥ १७ ॥

स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यङ्कसंस्थितस्य वा ।
परीपहप्रपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुनेः ॥ १८ ॥

अर्थ—स्थिर किया है शरीर जिसने तथा परीषह आजाय तो भी अपने पर्यंकासनसे ही स्थिर रहै, किंतु डिगै नहीं, उस मुनिके ही कायगुप्ति मानी गई है अर्थात् कही गई है ॥१८॥

जनन्यो यमिनामष्टौ रत्नत्रयविशुद्धिदाः ।
एताभी रक्षितं दोषैर्मुनिवृन्दं न लिप्यते ॥ १९ ॥

अर्थ—पांच समिति और तीन गुप्ति ये आठों संयमी पुरुषोंकी रक्षा करनेवाली माता हैं, तथा रत्नत्रयको विशुद्धता देनेवाली हैं. इनसे रक्षा किया हुआ मुनियोंका समूह दोषोंसे लिप्त नहिं होता ॥ १९ ॥

अब सम्यक्चारित्रके कथनको पूर्ण करते हुए कहते हैंः—

मालिनी।

इति कतिपयवर्णैश्चर्चितं चित्ररूपं
चरणमनघमुच्चैश्चेतसां शुद्धिधाम ।
अविदितपरमार्थैर्यन्न साध्यं विपक्षै-
स्तदिदमनुसरन्तु ज्ञानिनः शान्तदोषाः ॥ २० ॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे कितने ही अक्षरोंद्वारा वर्णन किया जो अनेकरूप निर्दोष चारित्र सो अतिशय ऊंचे चित्तवालोंको तो शुद्धताका मंदिर है, और नहिं जाना है परमार्थ जिन्होने ऐसे विपक्षियोंद्वारा जो असाध्य है; अर्थात् धारण नहिं किया जा सकता, ऐसे इस चारित्रको शान्तदोपी ज्ञानी पुरुप धारण करो ऐसा उपदेश है ॥ २० ॥

अब सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र—रूप रत्नत्रयके कथन (जो अबतक हुआ उसको) को पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

सम्यगेतत्समासाद्य त्रयं त्रिभुवनार्चितम् ।
द्रव्यक्षेत्रादिसामग्र्या भव्यः सपदि मुच्यते ॥ २१ ॥

अर्थ—इस त्रिभुवनकरके पूजित सम्यक्रत्नत्रयको द्रव्य--क्षेत्र--काल--भावरूप सामग्रीके अनुसार अंगीकार करके भव्य पुरुष शीघ्र ही कर्मोंसे छूटता है। अर्थात् मुक्त होता है ॥ २१ ॥

एतत्समयसर्वस्वं मुक्तेश्चैतन्निबन्धनम्।
हितमेतद्धि जीवानामेतदेवाग्रिमं पदम् ॥ २२ ॥

अर्थ—यह रत्नत्रय ही सिद्धान्तका सर्वस्व है और यही मुक्तिका कारण है तथा यही जीवोंका हित और प्रधान पद है ॥ २२ ॥

ये याता यान्ति यास्यन्ति यमिनः पदमव्ययम्।
समाराध्यैव ते नूनं रत्नत्रयमखण्डितम् ॥ २३ ॥

अर्थ—निश्चयकरके इस रत्नत्रयको अखंडित (परिपूर्ण) आराध करके ही संयमी मुनि आजतक पूर्वकालमें मोक्ष गये हैं और वर्तमानमें जाते हैं तथा भविष्यतमें जांयगे ॥ २३ ॥

साक्षादिदमनासाद्य जन्मकोटिशतैरपि।
दृश्यते न हि केनापि मुक्तिश्रीमुखपङ्कजम् ॥ २४ ॥

अर्थ—इस रत्नत्रयको प्राप्त न होकर करोड़ो जन्म धारण करनेपर भी कोई मुक्तिरूपी लक्ष्मीके मुखरूपी कमलको साक्षात् नहिं देख सकता ॥ २४ ॥

अब अध्यात्मभावना करके शुद्ध निश्चयनयकी प्रधानतासे रत्नत्रयका वर्णन करते हैं--

दृग्बोधचरणान्याहुः स्वमेवाध्यात्मवेदिनः।
यतस्तन्मय एवासौ शरीरी वस्तुतः स्थितः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो अध्यात्मके जाननेवाले हैं वे दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनोंको एक आत्मा ही कहते हैं. क्योंकि परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो यह शरीरी आत्मा उन तीनोंसे तन्मय ही है, कुछ भी पृथक् अर्थात् अन्य नहीं हैं। यद्यपि भावभाववान्के भेदसे तीन भेद किये गये हैं, तथापि वास्तवमें एक ही है ॥ २५ ॥

निर्णीतेऽस्मिन्स्वयं साक्षान्नापरः कोऽपि मृग्यते।
यतो रत्नत्रयस्यैषः प्रसूतेरग्रिमं पदम् ॥ २६ ॥

अर्थ—इस आत्माको स्वयं आपहीसे साक्षात निर्णय करनेसे और कोई भी अन्य नहिं पाया जाता। केवल मात्र यह आत्मा ही रत्नत्रयकी उत्पत्तिका मुख्य पद है ॥ २६ ॥

जानाति यः स्वयं स्वस्मिन्स्वस्वरूपं गतभ्रमः।
तदेव तस्य विज्ञानं तद्वृत्तं तच्च दर्शनम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपनेमें अपनेहीसे अपने निजरूपको भ्रमरहित होकर जानता है,

वही उसके विज्ञानविशिष्ट ज्ञान है और वही सम्यक्चारित्र तथा सम्यग्दर्शन है, अन्य कुछ भी नहीं है ॥ २७ ॥

स्वज्ञानादेव मुक्तिः स्याज्जन्मबन्धस्ततोऽन्यथा ।
एतदेव जिनोद्दिष्टं सर्वस्वं बन्धमोक्षयोः ॥ २८ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानसे ही मोक्ष होता है, आत्मज्ञानके विना अन्यप्रकारसे संसारका बन्ध होता है, यही जिनेन्द्रभगवानका कहाहुआ बन्ध मोक्षका सर्वस्व है ॥ २८ ॥

आत्मैव मम विज्ञानं दृग्वृत्तं चेति निश्चयः ।
मत्तः सर्वेऽप्यमी भावा बाह्याः संयोगलक्षणाः ॥ २९ ॥

अर्थ—मेरे आत्मा ही विज्ञान है, आत्मा ही दर्शन और चारित्र है, ऐसा निश्चय है। इससे अन्य सब ही पदार्थ मुझसे बाह्य और संयोगस्वरूप हैं। इसप्रकार अनुभव करनेसे रत्नत्रयमें और आत्मामें कुछ भी भेद नहीं रहता ॥ २९ ॥

अयमात्मैव सिद्धात्मा स्वशक्त्याऽपेक्षया स्वयम् ।
व्यक्तीभवति सद्ध्यानवह्निनाऽत्यन्तसाधितः ॥ ३० ॥

अर्थ—यह आत्मा संसारअवस्थामें भी अपनी शक्तिकी अपेक्षासे सिद्धस्वरूप है और समीचीन ध्यानरूपी अग्निसे अत्यन्त साधनेसे व्यक्तरूप सिद्ध होता है। अर्थात् अष्टकर्मका नाश होनेपर सिद्धस्वरूप व्यक्त (प्रकट) होता है ॥ ३० ॥

एतदेव परं तत्त्वं ज्ञानमेतद्धि शाश्वतम् ।
अतोऽन्यो यः श्रुतस्कन्धः स तदर्थं प्रपञ्चितः ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह आत्माही परम तत्त्व है और यही शाश्वत ज्ञान है। अतएव अन्य श्रुत-स्कन्ध द्वादशांग शास्त्ररूप रचना इस आत्माहीको जाननेके लिये विस्तृत हुआ है ॥ ३१ ॥

अपास्य कल्पनाजालं चिदानन्दमये स्वयम् ।
यः स्वरूपे लयं प्राप्तः सः स्याद्रत्नत्रयास्पदम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो मुनि कल्पनाके जालको दूर करके अपने चैतन्य और आनन्दमय स्वरूपमें लयको प्राप्त हो, वही निश्चय रत्नत्रयका स्थान (पात्र) होता है ॥ ३२ ॥

सुप्तेष्वक्षेषु जागर्ति पश्यत्यात्मानमात्मनि ।
वीतविश्वविकल्पोऽसौ सः स्वदर्शी बुधैर्मतः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो मुनि इन्द्रियोंके सोते हुए तो जागता है तथा आत्मामें ही आत्माको देखता है और समस्त विकल्पोंसे रहित है वही विद्वानोंकरके आत्मदर्शी माना गया है ॥ ३३ ॥

निःशेषक्लेशनिर्मुक्तममूर्त्तं परमाक्षरम् ।
निष्प्रपञ्चं व्यतीताक्षं पश्य स्वं स्वात्मनि स्थितम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू अपने आत्मामेंही रहता हुआ अपनेको समस्त क्लेशोंसे रहित, अमूर्तीक, परम-उत्कृष्ट अविनाशी, विकल्पोंसे और इन्द्रियोंसे रहित तथा अतीन्द्रिय स्वरूप देख ॥ ३४ ॥

नित्यानन्दमयं शुद्धं चित्स्वरूपं सनातनम् ।
पश्यात्मनि परं ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—फिर भी कहते हैं कि तू अपने आत्मामें ही अपनेको इसप्रकार टिका हुआ देख-कि-मैं नित्य आनन्दमय हूं, शुद्ध हूं, चैतन्यस्वरूप हूं, और सनातन हूं, अविनश्वर हूं, परमज्योति-ज्ञानप्रकाशरूप हूं, अद्वितीय हूं और अनव्यय कहिये व्ययविना नहीं हूं । अर्थात् पूर्वपर्यायके व्ययसहित हूं ॥ ३५ ॥

यस्यां निशि जगत्सुप्तं तस्यां जागर्ति संयमी ।
निष्पन्नं कल्पनातीतं स वेत्त्यात्मानमात्मनि ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिस रात्रिमें जगत् सोता है उस रात्रिमें संयमी मुनि जागता है और अपने आत्मामें ही अपनेको निष्पन्न, स्वयंसिद्ध तथा कल्पनारहित जानता है **भावार्थ**—जगत् अज्ञानरूपी रात्रिमें सोता है और संयमी ज्ञानरूप सूर्यके उदय होनेसे जागता है ॥ ३६ ॥

या निशा सर्वभूतेषु तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो समस्त प्राणियोंमें रात्रि मानीजाती है उसमें तो संयमी जागता है और जिस रात्रिमें समस्त प्राणी जागते हैं वह अपने स्वरूपावलोकन करनेवाले मुनिकी रात्रि है । **भावार्थ**—जगतके जीवोंको अपने स्वरूपका प्रतिभास नहीं है इस कारण इनको यही रात्रि है । इसमें सव जीव सोते हुए हैं । और संयमी मुनिजनोंको अपने स्वरूपका प्रतिभास है इसकारण वे इसमें जागते हैं । और जगतके प्राणी अज्ञानमें जागते हैं । यह अज्ञान ही मुनिकी रात्रि है । तत्पर्य यह कि मुनियोंके अज्ञान है ही नहीं ॥ ३७ ॥

यस्य हेयं न वाऽऽदेयं निःशेषं भुवनत्रयम् ।
उन्मीलयति विज्ञानं तस्य स्वान्यप्रकाशकम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस मुनिके समस्त त्रिभुवन हेय अथवा आदेय नहीं हैं उस मुनिके स्वपर-प्रकाशक ज्ञानका उदय होता है । क्योंकि जवतक हेय उपादेय वुद्धिमें रहै तवतक ज्ञान निर्मलतासे नहिं फैलता (वढ़ता) ॥ ३८ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

दृश्यन्ते भुवि किं न तेऽल्पमतयः संख्याव्यतीताश्चिरम्
ये लीलां परमेष्ठिनो निजनिजैस्तन्वन्ति वाग्भिः परम् ।

तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं पुनर्ये
जन्मभ्रममुत्सृजन्ति सहसा धन्यास्तु ते दुर्लभाः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने वचनोंसे केवल परमेष्ठीकी बहुत काल पर्यन्त लीला—गुणानुवादका विस्तार करते हैं ऐसे अल्पमती संसारमें क्या प्रायः संख्यारहित देखनेमें नहिं आते ? अर्थात् ऐसे जीव असंख्य हैं । परन्तु जो पुरुष नित्य परमानन्दके समुद्रको साक्षात् अनुभवगोचर करके संसारके भ्रमको तत्काल ही दूर करदेते हैं वे महाभाग्य इस पृथ्वीपर दुर्लभ हैं ॥ ३९ ॥

इसप्रकार रत्नत्रयका वर्णन किया । यहां तात्पर्य ऐसा है कि जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको निश्चय व्यवहाररूप भलेप्रकार जानकर अंगीकार करता है उसके ही मोक्षके कारण अपने स्वरूपके ध्यानकी सिद्धि होती है । अन्यमती अन्यथा अनेक प्रकारसे ध्यानका तथा ध्यानकी सामग्रीका स्वरूप स्थापन करते हैं । उनके किंचिन्मात्र लौकिक चमत्कारकी सिद्धि कदाचित् हो तो हो सकती है, किन्तु मोक्षमार्ग वा मोक्षकी सिद्धि कदापि नहिं हो सकती ॥

दोहा ।

सम्यकदर्शन ज्ञान व्रत, शिवमग भाख्यो नाम ।
तीन भेद व्यवहारतैं, निश्चय आतम राम ॥
रत्नत्रय धारे विना, आतमध्यान न सार ।
जे उमगैं नर करनको, वृथा खेद निरधार ॥

छप्पय ।

अंतर वाहर तत्त्व दोय परकार जु सोहै ।
उपादेय निजरूप जानि अन्तर अवरोहै ॥
वाहिर हेय विसारि धारि सरधा दृढ करनी ।
दुहुँकी रीति अनेक वानि जिनकी मधि वरनी ॥
नय निश्चय अरु व्यवहार दो, पर्यय नय व्यवहार है ।
लखि द्रव्यदृष्टि निश्चय भले, चिन्मय निज यह सार है ॥

दोहा ।

चेतनके परिणाम निज, हैं असंख्य श्रुत भाख ।
दृष्ट अल्प छद्मस्थके, शेष जिनेश्वर साख ॥ १९ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते रत्नत्रयवर्णनं नाम अष्टादशं प्रकरणम् ॥ १८ ॥

अथ एकोनविंशं प्रकरणम् ।

आगे क्रोधादिक कषाय और इन्द्रियोंके विषय चारित्रके और ध्यानके घातक हैं; इस कारण उनका वर्णन करते हैं। तिनमेंसे प्रथम ही क्रोधकषायका वर्णन करते हैं:—

सत्संयममहारामं यमप्रशमजीवितम् ।
देहिनां निर्दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥ १ ॥

अर्थ—जीवोंके यम, नियम तथा प्रशम (शान्तभाव) ही है जीवन जिसका ऐसे उत्कृष्ट संयमरूपी उपवन (बाग) को प्रज्वलित हुई क्रोधरूपी अग्नि भस्म कर देती है ॥ १ ॥

दृग्बोधादिगुणानर्घ्यरत्नप्रचयसंचितम् ।
भाण्डागारं दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥ २ ॥

अर्थ—तथा यह क्रोधरूपी अग्नि प्रकट होनेपर सम्यग्दर्शन ज्ञानादि अमूल्य रत्नोंके समूहोंसे संचित किये गुणरूपी भंडारको भी दग्ध कर देती है ॥ २ ॥

संयमोत्तमपीयूषं सर्वाभिमतसिद्धिदम् ।
कषायविषसेकोऽयं निःसारीकुरुते क्षणात् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस कषायरूपी विषका सिंचन करना सर्व मनोवांछित सिद्धिको देनेवाले संयमरूपी उत्तम अमृतको भी क्षणमात्रमें निःसार कर देता है ॥ ३ ॥

तपःश्रुतयमाधारं वृत्तविज्ञानवर्द्धितम् ।
भस्मीभवति रोषेण पुंसां धर्मात्मकं वपुः ॥ ४ ॥

अर्थ—चारित्र और विशिष्ट ज्ञानसे बढ़ाया हुआ तथा तप, स्वाध्याय और संयमका आधार जो पुरुषोंका धर्मरूपी शरीर है सो क्रोधरूपी अग्निसे भस्म हो जाता है ॥ ४ ॥

अयं समुत्थितः क्रोधो धर्मसारं सुरक्षितम् ।
निर्दहत्येव निःशङ्कं शुष्कारण्यमिवानलः ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रगट हुआ यह क्रोध सूखे वनको अग्निके समान सुरक्षित धर्मरूपी सार कहिये जल अथवा धनको निःसंदेह दग्ध कर देता है ॥ ५ ॥

पूर्वमात्मानमेवासौ क्रोधान्धो दहति ध्रुवम् ।
पश्चादन्यन्न वा लोको विवेकविकलाशयः ॥ ६ ॥

अर्थ—क्रोधसे अन्धा हुआ विवेकरहित यह लोक प्रथम तौ अपनेको निश्चय करके जला देता है, तत्पश्चात दूसरोंको जलावै अथवा नहिं जलावे, पहिले अपने समीचीन परिणामोंका घात तौ कर ही लेता है ॥ ६ ॥

कुर्वन्ति यतयोऽप्यत्र क्रुद्धास्तत्कर्म निन्दितम् ।
हत्वा लोकद्वयं येन विशन्ति धरणीतलम् ॥ ७ ॥

अर्थ—क्रोधित हुए मुनिभी इस जगतमें ऐसा निन्दित कार्य करते हैं कि जिससे दोनों लोक नष्ट करके नरकमें पड़जाते हैं फिर अन्य सामान्य जनका तो कहनाही क्या ? ॥ ७ ॥

क्रोधाद्वीपायनेनापि कृतं कर्मातिगर्हितम् ।
दग्धा द्वारावती नाम पूः स्वर्गनगरीनिभा ॥ ८ ॥

अर्थ—देखो ! द्वीपायन नामके मुनिने क्रोधसे ऐसा निन्द्य कार्य किया कि स्वर्गको समान सुन्दर द्वारकापुरी भस्म करदी ॥ ८ ॥

लोकद्वयविनाशाय पापाय नरकाय च ।
स्वपरस्यापकाराय क्रोधः शत्रुः शरीरिणाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जीवोंके क्रोधरूपी शत्रु इस लोक और परलोकको नष्ट करनेवाला है तथा नरकमें ले जानेवाला और पापको करनेवाला एवं निजपर अर्थात् दोनोंका अपकार करनेवाला है ॥ ९ ॥

अनादिकालसंभूतः कषायविषमग्रहः ।
स एवानन्तदुर्वारदुःखसंपादनक्षमः ॥ १० ॥

अर्थ—यह कषायरूपी विषम ग्रह अनादिकालसे इस प्राणीके पीछे लगा हुआ है और यही अनन्त दुर्निवार दुःखोंको प्राप्त करानेमें समर्थ है ॥ १० ॥

तस्मात्प्रशममालम्ब्य क्रोधवैरी निवार्यताम् ।
जिनागममहाम्भोधेरवगाहश्च सेव्यताम् ॥ ११ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन् ! शान्तभावका अवलम्बन करके क्रोधरूपी वैरीको निवारण कर और जिनागमरूपी महासमुद्रका अवगाहन कर । क्योंकि क्रोधनिवारण करनेका यही एक उपाय है ॥ ११ ॥

क्रोधवह्नेः क्षमैकेयं प्रशान्तौ जलवाहिनी ।
उद्दामसंयमारामवृत्तिर्वाऽत्यन्तनिर्भरा ॥ १२ ॥

अर्थ—क्रोधरूपी अग्निको शान्त करनेके लिये क्षमा ही अद्वितीय नदी है । क्षमाहीसे क्रोधाग्नि बुझती है तथा क्षमा ही उत्कृष्टसंयमरूपी बागकी रक्षा करनेके लिये अतिशय दृढ वाड़ है ॥ १२ ॥

जयन्ति यमिनः क्रोधं लोकद्वयविरोधकं ।
तन्निमित्तेऽपि संप्राप्ते भजन्तो भावनामिमां ॥ १३ ॥

अर्थ—इस लोक और परलोकके विगाड़नेवाले क्रोधको मुनिगण ही जीतते हैं। क्योंकि वे क्रोधके कारण प्राप्त होनेपर इस प्रकार भावना करते हैं, जो कि आगे कहते हैं ॥१३॥

यद्यद्य कुरुते कोऽपि मां स्वस्थं कर्मपीडितम् ।
चिकित्सित्वा स्फुटं दोषं स एवाकृत्रिमः सुहृत् ॥ १४ ॥

अर्थ—मुनिमहाराज ऐसी भावना करते हैं कि मैं कर्मसे पीड़ित हूं, कर्मोदयसे मुझमें कोई दोष उत्पन्न हुआ है सो उस दोषको अभी कोई प्रगट करै और मुझे आत्मानुभवमें स्थापित करके स्वस्थ करै वही मेरा अकृत्रिम मित्र (हितैषी) है **भावार्थ**—जो मेरे किसी कर्मके उदयसे दोष लगा हो तो उसे काढ़कर जो मुझे सावधान करता है वही मेरा परम मित्र है। क्योंकि उसके प्रगट करनेसे मैं उस दोषको छोड़ दूंगा, अतएव उससे मुक्त हो जाऊंगा। इस प्रकार भावना करनेसे दोष करनेवालेसे क्रोध नहिं उपजता ॥ १४ ॥

हत्वा स्वपुण्यसन्तानं मद्दोषं यो निकृन्तति ।
तस्मै यदिह रुष्यामि मदन्यः कोऽधमस्तदा ॥ १५ ॥

अर्थ—पुनः ऐसी भावना करते हैं कि जो कोई अपने पुण्यका क्षय करके मेरे दोषोंको काढ़ता है (कहता है) उससे यदि मैं रोष करूं तो इस जगतमें मेरे समान नीच वा पापी कौन है ? **भावार्थ**—जैसे कोई अपना धनादिक व्यय करके परका उपकार करता है उसी प्रकार जो अपने पुण्यरूपी परिणामोंको विगाड़कर मेरे दोष कहे अर्थात् मुझे सावधान करके मेरे दोष काढ़े तो ऐसे उपकारीपर क्रोध करना कृतघ्नताही है ॥ १५ ॥

आक्रुष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृतः ।
मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना ॥ १६ ॥

अर्थ—जो कोई अपनेको दुर्वचन कहै तो मुनि महाराज ऐसा विचार करते हैं कि—इसने दुर्वचनही तो कहे हैं, मेरा घात तौ नहिं किया ? और कोई घात भी करै (अर्थात् लाठी वगैरहसे मारै) तो ऐसा विचारते हैं कि—इसने मुझे केवल माराही तो; काटकर दो खंड तौ नहिं किये ? यदि कोई काटनेही लगै तो मुनिमहाराज विचारते हैं कि यह मुझे मारता है (काटता है) परंतु मेरा धर्म तौ नष्ट नहिं करता ? मेरा धर्म तो मेरे साथही रहैगा। अथवा ऐसा विचार करते हैं कि यह मेरा वड़ा हितैपी है, क्योंकि चैतन्यस्वरूप शुद्धात्मा इस शरीररूपी कारागारमें रुद्ध हूं (कैद हूं) सो यह इस शरीरको (कारागारको) तोड़कर मुझे कैदखानेसे छुटाता है, अतः यह मेरा वड़ा उपकार कर रहा है। इत्यादि विचारनेसे किसीसेभी क्रोध नहिं होता ॥ १६ ॥

संभवन्ति महाविघ्ना इह निःश्रेयसार्थिनाम् ।
ते चेत् किल समायाताः समत्वं संश्रयाम्यतः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मोक्षाभिलाषी हैं उनके इस लोकमें बड़े २ विघ्न होने संभव हैं, यह प्रसिद्ध है. वेही विघ्न यदि मेरे आवें तो इसमें आश्चर्य क्या हुआ? इसकारण अब मैं समभावका आश्रय करता हूं, मेरा किसीपर भी राग द्वेष नहीं है॥ १७॥

चेन्मामुद्दिश्य भ्रश्यन्ति शीलशैलात्तपस्विनः।
अमी अतोऽत्र मज्जन्म परक्लेशाय केवलम्॥ १८॥

अर्थ—फिर ऐसाभी विचार करते हैं कि यदि मैं क्रोध करूं तो मुझे देखकर अन्यान्य तपस्वी मुनि अपने शीलस्वभावसे च्युत हो जायं (भ्रष्ट हो जायं) तो फिर इस लोकमें मेरा जन्म केवल परके अपकारार्थ वा क्लेशके लिये ही हुआ, इसकारण मुझे क्रोध करना किसीप्रकार भी उचित नहीं है॥ १८॥

प्राङ्मया यत्कृतं कर्म तन्मयैवोपभुज्यते।
मन्ये निमित्तमात्रोऽन्यः सुखदुःखोद्यतो जनः॥ १९॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करते हैं कि—मैंने पूर्वजन्ममें जो कुछ बुरे भले कर्म किये हैं उनका फल मुझेही भोगना पड़ैगा; सो जो कोई मुझे सुख दुःख देनेके लिये तत्पर हैं वे तो केवल मात्र बाह्य निमित्त हैं, ऐसा मैं मानताहूं, तब इनसे क्रोध क्यों करना चाहिये॥ १९॥

मदीयमपि चेच्चेतः क्रोधाद्यैर्विप्रलुप्यते।
अज्ञातज्ञाततत्त्वानां को विशेषस्तदा भवेत्॥ २०॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करते हैं कि मैं मुनि हूं तत्त्वज्ञानी हूं, यदि क्रोधादिकसे मेरा भी चित्त विगड़ जायगा तो फिर अज्ञानी तथा तत्त्वज्ञानीमें विशेष (भेद) ही क्या रहा? मैं भी अज्ञानीके समान हुआ। इसप्रकार विचार करके क्रोधादि रूपसे नहिं परिणमते॥ २०॥

न्यायमार्गे प्रपन्नेऽस्मिन्कर्मपाके पुरःस्थिते।
विवेकी कस्तदात्मानं क्रोधादीनां वशं नयेत्॥ २१॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारते हैं कि—यह जो कर्मोंका उदय है सो न्यायमार्गमें प्राप्त है। इसके निकट होनेपर (आगे आनेपर) ऐसा कौन विवेकी है जो अपनेको क्रोधादिकके वशमें होने दे?। **भावार्थ**—जो कोई अपना विगाड़ करता है सो अपने पूर्वजन्मके कर्मके उदयके अनुसार करता है। कर्म बांधते हैं, सो उनका उदय आना न्यायमार्ग है। इसकारण कर्मोदयके होनेपर क्रोध करना युक्त नहीं है, क्रोध करनेसे फिर भी नये कर्मोंकी उत्पत्ति होती है और आगेको सन्तति चलती है॥ २१॥

सहस्व प्राक्तनासातफलं स्वस्थेन चेतसा।
निष्प्रतीकारमालोक्य भविष्यद्दुःखशङ्कितः॥ २२॥

अर्थ—हे आत्मन्! तूने पूर्वजन्ममें असाता कर्म बांधा था उसीका फल यह दुर्वचनादिक हैं सो इनको उपायरहित समझकर आगामी दुःखकी शान्तिके लिये स्वस्थ चित्तसे सहन कर। **भावार्थ**—जो दुर्वचनादिक पूर्वोपार्जित असाता कर्मका फल है सो उसको भोगनेसेही छुटकारा है। इसका अन्य कोई इलाज नहीं है, चित्तको क्रोधादियुक्त करनेसे भविष्यतमें दुःख होगा इसकारण समभावोंसे सहनाही उचित है॥ २२॥

उद्दीपयन्तो रोषाग्निं बहु विक्रम्य विद्विषः।
मन्ये विलोपयिष्यन्ति क्वचिन्मत्तः शमश्रियम्॥ २३॥

अर्थ—फिर विचारते हैं कि—पूर्वकृत कर्म मेरे वैरी हैं सो मैं ऐसा मानता हूं कि—वे सब शत्रु अपने उदयरूप पराक्रमसे क्रोधादिके उत्पन्न करनेवाले निमित्तोंको मिलाकर मेरे क्रोधरूप अग्नि उद्दीपन करते हुए मेरी उपशमभावरूपी लक्ष्मीको लूटैंगे। **भावार्थ**—जैसे शत्रु घरमें अग्नि लगाकर संपदा लूटता है, उसी प्रकार कर्मरूपी वैरी क्रोधाग्नि लगाकर मेरी शमभावरूपी संपदाको नष्ट करैंगे ऐसा विचार करते हैं॥ २३॥

अप्यसह्ये समुत्पन्ने महाक्लेशसमुत्करे।
तुष्यत्यपि च विज्ञानी प्राक्कर्मविलयोद्यतः॥ २४॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारते हैं कि—जो विज्ञानी पूर्वोपार्जित कर्मोंको नाश करनेमें उद्यत (तत्पर) हुआ है वह असह्य बड़े २ क्लेशोंके प्राप्त होनेपर सन्तोष भी करता है। क्योंकि जो पूर्वजन्ममें कर्म उपार्जन किये थे उनका उदय अवश्य होना है; अब उदय आकर खिरगये सो अच्छा हुआ। इसप्रकार संतोष करलेते हैं॥ २४॥

यदि वाक्कण्टकैर्विद्धो नावलम्बे क्षमामहम्।
ममाप्याक्रोशकादस्मात्को विशेषस्तदा भवेत्॥ २५॥

अर्थ—दुर्वचन कहनेवाले पुरुषोंने मुझे वचनरूपी कांटोंसे वींधा (पीडित किया) अब यदि मैं क्षमा धारण नहिं करूंगा तो मेरे और दुर्वचन कहनेवालेमें क्या विशेषता होगी? मैं यदि इसे दुर्वचन कहूंगा तो मैं भी इसके समान हो जाऊंगा, इसकारण क्षमा करनाही योग्य है॥ २५॥

विचित्रैर्वधबन्धादिप्रयोगैर्न चिकित्सति।
यद्यसौ मां तदा क्व स्यात्संचितासातनिष्क्रयः॥ २६॥

अर्थ—जो कोई मेरा अनेक प्रकारके वधबन्धादि प्रयोगोंसे इलाज नहिं करै तो मेरे पूर्वजन्मोंके संचित किये असाता कर्मरूपी रोगका नाश कैसे हो?। **भावार्थ**—जो मुझे वधबन्धनादिकसे पीडित करता है वह मेरे पूर्वोपार्जित कर्मरूपी रोगोंको नष्ट करनेवाला वैद्य है, उसका तो उपकारही मानना योग्य है; किंतु उससे क्रोध करना कृतघ्नता है॥ २६॥

यः शमः प्राक्समभ्यस्तो विवेकज्ञानपूर्वकः ।
तस्यैतेऽद्य परीक्षार्थं प्रत्यनीकाः समुत्थिताः ॥ २७ ॥

अर्थ—' जो ये दुर्वचन कहनेवाले वा वधबन्धनादि करनेवाले शत्रु उत्पन्न हुए हैं वे मानो मैने भेदज्ञानपूर्वक शमभावका अभ्यास किया है उसकी आज परीक्षा करनेकोही आए हैं, सो देखते हैं कि इसके शमभाव अब है कि नहीं ' ऐसा विचार करना किंतु क्रोधरूप न होना ॥ २७ ॥

यदि प्रशममर्यादां भित्वा रुष्यामि शत्रवे ।
उपयोगः कदाऽस्य स्यात्तदा मे ज्ञानचक्षुषः ॥ २८ ॥

अर्थ—जो मैं प्रशमभावकी मर्यादाका उल्लंघन करके वध बंधादि करनेवाले शत्रुसे क्रोध करूंगा तौ इस ज्ञानरूपी नेत्रका उपयोग कौनसे कालमें होगा ? अर्थात् यह ज्ञानाभ्यास ऐसेही कालके लिये किया था, सो अब शमभावसे रहनाही योग्य है । इसप्रकार विचारते हैं ॥ २८ ॥

अयत्नेनापि सैवेयं संजाता कर्मनिर्जरा ।
चित्रोपायैर्ममानेन यत्कृता भर्त्स्ययातना ॥ २९ ॥

अर्थ—फिर मुनि महाराज ऐसा विचार करते हैं कि इस शत्रुने मेरे अनेक प्रकारके उपायोंसे तिरस्कार करके जो तीव्र यातना (पीडा) करी इससे यह बड़ा भारी लाभ हुआ कि विना यत्न किये ही मेरे पापकर्मोंकी निर्जरा सहजहीमें होगई । यह उपकारही मानना, क्रोध क्यों करना ? ॥ २९ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे वंशस्थम् ।

" ममापि चेद्द्रोहमुपैति मानसं परेषु सद्यः प्रतिकूलवर्त्तिषु ।
अपारसंसारपरायणात्मनां किमस्ति तेषां मम वा विशेषणम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो प्रतिकूल वर्तनेवाले (उपसर्ग करनेवाले शत्रु) हैं उनमें मेरा मन तत्काल जो द्रोहको प्राप्त होता है तो इस अपारसंसारमें जिनका आत्मा तत्पर है उन शत्रुओंमें और मुझमें क्या भेद रहा ? अर्थात् मैं उनसे भिन्न मोक्षार्थी कहलाताहूं; सो उनसे मेरी समानताही हुई, अर्थात् मैं भी उनके समान संसारमें भ्रमूंगा ॥ १ ॥ "

अपारयन्बोधयितुं पृथग्जनानसत्प्रवृत्तेष्वपि नाऽसदाचरेत् ।
अशक्नुवन्पीतविषं चिकित्सितुं पिबेद्विषं कः स्वयमप्यबालिशः ३०

अर्थ—असमीचीन कार्योंमें प्रवर्त्तनेवाले अन्य पुरुषोंको उपदेश करके रोकनेको असमर्थ हो तो क्या वह पंडित पुरुष भी असदाचरण करने लग जाय ? नहीं कदापि नहिं. जैसे—कोई पुरुष विष पीजावे और उसकी चिकित्सा करनेमें वैद्य असमर्थ हो जाय तो ऐसा वैद्य

पंडित कौन है जो आप भी विप पीले ? अर्थात् ज्ञानी पंडित तो कोई नहीं पीवेगा। यदि पीवे तो वह अज्ञानी मूर्ख है। इसीप्रकार मुनि विचारते हैं कि किसीने अपने परिणाम बिगाड़कर मेरा बुरा करना चाहा और मैं उसको निवारण करनेको (समझानेको) समर्थ न होऊं तो क्या अपने परिणाम बिगाड़कर उसीकी समान बुरा करना उचित है ? कदापि नहीं ॥ ३० ॥

न चेदयं मां दुरितैः प्रकम्पयेदहं यतेयं प्रशमाय नाधिकम्।
अतोऽतिलाभोऽयमिति प्रतर्कयन् विचाररूढा हि भवन्ति निश्चलाः ॥३१॥

अर्थ—यदि मुनिको कोई दुष्ट दुर्वचनादिक उपसर्ग करै तो वह इसप्रकार विचार करता रहै कि—जो यह दुर्वचन कहनेवाला मुझे पापोंसे भय नहिं उपजावै तो मैं शान्तभावोंके लिये अधिक प्रयत्न नहिं करूं; इस कारण इसने मुझे सावधान किया है कि—पूर्वकालमें जो क्रोधादि पाप किये थे उसीका यह उपसर्ग फल है, सो मुझे यह बड़ा भारी लाभ हुआ. इसप्रकारके विचारमें आरूढ होकर मुनि महाराज निश्चल रहते हैं ॥ ३१ ॥

आर्या।

परपरितोषनिमित्तं त्यजन्ति केचिद्धनं शरीरं वा।
दुर्वचनबन्धनाद्यैर्वयं रुपन्तो न लज्जामः ॥ ३२ ॥

अर्थ—फिर मुनिमहाराज कैसा विचार करते हैं कि—परको सन्तुष्ट करनेके लिये अनेक जन अपने धन वा शरीरको छोड़ देते हैं, और हम दूसरोंके दुर्वचन वध बन्धनादिकसे रोप करते हुए क्यों लज्जित नहीं होते ? **भावार्थ**—जो हमको उपसर्ग करनेसे परको सन्तोष होता है तौ अच्छाही है। हमको क्रोध न करनेसे हमारी क्या हानि है ? उलटा लाभही है ? क्योंकि क्रोध करनेसे तो पापबन्ध होगा ॥ ३२ ॥

हन्तुर्हानिर्ममात्मार्थसिद्धिः स्यान्नात्र संशयः।
हतो यदि न रुष्यामि रोपश्चेद् व्यत्ययस्तदा ॥ ३३ ॥

अर्थ—किसीने मुझे मारा और जो मैं रोप नहिं करूं तौ मारनेवालेकी तो हानि हुई अर्थात् पापबन्ध हुआ परन्तु मेरे आत्माके अर्थकी सिद्धि हुई अर्थात् पाप नहीं बँधा किन्तु पूर्वके किये पापोंकी निर्जरा हुई, इसमें कोई संदेह नहीं है। और मेरे कदाचित् रोप उपजै तो मेरी द्विगुण हानि हो। अर्थात् एक तो पापबन्ध हो, दूसरे पूर्वकर्मोंकी निर्जरा नहीं हो। इत्यादि विचार करै ॥ ३३ ॥

प्राणात्ययेऽपि सम्पन्ने प्रत्यनीकप्रतिक्रिया।
मता सद्भिः स्वसिद्ध्यर्थं क्षमैका स्वस्थचेतसाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—अपने प्राणका नाश होनेपरभी उपसर्ग करनेवाले शत्रुका इलाज स्वस्थचित्त पुरुषोंका अपनी सिद्धिके लिये एकमात्र क्षमा करनाही सत्पुरुषोंने माना है।

भावार्थ—उपसर्ग करनेवाला अपना प्राण नाश करै तोभी मुनिको क्षमाही करनी चाहिये, सत्पुरुषोंने इसका इलाज यह कहा है, किंतु क्रोध करना समीचीन नहीं है ॥ ३४ ॥

इयं निकषभूरद्य सम्पन्ना पुण्ययोगतः ।
शमत्वं किं प्रपन्नोऽस्मि न वेत्यद्य परीक्ष्यते ॥ ३५ ॥

अर्थ—यह क्षमा है सो इससमय मेरी परीक्षा करनेकी जगह है और पुण्ययोगसे मुझे प्राप्त हुई है—सो मेरी परीक्षा करके देखती है कि मैं शान्तभावको प्राप्त हूं कि नहीं। **भावार्थ**—जो उपसर्ग आनेपर क्षमा करदे तो जानना कि इसके शान्त भाव है, जो क्षमा नहिं करै तो शान्तभाव नहीं । इसप्रकार परीक्षा क्षमासेही होती है । क्षमा इसकी कसौटी है ॥ ३५ ॥

स एव प्रशमः श्लाघ्यः स च श्रेयोनिबन्धनम् ।
अदयैर्हन्तुकामैर्यो न पुंसां कश्मलीकृतः ॥ ३६ ॥

अर्थ—पुरुषोंके वही प्रशम भाव प्रशंसनीय है और वही कल्याणका कारण है, जो मारनेकी इच्छा करके निर्दय पुरुषोंनें मलिन नहिं किया । **भावार्थ**—उपसर्ग आनेपर क्रोधरूपी मैलसे मलिन न हो वही प्रशमभाव सराहने योग्य है ॥ ३६ ॥

चिराभ्यस्तेन किं तेन शमेनास्त्रेण वा फलम् ।
व्यर्थीभवति यत्कार्यें समुत्पन्ने शरीरिणाम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—जीवोंके चिरकालसे अभ्यास किये हुए शमभाव और शस्त्र चलानेका अभ्यास काम पड़नेपर व्यर्थ हो जाय तो उस शमभाव वा शस्त्रविद्या सीखनेसे क्या फल ? । **भावार्थ**—उपसर्ग आनेपर क्षमा नहिं की और शत्रुके सम्मुख आनेपर शस्त्रविद्याका प्रयोग नहिं किया तो उनका अभ्यास करना व्यर्थही हुआ ॥ ३७ ॥

प्रत्यनीके समुत्पन्ने यद्धैर्यं तद्धि शस्यते ।
स्यात्सर्वोऽपि जनः स्वस्थः सत्यशौचक्षमास्पदः ॥ ३८ ॥

अर्थ—स्वस्थ चित्तवाले तो सवही प्रायः सत्य शौच क्षमादि युक्त होते हैं, परन्तु उपसर्ग करनेवाले शत्रुके आनेपर धैर्य रखना ही धैर्यगुण प्रशंसा करने योग्य है ॥ ३८ ॥

वासीचन्दनतुल्यान्तर्वृत्तिमालम्ब्य केवलम् ।
आरब्धं सिद्धिमानीतं प्राचीनैर्मुनिसत्तमैः ॥ ३९ ॥

अर्थ—प्राचीन बड़े २ मुनि महाराजोंने प्रारंभ किये हुए मोक्षकार्यको साधन किया है सो केवल वसूले और चंदनके समान अन्तर्वृत्तिको (शमभावरूप वृत्तिको) आलंबन करके ही साधन किया है। **भावार्थ**—कुठारसे चंदन काटा जाय तो वह चंदनवृक्ष जिसप्रकार कुठारकी धारको सुगन्धित करता है अथवा काटनेवालेको सुगन्ध प्रदानसे प्रसन्न करता है-उसी प्रकार मुनि महाराज कोईभी उपसर्ग करता हो तो उसका

हितही चाहते हैं, अहित कदापि नहिं चाहते, इस वृत्तिसे ही रहनेसे मुक्तिकी सिद्धि होती है ॥ ३९ ॥

कृतैर्वान्यैः स्वयं जातैरुपसर्गैः कलङ्कितम् ।
येषां चेतः कदाचित्तैर्न प्राप्ताः स्वेष्टसम्पदः ॥ ४० ॥

अर्थ—जिनका चित्त अन्यके किये उपसर्गसे तथा अचेतन पदार्थोंसे स्वयमेव प्राप्त-हुए उपसर्ग वा परीषहसे कलंकित (दूषित) हुआ उन्होने अपने इष्टकार्यकी सम्पदाकी प्राप्ति कदापि नहीं की । **भावार्थ**—यह प्रसिद्ध है कि जो उपसर्ग वा परीपहोंके आनेपर मुनिमार्गसे च्युत होगये उनके कभी सिद्धि नहिं हुई ॥ ४० ॥

प्राकृताय न रुष्यन्ति कर्मणे निर्विवेकिनः ।
तस्मिन्नपि च क्रुध्यन्ति यस्तदेव चिकित्सति ॥ ४१ ॥

अर्थ—विवेकरहित अज्ञानी पुरुष पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंके (पापोंके) लिये रोष करते नहीं और जो पुरुष क्रोधके निमित्त मिलाकर उन पापकर्मोंकी निर्जरा कराता है अर्थात् वैद्यके समान चिकित्सा करता है उसके ऊपर क्रोध करते हैं सो यह किसी प्रकार भी युक्त नहीं है । क्योंकि अपने कर्मकी निर्जरा करावे वह तो वैद्यके समान उपकारी है । उसका तो उपकार ही मानना चाहिये । उसपर क्रोध करना बड़ी भारी भूल वा कृत-घ्नता है ॥ ४१ ॥

यः श्वभ्रान्मां समाकृष्य क्षिप्यत्यात्मानमस्तधीः ।
वधबन्धनिमित्तेऽपि कस्तस्मै विप्रियं चरेत् ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो कोई निर्बुद्धि वधवन्धादिक उपसर्गका निमित्त मिलाकर मुझे तो नरक जानेसे बचाता है अर्थात् पूर्व कर्मोंकी निर्जरा करनेका निमित्त बनता है और अप-नेको नरकमें डालता है, उसके लिये कौन बुरा आचरण करै ? उसका तो उपकार मानना उचित है ॥ ४२ ॥

यस्यैव कर्मणो नाशाज्जन्मदाहः प्रशाम्यति ।
तच्चेद्युक्तिसमायातं सिद्धं तर्ह्यद्य वांछितम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस कर्मके नाश होनेसे संसारका आताप नष्ट हो उस कर्मका उदय उसी कालमें भोगनेमें आगया तो यह वांछित कार्य सिद्ध हुआ ऐसा समझना चाहिये । क्योंकि कर्मका नाश तो करनाही था, सहजहीं उपसर्ग आनेसे और उसके सह लेने मात्रसे निर्जरा हुई तो यह वांछित सिद्धि क्यों न हुई ? ॥ ४३ ॥

अनन्तक्लेशसप्तार्चिः प्रदीप्तेयं भवाटवी ।
तत्रोत्पन्नैर्न किं सह्यस्तदुत्थो व्यसनोत्करः ॥ ४४ ॥

अर्थ—यह संसाररूपी अटवी है सो अनन्तप्रकारके क्लेशरूपी अग्निसे जलती है सो उसमें उत्पन्न होनेवाले जीव क्या उस संसाररूप वनमें उत्पन्न हुए दुःखोंके समूहको नहिं सहते हैं ? अर्थात् सहतेही हैं, तब मैं जो उपसर्गजनित अल्प दुःखको सहलूंगा तो फिर संसारके अनन्तदुःख नहिं होंगे । ऐसा विचार करना चाहिये ॥ ४४ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

सम्यग्ज्ञानविवेकशून्यमनसः सिद्धान्तसूत्रद्विषो
निस्त्रिंशाः परलोकनष्टमतयो मोहानलोद्दीपिताः ।
दौर्जन्यादिकलङ्किता यदि नरा न स्युर्जगत्यां तदा
कस्मात्तीव्रतपोभिरुन्नतधियः काङ्क्षन्ति मोक्षश्रियम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—यदि इस जगतमें सम्यग्ज्ञान और विवेकसे शून्य चित्तवाले, सिद्धान्तशास्त्रके द्वेषी, निर्दय, परलोकको नहिं माननेवाले नास्तिक, मोहरूपी अग्निसे जलनेवाले, दुर्जनतादि कलंकसे कलंकित मनुष्य नहिं होते तो उन्नतबुद्धिवाले मुनिगण तीव्र तपस्यादिक करके मोक्षरूप लक्ष्मीको क्यों चाहते ? **भावार्थ**—उक्तप्रकारके दुष्ट पुरुष अनेक हैं, तप करनेसे वे उपसर्ग करैंगे, उस उपसर्गको जीतैंगे तबही हमें मोक्षकी सिद्धि होगी ऐसा विचार करकेही मानों मुनिगण मोक्षके अर्थ तीव्र तपस्या करते हैं ॥ ४५ ॥

मालिनी ।

वयमिह परमात्मध्यानदत्तावधानाः
परिकलितपदार्थास्त्यक्तसंसारमार्गाः ।
यदि निकषपरीक्षासु क्षमा नो तदानीं
भजति विफलभावं सर्वथैष प्रयासः ॥ ४६ ॥

अर्थ—मुनिमहाराज विचार करते हैं कि—इस जगतमें हम परमात्माके ध्यानमें चित्त लगानेवाले हैं, पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाले और संसारमार्गके त्यागी हैं । यदि हम ऐसे होकर भी उपसर्ग परीषहोंकी कसोटीसे परीक्षामें असमर्थ हो जावें अर्थात् इससमय जो हम अपने उपशम भावोंकी परीक्षा नहिं करैं तो हमारा मुनिधर्मके धारण करनेका समस्त प्रयास व्यर्थ हो जाय ।—क्योंकि जब उपसर्ग आनेपर शमभाव रहै तबहीं उपशम भावकी प्रशंसा होती है ॥ ४६ ॥

शिखरिणी ।

अहो कैश्चित्कर्मानुदयगतमानीय रभसा-
दशेषं निर्द्धूतं प्रबलतपसा जन्मचकितैः ।
स्वयं यद्यायातं तदिह मुदमालम्ब्य मनसा
न किं सह्यं धीरैरतुलसुखसिद्धेर्व्यवसितैः ॥ ४७ ॥

अर्थ—अहो देखो! अनेक मुनिगणोंने संसारसे भयभीत होकर प्रबल (तीव्र) तपादिकसे उदयमें लाकर समस्त कर्मोंको शीघ्र ही नष्ट करदिया वे कर्म यदि उपसर्गादिके निमित्तसे अपनी स्थिति पूरी करके स्वयं उदयमें आये हैं तो अमूल्य मोक्षसुखकी सिद्धिके लिये उद्यम करनेवाले धीरपुरुषोंको मनोभिलाषपूर्वक क्या उपसर्गादि नहिं सहने चाहिये? अर्थात् अवश्य ही सहने चाहिये। क्योंकि जिन कर्मोंको तीव्र तप करके नष्ट करना है वे स्वयं स्थिति पूरी करके उदयमें आये हैं तो उनका फल सह लेनेसे सहजहीमें उनकी निर्जरा हो जाती है—सो यह तो उत्तम लाभ है। सो हर्षपूर्वक सहना चाहिये। तभी मोक्षसिद्धिका उद्यम सफल होसक्ता है॥ ४७॥

इसप्रकार क्रोधकषायका वर्णन करके उसके निमित्त आनेपर ऐसी भावना करनी सो वर्णन किया गया॥

दोहा।

उपसर्गादिक क्रोधके, निमित भये मुनिराज।
क्षमा धरै क्रोध न करै; तिनके ध्यानसमाज॥

इति क्रोधकषायवर्णनम्।

अब मानकषायका वर्णन करते हैं,—

कुलजातीश्वरत्वादिमदविध्वस्तबुद्धिभिः।
सद्यः संचीयते कर्म नीचैर्गतिनिबन्धनम्॥ ४८॥

अर्थ—कुल, जाति, ऐश्वर्य, रूप, तप, बल, विद्या और धन इन आठ भेदोंसे जिनकी बुद्धि बिगड़ गई है अर्थात् मान करते हैं वे तत्काल नीच गतिके कारण कर्मको संचय करते हैं। अर्थात् कोई ऐसा समझै कि मान करनेसे मैं ऊंचा कहलाऊंगा सो इस लोकमें मानी पुरुष ऊंचे तो नहिं होते किन्तु नीच गतिको प्राप्त होते हैं—॥ ४८॥

मानग्रन्थिर्मनस्युच्चैर्यावदास्ते दृढस्तदा।
तावद्विवेकमाणिक्यं प्राप्तमप्यपसर्पति॥ ४९॥

अर्थ—हे मुने! जबतक तेरे मनमें मानकी गांठ अतिशय दृढ़ है तबतक तेरा विवेकरूपी रत्न प्राप्त हुआ भी चला जायगा। क्योंकि मानकषायके सामने हेय उपादेयका ज्ञान नहिं रहता॥ ४९॥

प्रोत्तुङ्गमानशैलाग्रवर्तिभिर्लुप्तबुद्धिभिः।
क्रियते मार्गमुल्लङ्घ्य पूज्यपूजाव्यतिक्रमः॥ ५०॥

अर्थ—जो पुरुष अति ऊँचे मानपर्वतके आग्रभागमें (चोटीपर) रहते हैं वे नष्टबुद्धि हैं. ऐसे मानी समीचीनमार्गका उल्लंघन करके पूज्यपुरुषोंकी पूजाका (प्रतिष्ठाका) लोप कर देते हैं। भावार्थ—मानी पुरुष पूज्यपुरुषोंकाभी अपमान करनेमें शङ्कित नहिं होते॥ ५०॥

लुप्यते मानतः पुंसां विवेकामललोचनम् ।
प्रच्यवन्ते ततः शीघ्रं शीलशैलाग्रसंक्रमात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—इस मानकषायसे पुरुषोंके भेदज्ञानरूप निर्मल लोचन (नेत्र) लोप होजाते हैं, जिससे शीघ्रही शीलरूपी पर्वतके शिखरसे संक्रम—चलनेसे डिग जाते हैं । क्योंकि विवेक जब नहिं रहा तो शील कहां ॥ ५१ ॥

ज्ञानरत्नमपाकृत्य गृह्णात्यज्ञानपन्नगम् ।
गुरूनपि जनो मानी विमानयति गर्वतः ॥ ५२ ॥

अर्थ—मानी पुरुष गर्वसे अपने गुरुको भी अपमानित करता है सो मानो ज्ञानरूपी रत्नको दूर करके अज्ञानरूपी सर्पको ग्रहण करता है ॥ ५२ ॥

करोत्युद्धतधीर्मानाद्विनयाचारलंघनम् ।
विराध्याराध्यसन्तानं स्वेच्छाचारेण वर्तते ॥ ५३ ॥

अर्थ—मानसे उद्धतबुद्धि पुरुष गर्वसे विनयाचारका उल्लंघन करता है और पूज्य गुरुओंकी परिपाटी (पद्धति) को छोड़कर स्वेच्छाचारसे प्रवर्त्तने लग जाता है ॥ ५३ ॥

मानमालम्ब्य मूढात्मा विधत्ते कर्म निन्दितम् ।
कलङ्कयति चाशेषचरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—इस मानका अवलम्बन कर मूढात्मा निंदित कार्यको करता है तथा चन्द्रमाको समान निर्मल समस्त सदाचरणोंको कलंकित करता है ॥ ५४ ॥

गुणरिक्तेन किं तेन मानेनार्थः प्रसिद्ध्यति ।
तन्मन्ये मानिना मानं यल्लोकद्वयशुद्धिदम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—गुणरहित रीते मानसे कौनसे अर्थकी सिद्धि है । वास्तवमें मानी पुरुषोंका वही मान कहा जा सक्ता है जो इस लोक और परलोकको शुद्धि देनेवाला हो । **भावार्थ**—यद्यपि मानकषाय दुर्गतिका कारण है, तथापि मान दो प्रकारके हैं, एक तो प्रशस्त मान और एक अप्रशस्त मान । जिस मानके वशीभूत होकर नीचकार्योंको छोड़ ऊंचे कार्योंमें प्रवृत्ति हो वह तो प्रशंसनीय प्रशस्त मान है, और जिस मानसे नीचकार्योंमें प्रवृत्ति हो और जो परको हानिकारक हो वह अप्रशस्त मान है । कोई बडा विद्वान् वा उच्चव्रतधारी हो और कोई असदाचारी वा धनाढ्य पुरुष उस विद्वान् वा सदाचारीका आदर सत्कार करै, मनमें अपने धनके घमंडसे उसे हलका समझै तो उसके पास कदापि विद्वानों वा व्रतधारियोंको नहिं जाना चाहिये । क्योंकि उनके पास जाने वा उनकी हांमें हां मिलानेसे उच्च ज्ञान और आचरणका (धर्मका) अपमान होता है । यह विधान वा उदाहरण गृहस्थोंके लिये है, मुनियोंके लिये नहीं है ॥ ५५ ॥

अपमानकरं कर्म येन दूरान्निषिध्यते ।
स उच्चैश्चेतसां मानः परः स्वपरघातकः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिससे अपमान करनेवाले कार्य दूरहीसे छोड़ दिये जांय वही उच्चाशयवालोंका प्रशस्त मान है। इसके अतिरिक्त जो अन्य मान हैं वे स्व परके घातक अर्थात् अप्रशस्त हैं॥५६॥

क्व मानो नाम संसारे जन्तुव्रजविडम्बके ।
यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्ठामध्ये कृमिर्भवेत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—जीवमात्रकी विडंवना करनेवाले इस संसारमें मान नामका पदार्थ है ही क्या ? क्योंकि जिस संसारमें राजा भी मरकर तत्काल विष्ठामें क्रिमि आदि कीट हो जाता है। और प्रत्यक्षमें भी देखा जाता है कि जो आज राजगद्दीपर विराजमान है वही कल राज्यरहित होकर रंक हो जाता है ॥ ५७ ॥

इसप्रकार मानकषायका वर्णन किया। अब मायाकषायका वर्णन करते हैं,—

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्तेर्वासमन्दिरम् ।
पापपङ्कमहागर्तो निकृतिः कीर्तिता बुधैः ॥ ५८ ॥

अर्थ—मायाकषाय अविद्याकी भूमि है, अपयशका घर है और पापरूपी कर्दमका वड़ा भारी गड्ढा है, इसप्रकार विद्वानोंने मायाका कीर्तन (कथन) किया है ॥ ५८ ॥

अर्गलेवापवर्गस्य पदवी श्वभ्रवेश्मनः ।
शीलशालवने वह्निर्मायेयमवगम्यताम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—यह माया मोक्ष रोकनेको अर्गला है। क्योंकि जवतक मायाशल्य रहता है तवतक मोक्षमार्गका आचरण नहिं आता। और नरकरूपी घरमें प्रवेश करनेकी पदवी (द्वार) है। तथा शीलरूपी शालवृक्षके वनको दग्ध करनेके लिये अग्निसमान है। क्योंकि मायावीकी प्रकृति सदा दाहरूप रहा करती है ॥ ५९ ॥

कूटद्रव्यमिवासारं स्वप्नराज्यमिवाफलम् ।
अनुष्ठानं मनुष्याणां मन्ये मायावलम्बिनाम् । ६०॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं मायावलम्वी पुरुषोंके अनुष्ठान आचरणको कूटद्रव्यके समान (नकलीद्रव्यके) समान असार समझता हूं। अथवा स्वप्नमें राज्यप्राप्तीके समान निष्फल समझता हूं। क्योंकि मायावान्का आचरण सत्यार्थ नहिं होता किंतु निष्फल होता है ॥ ६० ॥

लोकद्वयहितं केचित्तपोभिः कर्तुमुद्यताः ।
निकृत्या वर्त्तमानास्ते हन्त हीना न लज्जिताः ॥ ६१ ॥

अर्थ—कोई पुरुष तपद्वारा उभय लोकमें अपने हितसाधनार्थ उद्यमी तो हुए हैं

परन्तु खेद है कि वे मायाचारसहित रहते हैं. सो बड़े नीच हैं और निर्लज्ज हैं. ऐसा नहिं विचारते कि हम तपस्वी होकर जो मायाचार रक्खैंगे तो लोग हमें क्या कहैंगे? ॥ ६१ ॥

मुक्तेरविप्लुतैश्रोक्ता गतिर्ऋज्वी जिनेश्वरैः।
तत्र मायाविनां स्थातुं न स्वप्नेऽप्यस्ति योग्यता॥ ६२ ॥

अर्थ—वीतराग सर्वज्ञ भगवान्‌ने मुक्तिमार्गकी गति सरल कही है. उसमें मायावी जनोंके स्थिर रहनेकी योग्यता स्वप्नमें भी नहीं है॥ ६२ ॥

व्रती निःशल्य एव स्यात्सशल्यो व्रतघातकः।
मायाशल्यं मतं साक्षात्सूरिभिर्भूरिभीतिदम्॥ ६३ ॥

अर्थ—व्रती तो निःशल्यही होता है। शल्यसहित तो व्रतका घातक होता है। और आचार्योंने मायाको साक्षात्–शल्य कहा है। क्योंकि माया अतिशय भयदायक है। **भावार्थ**—मायावीके अपने मायाचारके प्रगट होनेका भय बनाही रहता है, अतएव उसका (कपटीका) व्रत सत्यार्थ नहिं होता॥ ६३ ॥

इहाकीर्तिं समादत्ते मृतो यात्येव दुर्गतिम्।
मायाप्रपञ्चदोषेण जनोऽयं जिह्मिताशयः॥ ६४ ॥

अर्थ—इस मायाप्रपंचके दोषसे यह कुटिलाशय मनुष्य इस लोकमें तो अपयशको प्राप्त होता है और मृत्यु होनेपर दुर्गतिमें ही जाता है॥ ६४ ॥

छाद्यमानमपि प्रायः कुकर्म स्फुटति स्वयम्।
अलं मायाप्रपञ्चेन लोकद्वयविरोधिना॥ ६५ ॥

अर्थ—कुकर्म ढकते हुए भी प्रायः अपने आप ही प्रगट हो जाता है; इसकारण दोनो लोकोंको विगाड़नेवाले इस मायाप्रपंचसे अलं (बस) है। **भावार्थ**—मायाचारसे निंद्य कार्य किया जाय और छिपाया जाय तो भी प्रगट हुए विना नहिं रहता। प्रगट होनेपर वह उभयलोकको विगाड़ता है; अतः इस मायाचारीसे अलग ही रहना चाहिये॥ ६५ ॥

क्व मायाचरणं हीनं क्व सन्मार्गपरिग्रहः।
नापवर्गपथि भ्रातः संचरन्तीह वञ्चकाः॥ ६६ ॥

अर्थ—मायारूप हीनाचरण तो कहां? और समीचीन मार्गका ग्रहण करना कहां? इनमें बड़ी विषमता है. इसकारण आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भाई! मायावी ठग इस मोक्षमार्गमें कदापि नहिं विचर सकते॥ ६६ ॥

वकवृत्तिं समालम्ब्य वञ्चकैर्वञ्चितं जगत्।
कौटिल्यकुशलैः पापैः प्रसन्नं कश्मलाशयैः॥ ६७ ॥

१ माया, मिथ्या और निदान ये तीन शल्य हैं। 'निःशल्यो व्रती' ऐसा तत्त्वार्थसूत्रका सिद्धान्त है

अर्थ—कुटिलतामें चतुर ऐसे मलिनचित्त पापी ठग बगलेके ध्यानकीसी वृत्तिका (क्रियाका) आलम्बन कर इस जगतको ठगते रहते हैं। **भावार्थ**—बगलेकी वृत्ति लोकप्रसिद्ध है। बगला जलमें समस्त अंगोंको संकोचकर एक पांवसे खड़ा रहकर ध्यानमग्न हो जाता है। यदि मच्छियें उसे कमल-पुष्पवत् समझ उसके निकट आ जातीं हैं तो तत्काल उन्हे उठाकर खा जाता है. इसी प्रकार मायावीकी वृत्ति होती है ॥ ६७ ॥

इसप्रकार मायाकषायका वर्णन किया। अब लोभकषायका वर्णन करते हैं।

नयन्ति विफलं जन्म प्रयासैर्मृत्युगोचरैः।
वराका प्राणिनोऽजस्रं लोभादप्राप्तवाञ्छिताः ॥ ६८ ॥

अर्थ—पामर प्राणी निरंतर लोभकषायके वशीभूत होकर वांछित फलको नहिं पाते हुए मृत्युका सामना करनेवाले अनेक उपायोंको करके अपने जन्मको व्यर्थ ही नष्ट कर देते हैं। **भावार्थ**—यह प्राणी लोभसे ऐसे उपाय करता है कि जिनसे मरण होना भी संभव है; तथापि अपने मनोवांछित कार्यकी सिद्धिको प्राप्त नहिं होता और अपने जन्मको व्यर्थ ही खो बैठता है ॥ ६८ ॥

शाकेनापीच्छया जातु न भर्तुमुदरं क्षमाः।
लोभात्तथापि वाञ्छन्ति नराश्चक्रेश्वरश्रियम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—अनेक मनुष्य यद्यपि अपनी इच्छासे शाकसे भी पेट भरनेको कभी समर्थ नहिं होते तथापि लोभके वशसे चक्रवर्तीकीसी सम्पदाको वांछते हैं। **भावार्थ**--लोभ ऐसा है कि जिस वस्तुकी प्राप्ति होनेकी योग्यता स्वप्नमें भी असंभव हो उसकी भी वांछा कराता है, और ऐसी निष्फल वांछा कराकर मनुष्यको दुर्गतिका पात्र बनाता है ॥ ६९ ॥

आर्या।

स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन्।
व्यापाद्य विगतशङ्को लोभार्तो वित्तमादत्ते ॥ ७० ॥

अर्थ—इस लोभकषायसे पीड़ित हुआ पुरुष अपने मालिक, गुरु, बन्धु (हितैषी), वृद्ध, स्त्री, बालक, तथा क्षीण, दुर्बल, अनाथ, दीनादिकोंको भी निःशंकतासे मारकर धनको ग्रहण करता है, अर्थात् लोभ ऐसा अनर्थ कराता है ॥ ७० ॥

ये केचित्सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः प्रोक्ताः।
प्रभवन्ति निर्विचारं ते लोभादेव जन्तूनाम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—नरकको ले जानेवाले जो जो दोष सिद्धान्तशास्त्रमें कहे गये हैं वे सब जीवोंके निःशंकतया लोभसे ही प्रगट होते हैं। **भावार्थ**--'लोभ पापका मूल है' यह लोकोक्ति जगत्प्रसिद्ध है, सो सर्वथा सत्य है. क्योंकि जितने अयोग्य कार्य हैं वे इस लोभसे स्वयमेव बन जाते हैं ॥ ७१ ॥

इस प्रकार लोभकषायका वर्णन किया। अब सामान्यरूपसे चारों कषायोंके त्याग करनेका उपदेश करते हैं,—

वंशस्थ।

शमाम्बुभिः क्रोधशिखी निवार्यताम्
नियम्यतां मानमुदारमार्दवैः।
इयं च मायाऽऽर्जवतः प्रतिक्षणं
निरीहतां चाश्रय लोभशान्तये॥ ७२॥

अर्थ—हे आत्मन्! शान्तभावरूपी जलसे तो क्रोधरूपी अग्नि निवारण कर और उदार मार्द्दव अर्थात् कोमल परिणामोंसे मानको (मानरूप हाथीको) नियन्त्रित कर (वश कर) तथा मायाको निरन्तर आर्जवसे दूर कर और लोभकी शान्तिके लिये निर्लोभताका आश्रय कर। इसप्रकार चारों कषायोंको दूर करनेका उपदेश है॥ ७२॥

यत्र यत्र प्रसूयन्ते तव क्रोधादयो द्विषः।
तत्तत्प्रागेव मोक्तव्यं वस्तु तत्सूतिशान्तये॥ ७३॥

अर्थ—हे आत्मन्! तेरे जिस जिस पदार्थमें क्रोधादिक शत्रु उत्पन्न होते हैं वही वही वस्तु उन क्रोधादिकी शान्तिके लिये प्रथमहीसे त्याग देनी चाहिये। इसप्रकार कषायोंके बाह्य कारणोंके त्यागका उपदेश है॥ ७३॥

येन येन निवार्यन्ते क्रोधाद्याः परिपन्थिनः।
स्वीकार्यमप्रमत्तेन तत्तत्कर्म मनीषिणा॥ ७४॥

अर्थ—तथा जिस जिस कार्यके करनेसे क्रोधादिक शत्रुओंका निवारण हो, बुद्धिमानको वह वह कार्य निरालस्य हो स्वीकार करना चाहिये॥ ७४॥

गुणाधिकतया मन्ये स योगी गुणिनां गुरुः।
तन्निमित्तेऽपि नाक्षिप्तं क्रोधाद्यैर्यस्य मानसं॥ ७५॥

अर्थ—जिस मुनिका मन क्रोधादिक कषायोंके निमित्त मिलनेपर भी क्रोधादिकसे विक्षिप्त न हो अर्थात् जिसके क्रोधादिक उत्पन्न न हों वही गुणाधिकतासे योगी व गुणीजनोंका गुरु है, ऐसा मैं मानता हूं। यहां क्रोधादिकका कारण मिलनेपर भी जिनके क्रोधादिक न हों उनकी प्रशंसा कीगई॥ ७५॥

यदि क्रोधादयः क्षीणास्तदा किं खिद्यते वृथा।
तपोभिरथ तिष्ठन्ति तपस्तत्राप्यपार्थकम्॥ ७६॥

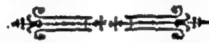
अर्थ—हे मुने! यदि क्रोधादिक कषाय क्षीण हो गये तो तप करके खेद करना व्यर्थ है, क्योंकि क्रोधादिकका जीतना ही तप है। और यदि क्रोधादिक तेरे तिष्ठते हैं तो भी तप करना व्यर्थ है, क्योंकि कषायीका तप करना व्यर्थ ही होता है॥ ७६॥

स्वसंवित्तिं समायाति यमिनां तत्त्वमुत्तमम् ।
आसमन्ताच्छमं नीते कषायविषमज्वरे ॥ ७७ ॥

अर्थ—संयमी मुनियोंके कषायरूपी विषमज्वरके सर्व प्रकारसे उपशमताको प्राप्त होनेपर उत्तम तत्त्व (परमात्माका स्वरूप) स्वसंवेदनताको प्राप्त होता है । **भावार्थ**—कषायोंके मिटनेसे ही आत्मस्वरूपका अनुभव होता है ॥ ७७ ॥ इस प्रकार कषायोंका वर्णन किया ।

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते एकोनविंशं प्रकरणम् ॥ १९ ॥

अथ विंशं प्रकरणम् ।



अब कहते हैं कि इन्द्रियोंके जीते विना, कषाय जीते नहिं जा सकते; इसकारण क्रोधादिक कषायोंके जीतनेके लिये प्रथम इन्द्रियोंको वशीभूत करना चाहिये—

अजिताक्षः कषायाग्निं विनेतुं न प्रभुर्भवेत् ।
अतः क्रोधादिकं जेतुमक्षरोधः प्रशस्यते ॥ १ ॥

अर्थ—जिसने इन्द्रियोंको नहिं जीता वह कषायरूपी अग्निका निर्वाण करनेमें असमर्थ है; इसकारण क्रोधादिकको जीतनेकेलिये इन्द्रियोंके विषयका रोध करना प्रशंसनीय कहा जाता है ॥ १ ॥

विषयाशाभिभूतस्य विक्रियन्तेऽक्षदन्तिनः ।
पुनस्त एव दृश्यन्ते क्रोधादिगहनं श्रिताः ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंकी आशासे पीड़ित हैं, उनके इन्द्रियरूपी हस्ती विकारताको (मदोन्मत्तताको) प्राप्त हो जाते हैं. फिर वे ही पुरुष क्रोधादिक कषायोंकी गहनताको आश्रित हुए देखे जाते हैं ॥ २ ॥

इदमक्षकुलं धत्ते मदोद्रेकं यथा यथा ।
कषायदहनः पुंसां विसर्पति तथा तथा ॥ ३ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंका समूह जैसे २ मदकी उत्कटताको धारण करता है तैसे २ पुरुषोंके कषायरूप अग्नि विस्तृत होती जाती है ॥ ३ ॥

वंशस्थ ।

कषायवैरिव्रजनिर्जयं यमी करोतु पूर्वं यदि संवृतेन्द्रियः ।
किलानयोर्निग्रहलक्षणो विधिर्न हि क्रमेणात्र बुधैर्विधीयते ॥ ४ ॥

अर्थ—संयमी मुनि यदि जितेन्द्रिय है तो पहिले कषायरूपी शत्रुओंके समूहका जय

करो, क्योंकि पंडितोंने इन दोनोंके (कषाय और इन्द्रियोंके) निग्रह करनेकी विधिका किसी क्रमसे विधान नहिं किया है कि पहले एकको जीतै फिर दूसरेको जीतै॥ ४ ॥

यदक्षविषयोद्भूतं दुःखमेव न तत्सुखम् ।
अनन्तजन्मसन्तानक्लेशसंपादकं यतः ॥ ५ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंके विषयसेवनसे जो सुख हुआ है वह दुःख ही है। क्योंकि यह इन्द्रियजनित सुख अनन्त संसारकी संततिके क्लेशोंको संपादन करनेका कारण है, और विद्वानोंने दुःख तथा दुःखके कारणको एक ही कहा है ॥ ५ ॥

दुर्दमेन्द्रियमातङ्गान्शीलशाले नियन्त्रय ।
धीर विज्ञानपाशेन विकुर्वन्ते यदृच्छया ॥ ६ ॥

अर्थ—हे धीर वीर पुरुष! स्वतन्त्रतासे विकारको करते हुए इन दुर्दम इन्द्रियरूपी हस्तियोंको शीलरूपी शालके वृक्षमें विज्ञानरूपी रस्सेसे दृढतासे बांध। क्योंकि शीलही अर्थात् ब्रह्मचर्य और विज्ञान ही इनके वश करनेका एक मात्र उपाय है ॥ ६ ॥

हृषीकभीमभोगीन्द्रक्रुद्धदर्पोपशान्तये ।
स्मरन्ति वीरनिर्दिष्टं योगिनः परमाक्षरम् ॥ ७ ॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी भयानक सर्पोंके क्रोधकी शान्तिके लिये योगिगण श्रीवर्द्धमान तीर्थंकर भगवानके उपदेश किये हुए परमाक्षरको (परमेष्ठीके नाममंत्रको) स्मरण करते हैं।

भावार्थ—परमेष्ठीका नामस्मरण करनेसे भी इन्द्रियरूपी सर्पोंका क्रोध शान्त होता है ॥ ७ ॥

निरुध्य बोधपाशेन क्षिप्ता वैराग्यपञ्जरे[1] ।
हृषीकहरयो येन स मुनीनां महेश्वरः ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस मुनिने इन्द्रियरूपी बंदरोंको ज्ञानरूपी फांसीसे बांधकर वैराग्यके पींजरेमें बंद करदिया वह मुनि ही मुनियोंमें महेश्वर (मुनीश्वर) है ॥ ८ ॥

हृदि स्फुरति तस्योच्चैर्बोधिरत्नं सुनिर्मलम् ।
शीलशालो न यस्याक्षदन्तिभिः प्रविदारितः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस मुनिका शीलरूपी शाल (हस्तिशाला) वा वृक्ष इन्द्रियरूपी हस्तियोंने नहिं विदारा अर्थात् नहिं तोड़ा उस मुनिके हृदयमें ही अतिपवित्र बोधिरूपी र[2] उत्तमतासे स्फुरित (प्रकाशित) होता है ॥ ९ ॥

---

१ ' क्षमावैराग्यपञ्जरे " इत्यपि पाठः।
२ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रय।

दुःखमेवाक्षजं सौख्यमविद्याव्याललालितम् ।
मूर्खास्तत्रैव रज्यन्ते न विद्मः केन हेतुना ॥ १० ॥

अर्थ—इस जगतमें इन्द्रियजनित सुख ही दुःख है। क्योंकि यह सुख अविद्यारूप-सर्पसे लालित है; परन्तु मूढ जन इसीमें ही रंजायमान रहते हैं; सो हम नहिं जानते कि इसमें क्या कारण है? ॥ १० ॥

यथा यथा हृषीकाणि स्ववशं यान्ति देहिनाम् ।
तथा तथा स्फुरत्युच्चैर्हृदि विज्ञानभास्करः ॥ ११ ॥

अर्थ—जीवोंके इन्द्रियें जैसे २ वश होती हैं तैसे २ उनके हृदयमें विज्ञानरूपी सूर्य उच्चतासे (उत्तमतासे) प्रकाशमान होता है ॥ ११ ॥

विषयेषु यथा चित्तं जन्तोर्मग्नमनाकुलम् ।
तथा यद्यात्मनस्तत्त्वे सद्यः को न शिवीभवेत् ॥ १२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार जीवोंका चित्त विषयसेवनमें निराकुलरूप तल्लीन होता है उस-प्रकार यदि आत्मतत्त्वमें लीन हो जाय तो ऐसा कौन है जो मोक्षस्वरूप न हो? ॥ १२ ॥

अतृप्तिजनकं मोहदाववह्नेर्महेन्धनम् ।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥ १३ ॥

अर्थ—इस इन्द्रियजनित सुखको जिनेन्द्र भगवानने तृप्तिका उत्पन्न करनेवाला नहिं कहा है। क्योंकि जैसे जैसे यह सेवन किया जाता है तैसे २ भोगलालसा बढ़ती जाती है। तथा यह इन्द्रियजनित सुख मोहरूपी दावानलकी वृद्धि करनेके लिये इन्धनके समान है, और आगामी कालमें दुःखकी सन्ततिका बीज (कारण) है ॥ १३ ॥

नरकस्यैव सोपानं पाथेयं वा तदध्वनि ।
अपवर्गपुरद्वारकपाटयुगलं दृढम् ॥ १४ ॥
विघ्नबीजं विपन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम् ।
करणग्राह्यमेतद्धि यदक्षार्थोत्थितं सुखम् ॥ १५ ॥

अर्थ—यह इन्द्रियोंके विषयसे उत्पन्न हुआ सुख नरकका तो सोपान (सीढ़ी, जीना) है. अर्थात् नरकका स्थान पृथिवीसे नीचे है सो उसमें उतरनेकी सीढ़ी विषयसुख ही है। और उस नरकके मार्गमें चलनेके लिये पाथेय (राहखर्च वगैरह) भी यही है, तथा मोक्षनगरके द्वार बंद करनेको दृढ़ कपाटयुगल (किवाड़ोंकी जोड़ी) भी है ॥ १४ ॥ तथा यह सुख विघ्नोंका बीज, विपत्तिका मूल, पराधीन, भयका स्थान तथा इन्द्रियोंसे ही ग्रहण करने योग्य है. यदि इन्द्रियें बिगड़ जायँ तो फिर इसकी प्राप्ति नहीं होती. इस प्रकारका यह इन्द्रियजनित सुख है ॥ १५ ॥

जगद्वञ्चनचातुर्यं विषयाणां न केवलम् ।
नरान्नरकपाताले नेतुमप्यतिकौशलम् ॥ १६ ॥

अर्थ—इन विषयोंमें केवल जगतको ठगनेकी ही चतुराई नहीं है, किन्तु मनुष्योंको नरकके निम्नभागमें (सातवें नरकमें) ले जानेकी भी प्रवीणता है ॥ १६ ॥

निसर्गचपलैश्चित्रैर्विषयैर्वञ्चितं जगत् ।
प्रत्याशा निर्दयेष्वेषु कीदृशी पुण्यकर्मणाम् ॥ १७ ॥

अर्थ—स्वभावसे चंचल नानाप्रकारके इन विषयोंने जगत्को ठगा तो फिर इन निर्दयस्वरूप विषयोंमें पवित्राचरणवालोंको आशा ही कैसी ? । **भावार्थ**—निर्दय ठगकी पहिचान होनेपर भले पुरुष उनके पीछे नहिं लगते, अर्थात् पुण्यके उदयसे प्राप्त हुए हैं, सो उनकी आगामी वांछा नहिं करते ॥ १७ ॥

वर्द्धते गृद्धिरश्रान्तं सन्तोषश्चापसर्पति ।
विवेको विलयं याति विषयैर्वञ्चितात्मनाम् ॥ १८ ॥

अर्थ—जिनका आत्मा इन विषयोंसे ठगा गया है अर्थात् विषयोंमें मग्न हो गया है उनकी विषयेच्छा तो बढ़ जाती है और सन्तोष नष्ट हो जाता है तथा विवेक भी विलीन हो जाता है ॥ १८ ॥

विषस्य कालकूटस्य विषयाख्यस्य चान्तरम् ।
वदन्ति ज्ञाततत्त्वार्था मेरुसर्षपयोरिव ॥ १९ ॥

अर्थ—वस्तुस्वरूपके जाननेवाले विद्वानोंने कालकूट (हालाहल) विष और विषयोंमें मेरु पर्वत और सरसोंके समान अन्तर कहा है । अर्थात् कालकूट विष तो सरसोंके समान छोटा है और विषयविष सुमेरुपवर्तके समान है ॥ १९ ॥

अनासादितनिर्वेदं विषयैर्व्याकुलीकृतम् ।
पतत्येव जगज्जन्मदुर्गे दुःखाग्निदीपिते ॥ २० ॥

अर्थ—इस जगतने कभी विरागताको नहिं पाया इसकारण इसे विषयोंने व्याकुल (दुःखी) करदिया है और यह दुःखरूपी अग्निसे प्रज्वलित हुए इस संसाररूपी दुर्गमें (जेलखानेमें) पड़ता है ॥ २० ॥

इन्द्रियाणि न गुप्तानि नाभ्यस्तश्चित्तनिर्जयः ।
न निर्वेदः कृतो मित्र नात्मा दुःखेन भावितः ॥ २१ ॥
एवमेवापवर्गाय प्रवृत्तैर्ध्यानसाधने ।
स्वमेव वञ्चितं मूढैर्लोकद्वयपथच्युतैः ॥ २२ ॥

अर्थ—हे मित्र ! अनेक मूर्ख ऐसे हैं कि–जिन्होंने इन्द्रियोंको कभी वश नहिं किया,

चित्तके जीतनेका कभी अभ्यास नहिं किया और न कभी वैराग्यको प्राप्त हुए तथा न कभी आत्माको दुःखी ही समझा और वृथा ही मोक्षप्राप्तिके लिये ध्यानसाधनमें प्रवृत्त हो गये, उन्होंने अपने आत्माको ठगलिया और वे इसलोक और परलोक दोनोंहींसे भ्रष्ट हो गये। **भावार्थ**—जो इन्द्रिय और मनको जीते विना तथा ज्ञानवैराग्यकी प्राप्तिके विना ही मोक्षके लिये ध्यानका अभ्यास करते हैं, वे मूर्ख अपने दोनों भव विगाड़ते हैं ॥ २१ ॥ २२ ॥

अब कहते हैं कि योगियोंका सुख इन्द्रियोंके विना ऐसा है:—

अध्यात्मजं यदत्यक्षं स्वसंवेद्यमनश्वरम् ।
आत्माधीनं निराबाधमनन्तं योगिनां मतम् ॥ २३ ॥

अर्थ—योगियोंका अध्यात्मसे उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख आत्माके ही (अपनेही) अधीन है अर्थात् स्वयं ही उत्पन्न हुआ है, किंतु इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंसे नहिं हुआ है। तथा—आत्माहींसे जानने (भोगने) योग्य है अर्थात् स्वानुभवगम्य है, और अविनाशी है, अर्थात् इन्द्रियजनित सुखकी समान विनाशी नहीं है, स्वाधीन है, व बाधारहित है अर्थात् जिसमें कुछ भी विगाड़ वा विघ्न नहिं होता, तथा अनंत अर्थात् अन्तरहित है। जो कोई यह समझते हैं कि इन्द्रियोंके विना सुख कैसा? उनको यह अनिन्द्रिय सुखका स्वरूप बतलाया गया है ॥ २३ ॥

अपास्य करणग्रामं यदात्मन्यात्मना स्वयम् ।
सेव्यते योगिभिस्तद्धि सुखमाध्यात्मिकं मतम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो इन्द्रियोंके विषयोंके विना ही अपने आत्मामें आत्मासे ही सेवन करनेमें आता है उसको ही योगीश्वरोंने आध्यात्मिक सुख कहा है ॥ २४ ॥

आपातमात्ररम्याणि विषयोत्थानि देहिनाम् ।
विषपाकानि पर्यन्ते विद्धि सौख्यानि सर्वथा ॥ २५ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! जीवोंके विषयजनित सुख कैसे हैं कि सेवनके आरंभमात्रमें तो कुछ रम्य भासते हैं परन्तु विपाकसमयमें सर्वथा विषकी समान ही जानिये ॥ २५ ॥

हृषीकतस्करानीकं चित्तदुर्गान्तराश्रितम् ।
पुंसां विवेकमाणिक्यं हरत्येवानिवारितम् ॥ २६ ॥

अर्थ—यह इन्द्रियरूपी चोरोंकी सेना (फौज) चित्तरूपी दुर्ग (किले) के आश्रयमें रहती है, जो पुरुषोंके विवेकरूपी रत्नको हरती है अर्थात् चुराती है और रोकी भी नहिं रुकती है ॥ २६ ॥

त्वामेव वञ्चितुं मन्ये प्रवृत्ता विषया इमे ।
स्थिरीकुरु तथा चित्तं यथैतैर्न कलङ्क्यते ॥ २७ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! ये इन्द्रियोंके विषय तुझकोही ठगनेके लिये प्रवृत्त हुए हैं ऐसा मैं मानता हूं; इसकारण चित्तको ऐसा स्थिर कर कि जिसप्रकार उन विषयोंसे कलङ्कित न हो॥ २७॥

मालिनी।

उदधिरुदकपूरैरिन्धनैश्चित्रभानु-
र्यदि कथमपि दैवात्तृप्तिमासादयेताम्।
न पुनरिह शरीरी कामभोगैर्विसंख्यै-
श्चिरतरमपि भुक्तैस्तृप्तिमायाति कैश्चित्॥ २८॥

अर्थ—इस जगतमें समुद्र तो जलके प्रवाहोंसे (नदियोंके मिलनेसे) तृप्त नहिं होता और अग्नि इन्धनोंसे तृप्त नहिं होती, सो कदाचित् दैवयोगसे किसी प्रकार ये दोनों तृप्त हो भी जायँ परन्तु यह जीव चिरकालपर्यन्त नानाप्रकारके काम भोगादिके भोगनेपर भी कभी तृप्त नहिं होता॥ २८॥

आर्या।

यद्यपि दुर्गतिबीजं तृष्णासन्तापपापसंकलितम्।
तदपि न सुखसंप्राप्यं विषयसुखं वाञ्छितं नृणाम्॥ २९॥

अर्थ—यद्यपि विषयजनित सुख दुर्गतिका बीजभूत—कारण है और तृष्णा—सन्तापादि—सहित है तथापि यह सुख विना कष्टके इच्छानुसार मनुष्योंको प्राप्त होना कठिन है॥ २९॥

अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति॥ ३०॥

अर्थ—मनुष्योंके जैसे जैसे इच्छानुसार संकल्पित भोगोंकी प्राप्ति होती है तैसें २ ही इनकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई समस्त लोकपर्यन्त विस्तारताको प्राप्त होती है॥ ३०॥

अनिषिध्याक्षसंदोहं यः साक्षान्मोक्तुमिच्छति।
विदारयति दुर्बुद्धिः शिरसा स महीधरम्॥ ३१॥

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियसमूहको वश नहिं करके साक्षात् मोक्ष (कर्मरहित) होना चाहता है वह दुर्बुद्धि अपने मस्तककी टक्कर लगाकर पर्वतको तोड़ना चाहता है। ऐसी अवस्थामें उसका मस्तकही फूटैगा, पर्वत तो किसी प्रकार फूटैगा ही नहीं॥ ३१॥

मालिनी।

इदमिह विषयोत्थं यत्सुखं तद्धि दुःखं
व्यसनविपिनबीजं तीव्रसंतापविद्धम्।
कटुतरपरिपाकं निन्दितं ज्ञानवृद्धैः
परिहर किमिहान्यैर्धूर्त्तवाचां प्रपञ्चैः १२॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस जगतमें विषयजनित जो सुख है सो वास्तवमें दुःख ही है, क्योंकि यह कष्ट अर्थात् आपदारूपी वृक्षोंका तो बीज है और तीव्र संतापोंसे विधा हुआ है तथा जिसका परिपाक (फल) अतिशय कटु है और ज्ञानसे वृद्ध विद्वानोंके द्वारा निंदनीय है। इसकारण हे भाई ! इसको छोड़ धूर्तोंके प्रपंचवाक्योंके माननेसे क्या लाभ ?॥३२॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

तत्तत्कारकपारतन्त्र्यमचिरान्नाशः सतृष्णान्वयै-
स्तैरेभिर्निरुपाधिसंयमभृतो बाधानिदानैः परैः।
शर्मभ्यः स्पृहयन्ति हन्त विषयानाश्रित्य यद्देहिन-
स्तत्क्रुध्यत्फणिनायकाग्रदशनैः कण्डूविनोदः स्फुटम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—यद्यपि विषयजनित पूर्वोक्त सुखको दुःखही कहा है, सो ठीक भी है, क्योंकि उस सुखको कारकोंकी पराधीनता है अर्थात् वह सुख अन्यके द्वारा होता है, और तत्काल नाशवान् भी है; तथापि ये संसारी जीव उपाधिरहित संयमके धारक होनेपर भी तृष्णाके साथ सम्बध करते हुए बाधाके कारण ऐसे, अन्य धनादिकोंके द्वारा सुखके लिये विषयोंकी इच्छा करते हैं सो क्या करते हैं कि मानो क्रोधायमान नागेन्द्रके अगले दाँतोंसे (विषके दाँतोंसे) खुजलानेका साक्षात् विनोद ही करते हैं। **भावार्थ**—सांपके जहरीले दांतोंसे खुजलाना मृत्युका वा दुःखका ही कारण है ॥ ३३ ॥

पुनः।

निःशेषाभिमतेन्द्रियार्थरचनासौन्दर्यसंदानितः
प्रीतिप्रस्तुतलोभलङ्घितमनाः को नाम निर्वेद्यताम्।
अस्माकं तु नितान्तघोरनरकज्वालाकलापः पुरः
सोढव्यः कथमित्यसौ तु महती चिन्ता मनः कृन्तति ३४ ॥

अर्थ—अहो ! खेद है कि—समस्त मनोवांछित इन्द्रियोंके विषयोंकी रचनाके सौंदर्यसे जिसका मन बँधा हुआ है तथा प्रीतिके प्रस्तावमें (चक्रमें) आनेसे लोभसे खंडित हो गया है मन जिसका ऐसे जीवोंमेंसे कौन ऐसा है जो विषयोंसे उदासीन होनेके लिये तत्पर हो ? यहां आचार्य महाराज कहते हैं कि—ये संसारी जीव विषयोंसे विरक्त तो नहिं होते परन्तु इन विषयोंसे उत्पन्न हुए अतिशय रूप तीव्र नरकाग्निकी ज्वालाके समूहको भविष्यतमें कैसे सहेंगे ? यही महाचिंता हमारे मनको दुःखित कर रही है ॥ ३४ ॥

स्रग्धरा।

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धाः
बद्धास्ते वारिबन्धे ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षिदोषात्।

भृङ्गा गन्धोद्धताशाः प्रलयमुपगता गीतलोलाः कुरङ्गाः
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागः ॥ ३५ ॥

अर्थ—अरे देखो ! रसना इन्द्रियके वश तो मत्स्य (मच्छियें) हैं वे अपने गलेको छिदाकर मृत्युको प्राप्त हुए, और हस्ती स्पर्श इन्द्रियके वशीभूत हो गढ़ेमें बांधे गये, तथा नेत्र इन्द्रियके विषयदोषसे पतंग (छोटे २ जीव) दीपकादिकी ज्वालामें जलकर मरणको प्राप्त हुए हैं । और भ्रमर नासिका इन्द्रियके वशीभूत होकर सुगन्धसे मुग्ध हो नाशको प्राप्त हुए। इसी प्रकार हरिण भी गीतके (रागके) लोलुप हो कर्ण इन्द्रियके विषयसे कालरूप सर्पसे मारे गये. ऐसे एक एक इन्द्रियके विषयसे उक्त जीव नष्ट होते देखते हैं तौभी संसारी जीवोंके इद्रियविषयोंमें प्रीति (अनुराग) होती है सो यह बड़ा खेद अथवा आश्चर्य है ॥ ३५ ॥

आर्या ।

एकैककरणपरवशमपि मृत्युं याति जन्तुजातमिदम् ।
सकलाक्षविषयलोलः कथमिह कुशली जनोऽन्यः स्यात् ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो यह पूर्वोक्त एक एक इद्रियके वश हुआ जीवोंका समूह मरणको प्राप्त हुआ तो जो अन्य प्राणी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त है उसका भला किसप्रकार हो सकता है, अर्थात् वह किसप्रकार सुखी हो सकता है ? ॥ ३६ ॥

संवृणोत्यक्षसैन्यं यः कूर्मोऽङ्गानीव संयमी ।
स लोके दोषपङ्काढ्ये चरन्नपि न लिप्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कछुआ अपने अंगोंको संकोचता है उसीप्रकार जो संयमी मुनि इंद्रियोंके सेनासमूहको संवररूप करता है अर्थात् संकोचता वा वशीभूत करता है वही मुनि दोषरूपी कर्दमसे भरे इस लोकमें विचरता हुआ भी दोषोंसे लिप्त नहिं होता । **भावार्थ**—जलमें कमलकी समान अलिप्त रहता है ॥ ३७ ॥

अयत्नेनापि जायन्ते तस्यैता दिव्यसिद्धयः ।
विषयैर्न मनो यस्य मनागपि कलङ्कितम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस मुनिका मन इद्रियोंके विषयोंसे किंचिन्मात्र भी कलंकित नहिं होता उस मुनिके आगे जो दिव्य सिद्धियें कही जायँगी वे विना यत्नके ही उत्पन्न होती हैं ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ध्यानके घातक कषाय और विषयोंका वर्णन किया, इससे निर्णीत हुआ कि कषायी तथा विषयी पुरुषके प्रशस्त ध्यानकी सिद्धि कदापि नहिं होती ॥

घनाक्षरी कवित्त ।

क्रोध क्षमातैं बिडारि मान मृदुतातैं मारि,
माया ऋजुतातैं लोभ तोषतैं मिटावना ।

निष्कषाय भये इन्द्री मन वशि होयँ तवै,
ध्यानयोग्य भाव जगे जोग थिर थावना ॥
अन्यमती यहै रीति जानै नाहिं जानैं ताके,
सर्वथा एकान्त पक्ष एक रूप भावना ।
एकमें अनेक भाव नित्य वा अनित्य आदि,
शुद्ध औ अशुद्ध मानैं निजरूप पावना ॥ २१ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे अक्षविषयनिरोधो नाम विंशं प्रकरणम् ॥ २० ॥

अथ एकविंशं प्रकरणम् ।

आगे तीन तत्त्वोंके प्रकरणका प्रारंभ है, जिसका आशय यह है कि अन्यमती तीन तत्त्वोंकी कल्पना करके उनका ध्यान करते हैं और उस ध्यानसे सर्व सिद्धि होना कहते हैं, इसकारण उनका भ्रम दूर करनेके लिये आचार्य महाराज तीन तत्त्वोंके व्याख्यानद्वारा कहते हैं कि ये तत्त्व एक आत्माहीकी सामर्थ्यरूप हैं । यह आत्मा ध्यानके वलसे अचिन्त्य सामर्थ्यरूप हो चेष्टा करता है । इस आत्माके अतिरिक्त अन्य कल्पना है सो सब मिथ्या है; इस कारण आत्माका सामर्थ्य वर्णण करते हैं ॥

अयमात्मा स्वयं साक्षाद्गुणरत्नमहार्णवः ।
सर्वज्ञः सर्वदृक् सार्वः परमेष्ठी निरञ्जनः ॥ १ ॥

अर्थ—यह आत्मा स्वयं साक्षात् गुणरूपी रत्नोंका भरा हुआ समुद्र है तथा यही आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सबके हितरूप है, समस्त पदार्थोंमें व्याप्त है, परमेष्ठी (परमपदमें स्थित) है और निरंजन है अर्थात् जिसके किसी प्रकारकी कालिमा नहीं है । शुद्ध नयका विषयभूत आत्मा ऐसा ही है ॥ १ ॥

तत्स्वरूपमजानानो जनोऽयं विधिवञ्चितः ।
विषयेषु सुखं वेत्ति यत्स्यात्पाके विषान्नवत् ॥ २ ॥

अर्थ—उस आत्माके स्वरूपको नहिं जानता हुआ यह मनुष्य कर्मोंसे वंचित हो इन्द्रियोंके विषयोंमें सुख जानता है सो वड़ी भूल है । क्योंकि, इन्द्रियोंका विषय विपाकसमयमें विषमिश्रित अन्नके समान होता है ॥ २ ॥

यत्सुखं वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकम् ।
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥ ३ ॥

अर्थ—जो सुख वीतराग मुनिके प्रशमरूप (मंदकषायरूप) विशुद्धतापूर्वक है उसका अनन्तवा भाग भी इन्द्रको प्राप्त नहीं है ॥ ३ ॥

अनन्तबोधवीर्यादिनिर्मला गुणिभिर्गुणाः ।
स्वस्मिन्नेव स्वयं मृग्या अपास्य करणान्तरम् ॥ ४ ॥

अर्थ—अनन्त ज्ञान अनन्त वीर्यादि गुण गुणी पुरुषोंके द्वारा अपने आत्मामें ही अन्य इन्द्रियादिकी सहायताको छोड़ अपने आप ही खोजने चाहिये ॥ ४ ॥

अहो अनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्वप्रकाशकः ।
त्रैलोक्यं चालयत्येव ध्यानशक्तिप्रभावतः ॥ ५ ॥

अर्थ—अहो देखो, यह आत्मा अनन्तवीर्यवान् है तथा समस्त वस्तुओंको प्रकाशित करनेवाला है तथा ध्यानशक्तिके प्रभावसे तीनो लोकोंको भी चलायमान कर सकता है। **भावार्थ**—मुनि जव ध्यान करते हैं तब तीनो लोकोंके इन्द्रोंके आसन कम्पायमान होते हैं अथवा ध्यानके फलसे जो कोई जीव तीर्थंकरपद प्राप्त करता है उसका जन्म होनेके समय तीनों लोकोंमें क्षोभ होता है ॥ ५ ॥

अस्य वीर्यमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ।
यत्समाधिप्रयोगेण स्फुरत्यव्याहतं क्षणे ॥ ६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि इस आत्माकी शक्तिको मैं ऐसा समझता हूं कि वह योगियोंके भी अगोचर है। क्योंकि वह समाधि—ध्यानमें लय स्वरूपके प्रयोगोंसे क्षणमात्रमें अव्याहत प्रकाश होती है। **भावार्थ**—अनन्त पदार्थोंके देखने जाननेकी शक्ति प्रगट होती है ॥ ६ ॥

अयमात्मा स्वयं साक्षात्परमात्मेति निश्चयः ।
विशुद्धध्याननिर्धूत-कर्मेन्धनसमुत्करः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस समय विशुद्ध ध्यानके बलसे कर्मरूपी इन्धनोंको भस्म कर देता है उस समय यह आत्मा ही स्वयं साक्षात्परमात्मा हो जाता है, यह निश्चय है ॥ ७ ॥

ध्यानादेव गुणग्राममस्याशेषं स्फुटीभवेत् ।
क्षीयते च तथानादिसंभवा कर्मसन्ततिः ॥ ८ ॥

अर्थ—इस आत्माके गुणोंका समस्त समूह ध्यानसे ही प्रगट होता है तथा ध्यानसे ही अनादिकालकी संचित की हुई कर्मसन्तति नष्ट होती है ॥ ८ ॥

शिवोऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्त्तितः ।
अणिमादिगुणानर्घ्यरत्नवार्धिर्बुधैर्मतः ॥ ९ ॥

अर्थ—विद्वानोंने इस आत्माको ही शिव, गरुड़ और काम कहा है। क्योंकि यह

आत्मा ही अणिमा महिमादि अनर्घ्य (अमूल्य) गुणरूपी रत्नोंका समुद्र है। **भावार्थ**—शिवतत्व, गरुड़तत्व और कामतत्व जो अन्यमती ध्यानके लिये स्थापन करते हैं सो आचार्य महाराज कहते हैं कि यह आत्मा ही की चेष्टा है, आत्मासे भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं है॥ ९॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे।

" आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखः पुमान्।
परमात्मा विपः कन्तुरहो माहात्म्यमात्मनः॥ १॥

अर्थ—अहो! आत्माका महात्म्य कैसा है कि—आत्यन्तिक कहिये अन्तरहित अविनश्वर स्वभावसे उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान अनन्तसुखवाला ऐसा परमात्मा स्वरूप शिव तथा गरुड और काम यह आत्मा ही है॥ १॥

अब इन तीनों तत्वोंको आचार्य महाराज गद्यद्वारा स्पष्ट करते हैं॥ १॥

यथान्तर्बहिर्भूतनिजनिजानन्दसन्दोहसंपाद्यमानद्रव्यादिचतुष्कसकलसामग्रीस्वभावप्रभावात्परिस्फुरितरत्नत्रयातिशयसमुल्लसितस्वशक्तिनिराकृतसकलतदावरणप्रादुर्भूतशुक्लध्यानानलबहुलज्वालाकलापकवलितगहनान्तरालादिसकलजीवप्रदेशघनघटितसंसारकारणज्ञानावरणादिद्रव्यभावबन्धनविश्लेषस्ततो युगपत्प्रादुर्भूतानन्तचतुष्टयो घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत् स खल्वयमात्मैव परमात्मव्यपदेशभाग्भवति॥ १०॥

अर्थ—यथा–जैसी चाहिये वैसी, अन्तरंग और बहिर्भूत, तथा निज (अपनी) निजानन्दसन्दोह—(अपने आनन्द स्वरूप विशुद्धता सहित परिणामोंके समूहसे) संपाद्यमान—अर्थात् उत्पन्न की हुई वा प्राप्त की हुई द्रव्य क्षेत्रकालभावके चतुष्क स्वरूप समस्त सामग्रीरूप स्वभावके प्रभावसे प्रगट हुआ जो सम्यक् दर्शन—ज्ञान—चारित्ररूप रत्नत्रय उसके अतिशयसे (प्रकर्ष) उल्लासरूप हुई (उदयरूप हुई) अपनी शक्तिसे निराकरण किया हुआ तदावरण मोहकर्मका उदय, उससे प्रगट हुई शुक्लध्यानरूप अग्निकी ज्वालाके पृथक् वितर्क विचार आदि भेदरूप विशुद्धताके समूहसे ग्रासीभूत किये हैं सघन और अन्तरालवर्ती अनादिकालके जीवके प्रदेशोंमें समूहरूप ठहरे हुए संसारके कारणस्वरूप ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म भावकर्मके बंधनके विशेष जिसने ऐसा, तत्पश्चात् प्रगट हुआ है युगपत् (एकही कालमें) अनन्त ज्ञान–दर्शन–सुख–वीर्यरूप चतुष्टय जिसके ऐसा, जैसे मेघपटलोंके दूर होनेसे सूर्यका प्रताप और प्रकाश युगपत् (एक साथ) प्रकट होता है उसी प्रकार प्रगट हुआ आत्मा ही निश्चय करके परमात्माके व्यपदेशका (नामका) धारक होता है। **भावार्थ**—यह आत्मा संसार–अवस्थामें जीवात्मा कहाता

है, और जब यही आत्मा अन्तरंग तथा बाह्यस्वरूप द्रव्य—क्षेत्र—काल—भावरूप समस्त सामग्रीको प्राप्त होता है तब इसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके अतिशयताकी प्राप्ति होती है। उसके साधनसे मोहका क्रमक्रमसे अभाव होनेपर शुक्लध्यान प्रगट होता है। उस शुक्लध्यानके प्रभावसे घातिया कर्मोंका नाश होनेपर अनन्तचतुष्टय[1] प्रगट होता है, इस प्रकार आत्मा परमात्मा नाम पाता है; और इसीको शिव वा शिवतत्त्व कहते हैं। यह शिवतत्त्वका स्वरूप कहा गया ॥ १० ॥

अब गरुडतत्त्वको कहते हैं, सो अन्यमती गरुडतत्त्वकी ऐसी कल्पना करते हैं कि—गरुडपक्षीका सा तो मुख, और दूसरे सब अंग मनुष्यके समान, किन्तु दोनों तरफ घोंटुओंतक (गोड़ोंतक) लटकती हुई दोनों पांखें, और मुखमें (चोंचमें) दो सर्पोंकी ठोड़ी (फण) उनमेंसे एक सर्प तो मस्तकपर होकर पीठकी तरफ लटकता हुआ और दूसरा पेटकी तरफ लटकता हुआ, तथा घोंटुओंके नीचे नीचे तो पृथिवीतत्त्वकी रचना, और घोंटुओंसे उपरि नाभिपर्यन्त अप्तत्त्वकी (जलतत्त्वकी) रचना, और उसके उपरि हृदयपर्यन्त अग्नितत्त्वकी रचना, और उसके उपरि मुखमें पवनतत्वकी रचना। इसप्रकार आकाशतत्वमें गरुडकी कल्पना करके ध्यान करते हैं और उसे समस्त उपद्रव मेटनेवाला कहते हैं। उसका स्वरूप संस्कृत गद्य (वचनिका) द्वारा आचार्य महाराज कहते हैं। उसमेंसे प्रथम पृथिवी तत्वका स्वरूप कहते हैं,—

अविरलमरीचिमञ्जरीपुञ्जपिञ्जरितभासुरतराशिरोमणिमण्डलीसहस्रमण्डितविकटतरफूत्कारमारुतपरंपरोत्पातप्रेङ्खोलितकुलाचलसंमिलितशिखिशिखासन्तापद्रवत्काञ्चनकान्तिकपिशनिजकायकान्तिच्छटापटलजटिलितदिग्वलयक्षात्त्रियभुजङ्गपुङ्गवद्वितयपरिक्षिप्तक्षितिवीजविसृष्टप्रकटपविपञ्जरपिनद्धसवनगिरिचतुरस्रमेदिनीमण्डलावलम्बनगजपतिपृष्ठप्रतिष्ठितपरिकलितकुलिशकरशचीप्रमुखविलासिनीशृङ्गारदर्शनोल्लसितलोचनसहस्रश्रीत्रिदशपतिमुद्रालंकृतसमस्तभुवनावलम्बिसुनासीरपरिकलितजानुद्वय इति पृथ्वीतत्त्वम् ॥ ११ ॥

अर्थ—प्रचुर अविच्छेदरूप किरणोंकी लताओंके समूहसे पीतवर्ण देदीप्यमान (चमकते हुए) मस्तकमणियोंकी मंडलीके सहस्रद्वारा मंडित, और अतिशय विकट निकलते हुए फूत्काररूप पवनकी परंपरा (पंक्तिरूप परिपाटी) के पड़नेसे द्रवते हुए सुवर्णकी कान्तिके समान कपिश (पीतरक्ततास्वरूप), अपने शरीरकी कान्तिकी छटाओंके पटलोंसे तद्रूप जटिलित किया है दिशाओंका वलय जिन्होंने ऐसे, दो विशेषणयुक्त क्षत्रिय जातिके

१ अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य।

सर्पोंमें प्रधान दो सर्पोंसे (जिनके नाम वासुकी और शंखराज हैं) वेष्टित ऐसा पृथिवीमंडल है सो क्षितिके बीजाक्षरों सहित है तथा वज्रपंजरके (वज्रसहित रेखाके) चतुष्टयसे बँधा हुआ और सवनगिरि (मेरुपर्वत) सहित चौकोण, (इसप्रकार पांच विशेषण पृथ्वीमंडलके हैं) ऐसा पृथ्वी मंडल है आधार जिसका (यह इन्द्रका विशेषण है) और ऐरावत हस्तीके स्कन्धपर चढ़ा हुआ, हाथमें वज्र है, शची आदि सुन्दर देवांगनाओंके शृंगार देखनेमें प्रफुल्लित हैं हजार नेत्र जिसके ऐसी देवेन्द्रकी मुद्रासे शोभायमान है, ऐसे समस्तभुवनका आलंबन करनेवाले सुनाशीर (इन्द्र) के द्वारा रचनारूप किये हैं दोनो जानु जिसने ऐसा गरुड है । यहांतक पृथिवीतत्वसहित गरुडका विशेषण है ॥ ११ ॥

आगे जलतत्वका स्वरूप कहते हैं—

तदुपरि पुनरानाभिविपुलतरसुधासमुद्रसन्निभसमुल्लसन्निजशरीरप्रभापटलव्याप्तसकलगगनान्तरालवैश्याशीविषधरावनद्धवारुणबीजाक्षरमण्डनपुण्डरीकलक्ष्मोपलक्षितपारावारमयखण्डेन्दुमण्डलाकारवरुणपुरप्रतिष्ठितविपुलतरप्रचण्डमुद्राग्रहेतिविकीर्णशिशिरतरपयःकणक्रान्तिकर्बुरितसकलककुप्चक्रकरिमकरमारूढप्रशस्तपाशपाणिवरुणामृतमुद्राबन्धविधुरितनिःशेषविषानलसंतानभगवद्वरुणानिर्गुढोत्संगप्रदेश इति अप्तत्त्वम् ॥ १२ ॥

अर्थ—तथा उस जानुद्वयके उपरि नाभिपर्यन्त अप्तत्व है । वहां अतिविस्तीर्ण जो सुधासमुद्र (क्षीरसमुद्र) समान शुक्लवर्ण, उल्लासको प्राप्त होते अपने शरीरकी प्रभाके पटलसे (तेजसमूहसे) व्याप्त किया है समस्त आकाशका मध्यभाग जिन्होंने ऐसे, वैश्यजातिके, कर्कोट और पद्म हैं नाम जिनके ऐसे दो आशीविष सर्पोंसे वेष्टित अप्मंडल है । और वारुण बीजोंसे (जलके बीजाक्षरोंसे) शोभित और पुंडरीक अर्थात् पंचपत्रोपलक्षित श्वेत कमलके चिह्नसे चिह्नित पारावारमय कहिये क्षीरसमुद्रमय, खंडेन्दु कहिये अर्द्धचंद्राकारके मंडलके समान, वरुणपुरमें तिष्ठता अतिविस्तीर्ण प्रचंड मुद्रावाला और अग्रहेति कहिये मुख्य किरणोंसे वखेरे हुए अतिशीतल जलके कणोंकी आक्रान्तिसे (व्याप्तिसे] कर्बुरित (नानावर्णवाला) किया है समस्त दिशाओंका समूह जिसने ऐसा, और करिमकर कहिये—जलहस्तीपर चढ़ा हुआ सुन्दर नागपाश है हाथमें जिसके ऐसा जो वरुण दिक्पाल उसके अमृतकी मुद्राके वन्धसे दूर किया है सम्पूर्ण विषरूप अग्निका समूह जिसने ऐसे समर्थ वरुण दिक्पालके द्वारा रचित है उत्संग (कटिस्थान) स्थान जिसका ऐसा यह गरुडका दूसरा विशेषण है ॥ १२ ॥

आगे गरुडके तीसरे विशेषण अग्नितत्वका रूप कहते हैं,—

विस्फुरितनिजवपुर्बहुलज्वालावलीपरिकलितसकलदिग्वलयाद्विजद

न्दशूकराक्षिताशुशुक्षणिरवर्णविस्फुरितविस्तीर्णस्वस्तिकोपपन्नत्रिकोणतेजोमयपुरमध्यबद्धवसतिवस्ताधिरूढज्वलदलातहस्तानलमुद्रोद्दीपितसकललोकवह्निविरचितोरःप्रदेश इति वह्नितत्त्वम् ॥ १३ ॥

अर्थ—सर्वत्र फैलती हुई अपने शरीरकी ज्वालाकी पंक्तिसे व्याप्त किया है समस्त दिशाओंका वलय (मण्डल) जिन्होंने ऐसे अनन्त और कुवलिक नाम धारक ब्राह्मण जातिके दो सर्पोंसे रक्षित और रंकाररूप बीजाक्षरसे स्फुरायमान विस्तीर्ण तीन कूटोंपर तीन स्वस्तिक (साथिया) सहित ऐसा त्रिकोण तेजोमय देदीप्यमान पुर अग्निमंडल उसके बीचमें बाँधी है वस्ती जिसने ऐसा, तथा वस्ताधिरूढ कहिये बकरेपर चढ़ा हुआ, प्रज्वलित आलात कहिये जलता हुआ काष्ठ है हाथमें जिसके ऐसी अग्निकी मुद्रासे समस्त लोकको उद्योत करनेवाले वह्नि दिक्पालसे रक्षित है उरःप्रदेश जिसका ऐसा तीसरा गरुडका विशेषण हुआ। यह अग्नितत्वका स्वरूप है ॥ १३ ॥

आगे वायुतत्त्वका रूप कहते हैं;—

अविरतपरिस्फुरितफूत्कारमारुतान्दोलितसकलभुवनाभोगपरिभूतषट्चरणचक्रवालकालिमानिजतनुसमुच्छलद्बहुलकान्तिपटलपिहितानिखिलनभस्तलशूद्रकाद्रवेयवलयितमरुन्मुद्रोपपन्नबिन्दुसन्दोहसुन्दरमहामारुतवलयत्रितयात्मकसकलभुवनाभोगवायुपरिमण्डलनभस्वत्पुरान्तर्गतवाहनकुरङ्गवेगविहरणदुर्ललितकरतलकलितचलविटपकोटिकिशलयशालशालिमरुन्मुद्रोच्छलितसकलभुवनपवनमयवदनारविन्द इति वायुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

अर्थ—निरन्तर स्फुरायमान होता जो फूत्कारसे वहता हुआ पवन, उसके द्वारा कम्पायमान किया जो सकल भुवनका आभोग (मध्य) उसके द्वारा उड़ाये हुए भ्रमरोंके समूहकी कालिमाके समान, तथा उनसे मिली अपने शरीरकी उछलती हुई प्रचुर कान्तिके पटल (समूह) से आच्छादित किया है समस्त आकाशमंडल जिन्होंने ऐसे तक्षक और महापद्म नामक शूद्र जातिके दो सर्पोंसे वेष्टित, और मरुत् मुद्रासे मंडित और विन्दुओंके (जलकणोंके) समूहसे सुन्दर महामारुत प्रचंड पवनके वलयके त्रितय (त्रिक) स्वरूप सकलभुवनके मध्यमें वायुके परिमंडल स्वरूप नभस्तलपुटके अन्तर्गत तिष्ठा हुआ ऐसा, और वाहन जो वातप्रमी जातिका हिरण उसके वेगसे विहार करनेमें दुर्ललित (लीलायुक्त) हाथोंसे पकड़े हुए चलायमान शाखाओंके अग्रभागमें किशलय (कोंपल) जिसके ऐसे शालवृक्षकी शोभासहित, मरुन्मुद्रासे उत्पन्न हुआ सकलभुवनोंमें पवन उसमय है मुखकमल जिसका ऐसा यह गरुडका चौथा विशेषण हुआ; और वायुतत्त्वका स्वरूप कहा गया ॥ १४ ॥

अब इन चारोंही तत्त्वोंसहित गरुडका स्वरूप कहते हैं—

गगनगोचरामूर्त्तजयविजयभुजङ्गभूषणोऽनन्ताकृतिपरमविभुर्नभस्तलनिलीनसमस्ततत्त्वात्मकः समस्तज्वररोगविषधरोड्डामरडाकिनीग्रहयक्षकिन्नरनरेन्द्रारिमारिपरयन्त्रतन्त्रमुद्रामण्डलज्वलनहरिशरभशार्दूलद्विपदैत्यदुष्टप्रभृतिसमस्तोपसर्गनिर्मूलनकारिसामर्थ्यः परिकलितसमस्तगारुडमुद्राडम्बरसमस्ततत्त्वात्मकः सन्नात्मैव गारुडगीर्गोचरत्वमवगाहते। इति विषतत्त्वम्॥१९॥

अर्थ—आकाशगोचरही है मूर्ति जिनकी ऐसे जय विजय नामके दो सर्प हैं भूषण जिसके, तथा अनन्ताकृति परमविभु अर्थात् आकाशकी आकृतिस्वरूप सर्वव्यापक, तथा आकाशमंडलमें लीन है पृथ्वी वरुण वह्नि वायुनामा समस्त तत्त्व जिसमें, तथा समस्त, वात पित्त श्लेष्मसे उत्पन्न ज्वर आदिरोग, अनेक जातिके सर्प आदि विषधर जीव, महाभय, डाकिनी, कुत्सित (खोटे) मंत्रकर्तृक ग्रह पिशाच, यक्ष भैरवादि, किन्नर, अश्वमुख व्यंतर, नरेन्द्र (राजा), शत्रु, महामारी, तथा परके किये यन्त्र, तन्त्र, मुद्रामंडल, तथा अग्नि, सिंह, शरभ—अष्टापद, शार्दूल, व्याघ्र, हस्ती, दैत्य, व्यन्तरादिक दुष्ट—दुर्जनादिक सबके किये हुए उपसर्गको निर्मूलन करनेवाला है सामर्थ्य जिसका, ऐसा तथा रचा है समस्त गारुड मुद्रामंडलका आडंबर जिसने ऐसा, तथा पृथ्वीआदि तत्त्वस्वरूप हुआ है आत्मा जिसका ऐसा गारुडगी[1] के नामको अवगाहन करनेवाला गारुड ऐसा नाम आत्माही पाता है। **भावार्थ**—पहिले चार तत्त्वोंके रूप कहे सो गरुडतत्त्वके विशेषणरूप कहे गये, उन चारों तत्त्वोंसहित यह गरुडतत्त्व है। सो यह आत्माकी ही सामर्थ्यका वर्णन है। यह आत्मा ध्यानके बलसे अनेकसामर्थ्यसहित होता है। उसमें देहका रूप है वह तो सब पुद्गलका रूप है और आत्मा है सो अमूर्त्तीक ज्ञान आदि गुणोंकी शक्ति स्वरूप है, उसके ध्यानके प्रभावसे अनेक व्यक्तिरूप चेष्टा होती हैं, इसप्रकार जानना ॥ १९ ॥

आगे कामतत्वका रूप कहते हैं,—

यदि पुनरसौ सकलजगच्चमत्कारिकार्मुकास्पदनिवेशितमण्डलीकृतसरसेक्षुकाण्डस्वरसहितकुसुमसायकविधिलक्ष्यीकृतदुर्लभमोक्षलक्ष्मीसमागमोत्कण्ठितकठोरतरमुनिमनाः । स्फुरन्मकरकेतुः । कमनीयसकलललनावृन्दवन्दितसौन्दर्यरतिकेलिकलापदुर्ललितचेताश्चतुरश्चेष्टितभ्रूभङ्गमात्रवशीकृतजगत्त्रयस्त्रैणसाधनो दुरधिगमागाधगहनरागसागरान्तर्द्दोलितसुरासुरनरभुजगयक्षसिद्धगन्धर्वविद्याधरादिवर्गः । स्त्रीपुरुष

---

१ गरुडविद्याको जानै सो गारुड=और गी कहिये शब्दमय सो गारुडगी।

भेदभिन्नसमस्तसत्त्वपरस्परमनःसंघटनसूत्रधारः। विविधवनराजिमञ्जरीपरिमलपरिमिलितमधुकरकुलविकसितकुसुमस्तबकतरलितकटाक्षप्रकटसौभाग्येन सहकारलताकिशलयकरोन्मुक्तमञ्जरीपरागपिष्टातकपिशुनितप्रवेशोत्सवेन मदमुखरमधुकरकुटुम्बिनीकोमलालापसंवलितमांसलितकोकिलाकुलकणत्कारसंगीतकप्रियेण मलयगिरिमेखलावनकृतनिलयचन्दनलतालास्योपदेशकुशलैः सुरतभरखिन्नपन्नगनितम्बिनीजनवदनकवलितशिखैरपि विरहिणीनिश्वाससमांसलीकृतकायैः केरलीकुरलान्दोलनदक्षैरुत्कम्पितकुन्तलकामिनीकुन्तलैः परिगतसुरतखेदोन्मिषितलाटीललाटखेदाम्बुकणिकापानदोहदवद्भिरासादितानेकनिर्झरशिशिरशीकरैर्बकुलामोदसन्दर्भनिर्भरैः परिलुण्ठितपाटलासौरभैः परिमिलितनवमालिकामोदैर्मन्दसंचरणशीलैराकुलीकृतसकलभुवनजनमनोभिर्मलयमारुतैः समुल्लसितसौभाग्येन वसन्तसुहृदा दूरमारोपितप्रतापः। प्रारब्धोत्तमतपस्तपनश्रान्तमुनिजनप्रार्थितप्रवेशोत्सवेन स्वर्गापवर्गद्वारसंविघटनवज्रार्गलः। सकलजगद्विजयवैजयन्तीकृतचतुरकामिनीभ्रूविभ्रमः। क्षोभणादिमुद्राविशेषशाली। सकलजगद्वशीकरणसमर्थः इति चिन्त्यते तदायमात्मैव कामोक्तिविषयतामनुभवतीति कामतत्त्वम्। १६।

अर्थ—पुनः यदि कामतत्त्व चित्तमें ध्याया जाय वा विचाराजाय तो ऐसा है—'असौ' कहिये, स्वसंवेदनगोचर सकलजगतको चमत्कार करनेवाले धनुपके स्थानमें निवेशित किया और खींचकर कुंडलाकार कियाहुआ रससहित इक्षुकांडके समान स्वरसहित उन्मादन, मोहन, संतापन, शोषण, मारण इन पांचबाणोंकी विधिसे (आरोपणसे) लक्ष्यरूप (निसानेरूप) किया है दुर्लभ परोक्ष मोक्षलक्ष्मीके समागम होनेके लिये उत्कंठित अतिकठोर मुनियोंका मन जिसने ऐसा काम है। तथा—स्फुरायमान मकराकार चित्रित ध्वजा है जिसकी, और कमनीय—सुंदर समस्त स्त्रियोंके समूहद्वारा वंदनीय है सुंदरता जिसकी ऐसी रतिनामा कामकी स्त्रीसहित जो केलि (क्रीड़ा) उसके कलापमें (समूहमें) दुर्ललित है (अनिवार्य है) चित्त जिसका ऐसा है। तथा—चतुरोंकी चेष्टारूप भ्रूभंगमात्रसे वशीभूत किया स्त्रियोंका समूहही है साधन सेना जिसके ऐसा है। पुनः दुरधिगम, अगाध (गहन) है मध्यभाग जिसका ऐसे विस्तृत रागरूप समुद्रमें डुलाये हैं सुर (कल्पवासी देव), असुर (भुवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देव), नर (राजादि लोक), भुजग—धरणीन्द्र (शेपनागादिक), यक्ष (धनदादिक), सिद्ध (जिनके अंजनगुटिका रसायनादि विद्या सिद्ध हो), लोकको रंजायमान करनेवाले गन्धर्व (गानके अधिकारी देवादिक), विद्याधर (आकाशमें विमानोंद्वारा चलनेवाले) हरिहरब्रह्मादिकके समूह जिसने ऐसा, तथा स्त्रीपुरुपके भेदसे भिन्न समस्त प्राणियोंके मन मिलानेके लिये सूत्रधार

(शिक्षादेनेवाला आचार्य) है। तथा वसन्तऋतुरूपी मित्रने अतिशयरूप कर दिया है प्रताप जिसका ऐसा, क्योंकि वह वसन्तऋतु ऐसा है कि—विविधप्रकारकी वनकी पंक्तिके सुगन्धित परागमें मिले भ्रमरोंके समूह जिसमें ऐसे प्रफुल्लित पुष्पोंके गुच्छेरूपी चंचलकटाक्षोंसे प्रगट है सौभाग्यसुंदरता जिसकी, तथा—सहकारलता (आमकी मंजरी) के किशलय (अंकुर) रूपी हाथोंसे बखेरा है मंजरीका पराग वही हुआ पिष्टातक (सुगंधित अबीर) उसके द्वारा प्रगट किया है अपने प्रवेशका उत्सव जिसने ऐसा, तथा—मदसे वाचालित भ्रमरियोंके कोमल शब्दोंके मिलनेसे पुष्ट हुए कोकिलाओंके समूहोंके शब्दरूपी संगीत हैं प्रिय जिसको ऐसा तथा—मलयाचलके सुगंधित पवनसे उदय हुआ है सौभाग्य जिसका, वह मलयाचलका सुगंधित पवन कैसा है कि—मलयगिरिके चौतरफके वनमें रहनेवाले चंदनकी लतामंजरीको नृत्यके उपदेश देनेमें प्रवीण है. अर्थात् पवनसे चंदनलतायें हिलती हैं उसकी उत्प्रेक्षा कीगई है कि मानो पवन है सो इन लताओंको नृत्यकी शिक्षा दे रहा है। तथा फिर कैसा है मलयाचलका पवन कि—संभोगकी अतिशयतासे खेदखिन्न जो सर्पोंकी सर्पिणी उनके मुखसे ग्रासीभूत होगई है शिखा जिनकी तौभी विरहिणी जो विप्रलब्धा वियोगिनी स्त्री उनके निश्वासोंसे पुष्ट हुआ है काय जिसका ऐसा, तथा—केरलीज अर्थात् केरलदेशकी स्त्रियोंके कुरलोंको (मुखके जलक्षेपणको) कंपित करनेमें चतुर है—तथा—उत्कंपित किये हैं कुंतलदेशकी स्त्रियोंके केश जिसने, तथा प्राप्त हुए संभोगके खेदसे उत्पन्न हुए लाटदेशकी स्त्रियोंके ललाटस्थ पसीनेके जलकणोंके पान करनेमें इच्छावान् है तथा—ग्रहण किये हैं अनेक निर्झरके शीतल जलके कण जिसने, तथा बकुलसिरी (मौलसिरी) आदि सुगंधित वृक्षोंके आमोदित परागोंके समूहसे भरा हुआ—फिर कैसा है पवन? कि—समस्त प्रकार लूट लिया है पाटलवृक्षोंका सौरभपराग जिसने—तथा सम्पूर्णतासे मिला है माल्तीका सुगंध जिसमें तथा मंद संचरण करनेका है स्वभाव जिसमें तथा विषयोंमें आकुलित किया है समस्त भुवनोंके जीवोंका मन जिसने, ऐसे मलयके पवनसे वसंत ऋतुकी सुभगता प्रगट होती है। फिर कैसा है काम?—आरंभ किया जो उत्तम तप उसको तपनेसे खेद खिन्न हुए मुनिजनोंद्वारा वांछित जो प्रवेशका उत्सव उसके द्वारा स्वर्ग मोक्षके द्वारका जो उघड़ना (खुलना) उसमें वज्रमयी अर्गलाके समान है, अर्थात् मुनिजनोंके स्वर्गमोक्षके प्रवेशद्वारको बंद करनेवाला है। तथा—समस्त जगतको जीतनेकी वैजयन्ती ध्वजारूप किया है चतुर स्त्रियोंके भौंहरूपी विभ्रमको जिसने ऐसा। तथा—क्षोभण कहिये चित्तके चलने आदि मुद्राविशेषमें (आकारविशेषमें) शाली कहिये चतुर है, अर्थात् समस्त जगतके चित्तको चलायमान करनेवाले आकारोंको प्रगट करनेवाला है। इस प्रकार समस्त जगतको वशीभूत करनेवाले

कामकी कल्पना करके अन्यमती जो ध्यान करते हैं, सो यह आत्मा ही कामकी उक्ति कहिये नाम वा संज्ञाको धारण करनेवाला है ॥ १६ ॥

अब उक्त प्रकारकी तीन तत्त्वरूपी समस्त चेष्टायें इस आत्माहीकी हैं ऐसा कहते हैं—

तदेवं यदिह जगति शरीरविशेषसमवेतं किमपि सामर्थ्यमुपलभामहे तत्सकलमात्मन एवेति विनिश्चयः । आत्मप्रवृत्तिपरंपरोत्पादितत्वाद्विग्रहग्रहणस्येति ॥ १७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—इस कारणसे पूर्वोक्त प्रकार शिवतत्त्व—गरुड-तत्त्व—कामतत्त्वमें इस जगतमें शरीरविशेषसे मिली हुई जो कुछ सामर्थ्य हम देखते हैं सो सब आत्माहीकी है। यह हमको भले प्रकार निश्चय है। क्योंकि, शरीरके ग्रहण करनेमें आत्माकी प्रवृत्तिकी परंपरा (परिपाटी) को उत्पत्तिहेतुता है **भावार्थ**—यह आत्मा जैसी शुभ तथा अशुभ तथा अशुद्ध ध्यानादिरूपी प्रवृत्ति करता है वैसेही विचित्ररूप शरीर धारण करता है। और वैसीही अपने सामर्थ्यरूप अनेक चेष्टायें करना उसका फल होता है ॥ १७ ॥

आगे आत्माका वर्णन पद्यसे करते हैं।

मालिनी।

यदिह जगति किञ्चिद्विस्मयोत्पत्तिबीजं
भुजगमनुजदेवेष्वस्ति सामर्थ्यमुच्चैः।
तदखिलमपि मत्वा नूनमात्मैकनिष्ठं
भजत नियतचित्ताः शश्वदात्मानमेव ॥ १८ ॥

अर्थ—हे भव्य जीवो! इस जगतमें जो कुछ अधोलोकमें भवनवासी देवोंकी, मध्यलोकमें मनुष्योंकी और ऊर्ध्वलोकमें देवोंकी सामर्थ्य विस्मय उत्पन्न करनेका कारण है सो सबही सामर्थ्य निश्चय करके इस एक आत्माहीमें है। इस कारण हम उपदेश करते हैं कि निश्चलचित्त होकर, तुम एक आत्माहीको निरन्तर भजो। **भावार्थ**—आत्मा अनन्त शक्तिका धारक है, सो इसको जिस प्रकार वा जिस रीतिसे प्रगट किया जावे उसी प्रकारसे यह आत्मा व्यक्तरूप (प्रगट) होता है ॥ १८ ॥

अचिन्त्यमस्य सामर्थ्यं प्रवक्तुं कः प्रभुर्भवेत्।
तच्च नानाविधध्यानपदवीमधितिष्ठति ॥ १९ ॥

अर्थ—इस आत्माकी शक्ति अचिन्त्य है। उसको प्रगट करनेको कोई समर्थ नहीं है। यह शक्ति (सामर्थ्य) नानाप्रकारके ध्यानकी पदवीके आश्रयसे होती है। अर्थात् नाना-प्रकारके ध्यानसे ही आत्माकी अचिन्त्य शक्तियें प्रगट होती हैं ॥ १९ ॥

इन्द्रवज्रा।

तदस्य कर्त्तुं जगदंह्विलीनं तिरोहिताऽऽस्ते सहजैव शक्तिः।
प्रबोधितस्तां समभिव्यनक्ति प्रसह्य विज्ञानमयः प्रदीपः॥ २०॥

अर्थ—पूर्वोक्त आत्माकी सामर्थ्य इस जगतको अपने पदमें (प्रभावमें) लीन करनेको स्वभावस्वरूपही है, परन्तु वह कर्मोंसे आच्छादित है। विज्ञानरूप उत्कृष्ट दीपकको प्रज्वलित करनेसे वह उस शक्तिको प्रगट (स्वानुभवगोचररूप) करता है। **भावार्थ**—आत्माकी शक्तियें सब स्वाभविक हैं। सो अनादिकालसे कर्मोंके द्वारा ढकी हुई हैं। ध्यानादिक करनेसे प्रगट होती हैं। सब नई उत्पन्न हुई दीखती हैं। सो ज्ञानरूपी दीपकके प्रकाश होनेपर प्रगट होती हैं। परकी की हुई वस्तुमें कोई भी शक्ति नहिं होती, अन्यनिमित्तसे उत्पन्न होनेपर जो अन्यसे हुई मानते हैं सो भ्रम है, वे पर्यायबुद्धि हैं। जब वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायस्वरूप जानै तब भ्रम नहिं रहता॥ २०॥

अथवा अन्यपक्ष है कि—

अयं त्रिजगतीभर्त्ता विश्वज्ञोऽनन्तशक्तिमान्।
नात्मानमपि जानाति स्वस्वरूपात्परिच्युतः॥ २१॥

अर्थ—यह आत्मा तीन जगतका भर्ता (स्वामी) है, समस्त पदार्थोंका ज्ञाता है, अनन्तशक्तिवाला है, परन्तु अनादिकालसे अपने स्वरूपसे च्युत होकर अपने आपको नहिं जानता। **भावार्थ**—यह अपनीही भूल है। अर्थात् कर्मके पक्षसे यह दूसरा अज्ञान पक्ष बताया गया है॥ २१॥

अनादिकालसम्भूतैः कलङ्कैः कश्मलीकृतः।
स्वेच्छयार्थान्समादत्ते स्वतोऽन्त्यन्तविलक्षणान्॥ २२॥

अर्थ—यह आत्मा अनादिसे उत्पन्न कलंकसे मलिन किया हुआ अत्यन्त विलक्षण अपनेसे भिन्न पदार्थोंको स्वेच्छासे ग्रहण करता है। **भावार्थ**—पदार्थोंमें रागद्वेष मोहसे अहंकार ममकार इष्ट अनिष्ट आदि बुद्धि करता है॥ २२॥

दृग्बोधनयनः सोऽयमज्ञानतिमिराहतः।
जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति॥ २३॥

अर्थ—यह आत्मा दर्शन ज्ञान नेत्रवाला है, परन्तु अज्ञानरूपी अन्धकारसे व्याप्त हो रहा है इस कारण जानता हुआ भी नहिं जानता और देखता हुआ भी कुछ नहिं देखता॥ २३॥

अविद्योद्भूतरागादिगरव्यग्रीकृताशयः।
पतत्यनन्तदुःखाग्निप्रदीप्ते जन्मदुर्गमे॥ २४॥

अर्थ—अविद्यासे (मोहसे) उत्पन्न रागादिकरूपी विषके विकारसे व्यग्र चित्त होनेसे यह आत्मा दुःखरूपी अग्निसे जलतेहुए दुर्गम संसारमें पड़ता है ।

लोष्टेष्वपि यथोन्मत्तः स्वर्णबुद्ध्या प्रवर्त्तते ।
अर्थेष्वनात्मभूतेषु स्वेच्छयाऽयं तथा भ्रमात् ॥ २५ ॥

अर्थ—जैसे धतूरा खाया उन्मत्त पुरुष पत्थरादिकमें सुवर्णबुद्धिसे प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञानसे अपने स्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थोंमें स्वेच्छाचाररूप प्रवृत्ति करता है **भावार्थ**—उनसे राग द्वेष मोह करता है ॥ २५ ॥

वासनाजनितान्येव सुखदुःखानि देहिनाम् ।
अनिष्टमपि येनायमिष्टमित्यभिमन्यते ॥ २६ ॥

अर्थ—जीवोंके जो सुखदुःख हैं वे अनादि अविद्याकी वासनासे उत्पन्न हुए हैं इसी कारण यह आत्मा अनिष्टको भी इष्ट मानता हैं । **भावार्थ**—संसारसम्बधी सुख दुःख हैं वे कर्मजनित होनेके कारण अनिष्टही हैं तथापि यह आत्मा उनको इष्ट मानता है ॥ २६ ॥

अविश्रान्तमसौ जीवो यथा कामार्थलालसः ।
विद्यतेऽत्र यदि स्वार्थे तथा किं न विमुच्यते ॥ २७ ॥

अर्थ—यह आत्मा जिस प्रकार काम और अर्थके लिये अविश्रान्त परिश्रम करता है उस प्रकार यदि अपने स्वार्थ अर्थात् मोक्ष वा मोक्षमार्गमें लालसासहित प्रवृत्ति करै तौ क्या यह कर्मोंसे मुक्त न हो ? अवश्यही हो ॥ २७ ॥

इसप्रकार इस त्रितत्त्वके प्रकरणमें तात्पर्य यह है कि—इन तीन तत्त्वोंकी जो चेष्टा कही गई सो सब इस आत्माहीकी चेष्टा है । और वे सब ध्यान करनेसे प्रगट होती हैं इस कारण आत्माके ध्यान करनेका विधान है । सो ऐसाही करना चाहिये । मिथ्याकल्पना किस लिये करनी ? मिथ्याकल्पनाओंसे कुछ लौकिक चमत्कार हो तो हो सक्ता है परन्तु उससे मोक्षका साधन नहिं होता । इस कारण ऐसा ध्यानही करना उत्तम है जिससे मोक्ष और सांसारिक अभ्युदय प्रगटै, इस प्रकार उपदेश है ।

कवित्त–घनाक्षरी ।

शिव काम विषतत्त्व ध्यान थापि अन्यमती, मानैं हम स्वर्ग मोह साधे हैं विधानतैं हैं ।
शिव कौन काम कौन विष कौन यह मर्म, जानै नांहि याथातथ्य भ्रमैं ते अज्ञानतैं ॥
जैनवानी स्याद्वाद वस्तुरूप सत्य कहै, सब रूप आत्माके शक्तिव्यक्तिमानतैं ।
पुद्गलसंयोगतैं अनादि भूलि कर्मवशि, दवी शक्ति ध्यान खोलै आपापर जानतैं ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे
त्रितत्त्ववर्णनं नाम एकविंशं प्रकरणम् ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशं प्रकरणम् ।



आगे अन्यमती ध्यानकी सिद्धि यमनियमादिक योगसाधनसे कहते हैं और आचार्य महाराज कहते हैं कि यमनियमादिक तो पूर्वाचार्योंने अन्य वस्तुमें व्यापार रोक, स्वरूपमें लीन करनेके लिये कहे हैं। अन्यमती जिस प्रकार कहते हैं वैसे स्वार्थसिद्धि नहिं होती ऐसा वर्णन करते हैं। सो अन्यमतियोंका संस्कृतसूत्र जिसप्रकार है वह आचार्य महाराज कहते हैं।

अथ कैश्चिद्यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इत्यष्टावङ्गानि योगस्य स्थानानि ॥ १ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि कई अन्यमती " यम १, नियम २, आसन ३, प्राणायाम ४, प्रत्याहार ५, धारणा ६, ध्यान ७, और समाधि ८, इस प्रकार आठ अंग योगके स्थान हैं " ऐसा कहते हैं, ॥ १ ॥

इसी प्रकार अन्यने भी कहा है, जैसेः—

तथान्यैर्यमनियमावपास्यासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इति षट् ॥ २ ॥

अर्थ—वैसे ही अन्य कई अन्यमतियोंने यम नियमको छोड़कर आसन १, प्राणायाम २, प्रात्याहार ३, धारणा ४, ध्यान ५ और समाधि ६ ये छह ही कहे हैं ॥ २ ॥

तथान्यैः,—

इसी प्रकार फिर अन्यने अन्य प्रकार कहा है। उसका पाठः—

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्सन्तोषात्तत्त्वदर्शनात् ।
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥ १ ॥

अर्थ—उत्साहसे, निश्चयसे, धैर्यसे, सन्तोषसे, तत्त्वदर्शनसे, देशके त्यागसे योगकी सिद्धि होती है ॥ १ ॥

फिर कोई एक इस प्रकार कहता है—

एतान्येवाहुः केचिच्च मनःस्थैर्याय शुद्धये ।
तस्मिन्स्थिरीकृते साक्षात्स्वार्थसिद्धिर्ध्रुवं भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—कोई ऐसे कहते हैं कि—ये यमादिक कहे हैं सो मनको स्थिर करनेके लिये तथा मनकी शुद्धताके लिये कहे हैं क्योंकि, मनके स्थिर होनेसे साक्षात्स्वार्थसिद्धि होती है ॥२॥

तथा फिर भी कहते हैं—

यमादिषु कृताभ्यासो निःसंगो निर्ममो मुनिः ।
रागादिक्लेशनिर्मुक्तं करोति स्ववशं मनः ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसने यमादिकमें अभ्यास किया है, परिग्रह और ममतासे रहित है ऐसा मुनिही अपने मनको रागादिकसे निर्मुक्त तथा अपने वशमें करता है ॥ ३ ॥

अब पूर्वाचार्योंकी उक्ति कहते हैं कि—

अष्टावङ्गानि योगस्य यान्युक्तान्यार्यसूरिभिः ।
चित्तप्रसत्तिमार्गेण बीजं स्युस्तानि मुक्तये ॥ ४ ॥

अर्थ—योगके जो आठ अंग पूर्वाचार्योंने कहे हैं वे चित्तकी प्रसन्नताके मार्गसे मुक्तिके लिये बीजभूत (कारण) होते हैं, अन्यप्रकारसे नहिं होते इस प्रकार पूर्वाचार्योंने कहा है ॥ ४ ॥

अङ्गान्यष्टावपि प्रायः प्रयोजनवशात्क्वचित् ।
उक्तान्यत्रैव तान्युच्चैर्विदांकुर्वन्तु योगिनः ॥ ५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि ये आठों अंग भी प्रयोजनानुसार प्रायः इस ग्रन्थमें भी कहे गये हैं, उन्हें भलेप्रकार सबको जानना चाहिये ॥ ५ ॥

अब मनोरोधका वर्णन करते हैं—

मनोरोधे भवेद्रुद्धं विश्वमेव शरीरिभिः ।
प्रायोऽसंवृतचित्तानां शेषरोधोऽप्यपार्थकः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसने मनका रोध किया उसने सबही रोका, अर्थात् जिसने अपने मनको वश किया उसने सबको वश किया और जिसने अपने मनको वशीभूत नहिं किया उसका अन्य इन्द्रियादिकका रोकना भी व्यर्थ ही है ॥ ६ ॥

अब मनके व्यापारका वर्णन करते हैं—

कलङ्कविलयः साक्षान्मनःशुद्ध्यैव देहिनाम् ।
तस्मिन्नपि समीभूते स्वार्थसिद्धिरुदाहृता ॥ ७ ॥

अर्थ—मनकी शुद्धतासे ही साक्षात् कलंकका विलय होता है और जीवोंके उनका समभावस्वरूप होनेपर स्वार्थकी सिद्धि कही है । क्योंकि जब मन रागद्वेषरूप नहिं प्रवर्तता तब ही अपने स्वरूपमें लीन होता है, यही स्वार्थकी सिद्धि है ॥ ७ ॥

चित्तप्रपञ्चजानेकविकारप्रतिबन्धकाः ।
प्राप्नुवन्ति नरा नूनं मुक्तिकान्ताकरग्रहम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो पुरुष चित्तके प्रपंचसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके विकारोंको रोकनेवाले

हैं वे ही निश्चयतः मुक्तिरूपी स्त्रीके करग्रहणको प्राप्त होते हैं। भावार्थ—ऐसे पुरुषोंसे ही मुक्तिरूपी स्त्री विवाहित होती है ॥ ८ ॥

अतस्तदेव संरुध्य कुरु स्वाधीनमञ्जसा।
यदि छेत्तुं समुद्युक्तस्त्वं कर्मनिगडं दृढम् ॥ ९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि अतएव हे भव्यात्मन्! यदि तू कर्मरूपी दृढ बेड़ियोंको काटनेके लिये उद्यमी हुआ है तो उस मनको ही समस्त विकल्पोंसे रोककर शीघ्र ही अपने वशमें कर ॥ ९ ॥

सम्यगस्मिन्समं नीते दोषा जन्मभ्रमोद्भवाः।
जन्मिनां खलु शीर्यन्ते ज्ञानश्रीप्रतिबन्धकाः ॥ १० ॥

अर्थ—इस मनको भलेप्रकार समभावरूप प्राप्त करनेसे जीवोंके ज्ञानरूपी लक्ष्मीके प्रतिबन्धक, संसारके भ्रमणसे उत्पन्न हुए दोष निश्चय करके नष्ट हो जाते हैं ॥ १० ॥

एक एव मनोदैत्यजयः सर्वार्थसिद्धिदः।
अन्यत्र विफलः क्लेशो यमिनां तज्जयं विना ॥ ११ ॥

अर्थ—संयमी मुनियोंको एक मात्र मनरूपी दैत्यका जीतना ही समस्त अर्थोंकी सिद्धिका देनेवाला है; क्योंकि इस मनको जीते विना अन्य व्रत नियम तप व शास्त्रादिकमें क्लेश करना व्यर्थ ही है ॥ ११ ॥

एक एव मनोरोधः सर्वाभ्युदयसाधकः।
यमेवालम्ब्य संप्राप्ता योगिनस्तत्त्वनिश्चयम् ॥ १२ ॥

अर्थ—एक मनका रोकना ही समस्त अभ्युदयोंका साधनेवाला है क्योंकि मनोरोधका आलंबन करके ही योगीश्वर तत्त्वनिश्चयताको प्राप्त हुए हैं ॥ १२ ॥

पृथक्करोति यो धीरः स्वपरावेकतां गतौ।
स चापलं निगृह्णाति पूर्वमेवान्तरात्मनः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो धीरवीर पुरुष एकताको प्राप्त हुए आत्मा और शरीरादि परवस्तुको पृथक् २ करके अनुभव करते हैं वे सबसे पहिले अन्तरात्माकी अर्थात् मनकी चंचलताको रोक लेते हैं ॥ १३ ॥

मनःशुद्ध्यैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ॥ १४ ॥

अर्थ—निःसंदेह मनकी शुद्धिसे ही जीवोंके शुद्धता होती है, मनकी शुद्धिके विना केवल कायको क्षीण करना वृथा है ॥ १४ ॥

ध्यानशुद्धिं मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलं।
विच्छिनत्त्यपि निःशङ्कं कर्मजालानि देहिनाम् ॥ १५ ॥

अर्थ—मनकी शुद्धता केवल ध्यानकी शुद्धताको ही नहिं करती है किन्तु जीवोंके कर्मजालको (कर्मोंके समूहको) भी निःसंदेह काटती है। **भावार्थ**—मनकी शुद्धतासे ध्यानकी निर्मलता भी होती है और कर्मोंकी निर्जरा भी होती है ॥ १५ ॥

पादपङ्कजसंलीनं तस्यैतद्भुवनत्रयम् ।
यस्य चित्तं स्थिरीभूय स्वस्वरूपे लयं गतम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जिस मुनिका मन स्थिर होकर आत्मरूपमें लीन हो गया उसके चरणकमलोंमें यह तीनो जगत् भले प्रकार लीन हुए समझने चाहिये ॥ १६ ॥

मनः कृत्वाशु निःसङ्गं निःशेषविषयच्युतम् ।
मुनिभृङ्गैः समालीढं मुक्तेर्वदनपङ्कजम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिन मुनिरूपी भ्रमरोंने अपने मनको निःसंगतासे शीघ्र ही समस्तविषयोंसे छुड़ाया उन्होंने ही मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखरूपी क लको आलिंगन किया ॥ १७ ॥

यथा यथा मनःशुद्धिर्मुनेः साक्षात्प्रजायते ।
तथा तथा विवेकश्रीर्हृदि धत्ते स्थिरं पदम् ॥ १८ ॥

अर्थ—मुनिके जैसे २ मनकी शुद्धता साक्षात् होती जाय तैसे २ विवेक अर्थात् भेदज्ञानरूप लक्ष्मी अपने हृदयमें स्थिरपदको धारण करती है। **भावार्थ**—मनकी शुद्धतासे उत्तरोत्तर विवेक बढ़ता है ॥ १८ ॥

चित्तशुद्धिमनासाद्य मोक्तुं यः सम्यगिच्छति ।
मृगतृष्णातरङ्गिण्यां स पिबत्यम्बु केवलम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुष चित्तकी शुद्धताको न पाकर भले प्रकार मुक्त होना चाहता है वह केवल मृगतृष्णाकी नदीमें जल पीता है। **भावार्थ**—मृगतृष्णामें जल कहांसे आया ? उसी प्रकार चित्तकी शुद्धताके विना मुक्ति कहांसे हो ? ॥ १९ ॥

तद्ध्यानं तद्धि विज्ञानं तद्ध्येयं तत्त्वमेव वा ।
येनाविद्यामतिक्रम्य मनस्तत्त्वे स्थिरी भवेत् ॥ २० ॥

अर्थ—वही तो ध्यान है, वही विज्ञान है और वही ध्येय तत्त्व है कि—जिसके प्रभावसे अविद्याको उल्लंघकर मन निजस्वरूपमें स्थिर हो जाय ॥ २० ॥

विषयग्रासलुब्धेन चित्तदैत्येन सर्वथा ।
विक्रम्य स्वेच्छयाजस्रं जीवलोकः कदर्थितः ॥ २१ ॥

अर्थ—विषय ग्रहण करनेमें लुब्ध ऐसे इस चित्तरूपी दैत्यने (राक्षसने) सर्व प्रकार विक्रिया करके विकाररूप हो अपनी इच्छानुसार इस जगतको पीडित किया है ॥ २१ ॥

अवार्यविक्रमः सोऽयं चित्तदन्ती निवार्यताम् ।
न यावद्ध्वंसयत्येष सत्संयमनिकेतनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—हे मुने ! यह चित्तरूपी हस्ती ऐसा प्रवल है कि इसका पराक्रम अनिवार्य है सो जबतक यह समीचीनसंयमरूपी घरको नष्ट नहीं करता, उससे पहिले १ तू इसका निवारण करे यह चित्त निरर्गल (स्वच्छन्द) रहैगा तो संयमको विगाड़ैगा ॥ २२ ॥

विभ्रमद्विषयारण्ये चलच्चेतोवलीमुखः ।
येन रुद्धो ध्रुवं सिद्धं फलं तस्यैव वाञ्छितम् ॥ २३ ॥

अर्थ—यह चंचलचित्तरूपी बंदर विषयरूपी वनमें भ्रमता रहता है सो जिस पुरुषने इसको रोका, वश किया, उसीके वांछित फलकी सिद्धि है ॥ २३ ॥

चित्तमेकं न शक्नोति जेतुं स्वातन्त्र्यवर्ति यः ।
ध्यानवार्त्तां ब्रुवन्मूढः स किं लोके न लज्जते ॥ २४ ॥

अर्थ—जो पुरुष स्वतन्त्रतासे वर्त्तनेवाले एक मात्र चित्तको जीतनेमें समर्थ नहीं है वह मूर्ख ध्यानकी चर्चा करता हुआ लोकमें लज्जित नहिं होता ? । **भावार्थ**—चित्तको तो जीत नहीं सक्ता और लोकमें ध्यानकी चर्चावार्ता करै कि मैं ध्यानी हूं, ध्यान करता रहता हूं सो वह बड़ा निर्लज्ज है ॥ २४ ॥

यदसाध्यं तपोनिष्ठैर्मुनिभिर्वीतमत्सरैः ।
तत्पदं प्राप्यते धीरैश्चित्तप्रसरबन्धकैः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो पद निर्मत्सर तपोनिष्ठ मुनियोंके द्वारा भी असाध्य है वह पद चित्तके प्रसारको रोकनेवाले धीर पुरुषोंके द्वारा ही प्राप्त किया जाता है । **भावार्थ**—केवल बाह्य-तपसे उत्तम पद पाना असंभव है ॥ २५ ॥

अनन्तजन्मजानेककर्मबन्धस्थितिर्दृढा ।
भावशुद्धिं प्रपन्नस्य मुनेः प्रक्षीयते क्षणात् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो अनन्त जन्मसे उत्पन्न हुई दृढ़ कर्मबन्धकी स्थिति है सो भावशुद्धिको प्राप्त होनेवाले मुनिके क्षणभरमें नष्ट हो जाती है क्योंकि कर्मक्षय करनेमें भावोंकी शुद्धता ही प्रधान कारण है ॥ २६ ॥

यस्य चित्तं स्थिरीभूतं प्रसन्नं ज्ञानवासितम् ।
सिद्धमेव मुनेस्तस्य साध्यं किं कायदण्डनैः ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त स्थिरीभूत है, प्रसन्न है, रागादिककी कलुपता जिसमें नहीं है और ज्ञानकी वासनासहित है उस मुनिके साध्य अर्थात् अपने स्वरूपादिककी प्राप्ति आदि सब कार्य सिद्धही हैं । अतएव उस मुनिको बाह्यतपादिकसे कायको दंडनेसे कुछ लाभ नहीं है ॥ २७ ॥

तपःश्रुतयमज्ञान–तनुक्लेशादिसंश्रयम् ।
अनियन्त्रितचित्तस्य स्यान्मुनेस्तुपखण्डनम् ॥ २८ ॥

अर्थ---जिस मुनिने अपने चित्तको वश नहिं किया उसका तप, शास्त्राध्ययन, व्रत-धारण, ज्ञान, कायक्लेश इत्यादि सब तुषखंडनके समान निःसार (व्यर्थ) हैं । क्योंकि मनके वशीभूत हुए विना ध्यानकी सिद्धि नहिं होती ॥ २८ ॥

एकैव हि मनःशुद्धिर्लोकाग्रपथदीपिका ।
स्खलितं बहुभिस्तत्र तामनासाद्य निर्मलाम् ॥ २९ ॥

अर्थ---मनकी शुद्धता ही एक मोक्षमार्गमें प्रकाश करनेवाली दीपिका (चिराग) है सो उसको निर्मल न पानेसे अनेक मोक्षमार्गी च्युत हो गये ॥ २९ ॥

असन्तोऽपि गुणाः सन्ति यस्य यस्यां शरीरिणाम् ।
सन्तोऽपि यां विना यान्ति सा मनःशुद्धिः शस्यते ॥ ३० ॥

अर्थ---जिस मनकी शुद्धताके होते हुए अविद्यमान गुण भी विद्यमान हो जाते हैं और जिसके न होते विद्यमान गुण भी जाते रहैं वही मनकी शुद्धि प्रशंसा करने योग्य है ॥ ३० ॥

अपि लोकत्रयैश्वर्यं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ।
भजत्यचिन्त्यवीर्योऽयं चित्तदैत्यो निरङ्कुशः ॥ ३१ ॥

अर्थ---यह चित्तरूपी दैत्य अचिन्त्यपराक्रमी है सो निरंकुश हो कर समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें समर्थ ऐसे तीन लोकके ऐश्वर्यको भोगता है । **भावार्थ**---जबतक यह मन रुकता नहीं तबतक अपने संकल्पोंमें यह इन्द्रकेसे सुख भोगता है जिससे कि अनेक कर्म बँधते हैं ॥ ३१ ॥

शमश्रुतयमोपेता जिताक्षाः शंसितव्रताः ।
विदन्त्यनिर्जितस्वान्ताः स्वस्वरूपं न योगिनः ॥ ३२ ॥

अर्थ---जो योगी शमभाव, शास्त्राध्ययन और यम नियमादिसे युक्त हैं और जितेन्द्रिय हैं, तथा जिनके व्रत प्रशंसा करने योग्य हैं वे भी यदि मनको नहिं जीते हुए हों तो अपने स्वरूपको नहिं जान सकते । **भावार्थ**---मनके जीते विना आत्माका अनुभव नहिं होता ॥ ३२ ॥

विलीनविषयं शान्तं निःसङ्गं त्यक्तविक्रियम् ।
स्वस्थं कृत्वा मनः प्राप्तं मुनिभिः पदमव्ययम् ॥ ३३ ॥

अर्थ---मुनिगणोंने अपने मनको विलीनविषय, शान्त, निःसंग (परिग्रहके ममत्वरहित), विकाररहित स्वस्थ करके ही अव्ययपदको (मोक्षपदको) पाया है । **भावार्थ**---जब मनको अन्य विकल्प व विकारोंसे रहित करके आत्मस्वरूपमें स्थिर करै तब ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ३३ ॥

स्रग्धरा ।

दिक्चक्रं दैत्यधिष्ण्यं त्रिदशपतिपुराण्यम्बुवाहान्तरालं
द्वीपाम्भोधिप्रकाण्डं खचरनरसुराहीन्द्रवासं समग्रम् ।
एतत्त्रैलोक्यनीडं पवनचयचितं चापलेन क्षणार्द्धे-
नाश्रान्तं चित्तदैत्यो भ्रमति तनुमतां दुर्विचिन्त्यप्रभावः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जीवोंके मनरूपी दैत्यका प्रभाव दुर्विचिन्त्य है । किसीके चिन्तवनमें नहिं आ सकता । क्योंकि यह अपनी चंचलताके प्रभावसे दशों दिशाओंमें दैत्योंके समूहमें, इन्द्रके पुरोंमें, आकाशमें तथा द्वीपसमुद्रोंमें विद्याधर मनुष्य देव धरणीन्द्रादिके निवासस्थानोंमें तथा वातवलयोंसहित तीन लोकरूपी घरमें सर्वत्र आधे क्षणमें ही भ्रमण कर आता है । इसका रोकना अतिशय कठिन है । जो योगीश्वर इसे रोकते हैं वे धन्य हैं ॥ ३४ ॥

मालिनी ।

प्रशमयमसमाधिध्यानविज्ञानहेतो-
र्विनयनयविवेकोदारचारित्रशुद्ध्यै ।
य इह जयति चेतःपन्नगं दुर्निवारं
स खलु जगति योगिव्रातवन्द्यो मुनीन्द्रः ॥ ३५ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो मुनि प्रशम (कषायोंका अभाव), यम (त्याग), समधि (स्वरूपमें लय), ध्यान (एकाग्रचित्त), विज्ञानके (विशिष्टज्ञानके) अर्थात् भेदज्ञानके लिये तथा विनय नयके स्वरूपकी प्राप्तिके लिये, विवेकके और उदारचारित्रकी शुद्धिके लिये चित्तरूपी दुर्निवार सर्पको जीतते हैं वे योगियोंके समूहकरके वंदनीय हैं और मुनियोंमें इन्द्र हैं ॥ ३५ ॥

इस प्रकार मनके व्यापारका वर्णन किया । यहा अभिप्राय ऐसा है कि–मनको वश किये विना ध्यानकी सिद्धि नहिं होती और इसके वश करनेसे सर्व सिद्धि होती है ।

दोहा ।

पवनवेगतैं प्रबल, मन भरमै सब ठौर ।
याको वश करि निज रमैं, ते मुनि सब शिरमौर ॥ २२ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे मनोव्यापार-प्रतिपादनस्वरूपं द्वाविंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशं प्रकरणम् ।



अब ऐसा कहते हैं कि–यदि मनके व्यापारको संकोचकर एकाग्र भी करै तो रागा-

दिक ऐसे प्रबल हैं कि वे मनमें विकार उत्पन्न करके बिगाड़ देते हैं, इस कारण प्रथमही रागादिकके दूर करनेका यत्न करना चाहिये,—

निःशेषविषयोत्तीर्णं विकल्पव्रजवर्जितम्।
स्वतत्त्वैकपरं धत्ते मनीषी नियतं मनः॥ १॥
क्रियमाणमपि स्वस्थं मनः सद्योऽभिभूयते।
अनाद्युत्पन्नसंबद्धै रागादिरिपुभिर्बलात्॥ २॥

अर्थ—मनीषी (बुद्धिमान्) मुनि यदि अपने मनको समस्त विषयोंसे रहित और ज्ञेयोंमें भ्रम या संशयरूप विकल्पोंसे वर्जित, अपने स्वरूपमें ही एकाग्र—तत्पर करै, तथापि आत्मस्वरूपके सन्मुख स्वस्थ किया हुआ मन भी अनादिकालसे उत्पन्न हुए वा बँधे हुए रागादि शत्रुओंसे जबरदस्ती पीडित किया जाता है। **भावार्थ**—मनको रागादिक शत्रु च्युतकरके विकाररूप कर देते हैं॥ १॥ २॥

स्वतत्त्वानुगतं चेतः करोति यदि संयमी।
रागादयस्तथाप्येते क्षिपन्ति भ्रमसागरे॥ ३॥

अर्थ—यद्यपि संयमी मुनि निजस्वरूपके अनुगत मनका जय करलेता है तथापि रागादिक भाव उसको फिर भी भ्रमरूपी समुद्रमें डाल देते हैं॥ ३॥

आत्माधीनमपि स्वान्तं सद्यो रागैः कलङ्क्यते।
अस्ततन्द्रैरतः पूर्वमत्र यत्नो विधीयताम्॥ ४॥

अर्थ—आचार्यमहाराज उपदेश करते हैं कि—अपने आधीन (वश) किया हुआ मन भी रागादिक भावोंसे तत्काल कलंकित (मलिन) किया जाता है, इस कारण मुनिगणोंका यह कर्त्तव्य है कि इस विषयमें वे प्रमादरहित हो सबसे पहिले इन रागादिकके दूर करनेमें यत्न करैं॥ ४॥

अयत्नेनापि जायन्ते चित्तभूमौ शरीरिणाम्।
रागादयः स्वभावोत्थज्ञानराज्याङ्गघातकाः॥ ५॥

अर्थ—जीवोंके स्वाभाविक ज्ञानरूपी राज्यके अंगको घात करनेवाले रागादिक भाव चित्तरूपी पृथिवीमेंसे विना यत्नके ही स्वयमेव उत्पन्न होते हैं॥ ५॥

इन्द्रियार्थानपाकृत्य स्वतत्त्वमवलम्बते।
यदि योगी तथाप्येते छलयन्ति मुहुर्मनः॥ ६॥

अर्थ—जो योगी मुनि इन्द्रियोंके विषयोंको दूर कर निजस्वरूपका अवलंबन करै तो भी रागादिक भाव मनको बारंबार छलते हैं अर्थात् विकार उत्पन्न करते हैं॥ ६॥

क्वचिन्मूढं क्वचिद्भ्रान्तं क्वचिद्भीतं क्वचिद्रतम्।
शङ्कितं च क्वचित्क्लिष्टं रागाद्यैः क्रियते मनः॥ ७॥

अर्थ—ये रागादिक भाव मनको कभी तो मूढ करते हैं, कभी भ्रमरूप करते हैं, कभी भयभीत करते हैं, कभी रोगोंसे चलायमान करते हैं, कभी शंकित करते हैं, कभी क्लेशरूप करते हैं। इत्यादि प्रकारसे स्थिरतासे डिगा देते हैं ॥ ७ ॥

अजस्रं रुध्यमानेऽपि चिराभ्यासाद्दृढीकृताः।
चरन्ति हृदि निःशङ्का नृणां रागादिराक्षसाः ॥ ८ ॥

अर्थ—मनुष्योंके निरन्तर वश किये हुए मनमें भी चिरकालसे अभ्यस्त किये रागादिक राक्षस निःशंक हो प्रवर्त्तते हैं। **भावार्थ**—रागादिकका संस्कार ऐसा प्रबल है कि एकाग्र मन करै तौ भी चलायमान कर देते हैं ॥ ८ ॥

प्रयासैः फल्गुभिर्मूढ किमात्मा दण्ड्यतेऽधिकम्।
शक्यते न हि चेच्चेतः कर्तुं रागादिवर्जितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! जो अपने चित्तको रागादिकसे रहित करनेको समर्थ नहीं है तो व्यर्थ ही अन्य क्लेशोंसे आत्माको दंड क्यों देता है? क्योंकि रागादिकके मिटे विना अन्य खेद करना निष्फल है ॥ ९ ॥

क्षीणरागं च्युतद्वेषं ध्वस्तमोहं सुसंवृतम्।
यदि चेतः समापन्नं तदा सिद्धं समीहितम् ॥ १० ॥

अर्थ—क्षीण हुआ है राग जिसमें और च्युत हुआ है द्वेष जिसमें तथा नष्ट हुआ है मोह जिसमें ऐसा जो मन संवरताको प्राप्त है तो वांछित सिद्धि है। **भावार्थ**—चित्तमेंसे द्वेष और मोह तो नष्ट हों और रागादिक क्षीण हों तथा अपना स्वरूप साधनेमें राग रहै तो सर्व मनोवांछित सिद्ध होते हैं ॥ १० ॥

मोहपङ्के परिक्षीणे प्रशान्ते रागविभ्रमे।
पश्यन्ति यमिनः स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ॥ ११ ॥

अर्थ—मोहरूपी कर्दमके क्षीण होनेपर तथा रागादिक परिणामोंके प्रशान्त होनेपर योगीगण अपनेमें ही परमात्माके स्वरूपको अवलोकन करते हैं वा अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

महाप्रशमसंग्रामे शिवश्रीसंगमोत्सुकैः।
योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः ॥ १२ ॥

अर्थ—मुक्तिरूपी लक्ष्मीके संगकी वांछा करनेवाले योगीश्वरोंने महाप्रशमरूपी संग्राममें ज्ञानरूपी शस्त्रसे रागरूपी मल्लको निपातन किया। क्योंकि इसके हते विना मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्ति नहीं है ॥ १२ ॥

असंक्लिष्टमविभ्रान्तमविप्लुतमनाकुलम्।
स्ववशं च मनः कृत्वा वस्तुतत्त्वं निरूपय ॥ १३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! अपने मनको संक्लेश, भ्रान्ति और रागादिक विकारोंसे रहित करके अपने मनको वशीभुत कर तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपको अवलोकन कर ॥ १३ ॥

रागाद्यभिहतं चेतः स्वतत्त्वविमुखं भवेत् ।
ततः प्रच्यवते क्षिप्रं ज्ञानरत्नाद्रिमस्तकात् ॥ १४ ॥

अर्थ—जो चित्त रागादिकसे पीड़ित होता है वह स्वतत्त्वसे विमुख हो जाता है इसी कारण ही मनुष्य ज्ञानरूपी रत्नमय पर्वतसे च्युत हो जाता है ॥ १४ ॥

रागद्वेषभ्रमाभावे मुक्तिमार्गे स्थिरीभवेत् ।
संयमी जन्मकान्तारसंक्रमक्लेशशङ्कितः ॥ १५ ॥

अर्थ—संसाररूपी वनमें भ्रमणके क्लेशोंसे भयभीत संयमी मुनि रागद्वेष मोहके अभाव होनेसे ही मोक्षमार्गमें स्थिर होता है । **भावार्थ**—रागद्वेषमोहके विद्यमान रहते मोक्षमार्गमें स्थिरता नहिं होती ॥ १५ ॥

रागादिभिरविश्रान्तं वञ्च्यमानं मुहुर्मनः ।
न पश्यति परं ज्योतिः पुण्यपापेन्धनानलम् ॥ १६ ॥

अर्थ—यह मन है सो रागादिकसे निरंतर वारंवार वंचित हुआ पुण्यपापरूपी इंधनको अग्निके समान ऐसी परमज्योतिको अवलोकन नहिं कर सक्ता । **भावार्थ**—जबतक मनमें रागद्वेष रहता है तबतक परमात्माका स्वरूप नहीं भासता. रागद्वेपमोहके नष्ट होनेपर ही शुभाशुभकर्मोंको नष्ट करनेवाले परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

रागादिपङ्कविश्लेपात्प्रसन्ने चित्तवारिणि ।
परिस्फुरति निःशेपं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥ १७ ॥

अर्थ—रागद्वेपमोहरूपी कर्दमके अभावसे प्रसन्नचित्तरूपी जलमें मुनिको समस्त वस्तुओंके समूह स्पष्ट स्फुरायमान होते हैं अर्थात् प्रतिभासते हैं ॥ १७ ॥

स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते ।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥ १८ ॥

अर्थ—तथा जो कोई एक परमानन्दस्वरूप वीतरागके उत्पन्न होता है उसके सामने तीन लोकका अचिन्त्य ऐश्वर्य भी तृणवत् भासता है । अर्थात् परमानंदस्वरूपके सामने तीन लोकका ऐश्वर्य भी कुछ नहीं है ॥ १८ ॥

प्रशाम्यति विरागस्य दुर्बोधविपमग्रहः ।
स एव वर्द्धतेऽजस्रं रागार्त्तस्येह देहिनः ॥ १९ ॥

अर्थ—इस संसारमें रागरहित जीवके अज्ञानरूप विषम आग्रह शान्त हो जाता है और रागसे पीड़ितके वही अज्ञान बढता है घटता नहीं है ॥ १९ ॥

स्वभावजमनातङ्कं वीतरागस्य यत्सुखम् ।
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥ २० ॥

अर्थ—स्वभावसे उत्पन्न हुआ आतंक रहित जो सुख वीतरागके होता है उससे अनन्तवें भाग इन्द्रोंके नहिं होता । **भावार्थ**—निर्मलज्ञान स्वाभाविक सुख ये दोनों वीतरागके ही होते हैं ॥ २० ॥

एतावनादिसंभूतौ रागद्वेषौ महाग्रहा[1] ।
अनन्तदुःखसन्तानप्रसूतेः प्रथमाङ्कुरौ ॥ २१ ॥

अर्थ—ये अनादिसे उत्पन्न रागद्वेषरूपी महा पिशाच वा ग्रह हैं सो अनन्तः दुखोंके सन्तानकी प्रसूतिके प्रथम अंकुर ही हैं । **भावार्थ**—दुःखकी परिपाटी इनसे ही चलती है ॥ २१ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे ।

रागी बन्धाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते ।
जीवो जिनोपदेशोऽयं समासाद्बन्धमोक्षयोः ॥ १ ॥

अर्थ—रागी जीव तो कर्मोंको बांधता है और वीतरागी कर्मोंसे छूटता है यह बंध और मोक्ष इन दोनोंका संक्षेप उपदेश जिनेन्द्र सर्वज्ञ भगवान् का है ॥ १ ॥

इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि—

तद्विवेच्य ध्रुवं धीर ज्ञानार्कालोकमाश्रय ।
विशुष्यति च यं प्राप्य रागकल्लोलमालिनी ॥ २२ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त अर्थका विचार करके हे धीरवीर ! निश्चयसे ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशका आश्रय कर, क्योंकि जिसको प्राप्त होकर रागरूपी नदी सूख जाती है ॥ २२ ॥

चिदचिद्रूपभावेषु सूक्ष्मस्थूलेष्वपि क्षणम् ।
रागः स्याद्यदि वा द्वेषः क्व तदाध्यात्मनिश्चयः ॥ २३ ॥

अर्थ—सूक्ष्म तथा स्थूल चेतन अचेतन पदार्थोंमें क्षणभर भी राग अथवा द्वेष होता है तो फिर अध्यात्मका निश्चय कहां ? ॥ २३ ॥

---

१ महासुरौ इत्यपि पाठः ।

नित्यानन्दमयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसंभवाम् ।
वृणोति वीतसंरंभो वीतरागः शिवश्रियम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जिसका संरंभ रागादिमयी विकल्प उद्यम बीत गये हैं ऐसा वीतराग मुनि नित्यानन्दमयी समीचीन, शाश्वती, आत्मासे उत्पन्न मोक्षरूपी लक्ष्मीको वरता है । **भावार्थ**—मोक्षका स्वामी होता है ॥ २४ ॥

यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रैति निश्चयः ।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्राम्यत्यधिकं मनः ॥ २५ ॥

अर्थ—जहांपर राग पद धारै अर्थात् प्रवर्त्तै तहां द्वेष भी प्रवर्त्तता है, यह निश्चय है । और इन दोनोंको अवलंबन करके मन भी अधिकतर विकाररूप होता है ॥ २५ ॥

सकलज्ञानसाम्राज्यं स्वीकर्तुं यः समीप्सति ।
स धन्यः शमशस्त्रेण रागशत्रुं निकृन्तति ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त ज्ञानरूप साम्राज्यके अंगीकार करनेकी इच्छा रखता है वह धन्य महाभाग उपशमभावरूप शस्त्रसे रागरूप शत्रुको काटता है ॥ २६ ॥

यथोत्पाताक्षमः पक्षी लूनपक्षः प्रजायते ।
रागद्वेषच्छदच्छेदे स्वान्तपत्ररथस्तथा ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कटीहुई पांखोंका पक्षी उड़नेमें असमर्थ होता है तैसे मनरूप पक्षी है सो रागद्वेषरूप पांखोंके कट जानेसे विकल्परूप भ्रमणसे रहित हो जाता है ॥ २७ ॥

चित्तप्लवङ्गदुर्वृत्तं स हि नूनं विजेष्यति ।
यो रागद्वेषसंतानतरुमूलं निकृन्तति ॥ २८ ॥

अर्थ—जो पुरुष रागद्वेषके संतानरूप वृक्षकी जड़को काटता है वह पुरुष चित्तरूप बदरके दुर्वृत्तविकाररूप भ्रमणको अवश्य ही जीतैगा ॥ २८ ॥

इस प्रकार रागद्वेषका वर्णन किया. अब इनका मूल कारण मोह है सो उसका वर्णन करते हैं ,—

अयं मोहवशाज्जन्तुः क्रुध्यति द्वेष्टि रज्यते ।
अर्थेष्वन्यस्वभावेषु तस्मान्मोहो जगज्जयी ॥ २९ ॥

अर्थ—यह प्राणी मोहके वशसे अन्य स्वरूप पदार्थोंमें क्रोध करता है, द्वेष करता है, तथा राग भी करता है इस कारण मोह ही जगतको जीतनेवाला है ॥ २९ ॥

रागद्वेषविषोद्यानं मोहबीजं जिनैर्मतम् ।
अतः स एव निःशेषदोषसेनानरेश्वरः ३० ॥

अर्थ—इस रागद्वेषरूप विषके वनका बीज मोह ही है ऐसा भगवान्‌ने कहा है इस कारण यह मोह ही समस्त दोषोंकी सेनाका राजा है ॥ ३० ॥

असावेव भवोद्भूतदाववह्निः शरीरिणाम् ।
तथा दृढतरानन्तकर्मबन्धनिबन्धनम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह मोह ही जीवोंके संसारसे उत्पन्न हुआ दावानल है तथा अतिशय दृढ अनन्त कर्म बन्धनका कारण है ॥ ३१ ॥

रागादिगहने खिन्नं मोहनिद्रावशीकृतम् ।
जगन्मिथ्याग्रहाविष्टं जन्मपङ्के निमज्जति ॥ ३२ ॥

अर्थ—यह जगत रागादिके गहन वनमें खेदखिन्न हुआ, मोहरूप निद्राके वशीभूत हो, मिथ्यात्वरूपी पिशाचसहित होनेसे संसाररूपी कीचड़में डूबता है । यहां खेद निद्रा पिशाच ये तीनों ही बेखबर होनेके कारण हैं । यह आत्मा इन कारणोंसे अपनेको भूलकर अज्ञानरूप संसारमें डुबाता है ॥ ३२ ॥

स पश्यति मुनिः साक्षाद्विश्वमध्यक्षमञ्जसा ।
यः स्फोटयति मोहाख्यं पटलं ज्ञानचक्षुषा ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो मुनि मोहरूपी पटलको दूर करता है वह मुनि शीघ्र ही समस्त लोकको ज्ञानरूपी नेत्रोंसे साक्षात्–प्रत्यक्ष (प्रगट) देखता है ॥ ३३ ॥

इयं मोहमहाज्वाला जगत्त्रयविसर्पिणी ।
क्षणादेव क्षयं याति प्लाव्यमाना शमाम्बुभिः ॥ ३४ ॥

अर्थ—यह मोहरूप महा अग्निकी ज्वाला तीन जगतमें फैलनेवाली है. इसको शान्तभावरूप जलसे सेचन किया जाय तो यह क्षणमात्रमें क्षय हो जाती है ॥ ३४ ॥

यस्मिन्सत्येव संसारी यद्वियोगे शिवीभवेत् ।
जीवः स एव पापात्मा मोहमल्लो निवार्यताम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जिस मोह मल्लके होनेसे यह जीव संसारी है और जिसके वियोग होनेसे मोक्षस्वरूप होता है वही यह पापी मोहमल्ल है सो इसे निवारणकर ॥ ३५ ॥

यत्संसारस्य वैचित्र्यं नानात्वं यच्छरीरिणाम् ।
यदात्मीयेष्वनात्मास्था तन्मोहस्यैव वल्गितम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—जीवोंके जो संसारकी विचित्रता, अनेकप्रकारता, तथा अपने भावोंमें अनात्मपनेकी आस्था है सो ये सब मोहके ही विलास हैं अर्थात् मोहकी ही चेष्टा है ॥ ३६ ॥

रागादिवैरिणः क्रूरान्मोहभूपेन्द्रपालितान् ।
निकृत्य शमशस्त्रेण मोक्षमार्गं निरूपय ॥ ३७ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! मोहरूपी राजाके पालेहुए क्रूर रागादि शत्रुओंको शान्तभावरूप शस्त्रसे छेदन करके मोक्षमार्गका अवलोकन कर ॥ ३७ ॥

आर्या ।

इति मोहवीरवृत्तं रागादिवरूथिनीसमाकीर्णम् ।
सुनिरूप्य भावशुद्ध्या यतस्व तद्बन्धमोक्षाय ॥ ३८ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस प्रकार मोहरूपी सुभटका वृत्तान्त है. सो यह रागादिरूपी सेनाके सहित है, इसकारण इसे भले प्रकार विचार करके इसके बंधसे छूटनेके लिये यत्न कर ॥ ३८ ॥

इस प्रकार राग द्वेष मोहका वर्णन किया, और इनके नष्ट करनेका उपदेश दिया । यहां अभिप्राय यह है कि अन्यमती यमनियमादि योगके साधनोंसे मनको वश करते हैं, तथापि उनके मनमें रागद्वेषमोहका यथार्थ स्वरूप तथा उनके जीतनेका वर्णन सत्यार्थ नहीं है और इन रागादिकके जीते विना मोक्षके कारणभूत ध्यानकी सिद्धि नहीं है, इसकारण रागद्वेष मोहका वर्णन किया. इनका यथार्थ स्वरूप तथा जीतनेका विधान जैनशास्त्रोंमें ही है । उसी रीतिसे ही साधन करके ध्यान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥

कवित्त (३१ वर्ण.)

मिथ्या कर्म उदै होय, राग द्वेष मोह जोय,
बन्ध हेतु गाढे ते जु भवमें भ्रमावते ।
मिथ्याभाव बीते रहैं चारितके घातक जे,
बन्ध करै तुच्छभाव निर्जरा बढावते ॥
सम्यक दरश धारि राग द्वेष मोह टारि,
चारित सवाँरि मुनि ध्यानको धरावते ।
निजरूप लय लाय घातिया नशाय ज्ञान-
केवलको पाय धाय मोक्षमें रमावते ॥ २३ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे रागद्वेष-वर्णनो नाम त्रयोविंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशं प्रकरणम् ।



अब रागद्वेष मोहके अभावसे साम्य अर्थात् समताभाव होते हैं जिससे कि, तृण कंचन, शत्रु मित्र, निन्दा प्रशंसा, वन नगर, सुख दुःख, जीवन मरण इत्यादि पदार्थोंमें इष्ट

अनिष्ट बुद्धि और ममत्व नहीं होता । ऐसे साम्यभाव सहित मुनिके ही मोक्षके कारण-स्वरूप ध्यानकी सिद्धि होती है, इस कारण साम्यका वर्णन करते हैं,—

मोहवह्निमपाकर्त्तुं स्वीकर्त्तुं संयमश्रियम् ।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्ब्यताम् ॥ १ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! मोहरूप अग्निको बुझानेके लिये और संयमरूपी घरका आश्रय करनेके लिये तथा रागरूप वृक्षोंके समूहको काटनेके लिये समभावको (समताको) अवलंबन कर ऐसा उपदेश है ॥ १ ॥

चिदचिल्लक्षणैर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थितैः ।
न मुह्यति मनो यस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—जिस पुरुषका मन चित् (पुत्रकलत्रशत्रुमित्रादि) अचित् (धनधान्यतृण-कंचनादि) इष्ट अनिष्टरूप पदार्थोंके द्वारा मोहको प्राप्त नहिं होता, उस पुरुषके ही साम्य-भावेंमें स्थिति होती है. यह साम्यभावका लक्षण है ॥ २ ॥

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
समत्वं भज सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू काम और भोगादिकमें विरक्त हो, शरीरमें वांछा—आसक्तता छोड़कर समताको भज (सेव), क्योंकि यह समताभाव केवलज्ञानलक्ष्मीका (लोकालोकके जाननेका) कुलगृह है अर्थात् यह लक्ष्मी समभावमें ही है ॥ ३ ॥

छित्वा प्रशमशस्त्रेण भवव्यसनवागुराम् ।
मुक्तेः स्वयंवरागारं वीर व्रज शनैः शनैः ॥ ४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् हे वीर ! तू शान्तभावरूपी शस्त्रसे संसारिक कष्टरूप (आपदारूप) फांसीको छेद कर मुक्तिरूप स्त्रीके स्वयंवरके स्थानको शनैः शनैः गमन कर । **भावार्थ**—शान्तभाव होनेसे मार्गमें रोकनेवाला कोई भी नहीं है इस कारण मंदमंद गतिसे निःशंकतया मोक्षस्थानको गमन कर, यह धीरज बँधाया है ॥ ४ ॥

साम्यसूर्यांशुभिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे ।
प्रपश्यति यमी स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ॥ ५ ॥

अर्थ—संयमी मुनि समभावरूपी सूर्यकी किरणोंसे रागादितिमरसमूहके नष्ट होनेपर परमात्माका स्वरूप अपनेमें ही अवलोकन करता है । **भावार्थ**—परामात्माका स्वरूप अन-न्तचतुष्टयरूप है सो रागादिक तिमिरसे आच्छादित है सो समभावके प्रकाश होनेपर आपहीमें दीखता है ॥ ५ ॥

साम्यसीमानमालम्ब्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ।
पृथक् करोति विज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी ॥ ६ ॥

अर्थ—भेद विज्ञानी पुरुप है सो समभावकी सीमाको अवलंबन करके तथा अपनेमें ही अपने आत्माको निश्चय करके मिलेहुए जीव और कर्मको पृथक् २ करता है ॥ ६ ॥

साम्यवारिणि शुद्धानां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ।
इहैवानन्तबोधादिराज्यलक्ष्मीः सखी भवेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो समभावरूपी जलसे शुद्ध हुये हैं और जिनके ज्ञानही नेत्र हैं ऐसे सत्पुरुषोंके इस ही जन्ममें अनन्त ज्ञानादिक लक्ष्मी सखी होतीं हैं । **भावार्थ**—कोई यह जानै कि समभावका फल परलोकमें होता है, सो यह एकान्त नहीं है किन्तु इसही जन्ममें केवल ज्ञानादिककी प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

भावयस्व तथात्मानं समत्वेनातिनिर्भरम् ।
न यथा द्वेषरागाभ्यां गृह्णात्यर्थकदम्बकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! अपने आत्माको तू समभावसे अति निर्भररूप इस प्रकार भाव जिस प्रकारसे यह आत्मा रागद्वेषादिकसे पदार्थोंके समूहको ग्रहण न करै । **भावार्थ**–आत्मामें ऐसा लीन हो कि जहां रागद्वेषादिक अवकाश न पावै ॥ ८ ॥

रागादिविपिनं भीमं मोहशार्दूलपालितम् ।
दग्धं मुनिमहावीरैः साम्यधूमध्वजार्चिषा ॥ ९ ॥

अर्थ—यह रागादिरूप भयानक वन है सो मोहरूपी सिंहके द्वारा रक्षित है, उस बनको मुनिरूपी महासुभटोंने समभावरूप अग्निकी ज्वालासे दग्ध करादिया है ॥ ९ ॥

मोहपङ्के परिक्षीणे शीर्णे रागादिबन्धने ।
नृणां हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीर्विश्ववन्दिता ॥ १० ॥

अर्थ—पुरुषोंके हृदयमें मोहरूपी कर्दमके सूखनेसे तथा रागादि बन्धनोंके दूर होनेपर जगत्पूज्या समभावरूप लक्ष्मी निवास करती है । **भावार्थ**–मलिन घरमें और बंधनसहित घरमें उत्तम स्त्री प्रवेश नहिं करती, इसी प्रकार समभावरूप लक्ष्मी भी रागद्वेषमोहादिसहित हृदयमें प्रवेश नहिं करती ॥ १० ॥

आशाः सद्यो विपद्यन्ते यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात् ।
म्रियते चित्तभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके समभावकी भावना है उसके आशायें तो तत्काल नाश हो जाती हैं, अविद्या क्षणभरमें क्षय हो जाती है, उसी प्रकार चित्तरूपी सर्प भी मर जाता है अर्थात् भ्रमणसे रहित हो जाता है; यही समभावनाका फल है ॥ ११ ॥

साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत् ।
निमिषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतरः ॥ १२ ॥

अर्थ—समभावकी हदको आरूढ हुआ संयमी मुनि जो नेत्रके टिमकार मात्रसे कर्मको जीतता है अर्थात् कर्मोंको क्षय करता है, उतना समभावरहित इतर पुरुष कोटि तपोंके करनेपर भी नहिं कर सकता, यह साम्यभावका माहात्म्य है ॥ १२ ॥

साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः ।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः ॥ १३ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—सर्वज्ञ भगवानने साम्यभावको ही उत्कृष्ट ध्यान कहा है, और यह शास्त्रोंका विस्तार है सो निश्चयतः उस साम्यभावको प्रगट करनेके लिये ही है; ऐसा मैं मानता हूं। **भावार्थ**—शास्त्रमें जितने व्याख्यान हैं वे साम्यहीको दृढ करते हैं ॥ १३ ॥

साम्यभावितभावानां स्यात्सुखं यन्मनीषिणाम् ।
तन्मन्ये ज्ञानसाम्राज्यसमत्वमवलम्बते ॥ १४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—साम्य भावोंसे पदार्थोंके विचार करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंके जो सुख होता है सो मैं ऐसा मानता हूं कि वह ज्ञानसाम्राज्यकी (केवलज्ञानकी) समताको अवलम्बन करता है। **भावार्थ**—समभावोंसे केवल ज्ञान उत्पन्न होता है उससे पहिले ही समभावमें ऐसा सुख है कि उसे केवल ज्ञानके समान ही माना जाता है; क्योंकि दुःख तो रागादिकसे है उनके विना केवल मात्र सुख ही सुख है ॥ १४ ॥

यः स्वभावोत्थितां साध्वीं विशुद्धिं स्वस्य वाञ्छति ।
स धारयति पुण्यात्मा समत्वाधिष्ठितं मनः ॥ १५ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने स्वभावसे उत्पन्न हुई समीचीन विशुद्धताको चाहते हैं सो पुरुष अपने मनको समभावोंसहित धारते हैं वेही पुण्यात्मा हैं महाभाग्य हैं ॥ १५ ॥

तनुत्रयविनिर्मुक्तं दोषत्रयविवर्जितम् ।
यदा वेत्त्यात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥ १६ ॥

अर्थ—जिस समय यह आत्मा अपने आत्माको औदारिक, तैजस और कार्माण इन तीन शरीरोंसे तथा रागद्वेषमोहसे रहित जानता है तब ही समभावमें स्थिति (स्थिरता) होती है ॥ १६ ॥

अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम् ।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रसूयते ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस समय यह आत्मा अपनेको समस्त परद्रव्योंकी पर्यायोंसे तथा परद्रव्योंसे विलक्षण भिन्नस्वरूप निश्चय करता है उसी काल साम्यभाव उत्पन्न होता है ॥ १७ ॥

तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम् ।
तस्यैव बन्धविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस योगीश्वरके समभाव है उसके ही तो अविचल सुख हैं और उसके ही अविनाशी पद और कर्मबन्धकी निर्जरा है ॥ १८ ॥

यस्य हेयं न चादेयं जगद्विश्वं चराचरम् ।
स्यात्तस्यैव मुनेः साक्षाच्छुभाशुभमलक्षयः ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस मुनिके चराचररूप समस्त जगतमें न तो कोई हेय है न उपादेय है, उस मुनिके ही शुभाशुभरूप कर्मरूपी मैलका साक्षात् क्षय है ॥ १९ ॥

अब साम्यका प्रभाव कहते हैं,—

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम् ।
अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ॥ २० ॥

अर्थ—इस साम्यके प्रभावसे अपने स्वार्थमें प्रवृत्त मुनिके निकट परस्पर वैर करनेवाले क्रूर जीव भी साम्यभावको प्रवृत्त हो जाते हैं । **भावार्थ**—मुनि तो अपने स्वरूपके साधनार्थ साम्यभावोंसे प्रवर्त्तते हैं किन्तु उनकी साम्यमूर्ति अवलोकन करके उनके निकट रहनेवाले क्रूर सिंहादिक भी परस्पर वैरभाव छोड़ समताका आश्रय कर लेते हैं, ऐसा ही साम्यभावका माहात्म्य है ॥ २० ॥

भजन्ति जन्तवो मैत्रीमन्योऽन्य त्यक्तमत्सराः ।
समत्वालम्बिनां प्राप्य पादपद्मार्चितां क्षितिम् ॥ २१ ॥

अर्थ—समभावका अवलंबन करनेवाले मुनियोंके चरणकमलोंके प्रभावसे पूजनीय पृथिवीको प्राप्त होनेपर प्राणीजन परस्परका ईर्षाभाव छोड़कर मित्रताको प्राप्त हो जाते हैं ॥२१॥

शाम्यन्ति योगिभिः क्रूराः जन्तवो नेति शङ्क्यते ।
दावदीप्तमिवारण्यं यथा वृष्टैर्वलाहकैः ॥ २२ ॥

अर्थ—योगिगण क्रूर जीवोंको उपाय करके शान्तरूप करते हैं ऐसी शंका कदापि नहीं करनी चाहिये । क्योंकि, जैसे दावानलसे जलताहुआ वन स्वयमेव मेघ बरसनेसे शान्त हो जाता है उसी प्रकार मुनियोंके तपके प्रभावसे स्वयं ही क्रूर जीव समतारूप प्रवर्त्तने लग जाते हैं. योगीश्वर उनको प्रेरणा कदापि नहिं करते ॥ २२ ॥

भवन्त्यतिप्रसन्नानि कश्मलान्यपि देहिनाम् ।
चेतांसि योगिसंसर्गेऽगस्त्ययोगे जलानिवत् ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार शरद ऋतुमें अगस्त्य ताराके संसर्ग होनेसे जल निर्मल हो जाता है उसी प्रकार समतायुक्त योगीश्वरोंकी संगतिसे जीवोंके मलिन चित्त भी प्रसन्न अर्थात् निर्मल हो जाते हैं ॥ २३ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

क्षुभ्यन्ति ग्रहयक्षकिन्नरनरास्तुष्यन्ति नाकेश्वराः
मुञ्चन्ति द्विपदैत्यसिंहशरभव्यालादयः क्रूरताम् ।
रुग्वैरप्रतिबन्धविभ्रमभयभ्रष्टं जगज्जायते
स्याद्योगीन्द्रसमत्वसाध्यमथवा किं किं न सद्यो भुवि ॥ २४ ॥

अर्थ—समभावयुक्त योगीश्वरोंके प्रभावसे ग्रह यक्ष किन्नर मनुष्य ये क्षोभको प्राप्त होते हैं और नाकेश्वर अर्थात् इन्द्रगण हर्षित होते हैं । तथा शत्रु दैत्य सिंह अष्टापद सर्प इत्यादि क्रूर प्राणी अपनी क्रूरताको छोड़ देते हैं. और यह जगत् रोग वैर प्रतिबन्ध विभ्रम भयादिकसे रहित हो जाता है । इस पृथिवीमें ऐसा कौनसा कार्य है, जो योगीश्वरोंके समभावोंसे साध्य न हो अर्थात् समभावोंसे सर्व मनोवांच्छित सधते हैं ॥ २४ ॥

मन्दाक्रान्ता ।

चन्द्रः सान्द्रैर्विकिरति सुधामंशुभिर्जीवलोके
भास्वानुग्रैः किरणपटलैरुच्छिनत्त्यन्धकारम् ।
धात्री धत्ते भुवनमखिलं विश्वमेतच्च वायु-
र्यद्वत्साम्याच्छमयति तथा जन्तुजातं यतीन्द्रः ॥ २५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा जगतमें किरणोंसे सघन झरता हुआ अमृत वर्षाता है, और सूर्य तीव्र किरणोंके समूहसे अन्धकारका नाश करता है, तथा पृथिवी समस्त भुवनोंको धारण करती है, तथा पवन है सो इस समस्त लोकको धारण करता है, उसी प्रकार मुनीश्वर महाराज भी साम्यभावोंसे जीवोंके समूहको शान्तभावरूप करते हैं ॥ २५ ॥

स्रग्धरा ।

सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम् ।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥२६॥

अर्थ—क्षीण होगया है मोह जिसका और शान्त होगया है कलुष कषायरूप मैल जिसका ऐसे समभावोंमें आरूढ हुए योगीश्वरको आश्रय करके हरिणी तो सिंहके बालकको अपने पुत्रकी बुद्धिसे स्पर्श करती वा प्यार करती है और गऊ है सो व्याघ्रके बच्चेको पुत्रकी बुद्धिसे प्यार करती है. मार्जारी हंसके बच्चेको स्नेहकी दृष्टिसे वशीभूत हो स्पर्शती है तथा मयूरनी सर्पके बच्चेको प्यार करती है. इसी प्रकार अन्य प्राणी भी जन्मसे जो वैर है उसको मदरहित हो छोड देते हैं। यह साम्यभावका ही प्रभाव है ॥ २६ ॥

मन्दाक्रान्ता ।

एकः पूजा रचयति नरः पारिजातप्रसूनैः
क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्यः ।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी
साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस मुनिकी ऐसी वृत्ति हो कि—कोई तो नम्रीभूत होकर पारिजातके पुष्पोंसे पूजा करता है और कोई मनुष्य क्रुद्ध होकर मारनेकी इच्छासे गलेमें सर्पकी माला पहराता है; इन दोनोंमें ही जिसकी सदा रागद्वेषरहित समभावरूपवृत्ति हो, वही योगीश्वर समभावरूपी आराममें (क्रीड़ावनमें) प्रवेश करता है, और ऐसे समभावरूप क्रीडावनमें ही केवल ज्ञानके प्रकाश होनेका अवकाश है ॥ २७ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

नोऽरण्यान्नगरं न मित्रमहिताल्लोष्टान्न जाम्बूनदं
न स्रग्दाम भुजङ्गमान्न दृषदस्तल्पं शशाङ्कोज्ज्वलम् ।
यस्यान्तःकरणे बिभर्ति कलया नोत्कृष्टतामीषद्-
प्यार्यास्तं परमोपशान्तपदवीमारूढमाचक्षते ॥ २८ ॥

अर्थ—जिस मुनिके मनमें वनसे नगर, शत्रुसे मित्र, लोष्टसे कांचन (सुवर्ण), रस्सी व सर्पसे पुष्पमाला, पाषाणशिलासे चन्द्रमासमान उज्ज्वल शय्या, इत्यादिक पदार्थ अन्तःकरणकी कल्पनासे किंचिन्मात्र भी उत्कृष्ट नहीं दीखते उस मुनिको आर्य सत्पुरुष परम उपशान्तरूप पदवीको प्राप्त हुआ कहते हैं। **भावार्थ**—वनादिकसे नगरादिकमें कुछ भी उत्तमता नहीं मानै वही मुनि रागद्वेषरहित साम्यभावयुक्त है ॥ २८ ॥

स्रग्धरा ।

सौधोत्सङ्गे स्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुङ्कुमे वा
पल्यंके कण्टकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु ।
शीर्णाङ्गे दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्तं विकल्पै-
र्नालीढं सोऽयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासं॥२९॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त महलोंके शिखरमें और स्मशानमें, तथा स्तुति और निंदाके विधानमें, कीचड़ और केशरमें, पल्यंक—शय्य और कांटोंके अग्रभागमें, पाषाण और चन्द्रकान्त मणिमें, चर्म और चीनदेशीय रेशमके वस्त्रोंमें, और क्षीणशरीर व सुंदर स्त्रीमें अतुल्य शान्तभावके प्रभावसे विकल्पोंसे स्पर्शित न हो, वही एक प्रवीण मुनि समभावकी लीलाके विलासको अनुभव करता है; अर्थात् वास्तविक समभाव ऐसे मुनिके ही जानना ॥ २९ ॥

चलत्यचलमालेयं कदाचिद्दैवयोगतः ।
नोपसर्गैरपि स्वान्तं मुनेः साम्यप्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥

अर्थ—यह प्रत्यक्ष अचल पर्वतोंकी श्रेणी कदाचित् चलायमान भी हो जाय तो आश्चर्य नहीं किन्तु साम्यभावमें प्रतिष्ठित मुनिका चित्त उपसर्गोंसे कदापि नहिं चलता, ऐसा लीन हो जाता है ॥ ३० ॥

उन्मत्तमथ विभ्रान्तं दिग्मूढं सुप्तमेव वा ।
साम्यस्थस्य जगत्सर्वं योगिनः प्रतिभासते ॥ ३१ ॥

अर्थ—साम्यभावमें स्थित मुनिको यह जगत् ऐसा भासता है कि मानों यह जगत उन्मत्त है वा विभ्रमरूप है अथवा दिशाभूला हुआ अथवा सोता है ॥ ३१ ॥

वाचस्पतिरपि ब्रूते यद्यजस्रं समाहितः ।
वक्तुं तथापि शक्नोति न हि साम्यस्य वैभवम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस साम्यके विभवको यदि बृहस्पति भी स्थिरचित्त होकर निरन्तर कहै तौ भी कहनेको समर्थ नहीं होता ॥ ३२ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

दुःप्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यता देहिनः ।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मानलं
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्रा यदि ॥ ३३ ॥[1]

अर्थ—जिन्होंने अपनी दुर्बुद्धिके बलसे समस्त वस्तुके समूहका लोप कर दिया और जिनका चित्त विज्ञानसे शून्य है ऐसे पुरुष तो घर २ में विद्यमान हैं, और अपने २ प्रयोजनको साधनेमें तत्पर हैं। किन्तु जो समभावजनित आनंदामृतसमुद्रके जलकणोंके समूहसे संसाररूप अग्निको बुझाकर मुक्तिरूपी स्त्रीके वदनचन्द्रमाको देखनेमें तत्पर हैं ऐसे महापुरुष यदि हैं तो दो वा तीन ही हैं। **भावार्थ**—इस निकृष्ट पंचम कालमें

१ मूल पुस्तकमें यह श्लोक अगले अध्यायकी आदिमें लिखा है ।

मोक्षमार्गमें प्रवर्त्तनेवालोंकी विरलता है। अर्थात् जो साम्यमें रहकर मोक्षमार्गको साधैं ऐसे योगीश्वरोंका तो प्रायः अभाव ही है, किसी दूर क्षेत्र कालमें हों तो दो तीनही होंगे बहुलताका तो अभाव ही है ॥ ३३ ॥

इस प्रकार साम्यका वर्णन किया. यह ध्यानका प्रधान अंग है। इसके विना लौकिक प्रयोजनादिक लिये जो अन्यमती ध्यान करते हैं सो निष्फल है, मोक्षका साधन तौ साम्यसहित ध्यानही है ॥

दोहा.

मोह राग रुख बीततैं, समता धरै जु कोय।
सुख दुख जीवित मरण सब, सम लखि ध्यानी होय ॥ २४ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे साम्यवर्णनं नाम चतुर्विंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशं प्रकरणम् ।

आगे ध्यानका वर्णन करते हैं,—

साम्यश्रीर्नातिनिःशङ्कं सतामपि हृदि स्थितिम् ।
धत्ते सुनिश्चलध्यानसुधासम्बन्धवर्जिते ॥ १ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंका हृदय यदि भले प्रकार निश्चल ध्यानरूप अमृतके सम्बन्धसे रहित हो तो उसमें यह साम्यरूप लक्ष्मी अतिनिःशंकतासे अपनी स्थिति धारण नहिं करती। **भावार्थ**—समभाव ध्यानसे निश्चल ठहरता है इस कारण ध्यानका उपदेश है ॥ १ ॥

यस्य ध्यानं सुनिष्कम्पं समत्वं तस्य निश्चलम् ।
नानयोर्विद्ध्यधिष्ठानमन्योऽन्यं स्याद्विभेदतः ॥ २ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके ध्यान निश्चल है उसके समभाव भी निश्चल है इन दोनोंके अधिष्ठान (आधार) परस्पर भेदसे नहीं है अर्थात् ध्यानका आधार समभाव है और समभावका आधार ध्यान है ॥ २ ॥

साम्यमेव न सद्ध्यानात्स्थिरी भवति केवलम् ।
शुद्ध्यत्यपि च कर्मौघकलङ्की यन्त्रवाहकः ॥ ३ ॥

अर्थ—समीचीन प्रशस्त ध्यानसे केवल साम्य ही स्थिर नहिं होता किन्तु कर्मके समूहसे मलिन यह यन्त्रवाहक जीव भी शुद्ध होता है अर्थात् ध्यानसे कर्मोंका क्षय भी होता है ॥ ३ ॥

यदैव संयमी साक्षात्समत्वमवलम्बते ।
स्यात्तदैव परं ध्यानं तस्य कर्मौघघातकम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस समय संयमी साक्षात् समभावको अवलंबन करता है उसी समय उसके कर्मसमूहका घात करनेवाला ध्यान होता है । **भावार्थ**—समता भावके विना ध्यान कर्मोंका क्षय करनेका कारण नहिं होता ॥ ४ ॥

अनादिविभ्रमोद्भूतं रागादितिमिरं घनम् ।
स्फुटयत्याशु जीवस्य ध्यानार्कः प्रविजृम्भितः ॥ ५ ॥

अर्थ—अनादि कालके विभ्रमसे उत्पन्न हुआ रागादिक अन्धकार अति निविड (सघन) है सो ध्यानरूपी सूर्य उदय होकर जीवके उस अन्धकारको तत्काल दूर कर देता है ॥ ५ ॥

भवज्वलनसम्भूतमहादाहप्रशान्तये ।
शश्वद्ध्यानाम्बुधेर्धीरैरवगाहः प्रशस्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—संसाररूपी अग्निसे उत्पन्न हुए बड़े आतापकी प्रशान्तिके लिये धीरवीर पुरुषोंके द्वारा ध्यानरूपी समुद्रका अवगाहन (स्नान) करना ही प्रशंसा किया जाता है ॥ ६ ॥

ध्यानमेवापवर्गस्य मुख्यमेकं निबन्धनम् ।
तदेव दुरितव्रातगुरुकक्षहुताशनम् ॥ ७ ॥

अर्थ—यह प्रशस्त ध्यान ही मोक्षका एक प्रधान कारण है, और यह ही पापके समूहरूपी महावनके दग्ध करनेको अग्निके समान है ॥ ७ ॥

अपास्य खण्डविज्ञानरसिकां पापवासनाम् ।
असद्ध्यानानि चादेयं ध्यानं मुक्तिप्रसाधकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—खण्डविज्ञान कहिये क्षयोपशम रागादि सहित ज्ञानमें आसक्तरूप पापकी वासनाको तथा अन्यान्यमतावलम्बियोंके माने हुए आर्त्त रौद्रादि असत् ध्यानोंको छोड़कर मुक्तिको साधनेवाले ध्यानका आदर करना चाहिये अर्थात् ग्रहण करना चाहिये ॥ ८ ॥

अप्रशस्त ध्यान क्या है सो कहते हैं,—

अहो कैश्चिन्महामूढैरज्ञैः स्वपरवञ्चकैः ।
ध्यानान्यपि प्रणीतानि श्वभ्रपाताय केवलम् ॥ ९ ॥

अर्थ—अहो ! आश्चर्य है कि अनेक महामूर्ख अज्ञानी स्वपरको वंचनेवालोंने ध्यान भी केवल नरकमें ले जानेवाले कहे हैं ॥ ९ ॥

विषायतेऽमृतं यत्र ज्ञानं मोहायतेऽथवा ।
ध्यानं श्वभ्रायते कष्टं नृणां चित्रं विचेष्टितम् ॥ १० ॥

अर्थ—यह बड़ा खेद है कि जहां अमृत तौ विषके लिये हो और ज्ञान मोहके लिये हो और ध्यान नरकके लिये होता है सो जीवोंकी यह विपरीत चेष्टा आश्चर्य उत्पन्न करती है। **भावार्थ**—जहां प्रशस्त वस्तु भी अप्रशस्त हो जाती है उसका यहां आश्चर्य किया है ॥ १० ॥

अभिचारपरैः कैश्चित्कामक्रोधादिवञ्चितैः ।
भोगार्थमरिघातार्थं क्रियते ध्यानमुद्धतैः ॥ ११ ॥
ख्यातिपूजाभिमानार्त्तैः कैश्चिच्चोक्तानि सूरिभिः ।
पापाभिचारकर्माणि क्रूरशास्त्राण्यनेकधा ॥ १२ ॥
अनाप्ता वञ्चकाः पापाः दीना मार्गद्वयच्युताः ।
दिशंत्वज्ञेष्वनात्मज्ञा ध्यानमत्यन्तभीतिदम् ॥ १३ ॥

अर्थ—अभिचार कहिये वश्यांजनादिक व्यापार ही है आशय जिनके ऐसे तथा कई एक कामक्रोधादिकसे वंचित हुए उद्धत पुरुषोंके द्वारा भोगोंके लिये और शत्रुओंके घातके लिये ध्यान किया जाता है ॥ ११ ॥ तथा कितनेक अन्यमती आचार्योंने ख्याति पूजा अभिमानसे पीड़ित होकर पापकार्योंकी विधिवाले अनेक शास्त्र रचे हैं सो वे पापी हैं, अनाप्त हैं, कुमार्गको चलानेवाले हैं, ठग हैं, दीन हैं, दोनो लोकके मार्गसे भ्रष्ट हैं, अनात्मज्ञ हैं अर्थात् जिनको अपनी आत्माका ज्ञान नहीं है. वे मूर्खोंमें ही अत्यन्त भयके देनेवाले ध्यानका उपदेश करें, विवेकी (ज्ञानी) पुरुष तौ उनका उपदेश कदापि अंगीकार नहीं करते ॥ १२ ॥ १३ ॥

इस कारण कहते हैं कि,—

संसारसंभ्रमश्रान्तो यः शिवाय विचेष्टते ।
स युक्त्यागमनिर्णीते विवेच्य पथि वर्त्तते ॥ १४ ॥

अर्थ—जो पुरुष संसारके भ्रमणसे खेदखिन्न होकर मोक्षके लिये चेष्टा करता है वह तौ विचार कर युक्ति और आगमसे निर्णय किये हुए मार्गमें ही प्रवर्त्तता है उन ठगोंके प्ररूपण किये मार्गमें कदापि नहीं प्रवर्त्तता ॥ १४ ॥

अब यहां ध्यानका स्वरूप कहते हैं,—

उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्त्ततः ।
ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधो बुधोत्तमाः ॥ १५ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट है कायका बंध कहिये संहनन जिसके ऐसे साधुका अन्तर्मुहूर्त्तपर्यन्त एकाग्र चिन्ताके रोधनेको पंडित जन ध्यान कहते हैं. वही उमास्वामी महाराजने तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है कि—"**उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्त्तात् ॥**"

अर्थात् उत्तम संहननवाले पुरुषके एकाग्र चिन्ताका रोध ही ध्यान है सो यह अन्तर्मुहूर्त-पर्यन्त ही रहता है। इस प्रकार पूर्वाचार्योंने ध्यानका लक्षण कहा है ॥ १५ ॥

एकाचिन्तानिरोधो यस्तद्ध्यानभावना परा ।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—जो एक चिन्ताका निरोध है—एक ज्ञेयमें ठहरा हुआ है वह तो ध्यान है और इससे भिन्न है सो भावना है। उसे ध्यानके और भावनाके जाननेवाले विद्वान् अनुप्रेक्षा अथवा अर्थचिन्ता भी कहते हैं ॥ १६ ॥

प्रशस्तेतरसंकल्पवशात्तद्भिद्यते द्विधा ।
इष्टानिष्टफलप्राप्तेर्बीजभूतं शरीरिणाम् ॥ १७ ॥

अर्थ—वह पूर्वोक्त ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त भेदसे दो प्रकारका है, सो जीवोंके इष्ट अनिष्ट रूप फलकी प्राप्तिका बीजभूत (कारण स्वरूप) है। **भावार्थ**—प्रशस्त ध्यानसे उत्तम फल होता है और अप्रशस्त ध्यानसे बुरा फल होता है ॥ १७ ॥

अस्तरागो मुनिर्यत्र वस्तुतत्त्वं विचिन्तयेत् ।
तत्प्रशस्तं मतं ध्यानं सूरिभिः क्षीणकल्मषैः ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें मुनि अस्तराग (रागरहित) हो जाय और वस्तुस्वरूपका चिन्तवन करै उसको निष्पाप आचार्योंने प्रशस्त ध्यान माना है ॥ १८ ॥

अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य रागाद्युपहतात्मनः ।
स्वातन्त्र्यवृत्तिर्या जन्तोस्तदसद्ध्यानमुच्यते ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसने वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना तथा जिसका आत्मा रागद्वेष मोहसे पीडित है ऐसे जीवकी स्वाधीन प्रवृत्तिको अप्रशस्त ध्यान कहा जाता है। **भावार्थ**—अप्रशस्त ध्यान जीवोंके विना उपदेशके स्वयमेव होता है क्योंकि यह अनादि वासना है ॥ १९ ॥

अब ध्यानके भेद कहते हैं,—

आर्त्तरौद्रविकल्पेन दुर्ध्यानं देहिनां द्विधा ।
द्विधा प्रशस्तमप्युक्तं धर्मशुक्लविकल्पतः ॥ २० ॥

अर्थ—जीवोंके अप्रशस्त ध्यान आर्त्त रौद्र भेदसे दो प्रकारका है तथा प्रशस्त ध्यान भी धर्म और शुक्ल भेदसे दो प्रकारका कहा गया है ॥ २० ॥

स्यातां तत्रार्त्तरौद्रे द्वे दुर्ध्यानेऽत्यन्तदुःखदे ।
धर्मशुक्ले ततोऽन्ये द्वे कर्मनिर्मूलनक्षमे ॥ २१ ॥

अर्थ—उक्त ध्यानोंमें आर्त्त रौद्र नामवाले दो जो अप्रशस्त ध्यान हैं वे तो अत्यन्त

दुःख देनेवाले हैं, और दुसरे धर्म शुक्ल नामके दो प्रशस्त ध्यान हैं सो कर्मोंको निर्मूल करनेमें समर्थ हैं ॥ २१ ॥

प्रत्येकं च चतुर्भेदैश्चतुष्टयमिदं मतम् ।
अनेकवस्तुसाधर्म्यवैधर्म्यालम्बनं यतः ॥ २२ ॥

अर्थ—इन आर्त्त रौद्र धर्म्य शुक्ल ध्यानोंका चतुष्टय है. सो प्रत्येक ध्यान भिन्न २ चार चार भेदोंवाला माना गया है; क्योंकि यह चतुष्टय अनेक वस्तुओंके साधर्म्य वैधर्म्यके अवलम्बन करनेवाला है अर्थात् परस्पर विलक्षण है ॥ २२ ॥

इनमेंसे प्रथम ही आर्त्तध्यानका स्वरूप और भेद कहते हैं,—

ऋते भवमथार्त्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम् ।
दिग्मोहान्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात् ॥ २३ ॥

अर्थ—ऋत कहिये पीड़ा—दुःखमें उपजै सो आर्त्तध्यान है, सो यह ध्यान अप्रशस्त है. जैसे किसी प्राणीके दिशाओंके भूल जानेसे उन्मत्तता होती है उसके समान है, और यह ध्यान अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञानकी वासनाके वशसे उत्पन्न होता है ॥ २३ ॥

अब इसके ४ भेद कहते हैं,—

अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात्परम् ।
रुक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानात्तुर्यमङ्गिनाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—पहिला आर्त्तध्यान तौ जीवोंके अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे होता है, **दूसरा** आर्त्तध्यान इष्ट पदार्थके वियोगसे होता है, **तीसरा** आर्त्तध्यान रोगके प्रकोपकी पीडासे होता है और **चौथा** आर्त्तध्यान निदान कहिये आगामी कालमें भोगोंकी वांछाके होनेसे होता है। इस प्रकार ४ भेद आर्त्तध्यानके हैं ॥ २४ ॥

अब अनिष्ट संयोग नामा आर्त्तध्यानका स्वरूप कहते हैं,—

मालिनी ।

ज्वलनवनविषास्त्रव्यालशार्दूलदैत्यैः
स्थलजलबिलसत्त्वैर्दुर्जनारातिभूपैः ।
स्वजनधनशरीरध्वंसिभिस्तैरनिष्टै-
र्भवति यदिह योगादाद्यमार्त्तं तदेतत् ॥ २५ ॥

अर्थ—इस जगतमें अपना स्वजन धन शरीर इनके नाश करनेवाले अग्नि जल विष शस्त्र सर्प सिंह दैत्य तथा स्थलके जीव जलके जीव बिलके जीव तथा दुष्टजन वैरी राजा इत्यादि अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे जो हो सो पहिला आर्त्तध्यान है ॥ २५ ॥

फिर भी कहते हैं,—

तथा चरस्थिरैर्भावैरनेकैः समुपस्थितैः ।
अनिष्टैर्यन्मनः क्लिष्टं स्यादार्त्तं तत्प्रकीर्तितम् ॥ २६ ॥

अर्थ—तथा चर और स्थिर अनेक अनिष्ट पदार्थोंके प्राप्त होनेपर जो मन क्लेशरूप हो उसको भी आर्त्तध्यान कहा है ॥ २६ ॥

श्रुतैर्दृष्टैः स्मृतैर्ज्ञातैः प्रत्यासत्तिं च संसृतैः ।
योऽनिष्टार्थैर्मनःक्लेशः पूर्वमार्त्तं तदिष्यते ॥ २७ ॥

अर्थ—तथा जो सुने देखे स्मरणमें आये जाने हुए तथा निकट प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थोंसे मनको क्लेश हो उसे पहिला आर्त्तध्यान कहते हैं ॥ २७ ॥

अशेषानिष्टसंयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम् ।
यत्स्यात्तदपि तत्त्वज्ञैः पूर्वमार्त्तं प्रकीर्त्तितम् ॥ २८ ॥

अर्थ—जो समस्त प्रकारके अनिष्ट पदार्थोंके संयोग होनेपर उनके वियोग होनेका वारंवार चिन्तवन हो उसे भी तत्त्वके जाननेवालेंने पहिला अनिष्ट संयोग नामा आर्त्तध्यान कहा है ॥ २८ ॥

अब दूसरे–इष्टवियोग नामा आर्त्तध्यानका वर्णन करते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये
चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावेऽथवा ।
संत्रासभ्रमशोकमोहविवशैर्यत्खिद्यतेऽहर्निशम्
तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुमतां ध्यानं कलङ्कास्पदम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जो राज्य ऐश्वर्य स्त्री कुटुंब मित्र सौभाग्य भोगादिके नाश होनेपर, तथा चित्तको प्रीति उत्पन्न करनेवाले सुन्दर इन्द्रियोंके विषयोंका प्रध्वंसभाव होते हुए, संत्रास पीडा भ्रम शोक मोहके कारण निरन्तर खेदरूप होना सो जीवोंके इष्टवियोगजनित आर्त्तध्यान है, और यह ध्यान पापका स्थान है ॥ २९ ॥

दृष्टश्रुतानुभूतैस्तैः पदार्थैश्चित्तरञ्जकैः ।
वियोगे यन्मनः खिन्नं स्यादार्त्तं तद्द्वितीयकम् ॥ ३० ॥

अर्थ—देखे सुने अनुभवे मनको रंजायमान करनेवाले पूर्वोक्त पदार्थोंका वियोग होनेसे जो मनको खेद हो वह भी दूसरा आर्त्तध्यान है ॥ ३० ॥

मनोज्ञवस्तुविध्वंसे मनस्तत्संगमार्थिभिः ।
क्लिश्यते यत्तदेतत्स्याद्द्वितीयार्त्तस्य लक्षणम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—अपने मनकी प्यारी वस्तुके विध्वंस होनेपर पुनः उसकी प्राप्तिके लिये जो क्लेशरूप होना सो दूसरे आर्त्तध्यानका लक्षण है। इस प्रकार दूसरा आर्त्तध्यान कहा ॥ ३१ ॥

अब तीसरे आर्त्तध्यानका वर्णन करते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

कासश्वासभगन्दरोदरजराकुष्ठातिसारज्वरैः
पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितैः रोगैः शरीरान्तकैः ।
स्यात्सत्त्वप्रबलैः प्रतिक्षणभवैर्यद्याकुलत्वं नृणाम्
तद्रोगार्त्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरं ॥ ३२ ॥

अर्थ—वातपित्तकफके प्रकोपसे उत्पन्न हुए शरीरको नाश करनेवाले वीर्यसे प्रबल और क्षण २ में उत्पन्न होनेवाले कास श्वास भगंदर जलोदर जरा कोढ़ अतिसार ज्वरादिक रोगोंसे मनुष्योंके जो व्याकुलता होती है उसे अनिंदित पुरुषोंने रोगपीडाचिन्तवननामा आर्त्त-ध्यान कहा है. यह ध्यान दुर्निवार और दुःखोंका आकर है जो कि आगामी कालमें पापबंधका कारण है॥ ३२ ॥

स्वल्पानामपि रोगाणां माभूत्स्वप्नेऽपि संभवः ।
ममेति या नृणां चिंता स्यादार्त्तं तत्तृतीयकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जीवोंके ऐसी चिंता हो कि मेरे किंचित् भी रोगकी उत्पत्ति स्वप्नमें भी न हो। ऐसा चिंतवना सो तीसरा आर्त्तध्यान कहते है ॥ ३३ ॥

अब चौथे आर्त्तध्यानको कहते हैं,—

स्रग्धरा ।

भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी
राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुरवधूलास्यलीलायुवत्यः ।
अन्यच्चानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादि चिन्तासुभाजाम्
यत्तद्भोगार्थमुक्तं परमगुणधरैर्जन्मसन्तानमूलं ॥ ३४ ॥

अर्थ—धरणीन्द्रके सेवने योग्य तौ भोग, और तीन भुवनको जीतनेवाली रूप साम्राज्यकी लक्ष्मी, तथा क्षीण हो गये हैं शत्रुओंके समूह जिसमें ऐसा राज्य, और देवांगना-ओंके नृत्यकी लीलाको जीतनेवाली स्त्री, इत्यादि और भी आनंदरूप वस्तुयें मेरे कैसे हो, इस प्रकारके चिंतवनको परम गुणोंको धारण करनेवालोंने भोगार्त्त नामा चौथा आर्त्तध्यान कहा है। और यह संसारकी परिपाटीसे हुआ है और संसारका मूल कारण भी है ॥ ३४ ॥

'जन्मसन्तानसूत्रं' इत्यपि पाठः ।

पुनः ।

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां
यद्वा तैरेव वांछत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात् ।
पूजासत्कारलाभप्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः
स्यादार्त्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रधाम ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो प्राणी पुण्याचरणके समूहसे तीर्थंकरके अथवा देवोंके पदकी वांछा करै, अथवा उन ही पुण्याचरणोंसे अत्यन्त कोपके कारण शत्रुसमूहरूपी वृक्षोंके उच्छेदनेकी वांछा करै, तथा उन विकल्पोंसे अपनी पूजा प्रतिष्ठा लाभादिककी याचना करै, उसको निदानजनित आर्त्तध्यान कहते हैं. यह ध्यान भी जीवोंको दुःखरूपी अग्निका तीव्र स्थान है ॥ ३५ ॥

इष्टभोगादिसिद्ध्यर्थं रिपुघातार्थमेव वा ।
यन्निदानं मनुष्याणा स्यादार्त्तं तत्तुरीयकं ॥ ३६ ॥

अर्थ—मनुष्योंके इष्ट भोगादिककी सिद्धिके लिये तथा शत्रुके घातके लिये निदान हो, सो चौथा आर्त्तध्यान है ॥ ३६ ॥

इन्द्रवज्रा ।

इत्थं चतुर्भिः प्रथितैर्विकल्पै-
रार्त्तं समासादिह हि प्रणीतम् ।
अनन्तजीवाशयभेदभिन्नं
ब्रूते समग्रं यदि वीरनाथः ॥ ३७ ॥

अर्थ—इस प्रकार चार भेदोंके विस्तारसे इस शास्त्रमें आर्त्तध्यानका स्वरूप कहा; और इस आर्त्तध्यानको जीवोंके आशयभेदसे भेदरूप कहा जाय तो वीरनाथ भगवान् ही कह सक्ते हैं अन्यकी सामर्थ्य नहीं है ॥ ३७ ॥

अपथ्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे ।
विद्ध्यसद्ध्यानमेतद्धि षड्गुणस्थानभूमिकम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यह आर्त्तध्यान प्रथम क्षणमें रमणीक है तथापि अन्तके क्षणमें अपथ्य है ऐसा इस अप्रशस्त ध्यानको जान. और यह ध्यान छट्टे गुणस्थानतक होता है, यहां-तक ही इसके उत्पन्न होनेकी भूमि है ॥ ३८ ॥

संयतासंयतेष्वेतच्चतुर्भेदं प्रजायते ।
प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा ॥ ३९ ॥

अर्थ—यह आर्त्तध्यान संयतासंयतनामा पांचवें गुणस्थानपर्यन्त तो चार भेदरूप

रहता है। किन्तु छट्टे प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें निदानरहित तीन ही प्रकारका उत्पन्न होता है ॥ ३९ ॥

कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते।
इदं दुरितदावार्चिःप्रसूतेरिन्धनोपमं ॥ ४० ॥

अर्थ—यह आर्त्तध्यान कृष्ण नील कापोत इन अशुभ लेश्याओंके बलसे प्रगट होता है सो पापरूपी दावाग्निके उत्पन्न करनेको इंधनके समान है ॥ ४० ॥

एतद्विनापि यत्नेन स्वयमेव प्रसूयते।
अनाद्यसत्समुद्भूतसंस्कारादेव देहिनाम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—यह आर्त्तध्यान जीवोंके अनादि कालके अप्रशस्तरूप संस्कारसे विना यत्नके स्वयमेव उत्पन्न होता है. अर्थात्—विना उपदेशके संस्कारवशातः अपने आप प्रगट होता है ॥ ४१ ॥

अनन्तदुःखसंकीर्णमस्य तिर्यग्गतेः फलम्।
क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्त्तकः ॥ ४२ ॥

अर्थ—इस आर्त्तध्यानका फल अनन्त दुःखोंसे व्याप्त तिर्यंचगति है और यह भाव क्षायोपशमिक है और इसका काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है. एक ज्ञेयपर अन्तर्मुहूर्त्तपर्यन्त ही रहता है, तत्पश्चात् ज्ञेयान्तर होता है ॥ ४२ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

शङ्काशोकभयप्रमादकलहश्चित्तभ्रमोद्भ्रान्तयः[1]
उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यश्रमाः।
मूर्च्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्यल-
मार्त्ताधिष्ठितचेतसां श्रुतधरैर्व्यावर्णितानि स्फुटम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—इस आर्त्तध्यानसे आश्रित चित्तवाले पुरुषोंके बाह्यचिह्न शास्त्रोंके पारगामी विद्वानोंने इस प्रकार कहे हैं कि—प्रथम तो शङ्का होती है अर्थात् हर बातमें संदेह होता है, फिर शोक होता है, भय होता है, प्रमाद होता है,—सावधानी नहिं होती, कलह करता है, चित्तभ्रम हो जाता है, उद्भ्रान्ति हो जाती है, चित्त एक जगह नहिं ठहरता, विषयसेवनमें उत्कंठा रहती है, निरन्तर निद्रागमन होता है, अंगमें जड़ता (शिथिलता) होती है, खेद होता है, मूर्च्छा होती है. इत्यादि चिह्न आर्त्तध्यानीके प्रगट होते हैं ॥ ४३ ॥

इस प्रकार आर्त्तध्यानका वर्णन किया. यह अप्रशस्त ध्यान स्वयमेव विना उपदेश व संस्कारके उत्पन्न होता है, सो त्यागने योग्य है ॥

---

१ 'चिन्ताभ्रमोद्भ्रान्तयः' इत्यपि पाठः।

दोहा.

दुखके कारण आवतैं, दुःखरूप परिणाम ।
भोग चाहि यहँ ध्यान दुर, आर्त्त तजो अघधाम ॥ २५ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आर्त्तध्यान-वर्णनं नाम पञ्चविंशं प्रकरणं समाप्तं ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशं प्रकरणं लिख्यते ।

आगे रौद्रध्यानका वर्णन करते हैं,--

रुद्राशयभवं भीममपि रौद्रं चतुर्विधम् ।
कीर्त्यमानं विदन्त्वार्याः सर्वसत्त्वाभयप्रदाः ॥ १ ॥

अर्थ—हे समस्त जीवोंको अभयदान देनेवाले आर्य पुरुषो ! रुद्र आशयसे उत्पन्न हुआ भयानक रौद्रध्यान भी चार प्रकारका कहा है, उसे जानो ॥ १ ॥

रुद्रः क्रूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभिः ।
रुद्रस्य कर्म भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अर्थ—तत्त्वदर्शी पुरुषोंने क्रूर आशयवाले प्राणीको रुद्र कहा है. उस रुद्र प्राणीके कार्य अथवा उसके भावको (परिणामको) रौद्र कहते हैं ॥ २ ॥

हिंसानन्दान्मृषानन्दाच्चौर्यात्संरक्षणात्तथा ।
प्रभवत्यङ्गिनां शश्वदपि रौद्रं चतुर्विधम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हिंसामें आनन्द माननेसे, तथा मृषामें (असत्य कहनेमें) आनन्द माननेसे, चोरीमें आनन्द माननेसे, और विषयोंकी रक्षा करनेमें आनन्द माननेसे जीवोंके रौद्र ध्यान भी निरन्तर चार प्रकारका होता है. अर्थात् हिंसानंद मृषानंद चौर्यानंद और संरक्षणानन्द ये ४ भेद रौद्रध्यानके हैं ॥ ३ ॥

प्रथम ही हिंसानंदनामा रौद्रध्यानको कहते हैं,--

हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते ।
स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसारौद्रमुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—जीवोंके समूहको अपनेसे तथा अन्यके द्वारा मारे जानेपर तथा पीडित किये जानेपर तथा ध्वंस करनेपर और घातनेके सम्बन्ध मिलाये जानेपर जो हर्ष माना जाय उसे हिंसानंद नामा रौद्रध्यान कहते हैं ॥ ४ ॥

उपेन्द्रवज्रा ।

अनारतं निष्करुणस्वभावः स्वभावतः क्रोधकषायदीप्तः ।
मदोद्धतः पापमतिः कुशीलः स्यान्नास्तिको यः स हि रौद्रधामा॥५॥

अर्थ—जो पुरुष निरंतर निर्दय स्वभाववाला हो, तथा स्वभावसे ही क्रोधकषायसे प्रज्वलित हो तथा मदसे उद्धत हो, जिसकी बुद्धि पापरूप हो, तथा कुशीली हो, व्यभिचारी हो, नास्तिक हो वह रौद्रध्यानका घर है; अर्थात् ऐसे पुरुषमें यह रौद्रध्यान वसता है ॥ ५ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

हिंसाकर्मणि कौशलं निपुणता पापोपदेशे भृशम्
दाक्ष्यं नास्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रतिः ।
संवासः सह निर्दयैरविरतं नैसर्गिकी क्रूरता
यत्स्याद्देहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयैः ॥ ६ ॥

अर्थ—जीवोंके हिंसाकर्ममें प्रवीणता हो, पापोपदेशमें निपुणता हो, नास्तिक मतमें चातुर्य हो, जीवघातनेमें निरन्तर प्रीति हो तथा निर्दयी पुरुषोंकी निरन्तर संगति हो, स्वभावसे ही क्रूरता हो, दुष्टभाव हो, उसको प्रशान्तचित्तवाले महापुरुषोंने रौद्रध्यान कहा है ॥ ६ ॥

स्रग्धरा छन्दः ।

केनोपायेन घातो भवति तनुमतां कः प्रवीणोऽत्र हन्ता
हन्तुं कस्यानुरागः कतिभिरिह दिनैर्हन्यते जन्तुजातं ।
हत्वा पूजां करिष्ये द्विजगुरुमरुतां कीर्तिशान्त्यर्थमित्थम्
यत्स्याद्धिंसाभिनन्दो जगति तनुभृतां तद्धि रौद्रं प्रणीतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—इस जगह जीवोंका घात किस उपायसे हो, यहां घात करनेमें कौन चतुर है, घात करनेमें किसके अनुराग है, यह जीवोंका समूह कितने दिनोंमें मारा जायगा, इन जीवोंको मारकर बलि देकर कीर्ति और शान्तिके लिये ब्राह्मण गुरु देवोंकी पूजा करूंगा, इत्यादि प्रकारसे जीवोंकी हिंसा करनेमें जो आनन्द हो, उसको निश्चय करके रौद्रध्यान कहते हैं ॥ ७ ॥

मालिनी ।

गगनवनधरित्रीचारिणां देहभाजाम्
दलनदहनबन्धच्छेदघातेषु यत्नम् ।
इतिनखकरनेत्रोत्पाटने कौतुकं यत्
तदिह गदितमुच्चैश्चेतसां रौद्रमित्थम् ॥ ८ ॥

अर्थ—नभश्चर पक्षी, जलचर मत्स्यादिक और स्थलचर पशु इन जीवोंका खंड करने दग्ध करने बांधने छेदन करने घातने आदिमें यत्न करना तथा इनके चर्म नख हाथ नेत्रादिकके नष्ट करने (उखाड़ने) में जो कौतूहलरूप (क्रीडारूप) परिणाम हो वही यहां रौद्रध्यान है, ऐसे ऊंचे चित्तवाले पुरुषोंके वचन हैं ॥ ८ ॥

अस्य घातो जयोऽन्यस्य समरे जायतामिति ।
स्मरत्यङ्गी तदप्याहू रौद्रमध्यात्मवेदिनः ॥ ९ ॥

अर्थ—युद्धमें इसका घात हो और उसकी जीत हो इसप्रकार स्मरण करै (विचारै) उसे भी अध्यात्मके जाननेवालोंने रौद्रध्यान कहा है ॥ ९ ॥

श्रुते दृष्टे स्मृते जन्तुवधाद्युरुपराभवे ।
यो हर्षस्तद्धि विज्ञेयं रौद्रं दुःखानलेन्धनम् ॥ १० ॥

अर्थ—जीवोंके वध बंधनादि तीव्र दुःख वा अपमानके सुनने देखने वा स्मरण करनेमें जो हर्ष होता है उसे भी दुःखरूपी अग्निको इंधनकी समान रौद्रध्यान जानना ॥ १० ॥

अहं कदा करिष्यामि पूर्ववैरस्य निष्क्रयम् ।
अस्य चित्रैर्वधैश्चेति चिन्ता रौद्राय कल्पिता ॥ ११ ॥

अर्थ—इस पूर्वकालके वैरीका अनेक प्रकारके घातसे मैं किस समय बदला लूंगा ऐसी चिन्ता भी रौद्रध्यानके लिये कही गई है ॥ ११ ॥

किं कुर्मः शक्तिवैकल्याज्जीवन्त्यद्यापि विद्विषः ।
तर्ह्यमुत्र हनिष्यामः प्राप्य कालं तथा बलम् ॥ १२ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारै कि—हम क्या करें? शक्ति न होनेके कारण शत्रु अभीतक जीते हैं नहीं तो कभीके मार डालते. अस्तु, इस समय नहीं तो न सही परलोकमें शक्तिको प्राप्त होकर किसी समय अवश्य मारेंगे। इसप्रकार संकल्प करना भी रौद्रध्यान है ॥ १२ ॥

मालिनी छन्दः ।

अभिलषति नितान्तं यत्परस्यापकारं
व्यसनविशिखभिन्नं वीक्ष्य यत्तोषमेति ।
यदिह गुणगरिष्ठं द्वेष्टि दृष्ट्वान्यभूतिं
भवति हृदि सशल्यस्तद्धि रौद्रस्य लिङ्गम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जो अन्यका बुरा चाहै तथा परको कष्ट आपदारूप बाणोंसे भेदा हुआ दुःखी देखकर सन्तुष्ट हो तथा गुणोंसे गरुवा देख अथवा अन्यके संपदा देखकर द्वेषरूप हो अपने हृदयमें शल्यसहित हो सो निश्चय करके रौद्रध्यानका चिह्न है ॥ १३ ॥

हिंसानन्दोद्भवं रौद्रं वक्तुं कस्यास्ति कौशलम् ।
जगज्जन्तुसमुद्भूतविकल्पशतसम्भवम् ॥ १४ ॥

अर्थ—इस हिंसानंदसे उत्पन्न हुए रौद्र ध्यानके कहनेको किसके कुशलता (विद्वत्ता) है ? क्योंकि यह जगतके जीवोंके उत्पन्न हुए सैकडों विकल्पोंसे उत्पन्न होता है. इसके परिणाम अनेक प्राणियोंके अनेक प्रकारके होते हैं सो कहनेमें नहिं आ सकते ॥ १४ ॥

हिंसोपकरणादानं क्रूरसत्त्वेष्वनुग्रहं ।
निस्त्रिंशतादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनः ॥ १५ ॥

अर्थ--हिंसाके उपकरण शस्त्रादिकका संग्रह करना, क्रूर (दुष्ट) जीवोंपर अनुग्रह करना और निर्दयतादिक भाव रौद्र ध्यानके देहधारियोंके बाह्य चिह्न हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार हिंसानंदनामा प्रथम रौद्र ध्यानका वर्णन किया । अब दूसरे मृषानंदनामा रौद्रध्यानका वर्णन करते हैं,—

असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः ।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य असत्य झूठी कल्पनाओंके समूहसे पापरूपी मैलसे मलिनचित्त होकर जो कुछ चेष्टा करै उसे निश्चय करके मृषानंदनामा रौद्रध्यान कहा है ॥ १६ ॥

विधाय वञ्चकं शास्त्रं मार्गमुद्दिश्य निर्दयम् ।
प्रपात्य व्यसने लोकं भोक्ष्येऽहं वाञ्छितं सुखम् ॥ १७ ॥

उपजातिः ।

असत्यचातुर्यबलेन लोकाद्वित्तं ग्रहिष्यामि बहुप्रकारं ।
तथाश्वमातङ्गपुराकराणि कन्यादिरत्नानि च बन्धुराणि ॥ १८ ॥
असत्यवाग्वञ्चनया नितान्तं प्रवर्त्तयत्यत्र जनं वराकम् ।
सद्धर्ममार्गादतिवर्त्तनेन मदोद्धतो यः स हि रौद्रधामा ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुष इस जगतमें समीचीन सत्य धर्मके मार्गको छोड़कर प्रवर्तै और मदसे उद्धत हो इस प्रकार चिन्तवन करै कि—ठगाईके शास्त्रोंको रचकर, असत्य दयारहित मार्गको चलाकर, जगतको उस मार्गमें तथा कष्टआपदाओंमें डालकर, अपने मनोवांछित सुख मैं ही भोगूं; तथा इस प्रकार विचारै कि—असत्य चतुराईके प्रभावसे लोगोंसे बहुत प्रकारसे धन ग्रहण करूंगा तथा घोड़े हस्ती नगर रत्नोंके समूह सुंदर कन्यादिक रत्न ग्रहण करूंगा । इस प्रकार जो सद्धर्ममार्गसे च्युत होकर असत्य वचनोंकी ठगविद्यासे अत्यन्त भोले जीवोंको प्रवर्त्तावै वह मदोद्धत पुरुष रौद्र ध्यानका मंदिर (घर) है अर्थात् उसमें मृषानंदनामा रौद्रध्यान रहता है ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

आख्यानकी ।

असत्यसामर्थ्यवशादरातीन्
नृपेण वान्येन च घातयामि ।
अदोषिणां दोपचयं विधाय
चिन्तेति रौद्राय मता मुनीन्द्रैः ॥ २० ॥

अर्थ--मैं अदोषियोंमें दोषसमूहको सिद्ध करके अपने असत्य सामर्थ्यके प्रभावसे अपने दुशमनोंको राजाके द्वारा वा अन्य किसीके द्वारा घात करूंगा; इसप्रकार चिन्ता करनेको भी मुनींद्रोंने रौद्रध्यान माना है ॥ २० ॥

पातयामि जनं मूढं व्यसनेऽनर्थसंकटे ।
वाक्कौशल्यप्रयोगेण वाञ्छितार्थप्रसिद्धये ॥ २१ ॥

अर्थ—तथा जो इसप्रकार विचार करै कि मैं वचनकी प्रवीणताके प्रयोगोंसे वांछित प्रयोजनकी सिद्धिके लिये मूढ जनोंको अनर्थके संकटमें डालदूं ऐसा चतुर हूं, इस प्रकारका विचार भी रौद्रध्यान है ॥ २१ ॥

वंशस्थम् ।

इमान् जडान् बोधविचारविच्युतान्
प्रतारयाम्यद्य वचोभिरुन्नतैः ।
अमी प्रवर्त्स्यन्ति मदीयकौशला-
दकार्यवर्येष्विति नात्र संशयः ॥ २२ ॥

अर्थ—फिर इस प्रकार विचार करै कि—ये ज्ञानरहित मूर्ख प्राणी हैं, इनको ऊंचे चतुराईके वचनोंसे अभी ठग लेता हूं मैं ऐसा चतुर हूं। तथा ये प्राणी मेरी प्रवीणतासे अकार्योंमें प्रवर्त्तेंगा ही इसमें कुछ संदेह नहीं है, ऐसे विचारको भी रौद्रध्यान कहते हैं ॥ २२ ॥

अनेकासत्यसंकल्पैर्यः प्रमोदः प्रजायते ।
मृषानन्दात्मकं रौद्रं तत्प्रणीतं पुरातनैः ॥ २३ ॥

अर्थ—इस प्रकार अन्य भी अनेक प्रकारके असत्य संकल्पोंसे जो प्रमोद (हर्ष) उत्पन्न हो उसे पुरातन पुरुषोंने रौद्रध्यान कहा है ॥ २३ ॥

इस प्रकार रौद्रध्यानके दूसरे भेद मृषानन्दका वर्णन किया। अब चौर्यानन्द नामक तीसरे भेदका वर्णन करते हैं,—

चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि ।
यच्चौर्यैकपरं चेतस्तच्चौर्यानन्द इष्यते ॥ २४ ॥

अर्थ—जो चोरीके कार्योंके उपदेशकी अधिकता तथा चौर्यकर्ममें चतुरता तथा चोरीके कार्योंमें ही तत्परचित्त हो उसे चौर्यानंदनामा रौद्रध्यान माना है ॥ २४ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते
कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्संततम् ।
चौर्येणापि हृते परैः परधने यज्जायते संभ्रम-
स्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जीवोंके चौर्यकर्मके लिये निरन्तर चिन्ता उत्पन्न हो तथा चोरीकर्म करके भी निरंतर अतुल हर्ष मानैं आनंदित हो तथा अन्य कोई चोरीके द्वारा परधनको हरै उसमें हष मानै उसे निपुण पुरुष चौर्य कर्मसे उत्पन्न हुआ रौद्रध्यान कहते हैं. यह ध्यान अतिशय निंदाका कारण है ॥ २५ ॥

उपजातिः ।

कृत्वा सहायं वरवीरसैन्यं तथाभ्युपायांश्च बहुप्रकारान् ।
धनान्यलभ्यानि चिराजतानि सद्यो हरिष्यामि जनस्य धात्र्याम् ॥ २६ ॥

अर्थ—इस धरित्रीमें (पृथिवीमें) लोगोंके धन अलभ्य हैं तथा वहुत कालके संचित किये हुए हैं तौ भी मैं बड़े २ सुभटोंकी सेनाकी सहायतासे तथा अनेक उपयोंसे तत्कालही हर लाऊंगा ऐसा चोर हूं ॥ २६ ॥

आर्या ।

द्विपदचतुष्पदसारं धनधान्यवराङ्गनासमाकीर्णम् ।
वस्तु परकीयमपि मे स्वाधीनं चौर्यसामर्थ्यात् ॥ २७ ॥

उपजातिः ।

इत्थं चुरायां विविधप्रकारः शरीरिभिर्यः क्रियतेऽभिलाषः ।
अपारदुःखार्णवहेतुभूतं रौद्रं तृतीयं तदिह प्रणीतम् ॥ २८ ॥

अर्थ—तथा परके द्विपद चौपदोंमें जो सार हैं अर्थात् उत्तम हैं तथा धन धान्य श्रेष्ठ स्त्री सहित अन्यकी जो वस्तुयें हैं सो मेरी चोरी कर्मकी सामर्थ्यसे मेरे ही स्वाधीन है ऐसा विचार करै ॥ २७ ॥ इस प्रकार चोरीमें जीवोंकरके जो अनेक प्रकारकी वांछा कीया जाय सो रौद्रध्यान है. यह रौद्रध्यान अपार दुःखरूपी समुद्रमें पटकनेका कारणभूत है ॥ २८ ॥

इस प्रकार रौद्रध्यानके तीसरे भेद चौर्यानंदनामा ध्यानका वणन किया । आगे विषयसंरक्षण नामा रौद्रध्यानके चौथे भेदका वर्णन करते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

बह्वारम्भपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युद्यते
यत्संकल्पपरम्परां वितनुते प्राणीह रौद्राशयः ।

तथा—अहो ! देखो जो समस्त भुवनोंके जीवोंकरके पूजनीय, सुभटोंके समूहसे सेवने योग्य, स्वजन धनादिकसे पूर्ण, रत्न और स्त्रियोंसे सुंदर, अमर्यादित विभवके सार ऐसे समस्त भोगोंका स्वामित्व अपने शत्रुओंके समूहको नाश करके मैने पाया है ॥ ३२ ॥

तथा—पृथिवीको भेदकर, जीवोंके समूहको मारकर, दुर्ग (गढों)में प्रवेश करके, समुद्रको उलंघ करके, बड़े गर्वसे उद्धत शत्रुओंके मस्तकपर पांव देकर मैंने उदार स्वामीपना वा राज्य किया है ॥ ३३ ॥

तथा—जल अग्नि सर्प विषादिकके प्रयोगोंसे विश्वास दिलानां, भेद करना, दूतभेद करना इत्यादि प्रपंचोंसे शत्रुओंके समस्त समूहोंका नाश करके यह मेरा प्रबल प्रताप है सो स्फुरायमान है (प्रगट है). मैं ऐसा ही प्रतापी हूं ॥ ३४ ॥ इत्यादिक मनुष्योंके विषय-संरक्षणके सन्निबंध कारणोंका जो चिंतवन करना उसको ही जिनेन्द्र भगवानने चौथा रौद्र-ध्यान कहा है ॥ ३५ ॥

इसप्रकार रौद्रध्यानका वर्णन किया । अब इसमें लेश्या तथा चिह्नादिकका वर्णन करते हैं—

कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलाङ्कितम् ।
रौद्रमेतद्धि जीवानां स्यात्पञ्चगुणभूमिकम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—यह रौद्रध्यान कृष्ण लेश्याके बल कर तो संयुक्त है और नरकपातके फलसे चिह्नित है तथा पंचम गुणस्थानपर्यन्त कहा गया है ॥ ३६ ॥

प्रश्न—यहां कोई प्रश्न करै कि रौद्रध्यान पांचवें गुणस्थानमें कहा सो सिद्धान्तमें पांचवें गुणस्थानमें लेश्या तो शुभ कही है और नरक आयुका बंध भी नहीं है सो पंचम गुणस्थानमें रौद्रध्यान कैसे हो ?

उत्तर—यह रौद्रध्यानका वर्णन प्रधानतासे मिथ्यात्वकी अपेक्षा है । पांचवें गुणस्थानमें सम्यक्त्वकी सामर्थ्यसे ऐसे रौद्र परिणाम नहिं होते । कुछ गृहकार्यके संस्कारसे किंचित् लेशमात्र होता है उसकी अपेक्षा कहा है सो यह नरकगतिका कारण नहीं है ॥

क्रूरता दण्डपारुष्यं वञ्चकत्वं कठोरता ।
निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः ॥ ३७ ॥

अर्थ—तथा क्रूरता (दुष्टता), दंडकी परुषता, वञ्चकता, कठोरता, निर्दयता ये रौद्रध्यानके चिह्न आचार्योंने कहे हैं ॥ ३७ ॥

विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे भ्रूवक्रा भीषणाकृतिः ।
कम्पः स्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥ ३८ ॥

कटुकतरफलाढ्यं सम्यगालोच्य धीर
त्यज सपदि, यदि त्वं मोक्षमार्गे प्रवृत्तः ॥ ४४ ॥

अर्थ—आचार्य उपदेश करते हैं कि हे धीर पुरुष ! जो तू मोक्षमार्गमें प्रवर्त्ता है तौ उपर्युक्त प्रकार अनेकरूप निन्दनीय दुर्ध्यानका युग्मरूप कलंक जिनका दूर होगया ऐसे महापुरुषोंने वर्णन किया है उसको भले प्रकार विचार करके शीघ्र ही छोड़ क्योंकि यह दुर्ध्यानका युग्म है सो पापरूपी वनका बीज है जितने पाप हैं वे इनसे ही उपजे हैं अतिशय कठिन फलसंयुक्त हैं. तीव्र दुःख ही इसका फल है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार आर्त्त रौद्र दोनों ध्यानका वर्णन किया । यहां तात्पर्य यह है कि इन दोनों अप्रशस्त ध्यानोंको त्यागनेसे प्रशस्त ध्यान धर्म ध्यान शुक्लध्यानकी प्रवृत्ति होती है ॥

दोहा ।

पंच पापमें हर्ष जो, रौद्रध्यान अघखानि ।
आर्त्त कह्यो दुखमगनता, दोऊ तज निजजानि ॥ २६ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आर्त्तरौद्रध्याननाम षड्विंशं प्रकरणं ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशं प्रकरणम् ।

आगे धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं,—

अथ प्रशममालम्ब्य विधाय स्ववशं मनः ।
विरज्य कामभोगेषु धर्मध्यानं निरूपय ॥ १ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू प्रशमताका (मन्द कषायरूप विशुद्ध भावोंका) अवलंबन करके अपने मनको अपने वश कर और कामभोगोंकी इच्छामें अर्थात् विषयसेवनादिकमें विरक्त होकर धर्म ध्यानको विचारपूर्वक देख ॥ १ ॥

तदेव प्रक्रमायातं सविकल्पं समासतः ।
आरम्भफलपर्यन्तं प्रोच्यमानं विबुध्यताम् ॥ २ ॥

अर्थ—वही धर्मध्यान आचार्योंकी परिपाटीसे (गुरु-आम्नायसे) चला आया भेदोंसहित संक्षेपसे कहा आरंभसे फलपर्यन्त जानना चाहिये ॥ २ ॥

ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः ।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—इस धर्मध्यानका करनेवाला ध्याता यथार्थ वस्तुका ज्ञान और संसारसे वैराग्य-

करके सहित हो, इन्द्रिय मन जिसके वश हो, स्थिरचित्त और मुक्तिका इच्छुक हो, तथा आलस्यरहित उद्यमी और शान्तपरिणामी हो, तथा धैर्यवान् हो, वही प्रशंसनीय है ॥ ३ ॥

चतस्रो भावना धन्याः पुराणपुरुषाश्रिताः ।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते ध्येया धर्मस्य सिद्धये ॥ ४ ॥

अर्थ—तथा मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओंको पुराणपुरुषोंने (तीर्थंकरादिकोंने) आश्रित किया है इस कारण धन्य हैं, (प्रशंसनीय हैं) सो धर्मध्यानकी सिद्धिके लिये इन चारों भावनाओंको चित्तमें ध्यावना चाहिये ॥ ४ ॥

अब प्रथम ही मैत्री भावनाको कहते हैं,—

क्षुद्रेतरविकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु ।
सुखदुःखाद्यवस्थासु संसृतेषु यथायथम् ॥ ५ ॥
नानायोनिगतेष्वेषु समत्वेनाविराधिका ।
साध्वी महत्त्वमापन्ना मतिर्मैत्रीति पठ्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—क्षुद्र (सूक्ष्म) इतर वादर भेदरूप त्रस स्थावर प्राणी सुखदुःखादि अवस्थाओंमें जैसे तैसे तिष्ठे हों—तथा नानाभेदरूप योनियोंमें प्राप्त होनेवाले जीवोंमें समानतासे विराधनेवाली नहीं ऐसी महत्ताको प्राप्त हुई समीचीनबुद्धि मैत्री भावना कही जाती है ॥ ५ ॥ ६ ॥

जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिताः ।
प्राप्नुवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम् ॥ ७ ॥

अर्थ—इस मैत्रीभावनामें ऐसी भावना रहे कि—ये सब जीव कष्ट आपदाओंसे वर्जित हो जीओ, तथा वैर पाप अपमानको छोड़कर सुखको प्राप्त होओ. इसप्रकारकी भावनाको मैत्रीभावना कहते हैं ॥ ७ ॥

दैन्यशोकसमुत्त्रासे रोगपीडार्दितात्मसु ।
वधबन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम् ॥ ८ ॥
क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु च ।
अविरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्यात्यमानेषु निर्दयम् ॥ ९ ॥
मरणार्त्तेषु जीवेषु यत्प्रतीकारवाञ्छया ।
अनुग्रहमतिः सेयं करुणेति प्रकीर्त्तिता ॥ १० ॥

अर्थ—जो जीव दीनतासे तथा शोक भय रोगादिककी पीड़ासे दुःखित हों, पीड़ित हों तथा वध (घात) बंधन सहित रोके हुए हों, अथवा अपने जीवनकी वांछा करते

हुये कि कोई हमको बचाओ ऐसे दीन प्रार्थना करनेवाले हों, तथा क्षुधा तृषा खेद आदिकसे पीडित हों, तथा शीत उष्णतादिकसे पीड़ित हों तथा निर्दय पुरुषोंकी निर्दयतासे रोके हुए (पीडित किये हुए) मरणके दुःखको प्राप्त हों, इस प्रकार दुःखी जीवोंको देखने सुननेसे उनके दुःख दूर करनेके उपाय करनेकी बुद्धि हो उसे करुणा नामकी भावना कहते हैं ॥ ८ ॥ ॥ ९ ॥ १० ॥

अब प्रमोदभावनाको कहते हैं,—

तपःश्रुतयमोद्युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुषाम् ।
विजिताक्षकषायाणां स्वतत्त्वाभ्यासशालिनाम् ॥ ११ ॥
जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम् ।
तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सा मुदिता मता ॥ १२ ॥

अर्थ—जो पुरुष तप शास्त्राध्ययन और यम नियमादिकमें उद्यमयुक्त चित्तवाले हैं, तथा ज्ञानही जिनके नेत्र हैं, इन्द्रिय, मन और कषायोंको जीतनेवाले हैं, तथा स्वतत्त्वाभ्यास करनेमें चतुर हैं, जगतको चमत्कृत करनेवाले चारित्रसे जिनका आत्मा अधिष्ठित (आश्रित) है ऐसे पुरुषोंके गुणोंमें प्रमोदका (हर्षका) होना सो मुदिता कहिये प्रमोद भावना है ॥ ११ ॥ ॥ १२ ॥

अब माध्यस्थ भावनाको कहते हैं,—

क्रोधविद्धेषु सत्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु ।
मधुमांससुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु ॥ १३ ॥
देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु ।
नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्त्तिता ॥ १४ ॥

अर्थ—जो प्राणी क्रोधी हों, निर्दय व क्रूरकर्मा हों, तथा मधु मांस मद्य और परस्त्रीमें लुब्ध (लम्पट) तथा आसक्त व्यसनी हों, और अत्यंत पापी हों तथा देव-शास्त्र गुरुओंके समूहकी निंदा करनेवाले और अपनी प्रशंसा करनेवाले हों तथा नास्तिक हों, ऐसे जीवोंमें रागद्वेषरहित मध्यस्थभाव होना सो उपेक्षा कही है । उपेक्षा नाम उदासीनता (वीतरागता) का है सो यही मध्यस्थभावना है ॥ १३ ॥ १४ ॥

एता मुनिजनानन्दसुधास्यन्दैकचन्द्रिकाः ।
ध्वस्तरागाद्युरुक्लेशा लोकाग्रपथदीपिकाः ॥ १५ ॥

अर्थ—इस प्रकार ये ४ भावनायें कहीं सो मुनिजनोंके आनंदरूप अमृतके झरनेको चन्द्रमाकी चांदनीके समान हैं। क्योंकि इनसे रागादिकका बड़ा क्लेश ध्वस्त हो जाता है। अर्थात् जो इन भावनाओंसे युक्त हो उसके कषायरूप परिणाम नहिं होते, तथा ये भावनायें लोकाग्र-पथको (मोक्षमार्गको) प्रकाश करनेके लिये दीपिका (चिराग) हैं ॥ १५ ॥

एताभिरनिशं योगी क्रीडन्नत्यन्तनिर्भरम् ।
सुखमात्मोत्थमत्यक्षमिहैवास्कन्दति ध्रुवम् ॥ १६ ॥

अर्थ—इन भावनाओंमें रमता हुआ योगी अत्यंत सातिशय आत्मासे उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय सुखको इसी लोकमें निश्चय करके प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

भावनास्वासु संलीनः करोत्यध्यात्मनिश्चयम् ।
अवगम्य जगद्वृत्तं विषयेषु न मुह्यति ॥ १७ ॥

अर्थ—तथा इन भावनाओंमें लीन हुआ मुनि जगतके वृत्तांतको जानकर अध्यात्मका निश्चय करता है, और जगतके प्रवर्त्तनमें तथा इन्द्रियोंके विषयोंमें मोहको प्राप्त नहिं होता, अर्थात् स्वकीय स्वरूपके सम्मुख रहता है ॥ १७ ॥

योगनिद्रा स्थितिं धत्ते मोहनिद्रापसर्पति ।
आसु सम्यक्प्रणीतासु स्यान्मुनेस्तत्त्वनिश्चयः ॥ १८ ॥

अर्थ—इन भावनाओंको भले प्रकार गोचरीभूत (अभ्यस्त) करनेपर मुनिके मोहनिद्रा तो नष्ट हो जाती है और योगकी (ध्यानकी) निद्रा स्थितिको धारण करती है और उसी मुनिके तत्त्वोंका निश्चय होता है ॥ १८ ॥

आभिर्यदानिशं विश्वं भावयत्यखिलं वशी ।
तदौदासीन्यमापन्नश्चरत्यत्रैव मुक्तवत् ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस समय मुनि इन भावनाओंके वशी होकर समस्त जगतको भावता है तब वह मुनि उदासीनताको प्राप्त होकर इसी लोकमें मुक्तके समान प्रवर्त्तता है, अर्थात् मुक्तिकेसे सुखानुभवको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

इस प्रकार शुभ ध्यानकी सामग्री स्वरूप चार भावनाओंका वर्णन किया, इनको भावनेवालेके ध्यानकी सिद्धि होती है । अब ध्यानके योग्य स्थान तथा उसके अयोग्य स्थानका वर्णन करते हैं,—

रागादिवागुराजालं निकृत्याचिन्त्यविक्रमः ।
स्थानमाश्रयते धन्यो विविक्तं ध्यानसिद्धये ॥ २० ॥

अर्थ—जो मुनि धन्य है [महाभाग्य है] वह रागादिकरूप फांसीके जालको काटकर अचिन्त्य पराक्रमवाला होकर ध्यानकी सिद्धिके लिये निर्जन [एकान्त] स्थानको आश्रय करता है । क्योंकि एकान्त स्थानमें रहे विना ध्यानकी सिद्धि नहीं होती ॥ २० ॥

कानिचित्तत्र शस्यन्ते दूष्यन्ते कानिचित्पुनः ।
ध्यानाध्ययनसिद्ध्यर्थं स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥ २१ ॥

अर्थ—ध्यानकी और शास्त्राध्ययनकी सिद्धिके लिये आचार्योंने कई स्थान सराहे हैं और कई स्थान दूषे भी हैं क्योंकि—॥ २१ ॥

विकीर्यते मनः सद्यः स्थानदोषेण देहिनाम् ।
तदेव स्वस्थतां धत्ते स्थानमासाद्य बन्धुरम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जीवोंका चित्त स्थानके दोषसे तत्काल विकारताको प्राप्त होता है और वही मन मनोज्ञ स्थानको पाकर स्वस्थताको (निश्चलताको) प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

उन्ही दूषित स्थानोंको कहते हैं,—

म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं दुष्टभूपालपालितम् ।
पाषण्डिमण्डलाक्रान्तं महामिथ्यात्ववासितम् ॥ २३ ॥
कौलिकापालिकावासं रुद्रक्षुद्रादिमन्दिरम् ।
उद्भ्रान्तभूतवेतालं चण्डिकाभवनाजिरम् ॥ २४ ॥
पण्यस्त्रीकृतसंकेतं मन्दचारित्रमन्दिरम् ।
क्रूरकर्माभिचाराढ्यं कुशास्त्राभ्यासवञ्चितम् ॥ २५ ॥
क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितम् ।
मिलितानेकदुःशीलकल्पिताचिन्त्यसाहसम् ॥ २६ ॥
द्यूतकारसुरापानविटवन्दिव्रजान्वितम् ।
पापिसत्त्वसमाक्रान्तं नास्तिकासारसेवितम् ॥ २७ ॥
क्रव्यादकामुकाकीर्णं व्याधविध्वस्तश्वापदं ।
शिल्पिकारुकविक्षिप्तमग्निजीविजनाश्रितम् ॥ २८ ॥
प्रतिपक्षशिरःशूले प्रत्यनीकावलम्बितम् ।
आत्रेयीखण्डितव्यङ्गसंसृतं च परित्यजेत् ॥ २९ ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला मुनि आगे लिखे स्थानोंको छोड़े । म्लेच्छ पापी जनोंके रहनेका स्थान, दुष्ट राजाके (जमीदारके) अधिकारका स्थान, पाखंडी भेषियोंके समूहसे घिरा हुआ स्थान, तथा महामिथ्यात्वका स्थान, कुलदेवता योगिनीका स्थान, रुद्र नीच देवादिकका मंदिर जिसमें उद्धत भूत वेताल नाचते हों, तथा चंडिका देवीके भवनका प्रांगण (चौक) तथा व्यभिचारिणी स्त्रियोंके संकेत किये स्थान, कुचारित्री पाखंडियोंका मंदिर तथा क्रूर कर्म करनेवालोंका जिसमें संचार हो, जिसमें कुशास्त्रोंका अभ्यास होता हो ऐसा स्थान, तथा जमीदारी जाति और कुलसे उत्पन्न हुई शक्तिसे अधिकारमें आ जानेसे गर्वित अर्थात् यह हमारा निवास है अन्यको प्रवेश नाहिं करने दें ऐसा स्थान, तथा जिसमें अनेक दुःशील खोटे पुरुषोंने मिलकर कोई अचिंत्य साहसिक कार्य रचा हो । अथवा द्यूतक्रीडावाले जुआरी मद्यपानी, व्यभिचारी वंदीजन इत्यादिके समूहसहित स्थान, तथा पापी प्राणियोंसे घिरा हुआ, तथा नास्तिकोंके द्वारा सेवित हो,

तथा राक्षस कामी पुरुषोंसे व्याप्त, व्याध–शिकारियोंने जहांपर जीववध किया हो, तथा शिल्पी (शिलावट कारीगर) कारुक (मोची आदि) का विक्षिप्त स्थान (छोड़ा हुआ) हो, तथा अग्निजीवी (लुहार ठठेरे आदिक) से युक्त हो, तथा शत्रुके मस्तकपर शूलकी समान शत्रुकी सेनाका स्थान तथा रजस्वला भ्रष्ट चारित्री नपुंसक अंगहीनोंके रहनेका स्थान । इत्यादि स्थानोंको ध्यान करनेवाला छोड़ै । अर्थात् इन स्थानोंसे वचकर अन्य योग्य स्थानमें ध्यान करना चाहिये ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

विद्रवन्ति जना पापाः सञ्चरन्त्यभिसारिकाः ।
क्षोभयन्तीङ्गिताकारैर्यत्र नार्योपशङ्किताः ॥ ३० ॥

अर्थ—तथा जहांपर पापीजन उपद्रव करते हों, जहां अभिसारिका स्त्रियें विचरती हों, तथा स्त्रियें निशङ्कित होकर जहां कटाक्ष इंगिताकारादिकसे क्षोभ उत्पन्न करती हों ऐसे स्थानका ध्यानी मुनि त्याग करै ॥ ३० ॥

अव कुछ विशेष कहते हैं—

किं च क्षोभाय मोहाय यद्विकाराय जायते ।
स्थानं तदपि मोक्तव्यं ध्यानविध्वंसशङ्कितैः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो मुनि ध्यानविध्वंसके भयसे भयभीत हैं उनको क्षोभकारक, मोहक तथा विकार करनेवाला स्थान भी छोड़ देना चाहिये ॥ ३१ ॥

तृणकण्टकवल्मीकविषमोपलकर्द्दमैः ।
भस्मोच्छिष्टास्थिरक्ताद्यैर्दूषितां सन्त्यजेद्भुवम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—तथा जो जगह तृण, कंटक, वल्मीक, (वांवी), विषम पाषाण, कर्दम, भस्म, उच्छिष्ट, हाड, रुधिरादिक निंद्य वस्तुओंसे दूषित हो उसको ध्यान करनेवाला छोड़ै ॥३२॥

काककौशिकमार्जारखरगोमायुमण्डलैः ।
अवघुष्टं हि विघ्नाय ध्यातुकामस्य योगिनः ॥ ३३ ॥

अर्थ—तथा जो स्थान काक उलूक विलाव गर्द्दभ शृगाल श्वानादिकसे अवघुष्ट हो अर्थात् जहां ये शब्द करते हों वह स्थान योगी मुनिगणोंके ध्यानको विघ्नकारक है ॥ ३३ ॥

ध्यानध्वंसनिमित्तानि तथान्यान्यपि भूतले ।
न हि स्वप्नेऽपि सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो जो पूर्वोक्त स्थान कहे उसी प्रकार अन्यस्थान भी जो ध्यानके विघ्नकारक हों वे सब ही स्थान ध्यानी मुनिजनोंको छोड़ देने चाहिये, ऐसे स्थान स्वप्नमें भी सेवने योग्य नहीं हैं ॥ ३४ ॥

इसप्रकार ध्यानके विघ्नके कारण स्थानोंका वर्णन किया—

दोहा.

जहां क्षोभ मन ऊपजै, तहां ध्यान नहिं होय।
ऐसे थान विरुद्ध हैं, ध्यानी त्यागै सोय ॥ २७ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे ध्यान विरुद्ध-स्थानवर्णनं नाम सप्तविंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ २७ ॥

अथ अष्टाविंशं प्रकरणं लिख्यते ।



अब ध्यानके योग्य स्थानोंको कहकर आसनका विधान कहते हैं, तहां प्रथम ध्यानके योग्य स्थान कहते हैं,—

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते ।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥ १ ॥

अर्थ—सिद्धक्षेत्र, जहां कि बड़े २ प्रसिद्ध पुरुष ध्यान कर सिद्ध हुए हों, तथा पुराणपुरुष अर्थात् तीर्थंकरादिकोंने जिसका आश्रय किया हो ऐसे महातीर्थ, जो तीर्थंकरोंके कल्याणक स्थान हों ऐसे स्थानोंमें ध्यानकी सिद्धि होती है ॥ १ ॥

सागरान्ते वनान्ते वा शैलशृङ्गान्तरेऽथवा ।
पुलिने पद्मखण्डान्ते प्राकारे शालसङ्कटे ॥ २ ॥
सरितां सङ्गमे द्वीपे प्रशस्ते तरुकोटरे ।
जीर्णोद्याने स्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके ॥ ३ ॥
सिद्धकूटे जिनागारे कृत्रिमेऽकृत्रिमेऽपि वा ।
महर्द्धिकमहाधीरयोगिसंसिद्धवाञ्छिते ॥ ४ ॥
मनःप्रीतिप्रदे शस्ते शङ्काकोलाहलच्युते ।
सर्वर्तुसुखदे रम्ये सर्वोपद्रववर्जिते ॥ ५ ॥
शून्यवेश्मन्यथ ग्रामे भूगर्भे[1] कदलीगृहे ।
पुरोपवनवेद्यन्ते मण्डपे चैत्यपादपे ॥ ६ ॥
वर्षातपतुषारादिपवनासारवर्जिते ।
स्थाने जागर्त्यविश्रान्तं यमी जन्मार्त्तिशान्तये ॥ ७ ॥

---

१ 'भूगृहे' इत्यपि पाठः ।

अर्थ—संयमी मुनि संसारकी पीड़ाको शान्त करनेके लिये आगे लिखे स्थानोंमें निरंतर सावधान होकर रहै—समुद्रके किनारेपर—वनमें, पर्वतके शिखरपर, नदीके किनारे, कमलवनमें, प्राकार (कोट) में, शालवृक्षोंके समूहमें, नदयोंका, जहां संगम हुआ हो, जलके मध्य जो द्वीप हो उसमें, प्रशस्त (निर्दोष—उज्वल) वृक्षके कोटरमें, पुराने वनमें, स्मशानमें, पर्वतकी जीवरहित गुफामें, सिद्धकूट तथा कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयोंमें जहां कि महाऋद्धिके धारक महाधीर वीर योगीश्वर सिद्धिकी वांछा करते हैं, मनको प्रीति देनेवाले, प्रशंसनीय, तथा जहांपर शंका कोलाहलशब्द न हो ऐसे स्थानमें, तथा समस्त ऋतुओंमें सुखके देनेवाले रमणीक सर्व उपद्रवरहित स्थानमें, तथा शून्यघर तथा शूने ग्राम पृथिवीके नीचे ऊँचे प्रदेशमें, तथा कदली गृहमें (केलोंके कुंजोंमें) तथा नगरकी उपवनकी (बागकी) वेदीके अंतमें, तथा वेदीपरके मंडपमें वा चैत्यवृक्षके समीप, तथा वर्षा आतप हिम शीतादिक तथा प्रचंड पवनादिसे वर्जित स्थानमें निरंतर तिष्ठै ॥ २-३-४-५-६-७ ॥

यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम् ।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस स्थानमें रागादिक दोष निरन्तर लघुताको प्राप्त हों उसही स्थानमें मुनिको बसना चाहिये, तथा ध्यानके कालमें तो अवश्य ही योग्य स्थानको ग्रहण करना चाहिये ॥ ८ ॥

अब आसनका विधान कहते हैं,—

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले ।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—धीर वीर पुरुष समाधिकी सिद्धिके लिये काष्ठके तखतेपर तथा शिलापर अथवा भूमिपर वा वालूरेतके स्थानमें भले प्रकार स्थिर आसन करै ॥ ९ ॥

पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा ।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥ १० ॥

अर्थ—पर्यंक आसन, अर्द्धपर्यंक आसन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन कायोत्सर्ग ये ध्यानके योग्य आसन माने गये हैं ॥ १० ॥

येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः ।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस जिस आसनसे सुखरूप उपविष्ट मुनि अपने मनको निश्चल कर सकें वही सुंदर आसन मुनियोंको स्वीकार करना चाहिये ॥ ११ ॥

कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितं ।
देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण संप्रति ॥ १२ ॥

अर्थ—तथा इस समय कालदोषसे जीवोंके वीर्यकी विकलता है अर्थात् सामर्थ्यकी हीनता है इस कारण कई आचार्योंने पर्यंकासन (पद्मासन) और कायोत्सर्ग ये दो आसन ही प्रशस्त कहे हैं ॥ १२ ॥

वज्रकाया महासत्त्वा निःकम्पाः सुस्थिरासनाः ।
सर्वावस्थास्वलं ध्यात्वा गताः प्राग्योगिनः शिवम् ॥ १३ ॥

अर्थ—तथा जो वज्रकाय कहिये वज्रवृषभ संहननवाले बड़े पराक्रमी निःकम्प (धीर) स्थिर-आसन थे, वे ही योगी सर्वावस्थाओंमें ध्यान करके पूर्वकालमें मोक्षको प्राप्त हुए हैं ॥ १३ ॥

उपसर्गैरपि स्फीतैर्देवदैत्यारिकल्पितैः ।
स्वरूपालम्बितं येषां न चेतश्चाल्यते क्वचित् ॥ १४ ॥

अर्थ—जो पूर्वकालमें महापराक्रमी थे उनका स्वरूपमें अवलम्बित चित्त, देव दैत्य वैरीद्वारा बढ़ेहुये उपसर्गोंसे कदापि चलायमान नहिं होता ॥ १४ ॥

श्रूयन्ते संवृतस्वान्ताः स्वतत्त्वकृतनिश्चयाः ।
विसह्योग्रोपसर्गाग्निं ध्यानसिद्धिं समाश्रिताः ॥ १५ ॥

अर्थ—जिन्होंने अपने मनको संवररूप किया तथा जिन्होंने स्वतत्त्वमें निश्चय किया है वे ही पूर्वपुरुष तीव्र उपसर्गरूप अग्निको सहकर ध्यानकी सिद्धिको आश्रित हुए सुने जाते हैं ॥ १५ ॥

स्रग्धरा ।

केचिज्ज्वालावलीढा हरिशरभगजव्यालविध्वस्तदेहाः
केचित्क्रूरादिदैत्यैरदयमतिहताश्चक्रशूलासिदण्डैः ।
भूकम्पोत्पातवातप्रबलपविघनव्रातरुद्धास्तथान्ये ।
कृत्वा स्थैर्यं समाधौ सपदि शिवपदं निःप्रपञ्चं प्रपन्नाः ॥ १६ ॥

अर्थ—फिर भी सुना जाता है कि पूर्वकालमें अनेक महामुनि तो अग्निकी ज्वालाकी पंक्तिसे जलकर समाधिमें दृढ रहनेसे तत्काल मोक्षको प्राप्त हुए, कितनेक मुनि सिंह अष्टापद हस्ती सर्पादिक द्वारा देहसे विध्वस्त हो समाधिमें स्थिरता धारण कर तत्काल मोक्षको गये, तथा कितनेक मुनि क्रूर वैरी दैत्यादिके द्वारा चक्र शूल तरवार दंडादिकसे निर्दयताके साथ हते हुए समाधिमें लीन रहनेसे तत्काल मोक्षको गये. तथा कितने ही मुनि भूमिकंपनके उत्पात, प्रचंड पवन, प्रबल वज्रपात वा प्रबल मेघादिकके उपसर्गको जीतके

मोक्षको गये तथा अन्य भी अनेक मुनि नानाप्रकारके उपसर्गोंको सहकर समाधिमें (ध्यानमें) दृढ होकर प्रपंचरहित शिवपदको प्राप्त हुए. सो ऐसे उत्तम संहननवालोंके आसनका नियम नहीं है ॥ १६ ॥

तद्धैर्यं यमिनां मन्ये न संप्रति पुरातनम् ।
अथ स्वप्नेऽपि नामास्थां प्राचीनां कर्त्तुमक्षमाः ॥ १७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि पूर्वकालके मुनियोंका पुरातन धैर्य वा बलवीर्य इस वर्तमानकालमें नहीं है इसी कारण पहिलीकीसी आस्था (स्थिरता) वर्त्तमानकालके मुनि स्वप्नमें भी करनेमें असमर्थ हैं । और जो इस समय करते हैं वे धन्य हैं ॥ १७ ॥

निःशेषविषयोत्तीर्णो निर्विण्णो जन्मसंक्रमात् ।
आत्माधीनमनाः शश्वत्सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥ १८ ॥

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियोंके समस्त विषयोंसे रहित है, संसारके परिभ्रमणसे विरक्त होगया है तथा अपने आधीन है मन जिसका, ऐसा निरन्तर हो वह पुरुष ही ध्यानके योग्य होता है । **भावार्थ**—यह साधारण ध्यानकी योग्यता है ॥ १८ ॥

अविक्षिप्तं यदा चेतः स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत् ।
मुनेस्तदैव निर्विघ्ना ध्यानसिद्धिरुदाहृता ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस समय मुनिका चित्त क्षोभरहित हो आत्मस्वरूपके सम्मुख होता है उस काल ही ध्यानकी सिद्धि निर्विघ्न होती है ॥ १९ ॥

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निबन्धनम् ।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ॥ २० ॥

अर्थ—ध्यानकी सिद्धिका कारण स्थान और आसनका विधान है सो इनमेंसे एक भी न हो तो मुनिका (ध्यानीका) चित्त विक्षेपरहित नहिं होता । **भावार्थ**—स्थान और आसन ध्यानके कारण हैं, इनमेंसे जो एक भी न हो तो मन नहिं थँभता अर्थात् दोनों ठीक होनेसे ही मन थँभता है २० ॥

संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः ।
सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥ २१ ॥

अर्थ—तथा जो मुनि संवेगवैराग्ययुक्त हो, संवररूप हो, धीर हो, जिसका आत्मा स्थिर हो, चित्त निर्मल हो वह मुनि सर्व अवस्था सर्व क्षेत्र और सर्व कालमें ध्यान करने योग्य है ॥ २१ ॥

विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा ।
यदि धत्ते स्थिरं चित्तं न तदास्ति निषेधनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जनरहित क्षेत्र हो अथवा जनसहित प्रदेश हो, तथा सुस्थित हो अथवा

दुःस्थित हो जिसकाल मुनिका चित्त स्थिर स्वरूपको धारै तव ही ध्यानकी योग्यता है निषेध नहीं है। पहिले स्थान और आसनका विधान कहा. उसके सिवाय जिस समय मुनिका चित्त स्थिरता धारै उस समय सर्व अवस्था सर्व क्षेत्रमें ध्यानकी योग्यता है, निषेध नहीं है ॥ २२ ॥

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा ।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥ २३ ॥

अर्थ—ध्यानी मुनि जो ध्यानके समय प्रसन्नमुख साक्षात् पूर्व दिशामें मुख करके अथवा उत्तर दिशामें भी मुख करके ध्यान करै, सो प्रशंसनीय कहा है ॥ २३ ॥

चरणज्ञानसम्पन्ना जितात्क्षा वीतमत्सराः[1] ।
प्रागनेकास्ववस्थासु संप्राप्ता यमिनः शिवम् ॥ २४ ॥

अर्थ—तथा ऐसा भी है कि चारित्र और ज्ञानसे संयुक्त, जितेन्द्रिय, मत्सररहित जो मुनिगण पूर्वकालमें अनेक अवस्थाओंसे मोक्षको प्राप्त होगये हैं उनके दिशाकी सम्मुखताका कुछ नियम नहीं था ॥ २४ ॥

मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनी स्वामिनौ मतौ ।
अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्यैतौ यथायथम् ॥ २५ ॥

अर्थ—इस धर्मध्यानके यथायोग्य अधिकारी मुख्य और उपचारके भेदसे प्रमत्तगुणस्थानी और अप्रमत्तगुणस्थानी ये दो मुनि ही होते हैं ॥ २५ ॥

अप्रमत्तः सुसंस्थानो वज्रकायो वशी स्थिरः ।
पूर्ववित्संवृतो धीरो ध्याता संपूर्णलक्षणः ॥ २६ ॥

अर्थ—उक्त दोनों गुणस्थानियोंमें जो अप्रमत्तगुणस्थानी मुनि समचतुरस्रसंस्थान और वज्रवृषभनाराचसंहननवाला, तथा जितेन्द्रिय हो, स्थिर हो, पूर्वका ज्ञानी हो, संवरवान् और धीर हो अर्थात् परीषह और उपसर्गादिकसे चलित न हो, वही संपूर्ण लक्षणका धारक धर्मध्यानके ध्यावनेवाला होता है। क्योंकि ऐसा मुनि ही किसी समय सातिशय अप्रमत्त होकर श्रेणीका आरंभ करता है ॥ २६ ॥

तथा च—

श्रुतेन विकलेनापि स्वामी सूत्रे प्रकीर्त्तितः ।
अधःश्रेण्यां प्रवृत्तात्मा धर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥ २७ ॥

अर्थ—सिद्धांतमें नीचेकी श्रेणीमें प्रवृत्ता है आत्मा जिसका ऐसा विकलश्रुत अर्थात् पूर्वज्ञानरहित भावश्रुतवान् भी धर्मध्यानका स्वामी कहा है ॥ २७ ॥

---

१ वीतविभ्रमाः इत्यपि पाठः ।

किं च कैश्चिच्च धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः ।
सद्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना ॥ २८ ॥

अर्थ—तथा यह विशेष है कि कितनेही आचार्योंने धर्म ध्यानके स्वामी (अधिकारी) चार भी कहे हैं वे सम्यग्दृष्टी—अविरतसे लेकर देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त पर्यन्त यथायोग्य हेतुसे कहे हैं ॥ २८ ॥

ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा ।
लेश्याविशुद्धियोगेन फलसिद्धिरुदाहृता ॥ २९ ॥

अर्थ—इस धर्म ध्यानके ध्याता तीन प्रकारके भी कहे हैं और उनके ध्यान भी तीन प्रकारके कहे हैं, क्योंकि लेश्याकी विशुद्धतासे फलसिद्धि कही है । **भावार्थ**—गुणस्थानकी अपेक्षा जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेदसे ध्याता तीन प्रकारके हैं, जहां जैसी विशुद्धता हो वैसे ही हीनाधिक ध्यानके भाव होते हैं और वैसा ही हीनाधिक फल होता है ॥ २९ ॥

अब आसनके जीतनेके विधानका उपदेश करते हैं,—

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः ।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥ ३० ॥

अर्थ—अब यह कहते हैं कि जो योगी मुनि विशेषकरके जितेन्द्रिय हैं वे आसनका जय करो क्योंकि जिनका आसन भलेप्रकार स्थिर है वे समाधिमें किंचिन्मात्र भी खेदको प्राप्त नहिं होते । **भावार्थ**—आसनको जीतै तो समाधिसे (ध्यानसे) चलायमान न होय ॥ ३० ॥

आसनाभ्यासवैकल्याद्वपुःस्थैर्यं न विद्यते ।
खिद्यते त्वङ्गवैकल्यात्समाधिसमये ध्रुवम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—आसनके अभ्यासकी विकलतासे शरीरकी स्थिरता नहीं रहती और समाधिके समय शरीरकी विकलतासे भी निश्चय करके खेदरूप होजाता है ॥ ३१ ॥

वातातपतुषाराद्यैर्जन्तुजातैरनेकशः ।
कृतासनजयो योगी खेदितोऽपि न खिद्यते ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो योगी आसनको जीत लेता है वह पवन आतप तुषार शीतादिकसे तथा अनेक जीवोंसे अनेक प्रकारसे पीड़ित हुआ भी खेदको प्राप्त नहिं होता । आसन जीतनेका फल यही है ॥ ३२ ॥

आसाद्याभिमतं रम्यं स्थानं चित्तप्रसत्तिदम् ।
उद्भिन्नपुलकः श्रीमान्पर्यङ्कमधितिष्ठति ॥ ३३ ॥

अर्थ—योगी मुनि आसन करते समय चित्तको प्रसन्न करनेवाले रमणीक स्थानको

प्राप्त होकर उत्पन्न हुआ है हर्ष—आनंदका रोमांच जिसके ऐसा श्रीमान्—उत्तम मुनि पर्यङ्कासन (पद्मासन) करके ध्यान करै ॥ ३३ ॥

पर्यङ्कदेशमध्यस्थे प्रोत्ताने करकुड्मले।
करोत्युत्फुल्लराजीवसन्निभे च्युतचापले ॥ ३४ ॥

अर्थ—पर्य्यंक देशके मध्यभागमें स्थित उन्नत दोनों हस्तके मुकुल (करकमल) विकसित कमलके सदृश चपलतारहित करै। **भावार्थ**—दोनों हाथ अपनी गोदविषैं विकसित कमलसदृश कर निश्चल थापै ॥ ३४ ॥

नाशाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने निष्पन्दे मन्दतारके ॥ ३५ ॥

अर्थ—अति निश्चल, सौम्यताको लिये स्पन्दरहित हैं मन्द तारे जिनमें ऐसे दोनों नेत्रोंको नासिकाके अग्रभागमें धारण करै अर्थात् ठहरावै ॥ ३५ ॥

भ्रूवल्लीविक्रियाहीनं सुश्लिष्टाधरपल्लवम्।
सुप्तमत्स्यह्रदप्रायं विदध्यान्मुखपङ्कजम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—तथा मुखको इसप्रकार करै कि—भौंहें तो विकाररहित हों, अधरपल्लव अर्थात् दोनों होठ न तो बहुत खुले और न अतिमिले हों. ऐसे सोते हुए मत्स्यके ह्रदयकी समान मुखकमलको करै ॥ ३६ ॥

अगाधकरुणाम्भोधौ मग्नः संविग्नमानसः।
ऋज्वायतं वपुर्धत्ते प्रशस्तं पुस्तमूर्तिवत् ॥ ३७ ॥

अर्थ—योगी मुनिको चाहिये कि—अपने शरीरको अगाधकरुणा समुद्रमें मग्न होगया है संवेगसहित मन जिसका ऐसा सीधा और लंबा रक्खै, जैसे कि दीवारपर चित्रामकी मूर्त्ति हो उसप्रकार बनावै ॥ ३७ ॥

विवेकवार्द्धिकल्लोलैर्निर्मलीकृतमानसः।
ज्ञानमन्त्रोद्धृताशेषरागादिविषमग्रहः ॥ ३८ ॥
रत्नाकर इवागाधः सुराद्रिरिव निश्चलः।
प्रशान्तविश्वविस्पन्दप्रणष्टसकलभ्रमः ॥ ३९ ॥
किमयं लोष्ठनिष्पन्नः किंवा पुस्तप्रकल्पितः।
समीपस्थैरपि प्रायः प्राज्ञैर्ध्यानीति लक्ष्यते ॥ ४० ॥

अर्थ—मुनि जब ध्यानका आसन जमाकर बैठे तब ऐसा होना चाहिये कि—प्रथम तो विवेक—भेदज्ञानरूप समुद्रकी कल्लोलोंसे निर्मल किया हुआ है मन जिसका ऐसा हो, तथा ज्ञानरूप मंत्रसे निकाल दिये हैं समस्त रागादिक विषम ग्रह अर्थात् पिशाच जिसने ऐसा हो, तथा समुद्रके समान अगाध हो, मेरुपर्वतके समान निश्चल हो अर्थात् जिसका अंग वा मन

किसीप्रकार भी चलायमान न हो, तथा जिसके वेगोंका संकल्प शान्त होगया हो, समस्त भ्रम जिसके नष्ट होगये हों, ऐसा निश्चल हो कि समीपस्थ प्राज्ञ पुरुष भी ऐसा भ्रम करने लगजाँय कि यह क्या पाषाणकी मूर्त्ति है वा चित्रामकी मूर्त्ति है। इसप्रकार आसन जीतनेका विधान कहा ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

दोहा

आसस दृढतैं ध्यानमें, मन लागै इकतान।
तातैं आसनयोगकूं, मुनि कर धारै ध्यान ॥ २८ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आसनजयो नाम अष्टाविंशं प्रकरणं समाप्तं ॥ २८ ॥

अथैकोनत्रिंशं प्रकरणम्।

अब प्राणायामका वर्णन करते हैं—

सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते।
मुनिभिर्ध्यानसिद्ध्यर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः ॥ १ ॥

अर्थ—भलेप्रकार निर्णयरूप किया है सत्यार्थसिद्धान्त जिन्होने ऐसे मुनियोंने ध्यानकी सिद्धिके तथा मनकी एकाग्रताके लिये प्राणायाम प्रशंसनीय कहा है ॥ **भावार्थ**—अन्यमती भी प्राणायामका साधन करते हैं, किन्तु उनका प्रयोजन तथा स्वरूप यथार्थ नहीं है. जैनाचार्योंने सर्वज्ञभाषित आगम तथा स्याद्वादन्यायरूप सिद्धान्तसे निर्णय करके सिद्धि और मनकी एकाग्रतासे आत्मस्वरूपमें ठहराना इन दोनों प्रयोजनोंके लिये प्राणायामको सराहा है।—इससे दृष्ट प्रयोजनकी सिद्धि होती है उसका वर्णन गौण किया है, और ध्यानकी सिद्धिसे आत्मस्वरूपमें लीन होनेसे मुक्ति होती है ऐसा प्रयोजन प्रधान है ॥ १ ॥

अतः साक्षात्स विज्ञेयः पूर्वमेव मनीषिभिः।
मनागप्यन्यथा शक्यो न कर्तुं चित्तनिर्जयः ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि ध्यानकी सिद्धिके लिये मनको एकाग्र करनेके लिये पूर्वाचार्योंने प्राणायामकी प्रशंसा कीया है, इसकारण ध्यान करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंको प्रथमसे ही प्राणायामको विशेषप्रकार से जानना चाहिये; क्योंकि इसके जाने विना अन्यप्रकार किंचिन्मात्र भी मनके जीतनेको समर्थ नहीं होसक्ते। **भावार्थ**—यह प्राणायाम पवनका साधना है. सो शरीरमें जो पवन होता है वह मुखनासिकादिके द्वारा

श्वासोच्छास द्वारा प्रगट जाना जाता है। इस पवनके कारण मन भी चंचल रहता है. जब पवन वशीभूत होजाता है तब मन भी वशमें होजाता है ॥ २ ॥

अब इस पवनका स्तंभन कैसे होता है सोही कहते हैं ।

त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः ।
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—पूर्वाचार्योंने इस पवनके स्तंभनस्वरूप प्राणायामको लक्षणभेदसे तीन प्रकारका कहा है, एकका नाम पूरक है दूसरेका कुम्भक और तीसरेका रेचक है ॥ ३ ॥

अब इन तीनोंका स्वरूप कहते हैं,—

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते ।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥ ४ ॥

अर्थ—द्वादशान्त कहिये तालुवेके छिद्रसे अथवा द्वादश अंगुलपर्यंतसे खैंचकर पवनको अपनी इच्छानुसार अपने शरीरमें पूरण करै उसको वायुविज्ञानी पंडितोंने पूरक पवन कहा है ॥ ४ ॥

निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपङ्कजे ।
कुम्भवन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः परिकीर्त्तितः ॥ ५ ॥

अर्थ—तथा उस पूरक पवनको स्थिर करके नाभिकमलमें जैसे घड़ेको भरै तैसें रोकै (थांभै) नाभिसे अन्य जगह चलने न दे सो कुंभक कहा है ॥ ५ ॥

निःसार्यतेऽतियत्नेन यत्कोष्ठाच्छ्वसनं शनैः ।
स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे ॥ ६ ॥

अर्थ—जो अपने कोष्ठसे पवनको अतियत्नसे मंदमंद बाहर निकालै उसको पवनाभ्यासके शास्त्रोंमें विद्वानोंने रेचक ऐसा नाम कहा है ॥ ६ ॥

नाभिस्कन्धाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम् ।
द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेयं परमेश्वरम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो नाभिस्कन्धसे निकाला हुआ तथा हृदयकमलमेंसे होकर द्वादशान्त (तालुरंध्र) में विश्रान्त हुआ (ठहरा हुआ) पवन है उसे परमेश्वर जानो क्योंकि यह पवनका स्वामी है ॥ ७ ॥

तस्य चारं गतिं बुध्वा संस्थां चैवात्मनः सदा ।
चिन्तयेत्कालमायुश्च शुभाशुभफलोदयम् ॥ ८ ॥

अर्थ—पवन ईश्वर जो तालुरन्ध्रमें विश्रान्त हुआ उसका चार कहिये चलना अर्थात् भ्रमण और गति कहिये गमन तथा आत्माकी (जीवकी) संस्था अर्थात् देहमें सदा रहना

इनको जानकर और कालका प्रमाण आयुर्बल शुभ तथा अशुभ फलके उदयका विचार करै ॥ ८ ॥

अत्राभ्यॉस प्रयत्नेन भास्ततन्द्रः प्रतिक्षणम् ।
कुर्वन् योगी विजानाति यन्त्रनाथस्य चेष्टितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—इस पवनका अभ्यास बड़े यत्नसे निष्प्रमादी होकर निरंतर करता हुआ योगी जीवकी समस्त चेष्टाओंको जानता है ॥ ९ ॥

उक्तं च श्लोकद्वयम् ।

समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः ।
नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः ॥ १ ॥
यत्कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुरातनैः ।
बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥ २ ॥

अर्थ—जिससमय पवनको तालुरन्ध्रसे ले खैंचकर प्राणको धारण करै, शरीरमें पूर्णतया थांभै सो तो पूरक है, और नाभिके मध्य स्थिर करके रोकै सो कुंभक है, तथा जो पवनके कोठेसे बड़े यत्नसे बाहर प्रक्षेपण करे सो रेचक है, इस प्रकार नासिकाब्रह्मके जाननेवाले पुरातन पुरुषोंने कहा है ॥ १–२ ॥

शनैःशनैर्मनोऽजस्रं वितन्द्रः सह वायुना ।
प्रवेश्य हृदयाम्भोजकर्णिकायां नियन्त्रयेत् ॥ १० ॥

अर्थ—इस पवनका अभ्यास करनेवाला योगी निष्प्रमादी होकर बड़े यत्नसे अपने मनको वायुके साथ मंदमंद निरन्तर हृदयकमलकी कर्णिकामें प्रवेश कराकर वहां ही नियन्त्रण करै (थांभै), उस जगहसे चलने न दे ॥ १० ॥

विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्त्तते ।
अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥ ११ ॥

अर्थ—उस हृदयकमलकी कर्णिकामें पवनके साथ चित्तको स्थिर करनेपर मनमें विकल्प नहिं उठते और विषयोंकी आशा भी नष्ट होजाती है तथा अंन्तरंगमें विशेष ज्ञानका प्रकाश होता है. इस पवनके साधनसे मनको वश करना ही फल है ॥ ११ ॥

एवं भावयतः स्वान्ते यात्यविद्या क्षयं क्षणात् ।
विमदीस्युस्तथाक्षाणि कषायरिपुभिः समम् ॥ १२ ॥

अर्थ—इसप्रकार मनको वश करके भावना करते हुए पुरुषके अविद्या तो क्षणमात्रमें क्षय होजाती है, और इन्द्रियें मदरहित होजाती हैं, उनके साथ ही साथ कषाय भी क्षीण होजाते हैं । यही इस पवनको साधन करके मनको वश करनेका प्रयोजन है ॥ १२ ॥

कुत्र श्वसनविश्रामः का नाड्यः संक्रमः कथम् ।
का मण्डलगतिः केयं प्रवृत्तिरिति बुद्ध्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—तथा इस पावनके साधनसे ऐसा जाना जाता है कि इस श्वासरूप पावनका कहाँ तौ विश्राम है, और नाड़ियें कितनी और कौन २ हैं, उन नाडियोंकी पलटना किस प्रकार होती है तथा इसकी मंडलगति कौनसी है, इसकी प्रवृत्ति कहां है ॥ १३ ॥

स्थिरी भवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम् ।
जगद्वृत्तं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ॥ १४ ॥

अर्थ—जो प्राणायामके अवलंबन करनेवाले पुरुष हैं उनके चित्त स्थिर होजाते हैं, चित्तके स्थिर होनेसे ज्ञान विशेष होता है, उसके द्वारा जगतके समस्त वृत्तांत (प्रवर्त्तन) प्रत्यक्षके समान जाने जाते हैं ॥ १४ ॥

यः प्राणायाममध्यास्ते स मंडलचतुष्टयम् ।
निश्चिनोतु यतः साध्वी ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥ १५ ॥

अर्थ—जो योगी प्राणायामको स्वाधीनतामें करके रहता है अर्थात् इसका साधन करता है सो मुनि पवनमंडलके चतुष्टयको निश्चय करो, जिससे समीचीन ध्यानकी सिद्धि होती है ॥ १५ ॥

उस मंडलचतुष्टयका स्वरूप कहते हैं,--

घोणाविवरमध्यास्य स्थितं पुरचतुष्टयम् ।
पृथक् पवनसंवीतं लक्ष्यलक्षणभेदतः ॥ १६ ॥

अर्थ—नासिकाके छिद्रको आश्रित होकर चतुष्टय जो पृथ्वीमंडल, अप्मंडल, तेजोमण्डल और वायुमण्डल यह चतुष्टय है सो लक्ष्यलक्षणके भेदसे पवन भिन्न २ वेष्टित है, इन मंडलोंके पवनकी रीति लक्षणभेदसे भिन्न २ है ॥ १६ ॥

अचिन्त्यमतिदुर्लक्ष्यं तन्मण्डलचतुष्टयम् ।
स्वसंवेद्यं प्रजायेत महाभ्यासात्कथंचन ॥ १७ ॥

अर्थ--यह मंडलका चतुष्टय है सो अचिंत्य है अर्थात् चिंतवनमें नहिं आता तथा दुर्लक्ष्य है अर्थात् देखनेमें नहिं आता सो इस प्राणायामके बड़े महान् अभ्यासंसे बड़े कष्टसे कोई प्रकार स्वसंवेद्य (अपने अनुभवगोचर) होता है ॥ १७ ॥

तत्रादौ पार्थिवं ज्ञेयं वारुणं तदनन्तरम् ।
मरुत्पुरं ततः स्फीतं पर्यन्ते वह्निमण्डलम् ॥ १८ ॥

अर्थ—उन चारोंमेंसे प्रथम तौ पार्थिवको (पृथिवीमंडलको) जानना तत्पश्चात् वरुणमंडल (अप्मंडल) जानना तत्पश्चात् पवनमंडल जानना और अंतमें बढ़े हुए वह्निमंडलको जानना; इस प्रकार चारोंके नाम और अनुक्रम है ॥ १८ ॥

अब इनका स्वरूप कहते हैं,—

क्षितिबीजसमाक्रान्तं द्रुतहेमसमप्रभम् ।
स्याद्वज्रलाञ्छनोपेतं चतुरस्रं धरापुरम् ॥ १९ ॥

अर्थ—क्षितिबीज जो पृथ्वी बीजाक्षरसहित गालेहुए सुवर्णकी समान पीतरक्त प्रभा जिसकी और वज्रके चिन्हसंयुक्त चौकोर धरापुर है अर्थात् पृथिवीमंडल है ॥ १९ ॥

अर्द्धचन्द्रसमाकारं वारुणाक्षरलक्षितम् ।
स्फुरत्सुधाम्बुसंसिक्तं[1] चन्द्राभं वारुणं पुरम् ॥ २० ॥

अर्थ—आकार तो आधे चंद्रमाके समान, वारुण बीजाक्षरसे चिन्हित और स्फुरायमान अमृतस्वरूप जलसे सींचा हुआ ऐसा चंद्रमासरीखा शुक्लवर्ण वरुणपुर है । यह अप्‌मंडलका स्वरूप कहा ॥ २० ॥

सुवृत्तं बिंदुसंकीर्णं नीलाञ्जनघनप्रभम् ।
चञ्चलं पवनोपेतं दुर्लक्ष्यं वायुमण्डलम् ॥ २१ ॥

अर्थ—सुवृत्त कहिये गोलाकार तथा बिंदुओंसहित नीलाञ्जन घनके समान है वर्ण जिसका, तथा चंचल (वहताहुआ) पवन बीजाक्षरसहित दुर्लक्ष्य (देखनेमें न आवे) ऐसा वायुमंडल है । यह पवनमंडलका स्वरूप कहा ॥ २१ ॥

स्फुलिङ्गपिङ्गलं भीममूर्ध्वज्वालाशतार्चितम् ।
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्बीजं वह्निमण्डलम् ॥ २२ ॥

अर्थ—अग्निके फुलिंगा समान पिंगलवर्ण भीम रौद्ररूप ऊर्ध्वगमनस्वरूप ज्वालाके सैंकड़ोंसहित त्रिकोणाकार स्वस्तिक (साथिये) सहित, वन्हिबीजसे मंडित ऐसा वन्हिमंडल है । यह अग्निमंडलका स्वरूप कहा गया ॥ २२ ॥

ततस्तेषु क्रमाद्वायुः संचरत्यविलम्बितम् ।
स विज्ञेयो यथाकालं प्रणिधानपरैर्नरैः ॥ २३ ॥

अर्थ—उपर्युक्त चार मंडलोंका स्वरूप निश्चय किया उसके अनन्तर लगता ही यह जानो कि उन मंडलोंमें अनुक्रमसे निरन्तर पवन संचरै है उसे यथाकाल अर्थात् जैसा काल है उसही कालमें प्रणिधान कहिये चिंतवनमें तत्पर ऐसे पुरुषोंको जानना चाहिये ॥ २३ ॥

अब इनमें पवन संचरता है उसके जाननेके लिये चिन्ह कहते हैं,—

घोणाविवरमापूर्य किञ्चिदुष्णं पुरन्दरः ।
वहत्यष्टाङ्गुलः स्वस्थः पीतवर्णः शनैः शनैः ॥ २४ ॥

---

१ 'क्षरत्सुधाम्बुसंसिक्तं' इत्यपि पाठः

अर्थ—नासिकाके छिद्रको भले प्रकार भरके कुछ उष्णता लिये आठ अंगुल बाहर निकलता, स्वस्थ, चपलतारहित, मंदमंद वहता, ऐसा पुरंदर कहिये इन्द्र जिसका स्वामी है ऐसे पृथिवीमंडलके पवनको (इन चिह्नोंसे) जानना ॥ २४ ॥

त्वरितः शीतलोऽधस्तात्सितरुक् द्वादशाङ्गुलः ।
वरुणः पवनस्तज्ज्ञैर्वहनेनावसीयते ॥ २५ ॥

अर्थ—जो त्वरित कहिये शीघ्र वहनेवाला हो, कुछ निचाई लिये वहता हो, शीतल हो, उज्ज्वल (शुक्ल) दीप्तिरूप हो, तथा बारह अंगुल बाहर आवै ऐसे पवनको पवनके जाननेवालोंने वरुण पवन निश्चय किया है । **भावार्थ**—इन चिह्नोंसे वरुण पवनको निश्चय करना ॥२५॥

तिर्यग्वहत्यविश्रान्तः पवनाख्यः षडङ्गुलः ।
पवनः कृष्णवर्णोऽसौ उष्णः शीतश्च लक्ष्यते ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पवन सब तरफ तिर्यक् वहता हो, विश्राम न लेकर निरन्तर वहताही रहै तथा ६ अंगुल बाहर आवै, कृष्णवर्ण हो, उष्ण हो तथा शीत भी हो ऐसा पवनमंडलसंबंधी पवन पहचाना जाता है ॥ २६ ॥

बालर्कसन्निभश्चोर्ध्वं सावर्त्तश्चतुरङ्गुलः ।
अत्युष्णो ज्वलनाभिख्यः पवन कीर्त्तितो बुधैः ॥ २७ ॥

अर्थ—जो ऊगते हुए सूर्यकी समान रक्तवर्ण हो तथा ऊंचा चलता हो, आवर्त्तों (चक्रों) सहित फिरता हुआ चलै, चार अंगुल बाहर आवै और अति उष्ण हो ऐसा अग्निमण्डलका पवन पंडितोंने कहा है ॥ २७ ॥

अब इन चार प्रकारके पवनोंको कार्यविशेषमें शुभाशुभ भेद करके दिखाते हैं—

आर्या.

स्तम्भादिके महेन्द्रो वरुणः शस्तेषु सर्वकार्येषु ।
चलमलिनेषु च वायुर्वश्यादौ वह्निरुद्देश्यः ॥ २८ ॥

अर्थ—पुरुषको स्तंभनादि कार्य करने हों तो महेन्द्र कहिये पृथिवीमंडलका पवन शुभ है, और वरुण कहिये अप्मण्डलका पवन समस्त प्रकारके उत्तम कार्योंमें शुभ है, और पवनमंडलका पवन चलकार्य तथा मलिन कार्योंमें श्रेष्ठ है, तथा वश्य आदिकार्योंमें वह्निमण्डलका पवन उत्तम कहा है ॥ २८ ॥

छत्रगजतुरगचामररामाराज्यादिसकलकल्याणम् ।
माहेन्द्रो वदति फलं मनोगतं सर्वकार्येषु ॥ २९ ॥

अर्थ—माहेन्द्रपवन छत्र गज तुरंग चामर स्त्री राज्यादिक समस्त कल्याणोंको कहता

है और समस्त कार्योंमें मनोगत भावको प्रकट कहता है । **भावार्थ**—मनमें विचारे हुए कार्योंकी सिद्धि कहता है ॥ २९ ॥

अभिमतफलनिकुरम्बं विद्यावीर्यादिभूतिसंकीर्णम्[1] ।
सुतयुवतिवस्तुसारं वरुणो योजयति जन्तूनाम् ॥ ३० ॥

अर्थ—वरुण पवन जीवोंके विद्यावीर्यादि विभूतिसहित तथा पुत्रस्त्रीआदिमें जो सारवस्तु मनोवांछित हों उन सबको जोड़ता है अर्थात् प्राप्त कराता है ॥ ३० ॥

भयशोकदुःखपीडा–विघ्नौघपरम्परां विनाशं च ।
व्याचष्टे देहभृतां दहनो दाहस्वभावोऽयम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह अग्निमंडलका पवन दाहस्वभावरूप है । यह पवन जीवोंके भय शोक दुःख पीड़ा तथा विघ्नसमूहकी परंपरा तथा विनाशादिक कार्योंको प्रगट कहता है ॥ ३१ ॥

सिद्धमपि याति विलयं सेवाकृष्यादिकं समस्तमपि चैव ।
मृत्युभयकलहवैरं पवने त्रासादिकं च स्यात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—तथा पवनमंडलके पवन वहनेपर सेवा कृषी आदिक समस्त कार्य सिद्ध हुये हों वे भी विलय हो जाते हैं (नष्ट होजाते ही हैं) तथा मृत्युभय कलह वैर तथा त्रासादिक होते हैं ॥ ३२ ॥

यह तो सामान्य कार्योंमें शुभाशुभ कहा । अब इनके प्रवेश और निःसरणकालके विषयमें कहते है,—

सर्वे प्रवेशकाले कथयन्ति मनोगतं फलं पुंसाम्[2] ।
अहितमतिदुःखनिचितं त एव निःसरणवेलायाम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—ये चारों ही पवन प्रवेशकालमें अर्थात् नासिकाके बाहरसे आकर उल्टा प्रवेश करते हैं तो पुरुषोंके मनोगत फलको कहते हैं अर्थात् मनमें विचारे सो सिद्ध होता है । परन्तु येही चारों पवन निकलनेके समय अतिशय दुःखसे भरे अहितको प्रकाश करते हैं ॥ ३३ ॥

सर्वेऽपि प्रविशन्तो रविशशिमार्गेण वायवः सततम् ।
विदधति परां सुखास्थां निर्गच्छन्तो विपर्यस्ताम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—ये चारों ही पवन सूर्य चंद्रमाके मार्गसे अर्थात् दाहिने बायें निरंतर प्रवेश करते हुये उत्कृष्ट सुखकी आस्थाको करते हैं और निकलते समय दुःखावस्थाको प्रगट करते हैं । **भावार्थ**—प्रवेश करते शुभ हैं निकलते हुये अशुभ हैं ॥ ३४ ॥

---

1 विभवसंकीर्णं इत्यपि पाठः । २ पुंसाम् इत्यपि पाठः

वामेन प्रविशन्तौ वरुणमहेन्द्रौ समस्तसिद्धिकरौ ।
इतरेण निःसरन्तौ हुतभुक्पवनौ विनाशाय ॥ ३५ ॥

अर्थ—तथा वरुण और माहेन्द्र पवन (पृथ्वीपवन) बांई तरफ प्रवेश करते हैं तो समस्तकार्योंके सिद्ध करनेवाले हैं तथा वह्निमण्डल और पवनमंडलके पवन दहिनी तरफ निकलतेहुये विनाशके अर्थ हैं ॥ ३५

अथ मण्डलेषु वायोः प्रवेशनिःसरणकालमवगम्य ।
उपदिशति भुवनवस्तुषु विचेष्टितं सर्वथा सर्वम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—अथवा चारों मंडलोंमें पवनके प्रवेश और निःसरणकालको निश्चय करके ध्यानी पुरुष जगत् भरमें जो पदार्थ हैं उन सबकी सर्व प्रकारकी चेष्टाओंका उपदेश करता है ॥ ३६ ॥

वामायां विचरन्तौ दहनसमीरौ तु मध्यमौ कथितौ ।
वरुणेन्द्राावितरस्यां तथाविधावेव निर्दिष्टौ ॥ ३७ ॥

अर्थ—अग्निमंडलका पवन और वायुमंडलका पवन वायीं तरफसे बहता हुआ मध्यम फल कहता है और वरुण तथा माहेन्द्र ये दोनों पवन दाहिनी तरफसे बहें तो मध्यम फल कहते हैं ॥ ३७ ॥

उदये वामा शस्ता सितपक्षे दक्षिणा पुनः कृष्णे ।
त्रीणि त्रीणि दिनानि तु शशिसूर्यस्योदयः श्लाघ्यः ॥ ३८ ॥

अर्थ—शुक्लपक्षमें सूर्योदयके समय नाडी बांई तरफ बहती हुई प्रशस्त है उत्तम है। कृष्णपक्षमें उदयकालमें दहनी तरफ बहती हुई नाडी श्रेष्ठ है। इसप्रकार तीन तीन दिन चन्द्रमा और सूर्यका उदय सराहा है। **भावार्थ**—शुक्लपक्षकी प्रतिपदा द्वितीया तृतीयाके दिन प्रातः कालही वामस्वर अच्छा है फिर तीन दिन दहिना फिर तीन दिन वांया इसी प्रकार पूर्णिमापर्यंत स्वरोंका तीन तीन दिन चलना शुभ है। तथा कृष्णपक्षमें प्रतिपदा द्वितीया तृतीयाके दिन दहिना स्वर फिर तीन दिन वांया फिर तीन दिन दहिना इसीप्रकार अमावस्या-पर्यन्त शुभ स्वर जानने. इनसे विरुद्ध स्वर चलने अशुभ हैं ॥ ३८ ॥

उदयश्चन्द्रेण हितः सूर्येणास्तं प्रशस्यते वायोः ।
रविणोदये तु शशिना शिवमस्तमनं सदा नृणाम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—तथा पवनका उदय चन्द्रमाके स्वरसे (वांयें स्वरसे) शुभ हैं और अस्त सूर्यस्वर अर्थात् दहिने स्वरसे प्रशस्त कहा है और सूर्यसे (दहिनेसे) उदय हो तो शशि कहिये वांयें स्वरसे अस्त होना जीवोंको सदा कल्याणकारी (शुभ) है ॥ ३९ ॥

सितपक्षे रव्युदये प्रतिपद्दिवसे समीक्ष्यते सम्यक् ।
शस्तेतरप्रचारौ वायोर्यत्नेन विज्ञानी ॥ ४० ॥

अर्थ—पवनका प्रचार (चलना) शुक्लपक्षमें सूर्यके उदयमें प्रतिपदाके दिन विज्ञानी सम्यक् प्रकार यत्नसे शुभ अशुभ दोनोंको विचारै—देखै ॥ ४० ॥

किस प्रकार विचारै सो कहते हैं,—

व्यस्तः प्रथमे दिवसे चित्तोद्वेगाय जायते पवनः।
धनहानिकृद्द्वितीये प्रवासदः स्यात्तृतीयेऽह्नि ॥ ४१ ॥
इष्टार्थनाशविभ्रमस्वपदभ्रंशास्तथा महायुद्धम्।
दुःखं च पञ्च दिवसैः क्रमशः संजायते त्वपरैः ॥ ४२ ॥

अर्थ—पवन प्रथमदिवसमें व्यस्त कहिये विपरीत वहै तो चित्तको उद्वेग होता है और दूसरे दिन विपरीत वहे तो धनकी हानिको सूचन करता है, तीसरे दिन विपरीत चलै तो परदेश गमन करावै ॥ ४१ ॥ और पांच दिनतक विपरीत चलै तो क्रमसे इष्ट प्रयोजनका नाश, विभ्रम, अपने पदसे भ्रष्ट होना, महायुद्ध और दुःख ये पांच फल होते हैं. तथा इसी प्रकार अगले अगले पांच पांच दिनका फल विपरीत अर्थात् अशुभ जानना ॥ ४२ ॥

वामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छरीरिणाम्।
संहर्त्री दक्षिणा नाडी समस्तानिष्टसूचिका[1] ॥ ४३ ॥

अर्थ—जीवोंके वांई नाडी (चन्द्रस्वर वा वायां स्वर) अमृतमयी सदा हितकारी जाननी और दाहिनी नाडी (सूर्यनाडी) समस्त अहितकी कहनेवाली संसारस्वरूप जाननी ॥ ४३ ॥

आर्या।

अमृतमिव सर्वगात्रं प्रीणयति शरीरिणां ध्रुव वामा।
क्षपयति तदेव शश्वद्वहमाना दक्षिणा नाडी ॥ ४४ ॥

अर्थ—वाँई नाडी निरन्तर वहती हुई जीवोंके समस्त शरीरको अमृतकी समान तृप्त करती है और दाहिनी नाडी निरन्तर वहती हुई शरीरको क्षीण करती है ॥ ४४ ॥

संग्रामसुरतभोजनविरुद्धकार्येषु दक्षिणेष्टा स्यात्।
अभ्युदयहृदयवाञ्छितसमस्तशस्तेषु वामैव ॥ ४५ ॥

अर्थ—संग्राम कामक्रीडा भोजन आदि विरुद्धकार्योंमें तो दहिनी नाडी इष्ट है (शुभ है) और अभ्युदय और मनोवाञ्छित समस्त शुभकार्योंमें वांई नाडी शुभ है ॥ ४५ ॥

नेष्टघटने समर्था राहुग्रहकालचन्द्रसूर्याद्याः।
क्षितिवरुणौ त्वमृतगतौ समस्तकल्याणदौ ज्ञेयौ ॥ ४६ ॥

अर्थ—पृथिवीमंडल और वरुणमंडल ये दोनों पवन अमृतगति कहिये चन्द्र-

---

1 निःशेषानिष्टसूचिका इत्यपि पाठः।

स्वरमें (बांई नाडीमें) बहै तौ ग्रहकाल चन्द्रमासूर्य आदिक हैं वे अनिष्ट करनेमें समर्थ नहिं होते। ये समस्तकल्याणकी देनेवाली दोनों नाडी होती हैं ॥ ४६ ॥

पूर्णे पूर्वस्य जयो रिक्ते त्वितरस्य कथ्यते तज्ज्ञैः।
उभयोर्युद्धनिमित्ते दूतेनाशंसिते प्रश्ने ॥ ४७ ॥

अर्थ—कोई दूत आकर युद्धके निमित्त भरे सुरमें प्रश्न करै तौ पहिले पूछनेवाले की जीत हो, और रिक्तस्वरमें (खाली स्वरमें) पूछे तो दूसरेकी जय हो, और दोनों चलें तो दोनोंकी जय हो ॥ ४७ ॥

ज्ञातुर्नाम प्रथमं पश्चाद्यद्यातुरस्य गृह्णाति।
दूतस्तदेष्टसिद्धिस्तद्व्यस्ते स्याद्विपर्यस्ता ॥ ४८ ॥

अर्थ—कोई प्रश्न करता दूत यदि प्रथम ही ज्ञाताका नाम लेकर तत्पश्चात् आतुरका नाम ले तो इष्टकी सिद्धि होती है और इससे विपरीत रोगीका नाम पहिले और ज्ञाताका नाम पीछे ले तौ इष्टकी सिद्धि नहीं हैं (विपर्यस्त है) ॥ ४८ ॥

जयति समाक्षरनामा वामावाहस्थितेन दूतेन।
विषमाक्षरस्तु दक्षिणदिक्संस्थेनास्त्रसंपाते ॥ ४९ ॥

अर्थ—दूत आकर जिसके लिये पूछे उसके नामके अक्षर सम हों (दो चार छह इत्यादि हों) और बांई नाडी बहती हुई की तरफ खडा होकर पूछे तो वह शस्त्रपातके होते हुए भी जीते और जिसके नामके विषमाक्षर हों अर्थात् एक तीन पांच इत्यादि हों और दाहिनी नाडी वहती हुईमें खडा रहकर पूछे तौ उसकी भी जीत हो इस प्रकार जय पराजयके प्रश्नका उत्तर कहै ॥ ४९ ॥

भूतादिगृहीतानां रोगार्त्तानां च सर्पदष्टानां।
पूर्वोक्त एव च विधिर्बोद्धव्यो मान्त्रिकावश्यम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जो कोई मंत्रवादीको दूत आकर पूछै कि अमुक भूतादिकसे गृहीत है तथा अमुक रोगसे पीडित है अथवा सर्पने काटा है तो पूर्वोक्त विधि ही जानना. यह अवश्य है कि समअक्षरवालेका वांई नाडीके चलते हुए पूछना शुभ है और विषमाक्षरवालेका दहनी वहती हुई नाडीमें पूछना शुभ है ॥ ५० ॥

पूर्णे वरुणे प्रविशति यदि वामा जायते क्वचित्पुण्यैः।
सिद्ध्यत्यचिन्तितान्यपि कार्याण्यारभ्यमाणानि ॥ ५१ ॥

अर्थ—वरुणमंडलका पवन पूर्ण होकर प्रवेश होते हुए यदि किसी पुण्योदयसे वांई नाडी चलै तौ अनचिन्ते कार्यके आरंभ करनेमें भी सिद्धि होती है अर्थात् शुभ है ॥ ५१ ॥

जयजीवितलाभाद्या येऽर्थाः पूर्वं तु सूचिताः शास्त्रे।
स्युस्ते सर्वेऽप्यफला मृत्युस्थे मरुति लोकानाम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जो पदार्थ पहिले जय जीवित लाभादिक शास्त्रमें सूचित किये अर्थात् कहे हैं वे यदि मृत्युके समय (श्वास नष्ट हुआ तथा टूटता हुआ आदि) हों तौ सब ही निष्फल हैं अर्थात् इससे मरण ही निश्चय करना ऐसा तात्पर्य है ॥ ५२ ॥

अब जीवन मरणके निश्चय करनेका वर्णन करते हैं,—

अनिलमवबुध्य सम्यक्पुष्पं हस्तात्प्रपातयेज्ज्ञानी ।
मृतजीवितविज्ञाने ततः स्वयं निश्चयं कुरुते ॥ ५३ ॥

अर्थ—पवनको सम्यक् प्रकारसे निश्चय करके ज्ञानी पुरुष अपने हाथसे पुष्प डाले उससे मृतजीवितका विज्ञान स्वयं निश्चय करता है ॥ ५३ ॥

वरुणे त्वरितो लाभश्चिरेण भौमे तदर्थिने वाच्यम् ।
तुच्छतरः पवनाख्ये सिद्धोऽपि विनश्यते वह्नौ ॥ ५४ ॥

अर्थ—वरुण पवनके होनेपर त्वरित (शीघ्र) ही लाभ कहै, और पृथिवी पवन हो तो बहुतकालसे लाभ कहै—और पवनमंडलका पवन हो तो थोड़ा लाभ कहै और अग्निका पवन हो तौ सिद्ध हुआ लाभ भी नाशको प्राप्त होता है ऐसे कहना ॥ ५४ ॥

आयाति गतो वरुणे भौमे तत्रैव तिष्ठति सुखेन ।
यात्यन्यत्र श्वसने मृत इति वह्नौ समादेश्यम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—कोई परदेश गयेहुएका प्रश्न करै तो उसको इस प्रकार कहना—प्रश्न करनेवाला यदि वरुणपवनमें प्रश्न करै तो गया हुआ मनुष्य आता है ऐसा कहना और पृथिवी तत्त्वमें प्रश्न करै तो वहां ही रहता है और पवनतत्त्वमें पूछै तो जहां रहता था वहांसे कहीं अन्यत्र गया है और वह्नितत्त्वमें कहै कि मरणको प्राप्त हुआ ॥ ५५ ॥

घोरतरः संग्रामो हुताशने मरुति भङ्ग एव स्यात् ।
गगने सैन्यविनाशं मृत्युर्वा युद्धपृच्छायाम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—युद्धके प्रश्नमें अग्नितत्त्वमें तौ तीव्रसंग्राम तथा वायुतत्त्वमें भंग होना कहै और आकाशतत्त्वमें सेनाका विनाश अथवा मृत्यु कहै ॥ ५६ ॥

ऐन्द्रे विजयः समरे ततोऽधिको वाञ्छितश्च वरुणे स्यात् ।
सन्धिर्वा रिपुभङ्गात्स्वसिद्धिसंसूचनोपेतः ॥ ५७ ॥

अर्थ—तथा पृथिवीतत्त्वमें संग्राममें विजय कहै और वरुण पवनमें वांछितसे भी अधिक जय कहै अथवा सन्धि होना कहै तथा शत्रुके भंग होनेसे अपनी सिद्धिकी सूचना सहित कहै ॥ ५७ ॥

---

(१) इस ग्रंथमें पृथिवी अप तेज और वायु ये ४ ही तत्त्व माने हैं; आकाश तत्त्वमाना ही नहीं तो फिर आकाशतत्त्वका फल क्यों कहा सो हमारी समझमें नहिं आया—(अनुवादक)।

अब मेह वर्षनेके प्रश्नका उत्तर कहते हैं,—

वर्षति भौमे मघवा वरुणेऽभिमतो मतस्तथाजस्रम् ।
दुर्दिनघनाश्च पवने वन्हौ वृष्टिः कियन्मात्रा ॥ ५८ ॥

अर्थ—पृथिवी तत्त्वमें तो मेघ वर्षना कहै अप्‌तत्त्वमें मनोवांछित मेह निरन्तर बरसैगा ऐसा कहै। पवनतत्त्वमें दुर्दिन होगा बादल होगा, ऐसा कहै और वह्नितत्त्वमें किंचिन्मात्र वृष्टि होना कहै ॥ ९८ ॥

सस्यानां निष्पत्तिः स्याद्वरुणे पार्थिवे च सुश्लाघ्या ।
स्वल्पापि न चाग्नेये वाय्वाकाशे तु मध्यस्था ॥ ५९ ॥

अर्थ—कोई मनुष्य धान्य निष्पत्तिका (उत्पन्न होने न होनेका) प्रश्न करै तो वरुण पवनमें और पृथिवी पवनमें तो धान्यकी उत्पत्ति अच्छी होगी ऐसा कहै और अग्निपवनमें स्वल्प भी न हो ऐसा कहै और वायुतत्त्वमें अथवा शून्यमें (आकाशतत्त्वमें) मध्यस्थ हो, ऐसा कहै ॥ ५९ ॥

नृपतिगुरुबन्धुवृद्धा अपरेऽप्यभिलषितसिद्धये लोकाः ।
पूर्णाङ्गे कर्त्तव्या विदुषा वीतप्रपञ्चेन ॥ ६० ॥

अर्थ—यहां वशीकरण प्रयोग है—सो राजा गुरु बन्धु वृद्धपुरुष तथा अन्य लोग भी अपने वांछितके लिये वश करने हों तो पूर्णाङ्ग कहिये भरे स्वरमें प्रपंचरहित पंडितपुरुषोंको चाहिये कि वशीकरणप्रयोग करै। **भावार्थ**—जिस समय भरा स्वर चलता हो उस समय उनसे वार्त्तालाप करनेसे वे अपने अनुकूल प्रवर्त्तते हैं ॥ ६० ॥

शयनासनेषु दक्षैः पूर्णाङ्गनिवेशितासु योषासु ।
ह्रियते चेतस्त्वरितं नातोऽन्यद्वश्यविज्ञानम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—प्रवीण पुरुषोंके द्वारा भरे स्वरमें निवेशित की हुई स्त्रियोंके चित्त त्वरित ही हरे जाते हैं इससे अन्य वश करनेका कोई भी विज्ञान उत्तम नहीं है ॥ ६१ ॥

अरिऋणिकचौरदुष्टा अपरेऽप्युपसर्गविग्रहाद्याश्च ।
रिक्ताङ्गे कर्त्तव्या जयलाभसुखार्थिभिः पुरुषैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—तथा शत्रु, ऋणवाला चौर दुष्ट पुरुष तथा अन्य भी ऐसे लोक वश करने तथा उपसर्ग युद्ध इत्यादिक कार्य जीतलाभसुखके अर्थियोंको रीते स्वरमें करने चाहिये ॥ ६२ ॥

रिपुशस्त्रसंप्रहारे रक्षति यः पूर्णगात्रभूभागम् ।
बलिभिरपि वैरिवर्गैर्न भेद्यते तस्य सामर्थ्यम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—शत्रुके शस्त्रप्रहार होतेसमय अपना जो स्वर भरा हो उस स्वरकी तरफ वैरी रहै तो उस पुरुषकी सामर्थ्य बलवान् शत्रुसे भी भेदी नहिं जा सक्ती। **भावार्थ**—वैरीके साथमें लड़ाई होते वैरीकी तरफ अपना भरा स्वर हो वही रखनेसे अपनी जीत होती है ॥ ६३ ॥

अब स्त्रीके गर्भसंबंधी प्रश्नके उत्तर देनेका वर्णन है,—

आर्या।

वरुणमहेन्द्रौ शस्तौ प्रश्ने गर्भस्य पुत्रदौ ज्ञेयौ।
इतरौ स्त्रीजन्मकरौ शून्यं गर्भस्य नाशाय ॥ ६४ ॥

अर्थ—वरुण और महेन्द्र इन दोनों पवनोंमें प्रश्न हो तो पुत्र जन्मैगा और अग्नि तथा वायुतत्त्वमें प्रश्न हो तो कन्या होगी—और रीते स्वरमें प्रश्न हो तो गर्भ नष्ट हो जायगा ऐसा कहै ॥ ६४ ॥

श्लोक।

नासाप्रवाहदिग्भागे गर्भार्थं यस्तु पृच्छति।
पुरुषः पुरुषादेशं शून्यभागे तथाङ्गना ॥ ६५ ॥

अर्थ—जिस तरफका स्वर चलता हो उसी तरफ होकर प्रश्न करै और वह प्रश्न करनेवाला पुरुष हो तो पुत्र होना कहै और शून्य भाग अर्थात् रीते स्वरकी तरफ होकर प्रश्न करै तो पुत्री होना कहै ॥ ६५ ॥

विज्ञेयः सम्मुखे षण्ढः सुषुम्नायामुभौ शिशू।
गर्भहानिस्तु संक्रान्तौ समे क्षेमं विनिर्दिशेत् ॥ ६६ ॥

अर्थ—यदि सन्मुख होकर प्रश्न करै तो नपुंसक सन्तान होगी ऐसा कहै तथा दोनों नासिका पूर्ण भरी हुईमें पूछै तो दो बालक होना कहै. पवनके संक्रमके (पलटनेके) समय पूछै तो गर्भकी हानि हो और दोनों तरफ पवन सम वहती हुईमें पूछै तो क्षेम कुशल कहै ॥ ६६ ॥

आर्या।

ज्ञायेत यदि न सम्यग्मरुत्तदा बिन्दुभिः स निश्चेयः।
सितपीतारुणकृष्णैर्वरुणावनिपवनदहनोत्थैः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जो कदाचित् पवन भलेप्रकार जाननेमें नहिं आवे तौ फिर श्वेत पीत रक्त कृष्ण बिंदुओंसे निश्चय करना। वे बिंदु वरुणसे उत्पन्न हुए तो सफेद होते हैं. पृथिवीके उत्पन्न हुये पीत (पीले) होते हैं तथा पवनसे रक्त और अग्निसे काले उत्पन्न होते हैं ॥ ६७ ॥

आगे बिंदुदेखनेका विधान कहते हैं,—

कर्णाक्षिनासिकापुटमङ्गुष्ठप्रथममध्यमाङ्गुलिभिः ।
द्वाभ्यां च पिधाय मुखं करणेन हि दृश्यते बिन्दुः ॥ ६८ ॥

अर्थ—कान नेत्र नासिक इनको क्रमसे दोनों अँगूठे दोनों प्रथम अंगुली तथा दोनों मध्यमा अंगुलियोंसे बंद करकें ढक करके मुखको भी शेष दोनों अंगुलियोंसे बंद करले तत्पश्चात् मनसे देखनेपर चारों प्रकारकी पवनोंके बिंदुओंमेंसे जिस प्रकारका बिंदु दीखै वही पवन जानना ॥ ६८ ॥

श्लोकः ।

दक्षिणामथवा वामां यो निषेद्धुं समीप्सति ।
तदङ्गं पीडयेदन्यां नासानाडीं समाश्रयेत् ॥ ६९ ॥

अर्थ—दहनी अथवा बांई नाडीका निषेध करना (बदलना) चाहै तो उस नाडीके अंगको पीडै तथा दाबै तो दूसरी नाडीका आश्रय करै अर्थात् दहनीसे बांई हो जाय और बांईसे दहनी होजाय ॥ ६९ ॥

आर्या ।

अग्रे वामविभागे चन्द्रक्षेत्रं वदन्ति तत्त्वविदः ।
पृष्ठौ च दक्षिणाङ्गे रवेस्तदेवाहुराचार्याः ॥ ७० ॥

अर्थ—अग्र कहिये सन्मुख और बांई तरफका भाग तो चन्द्रमाका क्षेत्र है और पिछला और दहिना भाग सूर्यका क्षेत्र है इस प्रकार तत्त्वके जाननेवाले आचार्यगण कहते हैं ॥ ७० ॥

अवनिवनदहनमंडलविचलनशीलस्य तावदनिलस्य ।
गति ऋजुरेव मरुत्पुरविहारिणः सा तिरश्चीना ॥ ७१ ॥

अर्थ—पृथ्वीजल अग्निमंडलमें विहार करनेवाली पवनकी गति तौ सरल है और पवनमंडलमें विहार करनेवाली गति तिरछी (वक्र) है ॥ ७१ ॥

पवनप्रवेशकाले जीव इति प्रोच्यते महामतिभिः ।
निष्क्रमणे निर्जीवः फलमपि च तयोस्तथा ज्ञेयम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—किसी छिपी वस्तुके विषयमें प्रश्न करै तो पवनके प्रवेशकालमें तो जीव है ऐसा कहना चाहिये और पवनके निकलते हुए कालमें प्रश्न करै तो निर्जीव है ऐसा बड़े बुद्धिमान् पुरुषोंने कहा है तथा इनका फल भी वैसा ही कहा जाता है ॥ ७२ ॥

जीवे जीवति विश्वं मृते मृतं सूरिभिः समुद्दिष्टम् ।
सुखदुःखजयपराजयलाभालाभादिमार्गोऽयम् ॥ ७३ ॥

---

१ तथा भूतं इत्यपि पाठः ।

अर्थ—जो पवनके प्रवेशकालमें जीव कहा सो जीते हुये समस्त वस्तु भी जीवित कहना और पवनके निकलते हुए मृतक कहा हो तो समस्त वस्तु निर्जीव ही कहना चाहिये। तथा सुख दुख जय पराजय लाभ अलाभ आदिका भी यही मार्ग है ॥ ७३ ॥

संचरति यदा वायुस्तत्त्वात्तत्त्वान्तरं तदा ज्ञेयम् ।
यत्त्यजति तद्धि रिक्तं तत्पूर्णं यत्र संक्रमति ॥ ७४ ॥

अर्थ—जिस समय पवन है सो एक तत्त्वसे अन्य तत्त्वमें संचरती हो उस समय जिसको छोडे सो तो रिक्तपवन कहा जाता है और जिसमें संचरै उसको पूर्ण कहा जाता है ॥ ७४ ॥

ग्रामपुरयुद्धजनपदगृहराजकुलप्रवेशनिःकाशे ।
पूर्णाङ्गपादमग्रे कृत्वा व्रजतोऽस्य सिद्धिः स्यात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—ग्राम पुर युद्ध देश घर राजमंदिरमें प्रवेश करना अथवा वहांसे निकलना तो उस समय जिस तरफका स्वर भरा हुआ हो उस तरफका पांव पहिले रखकर चलै तो उसके कार्यकी सिद्धि होती है ॥ ७५ ॥

उक्तं च आर्या ।

अमृते प्रवहति नूनं केचित्प्रवदन्ति सूरयोऽत्यर्थम् ।
जीवन्ति विषासक्ता म्रियते च तथान्यथाभूते ॥ १ ॥

अर्थ—अमृत जो चन्द्रमाकी नाडी बांई चलती हो तो निश्चयसे विषसे आसक्त पुरुष भी जीता है और अन्य प्रकार जो सूर्यकी नाडी दहनी चलै तो मरता है इस प्रकार पूर्वाचार्योंने अधिकतासे कहा है ॥ १ ॥

यस्मिन्नसति म्रियते जीवति सति भवति चेतनाकलितः ।
जीवस्तदेव तत्त्वं विरला जानन्ति तत्त्वविदः ॥ ७६ ॥

अर्थ—जीव है सो जिस पवनके न होते तो मरै और जिस पवनके होते हुए जीवै चेतना सहित रहै ऐसा तत्व कोई विरले ही तत्त्वज्ञानी जानते हैं ॥ ७६ ॥

सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि विद्म इति केचित् ।
वायुप्रपञ्चरचनामवेदिनां कथमयं मानः ॥ ७७ ॥

अर्थ—कोई पुरुष इस प्रकार कहते हैं कि—हम सुख दुःख जय पराजय जीवित मरण इनको जानते हैं परन्तु ऐसा अभिमान पवनके प्रपंच (विस्तारकी रचनाको नहिं जानते उनको कैसे हो सक्ता है। **भावार्थ**—पवनका प्रचार जाने विना अभिमान करना वृथा है ७७ ॥

कुर्वीत पूरके सत्याकृष्टिं कुम्भके तथा स्तम्भम् ।
उच्चाटनं च योगी रेचकविज्ञानसामर्थ्यात् ॥ ७८ ॥

अर्थ—पवनको साधनेवाला योगी है सो पूरकके होते तो आकर्षण करता है और कुम्भकके होते स्तंभन करता है और रेचकके विज्ञानकी सामर्थ्यसे उच्चाटन करता है ॥ ७८ ॥

इदमखिलं श्वसनभवं सामर्थ्यं स्यान्मुनेर्ध्रुवं तस्य ।
यो नाडिकाविशुद्धिं सम्यक् कर्तुं विजानाति ॥ ७९ ॥

अर्थ—यह सब पवनसे उत्पन्न हुआ सामर्थ्य है सो उस मुनिके ही होता है कि जो नाड़िका कहिये पवनकी विशुद्धताके प्रचारका चलना नासिकाके द्वारसे निकलने प्रवेश करने आदिको भले प्रकार विशुद्ध करनेके लिये विशेषकर जानता है ॥ ७९ ॥

यहां नाड़ीकी सामर्थ्य कही, अब नाडिकाकी शुद्धताका विधान कहते हैं,—

यद्यपि समीरचारश्चपलतरो योगिभिः सुदुर्लक्ष्यः ।
जानाति विगततन्द्रस्तथापि नाड्यां कृताभ्यासः ॥ ८० ॥

अर्थ—यद्यपि पवनका प्रचार है सो अतिशय चपल है योगीश्वरोंको भी दुर्लक्ष्य है अर्थात् लखनेमें नहिं आता, तथापि योगी निष्प्रमाद होकर अतियत्नसे नाड़ीमें अभ्यास करनेसे इसके प्रचारको (संचारको) जान सक्ता है ॥ ८० ॥

अब नाडीकी विशुद्धताका वर्णन करते हैं,—

सकलं बिन्दुसनाथं रेफाक्रान्तं हवर्णमनवद्यम् ।
चिन्तयति नाभिकमले सुबन्धुरं कर्णिकारूढम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—चंद्रकलासहित विंदुसंयुक्त रेफसे व्याप्त ऐसा हकार अर्थात् र्हँ ऐसा अक्षर निष्पाप मनोज्ञ नाभिकमलकी कर्णिकामें आरूढ है ऐसा चिंतवन करै, तत्पश्चात्—

रेचयति ततः शीघ्रं पतङ्गमार्गेण भासुराकारम् ।
ज्वालाकलापकलितं स्फुलिङ्गमालाकराक्रान्तम् ॥ ८२ ॥
तरलतडिदुग्रवेगं धूमशिखावर्त्तरुद्धदिक्चक्रम् ।
गच्छन्तं गगनतले दुर्द्धर्षं देवदैत्यानाम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—भासुराकार देदीप्यमान ज्वालासमूहसे संयुक्त स्फुलिंगोंकी पंक्तिके किरणोंसे व्याप्त ऐसे सूर्यके मार्गसे अर्थात् दहनी नाडीसे रेचन करै अर्थात् वाहर निकालै,—तत्पश्चात् वह वर्ण चंचल विजलीके वेगकी समान वेगवाला और धूमकी शिखाके आवर्त्तसे जिसने दिशाओंको रोका है, देव दैत्योंके द्वारा भी थामनेमें नहिं आवै ऐसे वेगसे आकाशमें गमन करता हुआ चिंतवन करै ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

शरदिन्दुधामधवलं गगनतलान्मन्दमन्दमवतीर्णम् ।
क्षरदमृतमिव सुधांशोः पूरयति यथा पुनः पुरतः ॥ ८४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वही वर्ण शरदके चन्द्रमाकी कान्तिके समान धवल आकाशतलसे मंद मंद उतरताहुआ चन्द्रमाके मार्गसे अर्थात् वामस्वरसे जैसे अमृत झरै तैसे फिर भी नाभिकमलमें पूरण करै अर्थात् आकाशसे उतारकर नाभिकमलमें धारण करै ॥ ८४ ॥

तत्पश्चात् क्या करै सो कहते हैं,—

आनीय नाभिकमलं निवेश्य तस्मिन्पुनः पुनश्चैव ।
अनलसमनसा कार्यं प्रवेशनिःसरणमनवरतम्[1] ॥ ८५ ॥

अर्थ—नाभिकमलमें लानेके पश्चात् उस नाभिकमलमें ही स्थापन करके उसमें ही आलस्यरहित मनसे प्रवेश निःसरण निरंतर वारंवार करना, इस कार्यके करनेमें मनमें प्रमाद न लाना, सावधानी रखना ॥ ८५ ॥

तत्पश्चात् क्या करना सो कहते हैं,—

अथ नाभिपुण्डरीकाच्छनैः शनैर्हृदयकमलनालेन ।
निःसारयति समीरं पुनः प्रवेशयति सोद्योगम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् नाभिकमलसे हृदयरूप कमलकी नालसे धीरे धीरे पवनको उद्यमसहित निकालै और प्रवेश करावै ॥ ८६ ॥

नाडीशुद्धिं कुरुते दहनपुरं दिनकरस्य मार्गेण ।
निष्क्रामद्विशदिंदोः पुरमितरेणेति केऽप्याहुः ॥ ८७ ॥

अर्थ—कोई कोई आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि—अग्निमंडलकी पवन है सो सूर्यके मार्गसे (दहने स्वरसे) निकलती और वरुणमंडलसंबन्धी पवन चन्द्रमाके मार्गसे (बायें स्वरसे) प्रवेश करती नाडीकी शुद्धताको करती है ॥ ८७ ॥

इति नाडिकाविशुद्धिपरिकलिताभ्यासकौशलो योगी ।
आत्मेच्छयैव घटयति पुटयोः पवनं क्षणार्द्धेन ॥ ८८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्तप्रकारसे नाडीकी विशुद्धतामें भलेप्रकार अभ्यास करनेमें प्रवीण योगी पवनको नासिकाके छिद्रोंमें अपनी इच्छासे ही आधेक्षणमात्रमें वना सक्ते हैं. नाडीमें अभ्यास करनेसे पवनके प्रवेश निःसरण करनेमें योगी स्वाधीन हो जाता है अर्थात् सिद्ध हो जाता है ॥ ८८ ॥

एकस्यामयमास्ते कालं नालीयुगद्वयं सार्द्धम् ।
तामुत्सृज्य ततोऽन्यामधितिष्ठति नालिकामनिलः ॥ ८९ ॥

---

1 'निष्क्रमणमनवरतम्' इत्यपि पाठः ।

अर्थ—यह पवन है सो एक नाडीमें नालीद्वयसार्द्ध कहिये अढ़ाई घडीतक रहता है तत्पश्चात् उसे छोड़ अन्य नाडीमें रहता है यह पवनके ठहरनेके कालका परिमाण है॥ ८९॥

षोडशप्रमितः कैश्चिन्निर्णीतो वायुसंक्रमः।
अहोरात्रमिते काले द्वयोर्नाड्योर्यथा क्रमम्॥ ९०॥

अर्थ—किन्ही २ आचार्योंने दोनों नाडियोंमें एक अहोरात्र परिमाण कालमें पवनका संक्रम (पलटना) क्रमसे १६ बार होना निर्णय किया है॥ ९०॥

षट्शतान्यधिकान्याहुः सहस्राण्येकविंशतिम्।
अहोरात्रे नरि स्वस्थे प्राणवायोर्गमागमौ॥ ९१॥

अर्थ—स्वस्थ मनुष्यके शरीरमें प्राणवायु श्वासोच्छ्वासका गमनागमन एक दिन और रात्रिमें इकईस हजार ६ सौ बार होता है॥ ९१॥

संक्रान्तिमपि नो वेत्ति यः समीरस्य मुग्धधीः।
स तत्त्वनिर्णयं कर्त्तुं प्रवृत्तः किं न लज्जते॥ ९२॥

अर्थ—जो मूर्खबुद्धि पुरुष इस पवनकी पलटनको नहिं जानता है और पवनका तत्त्व यथार्थरूप निर्णय करनेके लिये प्रवर्तै है सो क्या लज्जित भी नहीं होता। **भावार्थ**—पवनकी पलटनिको जाने विना पृथिवी आदिक तत्त्वोंका यथाथ निर्णय नहिं होता, जो करना चाहता है वह मूर्ख है॥ ९२॥

आगे पवनके वेध करनेका विधान कहते हैं,—

अथ कौतूहलहेतोः करोति वेधं समाधिसामर्थ्यात्।
सम्यग्विनीतपवनः शनैः शनैरर्कतूलेषु॥ ९३॥

अर्थ—इसके पश्चात् यदि कोई पवनाभ्यासी कौतूहलके लिये समाधि जो पवनके अभ्यासकी लय उसकी सामर्थ्यसे भलेप्रकार जाना है पवन जिसने ऐसा पुरुष आकके तूलमें (रूईमें) मंदमंदतासे वेध करै॥ ९३॥

तत्र कृतनिश्चयोऽसौ जातीबकुलादिगन्धद्रव्येषु।
स्थिरलक्ष्यतया शश्वत्करोति वेधं वितन्द्रात्मा॥ ९४॥

अर्थ—फिर उस आककी रूईमें किया है वेध जिसने ऐसा योगी है सो निष्प्रमादी होकर जातीपुष्प बकुल मौलश्रीके पुष्प आदि सुगंध द्रव्योंमें वेध करता है॥ ९४॥

कर्पूरकुंकुमागुरुमलयजकुष्ठादिगन्धद्रव्येषु।
वरुणपवनेन वेधं करोति लक्ष्ये स्थिराभ्यासः[1]॥ ९५॥

---

१ 'कृताभ्यासः' इत्यपि पाठः।

अर्थ—फिर जिसने लक्ष्यमें अभ्यास किया है ऐसा योगी कपूर केशर अगर चंदन कूठ (कूड़) आदि सुगन्धित द्रव्योंमें वरुण पवनसे वेध करता है ॥ ९५ ॥

एतेषु लब्धलक्ष्यस्ततोऽपि सूक्ष्मेषु पत्रिकायेषु ।
वेधं करोति वायुः प्रपञ्चसंयोजने चतुरः ॥ ९६ ॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त वस्तुओंमें वेधका लक्ष प्राप्त होनेपर योगी पवनके प्रपंचके संयोजनमें चतुर होता हुआ सूक्ष्मपक्षिकायिक जीवोंमें वेध करता है ॥ ९६ ॥

मधुकरपतङ्गपत्रिषु तथाणुज्येष्ठेषु मृगशरीरेषु ।
संचरति जातलक्ष्यस्त्वनन्यचेतो वशी धीरः ॥ ९७ ॥

अर्थ—उत्पन्न हुआ है लक्ष्य जिसके ऐसा योगी अनन्यचित्त और जितेन्द्रिय धीरवीर एकाग्रचित्त होकर भ्रमर पतंगादि पक्षियोंमें तथा अंडज पक्षियोंमें और मृगपशुके शरीरमें संचार करता है ॥ ९७ ॥

नरतुरगकरिशरीरे क्रमेण संचरति निःसरत्येव ।
पुस्तोपलरूपेषु च यदृच्छया संक्रमं कुर्यात् ॥ ९८ ॥

अर्थ—तथा इस पवनाभ्यासका करनेवाला योगी क्रमसे मनुष्य घोडे हस्तीके शरीरमें अपनी इच्छानुसार संचार करता (प्रवेश करता) वा निकलता रहता है, इसप्रकार नियमसे इच्छानुसार संक्रमण करै ॥ ९८ ॥

इति परपुरप्रवेशाभ्यासोत्थसमाधिपरमसामर्थ्यात् ।
विचरति यदृच्छयासौ मुक्त इवात्यन्तनिर्लेपः ॥ ९९ ॥

अर्थ—इसप्रकार पूर्वोक्त रीतिसे परपुरके प्रवेश करनेके अभ्याससे उत्पन्न हुई समाधिके परमउत्कृष्ट सामर्थ्यसे योगी अपनी इच्छानुसार मुक्त आत्माकी समान निर्लेप होकर विचरता है ॥ ९९ ॥

तथा—

कौतुकमात्रफलोऽयं परपुरप्रवेशो महाप्रयासेन ।
सिद्ध्यति न वा कथंचिन्महतामपि कालयोगेन ॥ १०० ॥

अर्थ—अथवा यह परपुरप्रवेश है सो कौतुकमात्र है फल जिसका ऐसा है, इसका पारमार्थिक फल कुछ भी नहीं है। और यह जो है सो महापुरुष वडे २ तपस्वियोंके भी वहुतकालमें प्रयास करनेसे भी सिद्ध नहीं होता, व्यर्थ ही प्रयास होता है. अर्थात् फल तो इसमें थोड़ा है और प्रयास वहुत है ॥ १०० ॥

स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुःस्थैर्यम् ।
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न सन्देहः ॥ १०१ ॥

अर्थ—तथा पवनके प्रचार करनेमें चतुर योगी कामरूपी विषयुक्त मनको जीतता है (वश करता है) अर्थात् उसकी कामवासना नष्ट होजाती है, समस्त रोगोंका क्षय करके शरीरमें स्थिरता (दृढता) करता है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ १०१ ॥

जन्मशतजनितमुग्रं प्राणायामाद्विलीयते पापम् ।
नाडीयुगलस्यान्ते यतेर्जिताक्षस्य वीरस्य[1] ॥ १०२ ॥

अर्थ—इस पवनके साधनरूप प्राणायामसे जीती हैं इन्द्रियें जिसने ऐसे धीर वीर यतिके सैकड़ों जन्मोंके संचित किये तीव्र पाप दो घड़ीके भीतर भीतर लय होजाते हैं॥ १०२ ॥

यहां आशय ऐसा है कि प्राणायामसे जगतके शुभाशुभ व भूतभविष्यत जाने जाते हैं तथा परके शरीरमें प्रवेश करनेकी सामर्थ्य होती है सो ये तो लौकिक प्रयोजन हैं इनमें कुछ परमार्थ नहीं है । और मनको वशीभूत करनेसे विषयवासना नष्ट हो जाती है, और अपने निज-स्वरूपमें ध्यान करके लय होनेसे अनेक जन्मके बांधे हुए कर्मोंका नाश करके मुक्तिको प्राप्त होना पारमार्थिक फल है. इस कारण योगीश्वरोंको करना योग्य है । तथा यह पवनके अभ्याससे पृथिवी आदि मंडलोंका (तत्त्वोंका) नासिकाके द्वारा पवन निकलै उसके द्वारा निश्चय करना कहा और उन पृथिवी आदि तत्त्वोंका वर्ण, आकार आदिका स्वरूप कहा सो यह कल्पना है. निमित्तज्ञानके शास्त्रोंमें वर्णन है कि शरीर पृथिवी जल अग्नि और वातमयी है, इसमें पवन सर्वत्र विचरता है. इस पृथिवी आदि तत्त्वोंकी कल्पना करके निमित्तज्ञान सिद्ध किया है। और पूरक कुम्भक रेचक करनेके अभ्याससे इस पवनको अपने आधीन करके पीछे इसको नाडीकी शुद्धताके अभ्याससे नासिकासे बाहर निकालै वा प्रवेश करावै तब नाड़ी शुद्ध होनेपर फिर पवन बाहर निकलै उसकी रीति पृथिवी आदिमंडलस्वरूप जैसा वर्णन है वैसी ही पहिचानै और जब उसके निमित्तसे जगतके भूत भविष्यत शुभाशुभका ज्ञान होता है तब या तो अपना जानै अथवा लोक प्रश्न करै तो उसको कहै यह लौकिक प्रयोजन है। और अन्यमतावलम्बियोंने भी यह कल्पना की है परन्तु उनके यहां वस्तुका स्वरूप यथार्थ नहिं सधता इस कारण दैवयोगसे किंचिन्मात्र लौकिक प्रयोजन सधै तो सध सक्ता अथवा नहीं भी सधता इसका कुछ नियम नहीं है ॥ १०२ ॥

यहां इस प्राणायामके साधनेकी कठिनता दिखानेके लिये उक्तं च श्लोक है,—

जलबिन्दुं कुशाग्रेण मासे मासे तु यः पिबेत् ।
संवत्सरशतं साग्रं प्राणायामश्च तत्समः ॥ १ ॥

---

१ 'धीरस्य' इत्यपि पाठः ।

अर्थ—जो कोई पुरुष कुशाके अग्रभागसे जलका एक एक बिन्दु महीने २ के अनन्तर सौ वर्षतक पीवै अन्य कुछ भी आहारादिक नहिं करै ऐसा कठिन तप करै तो उसके समान इस प्राणायामका करना कठिन है, परन्तु जो योगीश्वर ध्यानके प्रभावसे इसे साधते हैं वे धन्य हैं ॥ १ ॥

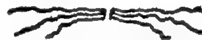
इस प्रकार ध्यानके योग्य स्थान और आसन तथा प्राणायामका वर्णन किया ॥

कवित्त ।

आसन थान सवाँरि करै मुनि प्राणायाम समीरसंभार ।
पूरक कुंभक रेचक साधन नित आधीन सुतत्त्वविचार ॥
जगतरीत सब लखै शुभाशुभ अपनै हानि वृद्धि निरधार ।
मन रोकै परमातम ध्यावै तब यह सफल न आनप्रकार ॥ २९ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे स्थानासनपूर्वकं प्राणायामवर्णनं नाम एकोनत्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशं प्रकरणम् लिख्यते ।



अब प्रत्याहार और धारणाका वर्णन करते हैं,—

समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्यः साक्षं चेतः प्रशान्तधीः ।
यत्र यत्रेच्छया धत्ते स प्रत्याहार उच्यते ॥ १ ॥

अर्थ—जो प्रशान्तबुद्धि विशुद्धतायुक्त मुनि अपनी इन्द्रियें और मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे खैंचकर जहां जहां अपनी इच्छा हो तहां तहां धारण करै सो प्रत्याहार कहा जाता है । **भावार्थ**—मुनिके इन्द्रिय मन वशमें होते हैं तब मुनि जहां अपना मन लगावै वहां लग सक्ता है, उसको प्रत्याहार कहते हैं ॥ १ ॥

निःसंगः संवृतस्वान्तः कूर्मवत्संवृतेन्द्रियः ।
यमी समत्वमापन्नो ध्यानतन्त्रे स्थिरी भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—निःसंग (परिग्रहरहित) और संवररूप हुआ है मन जिसका और कछुयेके समान संकोचरूप हैं इन्द्रियें जिसकी ऐसा मुनि ही रागद्वेषरहित समभावको प्राप्त होकर ध्यानरूपी तंत्रमें (प्रवृत्तिमें) स्थिरस्वरूप होता है । **भावार्थ**—ऐसा होकर प्रत्याहार करै ॥ २ ॥

मनको कहां २ लगावै सो कहते हैं,—

गोचरेभ्यो हृषीकाणि तेभ्यश्चित्तमनाकुलम् ।
पृथक्कृत्य वशी धत्ते ललाटेऽत्यन्तनिश्चलम् ॥ ३ ॥

अर्थ—वशी मुनि विषयोंसे तो इन्द्रियोंको पृथक् करै और इन्द्रियोंसे मनको पृथक् करै तथा अपने मनको निराकुल करके अपने ललाटपर निश्चलतापूर्वक धारण करै, यह विधि प्रत्याहारमें कही गई है ॥ ३ ॥

सम्यक्समाधिसिद्ध्यर्थं प्रत्याहारः प्रशस्यते ।
प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति ॥ ४ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्राणायाममें पवनके साधनसे विक्षिप्त (क्षोभरूप) हुआ मन स्वास्थ्यको नहीं प्राप्त होता; इसकारण भलेप्रकार समाधिकी सिद्धिके लिये प्रत्याहार करना प्रशस्त है अर्थात् प्रशंसा किया जाता है । **भावार्थ**—इस प्रत्याहारके द्वारा मन ठहरानेसे समाधिकी सिद्धि होती है ॥ ४ ॥

प्रत्याहृतं पुनः स्वस्थं सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चेतः समत्वमापन्नं स्वस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रत्याहारसे ठहराहुआ मन समस्त उपाधि अर्थात् रागादिकरूप विकल्पोंसे रहित समभावको प्राप्त होकर आत्मामें ही लयको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

वायोः संचारचातुर्यमणिमाद्यङ्गसाधनम् ।
प्रायः प्रत्यूहबीजं स्यान्मुनेर्मुक्तिमभीप्सतः ॥ ६ ॥

अर्थ—पवनसंचारका चातुर्य शरीरको सूक्ष्म स्थूलादि करनेरूप अंगका साधन है इसकारण मुक्तिकी वांछा करनेवाले मुनिके प्रायः विघ्नका कारण है । **भावार्थ**—मोक्षके साधनमें विघ्न करनेवाला है ॥ ६ ॥

किमनेन प्रपञ्चेन स्वसन्देहार्त्तहेतुना ।
सुविचार्यैव तज्ज्ञेयं यन्मुक्तेर्बीजमग्रिमम् ॥ ७ ॥

अर्थ—इस पवनसंचारकी चतुराईके प्रपंचसे क्या लाभ क्योंकि यह आत्मामें सन्देह और पीडाका (आर्त्तध्यानका) कारण है । ऐसे भलेप्रकार विचार करके मुक्तिका प्रधान कारण होय सो जानना चाहिये ॥ ७ ॥

संविग्नस्य प्रशान्तस्य वीतरागस्य योगिनः ।
वशीकृताक्षवर्गस्य प्राणायामो न शस्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—जो मुनि संसारदेहभोगोंसे विरक्त है, कषाय जिसके मन्द हैं. विशुद्धभावयुक्त है, वीतराग है और जितेन्द्रिय है ऐसे योगीको प्राणायाम प्रशंसा करने योग्य नहीं हैं ॥ ८ ॥

'जन्मना' इत्यपि पाठः ।

प्राणायामसे क्या हानि होती है सो बताते हैं,—

प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यादार्त्तसम्भवः।
तेन प्रच्याव्यते नूनं ज्ञाततत्त्वोऽपि लक्ष्यतः॥ ९॥

अर्थ—प्राणायाममें प्राणोंका (श्वासोच्छ्वासरूप पवनका) आयमन कहिये रोकनेसे (संकोचनेमें) पीडा होती है, और उस पीड़ाके होते हुये आर्त्तध्यान उत्पन्न होता है, और उस आर्त्तध्यानसे तत्त्वज्ञानी मुनि भी अपने लक्ष्यसे (अपने समाधि स्वरूप शुद्धभावोंसे) छुड़ाया जाता है। **भावार्थ**—आर्त्तध्यान समाधिसे भ्रष्ट कर देता है॥ ९॥

पूरणे कुम्भके चैव तथा श्वसननिर्गमे।
व्यग्री भवन्ति चेतांसि क्लिश्यमानानि वायुभिः १०॥

अर्थ—पवनके (श्वासोच्छ्वासके) पूरक करने तथा कुंभक करने तथा पवनके रेचक होनेमें चित्त व्यग्ररूप होता है (खेदखिन्न होता है) क्योंकि पवनसे क्लेशित होनेसे खेद पाता है. इसकारण प्राणायामका यत्न गौण किया है॥ १०॥

नातिरिक्तं फलं सूत्रे प्राणायामात्प्रकीर्तितम्।
अतस्तदर्थमस्माभिर्नातिरिक्तः कृतः श्रमः॥ ११॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्राणायामसे सिद्धांतमें कुछ भी अधिक फल नहीं कहा है। इसकारण प्राणायामके लिये हमने अधिक खेद नहीं किया है॥ ११॥

क्या करना चाहिये सो कहते हैं,—

निरुद्ध्य करणग्रामं समत्वमवलम्ब्य च।
ललाटदेशसंलीनं विदध्यान्निश्चलं मनः॥ १२॥

अर्थ—इन्द्रियोंके विषयोंको रोककर और रागद्वेषको दूर कर समता अवलंबन करके अपने मनको ललाटदेशमें संलीन करना चाहिये. इसप्रकार करनेसे समाधिकी सिद्धि होती है॥ १२॥

अब ध्यानके स्थान ललाटके सिवाय अन्य भी कहते हैं. उनमें अपने मनको थांभना कहते हैं,—

मन्दाक्रान्ता।

नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे
तेष्वेकस्मिन्विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम्॥ १३॥

अर्थ—निर्मलबुद्धि आचार्योंने ध्यान करनेके लिये नेत्रयुगल, दोनों कान, नासिकाका अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु, दोनों भौहोंका मध्यभाग इन दश स्थानोंमेंसे किसी एक स्थानमें अपने मनको विषयोंसे रहित करके आलंवित करना अर्थात् इन स्थानोंमेंसे किसी एक स्थानपर ठहराकर ध्यानमें लीन करना कहा है ॥ १३ ॥

स्थानेष्वेतेषु विश्रान्तं मुनेर्लक्ष्यं वितन्वतः ।
उत्पद्यन्ते स्वसंवित्तेर्बहवो ध्यानप्रत्ययाः ॥ १४ ॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त स्थानोंमें विश्रामरूप ठहराये हुए लक्ष्यको (चिंतवने योग्य ध्येय वस्तुको) विस्तारते हुए मुनिके स्वसंवेदनरूपसे ध्यानके कारण बहुत ही उत्पन्न होते हैं । **भावार्थ**—जिसका ध्यान किया चाहै उसकी ही सिद्धि होती है ॥ १४ ॥

इसप्रकार प्रत्याहारधारणाका वर्णन किया ॥

दोहा.

भालआदि दश थानमें, ध्येय थापि मन लार ।
प्रत्याहार जु धारणा, यहै ध्यानविस्तार ॥ ३० ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे प्रत्याहारधारणावर्णनं नाम त्रिंशं प्रकरणम् समाप्तम् ॥ ३० ॥

अथैकत्रिंशं प्रकरणम् ।



आगे वीर्यसहित ध्यान करनेका वर्णन है, उसमेंसे प्रथम ही ध्यान करनेकी प्रतिज्ञा करनेका विधान कहते हैं,—

अनन्तगुणराजीवबन्धुरप्यत्र वञ्चितः ।
अहो भवमहाकक्षे प्रागहं कर्मवैरिभिः ॥ १ ॥

अर्थ—ध्यान करनेका उद्यमी प्रथम ही ऐसा विचार करै कि—अहो देखो ! यह बड़ा खेद है जो मैं अनन्तगुण रूप कमलोंका बन्धु—विकाश करनेवाले सूर्यसमान हूं, तथापि इस संसाररूप वनमें कर्मरूप शत्रुओंके द्वारा पूर्वकालमें ठगा गया हूं ॥ १ ॥

स्वविभ्रमसमुद्भूतै रागाद्यतुलबन्धनैः ।
बद्धो विडम्बितः कालमनन्तं जन्मदुर्गमे ॥ २ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् फिर विचारै कि—मैंने अपने ही विभ्रमसे उत्पन्न हुए रागादिक अतुलबन्धनोंसे बँधे हुए अनन्तकाल पर्यन्त संसाररूप दुर्गम मार्गमें विडंबना रूप होकर विपरीताचरण किया ॥ २ ॥

अद्य रागज्वरो जीर्णो मोहनिद्राद्य निर्गता ।
ततः कर्मरिपुं हन्मि ध्याननिस्त्रिंशधारया ॥ ३ ॥

अर्थ—फिर ऐसे विचारै कि इससमय मेरे रागरूपी ज्वर तो जीर्ण होगया और मोहरूपी निद्रा निकल गई है इसकारण ध्यानरूपी खड्गकी धारासे कर्मरूपी वैरीको मारता हूं ॥ ३ ॥

आत्मानमेव पश्यामि निर्द्धूयाज्ञानजं तमः ।
प्लोषयामि तथात्युग्रं कर्मेन्धनसमुत्करम् ॥ ४ ॥

अर्थ—तथा अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको दूर करके आत्माहीको अवलोकन करूं, तथा अति तीव्र कर्मरूपी इंधनके समूहको दग्ध करता हूं ॥ ४ ॥

प्रबलध्यानवज्रेण दुरितद्रुमसंक्षयम् ।
तथा कुर्मो यथा दत्ते न पुनर्भवसंभवम् ॥ ५ ॥

अर्थ—तथा प्रबलध्यानरूपी वज्रसे पापरूप वृक्षोंका क्षय (नाश) ऐसा करूं कि जिससे फिर संसारमें उत्पन्न होने रूप फल न दे ॥ ५ ॥

जन्मज्वरसमुद्भूतमहामूर्च्छान्धचक्षुषा ।
स्वविज्ञानोद्भवः साक्षान्मोक्षमार्गो न वीक्षितः ॥ ६ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारै कि संसाररूपी ज्वरसे उत्पन्न हुई मूर्च्छासे अंध होगये हैं नेत्र जिसके ऐसा जो मैं उसने अपने भेदविज्ञानसे उत्पन्न हुए साक्षात् मोक्षमार्गको नहिं देखा ॥ ६ ॥

मयात्मापि न विज्ञातो विश्वलोकैकलोचनः ।
अविद्याविषमग्राहदन्तचर्वितचेतसा ॥ ७ ॥

अर्थ—अहो मेरा आत्मा समस्त लोकको देखनेके लिये एक अद्वितीय नेत्र है सो ऐसेको भी अविद्या (मिथ्याज्ञान) रूपी ग्राहके दाँतोंसे चर्वित किया गया है चित्त जिसका ऐसा होकर मैंने नहीं जाना ॥ ७ ॥

फिर इसप्रकार विचारै कि—

परमात्मा परंज्योतिर्जगज्ज्येष्ठोऽपि वञ्चितः ।
आपातमात्ररम्यैस्तैर्विषयैरन्तनीरसैः ॥ ८ ॥

अर्थ—मेरा आत्मा परमात्मा है, परमज्योतिप्रकाशस्वरूप है, जगतमें ज्येष्ठ है, महान् है तौ भी वर्त्तमान देखनेमात्र रमणीक और अन्तमें नीरस ऐसे इंद्रियोंके विषयोंसे ठगाया गया हूं ॥ ८ ॥

---

१ 'नष्टो' इत्यपि पाठः ।

अहं च परमात्मा च द्वावेतौ ज्ञानलोचनौ ।
अतस्तं ज्ञातुमिच्छामि तत्स्वरूपोपलब्धये ॥ ९ ॥

अर्थ—मैं और परमात्मा दोनों ही ज्ञाननेत्रवाले हैं इसकारण अपने आत्माको उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्तिके लिये जाननेकी इच्छा करता हूं, इसप्रकार विचारै ॥ ९ ॥

मम शक्त्या गुणग्रामो व्यक्त्या च परमेष्ठिनः ।
एतावानावयोर्भेदः शक्तिव्यक्तिस्वभावतः ॥ १० ॥

अर्थ—अनन्तचतुष्टयादि गुणोंका समूह मेरे तो शक्तिकी अपेक्षा विद्यमान है और परमेष्ठी अरहन्त सिद्धोंके व्यक्तिसे प्रगट है, हम दोनोंमें यह शक्ति और व्यक्तिके स्वभावसे ही भेद है. वास्तवमें शक्तिकी अपेक्षा अभेद है ॥ १० ॥

उक्तं च ।

नासत्पूर्वाश्च पूर्वा नो निर्विशेषविकारजाः ।
स्वाभाविकविशेषा ह्यभूतपूर्वाश्च तद्गुणाः ॥ १ ॥

अर्थ—तद्गुण कहिये जो आत्माके गुण हैं वे जिनके विशेष नहीं हैं और विकारसे उत्पन्न हुए मतिज्ञानादिक हैं वे संसारी जीवोंके साधारण हैं। सो ये गुण तो असत्पूर्व कहिये अपूर्व नहीं हैं—विद्यमान हैं। तथा पूर्वमें नहीं भी थे, नवीन भी उत्पन्न होते हैं। और स्वाभाविक हैं वे विशेष अनंत ज्ञानादिक हैं सो ये अभूतपूर्व हैं पूर्वमें कभी प्रगट नहीं हुए ऐसे नवीन हैं। **भावार्थ**—द्रव्य अनादिनिधन हैं. उनमें जो पर्याय हैं वे क्षणक्षणमें उत्पन्न होते और विनशते हैं। उनमें त्रिकालवर्ती पर्याय हैं वे शक्तिकी अपेक्षा सत्‌रूप एकही कालमें कहे जाते हैं. और व्यक्तिकी अपेक्षा जिस काल में जो पर्याय होता है वही सत्‌रूप कहा जाता है; तथा भूत भविष्यत्‌के पर्याय असत्‌रूप कहे जाते हैं. इसप्रकार शक्तिकी अपेक्षा सत्‌का उत्पन्न होना, व्यक्तिकी अपेक्षा असत्‌का उत्पन्न होना कहा जाता है. इसीप्रकार द्रव्यकी अपेक्षा सत्‌का उत्पाद और पर्यायकी अपेक्षा असत्‌का उत्पाद कहा जाता है। यही इस श्लोकका आशय है। इसप्रकार आत्मद्रव्यमें भी सामान्यतासे मतिज्ञानादिक गुण भूतपूर्व कहे जाते हैं तथा अभूतपूर्व भी कहे जाते हैं। किन्तु वास्तवमें अनन्तचतुष्टयादिकही अभूतपूर्व कहे जाते हैं, ऐसे नयविभागसे वस्तुका स्वरूप जानना ।

तावन्मां पीडयत्येव महादाहो भवोद्भवः ।
यावज्ज्ञानसुधाम्भोधौ नावगाहः प्रवर्तते ॥ ११ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् ऐसा विचार करै कि—जबतक ज्ञानरूपी समुद्रमें मेरा अवगाह (स्नान करना) नहीं होता तबतक ही मुझे संसारसे उत्पन्न हुआ दाह पीडित करता है ॥ ११ ॥

अहं न नारको नाम न तिर्यङ्नापि मानुषः ।
न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः ॥ १२ ॥

अर्थ—यदि शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे देखता हूं तब न तो मैं नारकी हूं, न तिर्यंच हूं, न मनुष्य वा देव ही हूं किन्तु सिद्धस्वरूप हूं । ये नारकादिक अवस्थायें हैं सो सब कर्मका विक्रम (पराक्रम) है, इसप्रकार भावना करै ॥ १२ ॥

अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मकोऽप्यहम् ।
किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम् ॥ १३ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् इसप्रकार भावना करै कि मैं अनन्तवीर्य, अनंत विज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनन्दस्वरूप भी हूं । इस कारण इन अनन्त वीर्यादिकके प्रतिपक्षी शत्रु कर्म हैं वेही विषके वृक्षकी समान हैं, सो उन्हें क्या अभी जडमूलसे न उखाडूं? अवश्य ही उखाडूंगा ॥ १३ ॥

अद्यासाद्य स्वसामर्थ्यं प्रविश्यानन्दमन्दिरम् ।
न स्वरूपाच्च्यविष्येऽहं बाह्यार्थेषु गतस्पृहः ॥ १४ ॥

अर्थ—फिर इसप्रकार भावना करै कि—मैं अपने सामर्थ्यको इसी समय प्राप्त होकर आनन्दमन्दिरमें प्रवेश करके अपने स्वरूपसे कदापि च्युत नहीं होऊंगा । क्योंकि बाह्य पदार्थोंमेंसे नष्ट होगई है वांछा जिसके ऐसा होकर जब स्वरूपमें स्थिर होता है तब आनन्दरूप होनेसे अन्यकी वांछा नहीं रहती. फिर उस स्वरूपसे क्यों डिगै ? ॥ १४ ॥

मयाद्यैव विनिश्चेयं स्वस्वरूपं हि वस्तुतः ।
छित्वाप्यनादिसंभूतामविद्यावैरिवागुराम् ॥ १५ ॥

अर्थ—तथा अनादिसे उत्पन्न हुई अज्ञानतारूपी (कर्मरूपी) वैरीकी फांसीको छिन्न करके इसी समय ही वास्तविक अपने स्वरूपको निश्चय करना चाहिये ॥ १५ ॥

इसप्रकार ध्यानका उद्यम करनेवाला अपने पराक्रमको सँभारकर प्रतिज्ञा करता है सो कहते हैं—

उपजाति ।

इति प्रतिज्ञां प्रतिपद्य धीरः समस्तरागादिकलङ्कमुक्तः ।
आलम्बते धर्म्यमचञ्चलात्मा शुक्लं च यद्यस्ति बलं विशालं ॥१६॥

अर्थ—इसप्रकार पूर्वोक्त रीतिसे प्रतिज्ञाको अंगीकार करके धीर वीर चञ्चलतारहित पुरुष समस्त रागादिक रूप कलंकसे रहित होकर धर्मध्यानका आलम्बन करता है. और यदि उसकी सामर्थ्य उत्तम हो अर्थात् शुक्लध्यानके योग्य हो तो शुक्लध्यानका अवलम्बन करता है ॥ १६ ॥

इस प्रकार ध्यान करनेकी प्रतिज्ञाका वर्णन किया. अब ध्येय वस्तुका वर्णन करते हैं,—

शार्दूलविक्रीडित।

ध्येयं वस्तु वदन्ति निर्मलधियस्तच्चेतनाचेतनम्
स्थित्युत्पत्तिविनाशलाञ्छनयुतं मूर्त्तेतरं च क्रमात्।
शुद्धध्यानविशीर्णकर्मकवचो देवश्च मुक्तेर्वरः
सर्वज्ञः सकलः शिवः स भगवान्सिद्धः परो निष्कलः॥ १७॥

अर्थ—निर्मलबुद्धि पुरुष ध्यान करने योग्य वस्तुको ध्येय कहते हैं. अवस्तु ध्यान करने योग्य नहीं है। वह ध्येय वस्तु चेतन अचेतन दो प्रकारकी है. चेतन तो जीव है और अचेतन धर्मादिक पांच द्रव्य हैं. ये सब द्रव्य (वस्तु) स्थिति, उत्पत्ति और विनाश लक्षणसे युक्त हैं. सर्वथा नित्य वा सर्वथा अनित्य नहीं हैं, अर्थात् उत्पादव्यय-ध्रौव्यसहित हैं. तथा मूर्तीक अमूर्तीक भी हैं। पुद्गल मूर्तीक हैं, जीवादिक अमूर्तीक हैं. चैतन्य ध्येय, एक तो शुद्ध ध्यानसे नष्ट हुआ है कर्मरूप आवरण जिसका ऐसा मुक्तिका वर सर्वज्ञ देव सकल अर्थात् देहसहित समस्त कल्याणके पूरक अरहंत भगवान् हैं, और पर कहिये दूसरे निष्कल अर्थात् शरीररहित सिद्ध भगवान् हैं॥ १७॥

अमी जीवादयो भावाश्चिदचिल्लक्षलाञ्छिताः।
तत्स्वरूपाविरोधेन ध्येया धर्मे मनीषिभिः॥ १८॥

अर्थ—ये जीवादिक षट् द्रव्य चेतन अचेतन लक्षणसे लक्षित हैं। सो धर्मध्यानमें बुद्धिमान् पुरुषोंको इनके स्वरूपका अविरोध करके यथार्थ स्वरूपका ध्यान करना चाहिये॥ १८॥

ध्याने ह्युपरते धीमान् मनः कुर्यात्समाहितम्।
निर्वेदपदमापन्नं मग्नं वा करुणाम्बुधौ॥ १९॥

अर्थ—ध्यानके पूर्ण होनेपर धीमान् पुरुष मनको सावधानरूप वैराग्यपदको प्राप्त करै अथवा करुणारूपी समुद्रमें मग्न करै॥ १९॥

अथ लोकत्रयीनाथममूर्त्तं परमेश्वरम्।
ध्यातुं प्रक्रमते साक्षात्परमात्मानमव्ययम्॥ २०॥

अर्थ—अथवा तीन लोकके नाथ अमूर्तीक परमेश्वर परमात्मा अविनाशीका ही साक्षात् ध्यान करनेका प्रारंभ करै॥ २०॥

त्रिकालविषयं साक्षाच्छक्तिव्यक्तिविवक्षया।
सामान्येन नयेनैकं परमात्मानमामनेत्॥ २१॥

१. 'लक्षणयुतं' इत्यपि पाठः।

अर्थ—शक्ति और व्यक्तिकी विवक्षासे तीन कालके गोचर साक्षात् सामान्य नयसे (द्रव्यार्थिकनयसे) एक परमात्माका ही ध्यान करै, अभ्यास करै. **भावार्थ**—यद्यपि संसार मुक्तकी अपेक्षासे आत्मामें भेदनयसे भेद है तथापि शक्ति व्यक्तिके सामान्य नयकी (द्रव्यार्थिक नयकी) विवक्षासे त्रिकालवर्त्ती आत्मा एक ही है, संसारी मुक्तका भेद नहीं करना. अर्थात् संसारअवस्थामें तौ शक्तिरूप परमात्मा है, और मुक्त अवस्थामें व्यक्तरूप परमात्मा है. अभेदनयकी अपेक्षा आत्मामें भेद नहीं है. इसप्रकार संसार अवस्थामें भी आत्माको सिद्धसमान ध्यावै ॥ २१ ॥

साकारं निर्गताकारं निष्क्रियं परमाक्षरम् ।
निर्विकल्पं च निष्कम्पं नित्यमानन्दमन्दिरम् ॥ २२ ॥
विश्वरूपमविज्ञातस्वरूपं सर्वदोदितम् ।
कृतकृत्यं शिवं शान्तं निष्कलं करुणच्युतम् ॥ २३ ॥
निःशेषभवसम्भूतक्लेशद्रुमहुताशनम् ।
शुद्धमत्यन्तनिर्लेपं ज्ञानराज्यप्रतिष्ठितम् ॥ २४ ॥
विशुद्धादर्शसङ्क्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम् ।
ज्योतिर्मयं महावीर्यं परिपूर्णं पुरातनम् ॥ २५ ॥
विशुद्धाष्टगुणोपेतं निर्द्वन्द्वं निर्गतामयम् ।
अप्रमेयं परिच्छिन्नं विश्वतत्त्वव्यवस्थितम् ॥ २६ ॥
यदग्राह्यं बहिर्भावैर्ग्राह्यं चान्तर्मुखैः क्षणात् ।
तत्स्वभावात्मकं साक्षात्स्वरूपं परमात्मनः ॥ २७ ॥

अर्थ—परमात्मा कैसा है, उसका स्वरूप कहते हैं. प्रथम तौ साकार है (आकारसहित है अर्थात् शरीराकार मूर्तीक है) तथा निर्गताकार कहिये निराकार भी है. पुद्गलके आकारकी समान उसका आकार नहीं है. निष्क्रिय (क्रियासे रहित) है, परमाक्षरस्वरूप है, विकल्परहित है, निष्कम्प है, नित्य है, आनन्दका घर है ॥ २२ ॥ तथा विश्वरूप है, समस्त ज्ञेयोंके (पदार्थोंके) आकार जिसमें प्रतिबिंबित हैं, तथा अविज्ञात स्वरूप है, अर्थात् जिसका स्वरूप मिथ्या दृष्टियोंने नहिं जाना ऐसा है, तथा सदाकाल उदयरूप है, कृतकृत्य है जिसको कुछ भी करना नहीं रहा है, तथा शिव है, कल्याणरूप है, शान्त है (क्षोभरहित है), निष्कल कहिये शरीररहित है, तथा करुणच्युत कहिये शोकरहित है, अथवा करणच्युत कहिये इन्द्रियरहित है ॥ २३ ॥ तथा समस्त भवोंसे (जन्ममरणोंसे) उत्पन्न हुए क्लेशरूप वृक्षोंको दग्ध करनेके लिये अग्निके समान

१. 'करणच्युतम्' इत्यपि पाठः ।

है; तथा शुद्ध है, कर्मरहित है, और अत्यंत निर्लेप है अर्थात् जिसके कोई कर्मरूपी लेप नहीं लगता, तथा ज्ञानरूपी राज्यमें अर्थात् सर्वज्ञतामें स्थित है॥ २४ ॥ तथा निर्मल दर्पणमें प्राप्त हुए प्रतिबिम्बकी समान प्रभावाला है. तथा ज्योतिर्मय है अर्थात् जिसका ज्ञान प्रकाशरूप है, तथा अनन्त वीर्ययुक्त है, तथा परिपूर्ण है, जिसके कुछ भी अवयव (अंश) घटते नहीं, तथा पुरातन है, अर्थात् किसीने नया नहीं बनाया ऐसा है॥ २५ ॥ तथा निर्मल सम्यक्त्वादि अष्ट गुणसहित है, निर्द्वंद्व है, रागादिकसे रहित है, रोगरहित है, अप्रमेय है, अर्थात् जिसका प्रमाण नहीं किया जा सकता, तथा परिज्ञात है अर्थात् भेदज्ञानी पुरुषोंके द्वारा जाना हुआ है, तथा समस्त तत्त्वोंसे व्यवस्थित है अर्थात् निश्चयरूप है॥ २६ ॥ तथा बाह्यभावोंसे तो ग्रहण करने योग्य नहीं है, और अन्तरंगभावोंसे क्षणमात्रमें ग्रहण करने योग्य है. इसप्रकार परमात्माका स्वरूप है. सो यह स्वरूप संसार अवस्थामें तो शक्तिरूप है, और मुक्त अवस्थामें व्यक्तरूप है, ऐसा जानकर ध्यानगोचर करना चाहिये॥ २७ ॥

तथा फिर भी कहते हैं,—

अणोरपि च यः सूक्ष्मो महानाकाशतोऽपि च
जगद्वन्द्यः स सिद्धात्मा निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः॥ २८ ॥

अर्थ—जो सिद्धस्वरूप परमाणुसे तो सूक्ष्मस्वरूप है, और आकाशसे भी महान् है, वह सिद्धात्मा जगतसे वंदने योग्य है, निष्पन्न है, अत्यन्त सुखमय है॥ २८ ॥

यस्याणुध्यानमात्रेण शीर्यन्ते जन्मजा रुजः।
नान्यथा जन्मिनां सोऽयं जगतां प्रभुरच्युतः॥ २९ ॥

अर्थ—जिसके ध्यानमात्रसे जीवोंके संसारसे उत्पन्न हुए रोग नष्ट हो जाते हैं, अन्य प्रकार नष्ट नहीं होते वही यह त्रिभुवनका नाथ अविनाशी परमात्मा है॥ २९ ॥

विज्ञातमपि निःशेषं यदज्ञानादपार्थकम्।
यस्मिंश्च विदिते विश्वं ज्ञातमेव न संशयः॥ ३० ॥

अर्थ—जिस परमात्माके जाने विना अन्य समस्त जाने हुए पदार्थ भी निरर्थक हैं, और इसमें कोई संदेह नहीं कि जिसका स्वरूप जाननेसे समस्त विश्व जाना जाता है॥ ३० ॥

यत्स्वरूपापरिज्ञानान्नात्मतत्त्वे स्थितिर्भवेत्।
यज्ज्ञात्वा मुनिभिः साक्षात्प्राप्तं तस्यैव वैभवम्॥ ३१ ॥

अर्थ—जिस परमात्माके स्वरूपको जाने विना आत्मतत्त्वमें स्थिति नहीं होती है, और जिसको जान करके मुनिगणोंने उसके ही वैभवको (परमात्माके स्वरूपको) साक्षात् प्राप्त किया है॥ ३१ ॥

स एव नियतं ध्येयः स विज्ञेयो मुमुक्षुभिः ।
अनन्यशरणीभूय तद्गतेनान्तरात्मना ॥ ३२ ॥

अर्थ—मुक्तिकी इच्छा करनेवाले मुनिजनोंको वह परमात्मा ही नियमसे ध्यान करने योग्य है. अतएव अन्य समस्त शरण छोड़कर उसमें ही अपने अन्तरात्माको प्राप्त करके जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

अवाग्गोचरमव्यक्तमनन्तं शब्दवर्जितम् ।
अजं जन्मभ्रमातीतं निर्विकल्पं विचिन्तयेत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो वचनके गोचर नहीं, पुद्गलके समान इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा अव्यक्त है; जिसका अन्त नहीं है, जो शब्दसे वर्जित है अर्थात् जिसके शब्द नहीं, जिसके जन्म नहीं ऐसा अज है, तथा भवभ्रमणसे रहित है, ऐसे परमात्माको जिसप्रकार निर्विकल्प हो उस प्रकार ही चिंतवन करै ॥ ३३ ॥

यद्बोधानन्तभागेऽपि द्रव्यपर्यायसंभृतम् ।
लोकालोकं स्थितिं धत्ते स स्याल्लोकत्रयीगुरुः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिस परमात्माके ज्ञानके अनन्तवें भागमें द्रव्य पर्यायोंसे भरा हुआ यह अलोकसहित लोक स्थित है, वही परमात्मा तीन लोकका गुरु है. **भावार्थ**—त्रिकालवर्त्ती अनन्त द्रव्यपर्यायोंसहित यह लोकालोक जिस ज्ञानमें एक कालपरमाणुके समान प्रतिभासता है, ऐसा केवलज्ञान जिस परमात्माके है वही तीन लोकका स्वामी है ॥ ३४ ॥

तत्स्वरूपाहितस्वान्तस्तद्गुणग्रामरञ्जितः ।
यो जयत्यात्मनात्मानं तस्मिंस्तद्रूपसिद्धये ॥ ३५ ॥

अर्थ—ध्यानी मुनि उस परमात्माके स्वरूपमें मन लगाकर उसके ही गुणग्रामोंसे रंजायमान हो उसमें ही अपने आत्माको आपहीसे उस स्वरूपकी सिद्धिके लिये जोड़ता है अर्थात् तल्लीन होता है ॥ ३५ ॥

इत्यजस्रं स्मरन्योगी तत्स्वरूपावलम्बितः ।
तन्मयत्वमवाप्नोति ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—इसप्रकार निरन्तर स्मरण करता हुआ योगी (मुनि) उस परमात्माके स्वरूपके अवलंबनसे युक्त होकर उसके तन्मयत्वको प्राप्त होता है. कैसा होता है कि,—यह परमात्माका रूप है, सो तो मेरे ग्रहण करने योग्य है, और मैं इसका ग्रहण करनेवाला हूं, ऐसे ग्राह्यग्राहकभावसे वर्जित (रहित) होता है । अर्थात् द्वैतभाव नहीं रहता ॥ ३६ ॥

अनन्यशरणीभूय स तस्मिँल्लीयते तथा ।
ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत् ॥ ३७ ॥

अर्थ—वह ध्यान करनेवाला मुनि अन्य सबका शरण छोड़कर उस परमात्मस्वरूपमें ऐसा लीन होता है कि,—ध्याता और ध्यान इन दोनोंके भेदका अभाव होकर ध्येय स्वरूपसे एकताको प्राप्त हो जाता है. **भावार्थ**—ध्याता ध्यान ध्येयका भेद न रहै ऐसे लीन होता है ॥ ३७ ॥

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस भावमें आत्मा अभिन्नतासे परमात्मामें लीन होता है, वह समरसीभाव आत्मा और परमात्माका समानतास्वरूप भाव है, सो उस परमात्मा और आत्माको एक करने स्वरूप कहा गया है. **भावार्थ**—इस समरसीभावसे ही आत्मा परमात्मा होता है ॥ ३८ ॥

अनन्यशरणस्तद्धि तत्संलीनैकमानसः।
तद्गुणस्तत्स्वभावात्मा स तादात्म्याच्च संवसन् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जब आत्मा परमात्माके ध्यानमें लीन होता है तब एकीकरण कहा है। सो यह एकीकरण अनन्यशरण है. परमात्माके सिवाय अन्य आश्रय नहीं है. उसमें ही जिसका मन लीन है ऐसा तथा तद्गुण कहिये उस परमात्माके ही अनन्त ज्ञानादि गुण जिसमें है ऐसा है, तथा उसका शुद्ध स्वरूप आत्मा ही है और तत्स्वरूपतासे वह परमात्मा ही है. इसप्रकार परमात्माके ध्यानसे आत्मा परमात्मा होता है ॥ ३९ ॥

कटस्य कर्त्ताहमिति संबन्धः स्याद्द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव संबन्धः कीदृशस्तदा ॥ ४० ॥

अर्थ—जो कोई ऐसा कहै कि मैं कट कहिये चटाई अथवा कड़े आदिका कर्त्ता हूं तो उस पुरुष और कटका कर्त्ता कर्म संबन्ध कहा जाता है. और ध्यान तथा ध्येय जब एक आत्मा ही हो तब दोनों भावोंमें क्या संबन्ध कहा जाय? अर्थात् कुछ भी संबन्ध नहीं है. क्योंकि संबन्ध तो दो वस्तुओंमें होता है, एक ही पदार्थमें संबन्धसंबन्धीभाव नहीं होता ॥ ४० ॥

शिखरिणी।

यदज्ञानाज्जन्मी भ्रमति नियतं जन्मगहने
विदित्वा यं सद्यस्त्रिदशगुरुतो याति गुरुताम्।
स विज्ञेयः साक्षात्सकलभुवनानन्दनिलयः
परं ज्योतिस्त्राता परमपुरुषोऽचिन्त्यचरितः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिस परमात्माके ज्ञान विना यह प्राणी संसाररूप गहन वनमें नियमसे भ्रमण

करता है, तथा जिस परमात्माको जाननेसे जीव तत्काल इन्द्रसे भी अधिक महत्ताको प्राप्त होता है, उसे ही साक्षात् परमात्मा जानना. वही समस्त लोकको आनन्द देनेवाला निवासस्थान है. वही परम ज्योति (उत्कृष्ट ज्ञानरूप प्रकाशसहित) है, और वही त्राता (रक्षक) है, परम पुरुष है, अचिन्त्यचरित है, अर्थात् जिसका चरित किसीके चिन्तवनमें नहीं आता ऐसा है ॥ ४१ ॥

इत्थं यत्रानवच्छिन्नभावनाभिर्भवच्युतम् ।
भावयत्यनिशं ध्यानी तत्सवीर्यं प्रकीर्तितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे जो ध्यानी (मुनि) संसाररहित परमात्माको भावनासहित निरन्तर ध्यान करता है, वही सवीर्य ध्यान कहा गया है. **भावार्थ**—अपने पुरुषार्थको चलाता हुआ परमात्माकी भावना करता ही रहै. क्योंकि जबतक ध्यानमें स्थिरता रहती है तबतक ही ध्यान होता है और भावना सदा रहती है ॥ ४२ ॥

दोहा ।

पौरुषकर ध्यावै मुनी, शुद्ध आतमा जोय ।
कर्मरहित वरगुणसहित, तब तैसा ही होय ॥ ३१ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे सवीर्यध्यान-
वर्णनं नाम एकत्रिंशं प्रकरणम् ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंशं प्रकरणम् ।

अब बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माका निश्चय करके शुद्धोपयोगका वर्णन करते हैं,

अज्ञातस्वस्वरूपेण परमात्मा न बुध्यते ।
आत्मैव प्राग्विनिश्चेयो विज्ञातुं पुरुषं परम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिसने अपने आत्माका स्वरूप नहीं जाना वह पुरुष परमात्माको नहीं जान सकता. इसकारण परम पुरुष—परमात्माको जाननेकी इच्छा रखनेवाला पहिले अपने आत्माका ही निश्चय करै. **भावार्थ**—जो आत्मा सर्वथा परमात्मा ही हो तौ निश्चय ही क्या करना है, और जो परमात्मा नहीं है तो अपनेको परका निश्चय करनेसे क्या फल ? इसकारण आत्मा जैसा है तैसा प्रथम निश्चय करनेसे परमात्मा जाना जाता है ॥ १ ॥

आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य न स्यादात्मन्यवस्थितिः ।
मुह्यत्यन्तः पृथक् कर्तुं स्वरूपं देहदेहिनोः ॥ २ ॥

अर्थ—यहां यह विशेष है कि, आत्मतत्त्वके यथार्थ स्वरूपको नहीं जाननेवाले

पुरुषके आत्मामें निश्चय ठहरना नहीं होता. और अन्तरङ्गमें शरीर और आत्माको भिन्न २ करने व समझनेमें मोहको प्राप्त होकर भूल जाता है कि,—इस देहमें द्रव्यइन्द्रिय, भावइन्द्रिय, द्रव्यमन, भावमन; दर्शन, ज्ञान, सुख, दुःख, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, अज्ञान आदि जो अनेक भाव दीखते हैं; इनमेंसे आत्मा कौनसा है? इसप्रकार भ्रम उत्पन्न होता है, इस कारण, पहिले आत्माका निश्चय करना चाहिये ॥ २ ॥

तयोर्भेदापरिज्ञानान्नात्मलाभः प्रजायते ।
तदभावात्स्वविज्ञानसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥ ३ ॥

अर्थ—उस देह और आत्माके भेदविज्ञान विना आत्माका लाभ (प्राप्ति) नहीं होता, और आत्माके लाभ विना भेदविज्ञानकी उत्पत्ति स्वप्नमें भी दुर्घट है, अर्थात् दुर्लभ है ॥ ३ ॥

अतः प्रागेव निश्चेयः सम्यगात्मा मुमुक्षुभिः ।
अशेषपरपर्यायकल्पनाजालवर्जितः ॥ ४ ॥

अर्थ—इस कारण प्रथम ही मोक्षाभिलाषियोंको समस्त परद्रव्योंकी पर्यायकल्पनाओंसे रहित आत्माका ही निश्चय करना चाहिये ॥ ४ ॥

त्रिप्रकारं स भूतेषु सर्वेष्वात्मा व्यवस्थितः ।
बहिरन्तः परश्चेति विकल्पैर्वक्ष्यमाणकैः ॥ ५ ॥

अर्थ—वह आत्मा समस्त देहधारियोंमें वहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्माके भेदसे तीन प्रकारसे व्यवस्थित (अवस्थारूप) है, सो आगे कहे भेदोंसे जानना ॥ ५ ॥

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात् ।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस जीवके शरीरादि परपदार्थोंमें आत्माके भ्रमसे आत्मबुद्धि हो कि यह मैं ही हूं अन्य अर्थात् पर नहीं है सो मोहरूपी निद्रासे अस्त हो गई है चेतना जिसकी ऐसा वहिरात्मा है ॥ ६ ॥

बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः ।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करैः ॥ ७ ॥

अर्थ—तथा जिस पुरुषके वाह्य भावोंको उल्लंघन करके आत्मामें ही आत्माका निश्चय हो सो विभ्रमरूप अन्धकारको दूर करनेमें सूर्यके समान उस आत्माके जाननेवाले पुरुषोंने अन्तरात्मा कहा है ॥ ७ ॥

निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः ।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः ॥ ८ ॥

अर्थ—और जो निर्लेप है अर्थात् जिसके कर्मोंका लेप नहीं, निष्कल कहिये शरीररहित है, शुद्ध है, जिसके रागादिक विकार नहीं हैं, तथा जो निष्पन्न है अर्थात् सिद्धरूप है (जिसको कुछ करना नहीं,) और अत्यन्त निर्वृत है अर्थात् अविनाशी सुखरूप है, तथा निर्विकल्प है अर्थात् जिसमें भेद नहीं है ऐसे शुद्धात्माको कहा गया है ॥ ८ ॥

कथं तर्हि पृथक् कृत्वा देहाद्यर्थकदम्बकात् ।
आत्मानमभ्यसेद्योगी निर्विकल्पमतीन्द्रियम् ॥ ९ ॥

अर्थ—यहां प्रश्न है कि यदि आत्मा ऐसा है तो आत्माको देहादिक पदार्थोंके समूहसे पृथक् करके निर्विकल्प अतीन्द्रिय ऐसा किस प्रकार ध्यान करै ? उसका उत्तर कहते हैं,—

अपास्य बहिरात्मानं सुस्थिरेणान्तरात्मना ।
ध्यायेद्विशुद्धमत्यन्तं परमात्मानमव्ययम् ॥ १० ॥

अर्थ—योगी मुनि बहिरात्माको छोड़कर भलेप्रकर स्थिर अन्तरात्मा होकर अत्यन्त विशुद्ध अविनाशी परमात्माका ध्यान करै ॥ १० ॥ सो ही कहते हैं,—

संयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढधीः ।
बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जो बहिरात्मा है सो चैतन्यस्वरूप आत्माको देहके साथ संयोजन करता है (जोड़ता है) अर्थात् एक समझता है; और जो ज्ञानी है (अन्तरात्मा है) सो देहसे देहीको (चैतन्यस्वरूप आत्माको) पृथक् ही देखता है. यही बहिरात्मा और अन्तरात्माके ज्ञानमें भेद है ॥ ११ ॥

अक्षद्वारैरविश्रान्तं स्वतत्त्वविमुखैर्भृशम् ।
व्यापृतो बहिरात्मायं वपुरात्मेति मन्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—यह बहिरात्मा आत्मस्वरूपसे अतिशयकरके निरन्तर विमुख इन्द्रियोंके द्वारा व्यापाररूप हुआ शरीरको ही आत्मा मानता है ॥ १२ ॥

सुरं त्रिदशपर्यायैर्नृपर्यायैस्तथा नरम् ।
तिर्यञ्चं च तदङ्गे स्वं नारकाङ्गे च नारकम् ॥ १३ ॥
वेत्त्यविद्यापरिश्रान्तो मूढस्तन्न पुनस्तथा ।
किन्त्वमूर्तं स्वसंवेद्यं तद्रूपं परिकीर्तितम् ॥ १४ ॥

अर्थ—अविद्यासे (मिथ्याज्ञानसे) परिश्रान्त (खेदखिन्न) मूढ बहिरात्मा देवके पर्यायोंसहित आत्माको तो देव मानता है और मनुष्यपर्यायोंसहित अपनेको मनुष्य मानता है तथा तिर्यंचके अंगमें रहते हुएको तिर्यंच और नारकीके शरीरमें रहते हुएको नारकी

मानता है सो भ्रम है. क्योंकि, पर्यायका रूप आत्माका रूप नहीं है. आत्माका रूप तो अमूर्त्तीक है, स्वसंवेद्य है, अर्थात् अपनेही द्वारा अपनेको जानने योग्य है ॥ १३—१४ ॥

स्वशरीरमिवान्विष्य पराङ्गं च्युतचेतनम्।
परमात्मानमज्ञानी परबुद्ध्याऽध्यवस्यति ॥ १५ ॥

अर्थ—तथा वही बहिरात्मा अज्ञानी जिसप्रकार अपने शरीरको आत्मा जानता है उसीप्रकार परके अचेतन देहको देखकर परका आत्मा मानता है अर्थात् उसको परकी बुद्धिसे निश्चय करता है ॥ १५ ॥

स्वात्मेतरविकल्पैस्तैः शरीरेष्ववलम्बितम्।
प्रवृत्तैर्वञ्चितं विश्वमनात्मन्यात्मदर्शिभिः ॥ १६ ॥

अर्थ—अपने शरीरमें तो अपना आत्मा जाने और परके शरीरमें परका आत्मा जाने इसप्रकार शरीरोंमें अवलंबनस्वरूप प्रवर्त्ते हुए विकल्पोंसे अनात्मामें आत्माके देखनेवाले अज्ञानी जनोंने इस लोकको ठग लिया ॥ १६ ॥

ततः सोऽत्यन्तभिन्नेषु पशुपुत्राङ्गनादिषु।
आत्मत्वं मनुते शश्वदविद्याज्वरजिह्मितः ॥ १७ ॥

अर्थ—इस कारणसे मिथ्याज्ञानरूपी ज्वरसे निरंतर पीडित होकर वह बहिरात्मा अज्ञानी अपनेसे अत्यन्त भिन्न पशु पुत्र स्त्री आदिकमें भी आत्मपना मानता है ॥ १७ ॥

साक्षात्स्वानेव निश्चित्य पदार्थांश्चेतनेतरान्।
स्वस्यैव मन्यते मूढस्तन्नाशोपचयादिकम् ॥ १८ ॥

अर्थ—यह मूढ बहिरात्मा अपनेसे भिन्न चेतन अचेतन पदार्थोंको साक्षात् अपने ही निश्चय करके उनके नाश होने और संचय होनेमें अपना ही नाश और संचय होना मानता है ॥ १८ ॥

अनादिप्रभवः सोऽयमविद्याविषमग्रहः।
शरीरादीनि पश्यन्ति येन स्वमिति देहिनः ॥ १९ ॥

अर्थ—यह पूर्वोक्त अनादिसे उत्पन्न हुआ अविद्यारूपी विषम आग्रह है जिसके द्वारा यह मूढ प्राणी शरीरादिकको अपना मानता है, अर्थात् यह शरीर है सो मैंही हूं इसप्रकार देखता है ॥ १९ ॥

वपुष्यात्मेति विज्ञानं वपुषा घटयत्यमून्।
स्वस्मिन्नात्मेति बोधस्तु भिनत्यङ्गं शरीरिणाम् ॥ २० ॥

अर्थ—शरीरमें यह आत्मा है ऐसा ज्ञान तो जीवोंको शरीरसहित करता है, और आपमें ही आप है, अर्थात् आत्मामें ही आत्मा है, इसप्रकारका विज्ञान जीवोंको शरीरसे भिन्न करता है ॥ २० ॥

वपुष्यात्ममतिः सूते बन्धुवित्तादिकल्पनम्।
स्वस्य संपदमेतेन मन्वानं मुषितं जगत् ॥ २१ ॥

अर्थ—शरीरमें जो आत्मबुद्धि है सो बन्धु धन इत्यादिककी कल्पना उत्पन्न कराती है, तथा इस कल्पनासे ही जगत् अपने सम्पदा मानता हुआ ठगा गया है ॥ २१ ॥

तनावात्मेति यो भावः स स्याद्बीजं भवस्थितेः।
बहिर्वीताक्षविक्षेपस्तत्त्यक्त्वान्तर्विशेत्ततः ॥ २२ ॥

अर्थ—शरीरमें ऐसा जो भाव है कि—'यह मैं आत्माही हूं' ऐसा भाव संसारकी स्थितिका बीज है. इस कारण, बाह्यमें नष्ट हो गया है इन्द्रियोंका विक्षेप जिसके ऐसा पुरुष उस भावरूप संसारके बीजको छोड़कर अन्तरंगमें प्रवेश करो, ऐसा उपदेश है ॥ २२ ॥

अक्षद्वारैस्ततश्च्युत्वा निमग्नो गोचरेष्वहम्।
तानासाद्याहमित्येतन्न हि सम्यगवेदिषम् ॥ २३ ॥

अर्थ—ज्ञानी इसप्रकार विचार करता है कि इन्द्रियोंके द्वारोंसे मैं आत्मस्वरूपसे छूटकर विषयोंमें मग्न होगया तथा उन विषयोंको प्राप्त होकर यह अहंपदसे जाना जाय ऐसे आत्मस्वरूपको भलेप्रकार नहीं जाना ॥ २३ ॥

बाह्यात्मानमपास्यैवमन्तरात्मा ततस्त्यजेत्।
प्रकाशयत्ययं योगः स्वरूपं परमेष्ठिनः ॥ २४ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्तप्रकारसे बाह्यशरीरादिकमें आत्मबुद्धिको छोड़कर अन्तरात्मा होता हुआ इन्द्रियोंके विषयादिकमें भी आत्मबुद्धिको छोड़ै इसप्रकार यह योग परमेष्ठीके स्वरूपको प्रकाश करता है ॥ २४ ॥

अब इन्द्रियोंके विषयोंमें आत्मबुद्धि किसप्रकार छोड़ै सो कहते हैं,—

यद्यद्दृश्यमिदं रूपं तत्तदन्यन्न चान्यथा।
ज्ञानवच्च व्यतीताक्षमतः केनाऽत्र वच्म्यहम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जो जो देखने योग्य यह रूप है सो सो अन्य है, और ज्ञानवान् रूप है सो अन्यप्रकार नहीं है (अन्यरूप सदृश नहीं है) यह व्यतीताक्ष है (इन्द्रियज्ञानसे अतीत है). इसकारण मैं किसके साथ वचनालाप करूं? । **भावार्थ**—मूर्त्तीक पदार्थ इन्द्रियोंसे ग्रहण करनेयोग्य होता है सो वह तो जड़ है कुछ भी जानता नहीं है, और मैं ज्ञानमूर्त्ति हूं. पुद्गलमूर्त्तिसे रहित हूं. इन्द्रियें मुझे ग्रहण नहीं करतीं अर्थात् इन्द्रियें मुझे नहीं जान सक्तीं. इसकारण परस्पर वार्तालाप किससे करूं? इसप्रकार विचार कर विषयोंमें आत्मबुद्धि छोड़ै ॥ २५ ॥

यज्जनैरपि बोध्योऽहं यज्जनान्बोधयाम्यहम् ।
तद्विभ्रमपदं यस्मादहं विधुतकल्मषः ॥ २६ ॥

अर्थ—जो ' लोगोंद्वारा मैं संबोधनेयोग्य हूं तथा जो मैं लोगोंको संबोधता हूं ' ऐसा भाव है वह भी विभ्रमका स्थान है । क्योंकि, मैं तो पापसे रहित हूं अर्थात् आत्मा तो निष्कलंक है. इसे कौन संबोधे ? और यह किसको संबोधै ? ॥ २६ ॥

यः स्वमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतोऽपरम् ।
निर्विकल्पः स विज्ञानी स्वसंवेद्योऽस्मि केवलम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जो आत्मा आपको ही ग्रहण करता है तथा आपसे पर है उसको नहीं ग्रहण करता है सो यह विज्ञानी (भेदज्ञानी) विकल्परहित होकर, इसप्रकार भावना करता है कि—मैं एक अपने ही जाननेयोग्य हूं. इसप्रकार विचार कर परसे परस्पर देने लेनेका व्यवहार छोड़ देता है ॥ २७ ॥

जातसर्पमतेर्यद्वच्छृङ्खलायां क्रियाभ्रमः ।
तथैव मे क्रियाः पूर्वास्तन्वादौ स्वमिति भ्रमात् ॥ २८ ॥

अर्थ—जिसकी सांकलमें सर्पकी बुद्धि है ऐसे पुरुषके जैसे क्रियाका भ्रम होता है, उसी प्रकार मेरे भी शरीरादिकमें आत्मबुद्धिरूप भ्रमसे, भेदज्ञान होनेसे पहिले, भ्रमरूप क्रिया अनेक हुई ॥ २८ ॥

शृङ्खलायां यथा वृत्तिर्विनष्टे भुजगभ्रमे ।
तन्वादौ मे तथा वृत्तिर्नष्टात्मविभ्रमस्य वै ॥ २९ ॥

अर्थ—तथा जब सांकलमें सर्पका भ्रम था सो नष्ट हो जानेपर सांकलमें जिसप्रकार यथावत् प्रवृत्ति होती है उसीप्रकार मेरे शरीरादिकमें आत्माका भ्रम नष्ट होजानेपर मैं भ्रमसे रहित हो गया तब मेरे शरीरादिकमें यथावत् प्रवृत्ति होगई । उनको परद्रव्य मानै तब ऐसी भावनासे परद्रव्यका ममत्व छोड़ै ॥ २९ ॥

एतदेवैष एकं द्वे बहूनीति धियः पदम् ।
नाहं यच्चात्मनात्मानं वेत्त्यात्मनि तदस्म्यहम् ॥ ३० ॥

अर्थ—तथा इसप्रकार विचार करै कि—यह तो नपुंसक है, यह स्त्री है, और यह पुरुष है, तथा यह एक है, दो हैं, बहुत हैं, ऐसे लिंग और संख्याकी बुद्धिका स्थान मैं नहीं हूं । क्योंकि मैं तो अपनेद्वारा अपनेको आपहीमें जाननेवाला हूं । इसप्रकार लिंगसंख्याका विकल्प भी छोड़ै ॥ ३० ॥

यदबोधे मया सुप्तं यद्बोधे पुनरुत्थितम् ।
तद्रूपमप्रत्यक्षं स्वसंवेद्यमहं किल ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिसका ज्ञान नहीं होते तौ मैं सोया और जिसको ज्ञान होते हुए मैं उठा (जगा) वह रूपभी मेरे जाननेयोग्य प्रत्यक्ष है. वहही मै हूं । इसप्रकार विचार करै ॥ ३१ ॥

ज्योतिर्मयं ममात्मानं पश्यतोऽत्रैव यान्त्यमी ।
क्षयं रागादयस्तेन नाऽरिः कोऽपि प्रियो न मे ॥ ३२ ॥

अर्थ—फिर यह विचारै कि—मैं अपनेको ज्योतिर्मय ज्ञानप्रकाशरूप देखता हूं, मेरे रागादिक इसीमें क्षयको प्राप्त होते हैं। इसकारण मेरे न तो कोई शत्रु है और न कोई मित्र है ॥ ३२ ॥

अदृष्टमत्स्वरूपोऽयं जनो नारिर्न मे प्रियः ।
साक्षात्सुदृष्टरूपोऽपि जनो नारिः सुहृन्न मे ॥ ३३ ॥

अर्थ—नहीं देखा है मेरा स्वरूप जिसने ऐसा लोक न तौ मेरा शत्रु है न मित्र है। और जिसने साक्षात् मेरा स्वरूप देखा वह लोक भी मेरा न शत्रु है और न मित्र ही है. इसप्रकार विचार करै ॥ ३३ ॥

अतःप्रभृति निःशेषं पूर्वं पूर्वं विचेष्टितम् ।
ममाद्य ज्ञाततत्त्वस्य भाति स्वप्नेन्द्रजालवत् ॥ ३४ ॥

अर्थ—यहांसे लगाकर, तत्त्वस्वरूपके जाननेसे पहिले पहिले जो मैंने सर्व प्रकारकी चेष्टायें करीं, अब स्वरूप जाननेसे मुझे वे सब स्वप्नसदृश अथवा इन्द्रजालवत् प्रतिभासती हैं ॥ ३४ ॥

यो विशुद्धः प्रसिद्धात्मा परं ज्योतिः सनातनः ।
सोऽहं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—विशुद्ध है (निर्मल) और प्रसिद्ध है आत्मस्वरूप जिसका ऐसा परमज्योति सनातन जो सुननेमें आता है सो मैं ही हूं, इसकारण अपनेमेंही अविनाशी परमात्माको मैं प्रकटतया देखता हूं. इसप्रकार अपनेको ही परमात्मस्वरूप देखै ॥ ३५ ॥

बाह्यात्मानमपि त्यक्त्वा प्रसन्नेनान्तरात्मना ।
विधूतकल्पनाजालं परमात्मानमामनेत् ॥ ३६ ॥

अर्थ—फिर बाह्य आत्माको भी छोड़कर प्रसन्नरूप अन्तरात्माके द्वारा मिटे हैं कल्पनाके जाल (समूह) जिसके ऐसे परमात्माको अभ्यासगोचर करै ॥ ३६ ॥

बन्धमोक्षावुभावेतौ भ्रमेतरनिबन्धनौ ।
बन्धश्च परसंबन्धाद्भेदाभ्यासात्ततः शिवम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—बन्ध और मोक्ष ये दोनों भ्रम और निर्भ्रम है कारण जिनका ऐसे हैं. उनमेंसे परके संबन्धसे तौ बन्ध है और परद्रव्यके भेदके अभ्याससे मोक्ष है ॥ ३७ ॥

अलौकिकमहो वृत्तं ज्ञानिनः केन वर्ण्यते।
अज्ञानी बध्यते यत्र ज्ञानी तत्रैव मुच्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ—अहो! देखो, ज्ञानीपुरुषका यह बड़ा अलौकिक चरित्र किससे वर्णन किया जाय? क्योंकि, जिस आचरणमें अज्ञानी कर्मसे बँध जाता है उसी आचरणमें ज्ञानी बन्धसे छूट जाता है. यह आश्चर्यकी बात है ॥ ३८ ॥

यज्जन्मगहने खिन्नं प्राङ्मया दुःखसंकुले।
तदात्मेतरयोर्नूनमभेदेनावधारणात् ॥ ३९ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करै कि 'मैं दुःखसे भरे हुए इस संसाररूप गहन वनमें जो खेद खिन्न हुआ सो आत्मा और अनात्माके अभेदके द्वारा, अवधारणासे हुए भेदविज्ञानके विना ही संसारमें दुःखी हुआ हूं. ऐसा निश्चय करै ॥ ३९ ॥

मयि सत्यपि विज्ञानप्रदीपे विश्वदर्शिनि।
किं निमज्जत्ययं लोको वराको जन्मकर्दमे ॥ ४० ॥

अर्थ—मुझ समस्तको दिखानेवाले ज्ञानस्वरूप दीपकके होते हुए भी यह वराक लोक संसाररूपी कर्दममें क्यों डूबता है, अर्थात् आत्माकी ओर क्यों नहीं देखता? जिससे संसाररूपी कर्दममें न डूबै. इसप्रकार देखै ॥ ४० ॥

आत्मन्येवात्मनात्मायं स्वयमेवानुभूयते।
अतोऽन्यत्रैव मां ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्फलः ॥ ४१ ॥

अर्थ—यह आत्मा आत्मामें ही आत्माके द्वारा स्वयमेव अनुभवन किया जाता है. इससे अन्यत्र आत्माके जाननेका जो खेद है सो कार्यनिष्फल है। अर्थात् उसका फल—कार्य नहीं है. इसप्रकार जानै ॥ ४१ ॥

स एवाहं सएवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम्।
वासनां दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—'वही मैं हूं, वही मैं हूं' इसप्रकार निरन्तर अभ्यास करता हुआ पुरुष इस वासनाको दृढ करता हुआ आत्मामें अवस्थितिको प्राप्त होता है, अर्थात् ठहर जाता है ॥ ४२ ॥

फिर भी विचार करता है,—

स्याद्यद्यत्प्रीतयेऽज्ञस्य तत्तदेवापदास्पदम्।
बिभेत्ययं पुनर्यस्मिंस्तदेवानन्दमन्दिरम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—अज्ञानी पुरुषके जो जो विषयादिक वस्तु प्रीतिके अर्थ है वह वह ज्ञानीके आपदाका स्थान है। तथा अज्ञानी जिस तपश्चरणादिमें भय करता है वही ज्ञानीके आनन्दका निवास है। क्योंकि, अज्ञानीको अज्ञानके कारण विपर्यय भासता है ॥ ४३ ॥

सुसंवृतेन्द्रियग्रामे प्रसन्ने चान्तरात्मनि ।
क्षणं स्फुरति यत्तत्त्वं तद्रूपं परमेष्ठिनः ॥ ४४ ॥

अर्थ—भले प्रकार संवररूप किये हैं इन्द्रियोंके स्थान जिसने और अंतरंगमें प्रसन्न (विशुद्ध परिणामस्वरूप) अन्तरात्माके होनेपर जो उस समय तत्त्वका स्फुरण होता है वही परमेष्ठीका रूप है । **भावार्थ**—शुद्ध नयके द्वारा क्षणमात्र भी अनुभव करनेपर जो शुद्धात्माका स्वरूप प्रतिभासता है वही परमेष्ठी अरहंतसिद्धका स्वरूप है ॥ ४४ ॥

यः सिद्धात्मा परः सोऽहं योऽहं स परमेश्वरः ।
मदन्यो न मयोपास्यो मदन्येन न चाप्यहम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो सिद्धका आत्मस्वरूप है वही परमात्मा परमेश्वरस्वरूप मै हूं. मेरे मुझसे अन्य कोई उपासना करने योग्य नहीं है तथा मुझसे अन्यकरके मैं उपासना करने योग्य नहीं हूं. इसप्रकार अद्वैतभावना करै ॥ ४५ ॥

आकृष्य गोचरव्याघ्रमुखादात्मानमात्मना ।
स्वस्मिन्नेव स्थिरीभूतश्चिदानन्दमये स्वयम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—फिर इसप्रकार भावना करै कि—मैं अपने आत्माको इन्द्रियोंके विषयरूपी व्याघ्रके मुखसे खैंचकर (काढ़कर), आत्माके द्वारा ही मैं चिदानन्दमय अपने आत्मामें स्थिररूप हुआ हूं. इसप्रकार चैतन्य और आनन्दरूप विषै लीन होवै ॥ ४६ ॥

पृथगित्थं न मां वेत्ति यस्तनोर्वीतविभ्रमः ।
कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं न स मुच्येत बन्धनैः ॥ ४७ ॥

अर्थ—विभ्रमरहित जो मुनि पूर्वोक्तप्रकार आत्माको देहसे भिन्न नहीं जानता है वह तीव्र तप करता हुआ भी कर्मबन्धनसे नहीं छूटता ॥ ४७ ॥

स्वपरान्तरविज्ञानसुधास्पन्दाभिनन्दितः ।
खिद्यते न तपः कुर्वन्नपि क्लेशैः शरीरजैः ॥ ४८ ॥

अर्थ—भेद विज्ञानी मुनि आत्मा और परके अन्तर्भेदी विज्ञानरूप अमृतके वेगसे आनन्दरूप होता हुआ व तप करता हुआ भी शरीरसे उत्पन्न हुए खेद क्लेशादिसे खिन्न नहीं होता है ॥ ४८ ॥

रागादिमलविश्लेषाद्यस्य चित्तं सुनिर्मलम् ।
सम्यक् स्वं स हि जानाति नान्यः केनापि हेतुना ॥ ४९ ॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त रागादिक मलके भिन्न होनेसे भलेप्रकार निर्मल होगया हो वही मुनि सम्यक्प्रकार आत्माको (अपनेको) जानता है, अन्य किसी हेतुसे नहीं जान सकता ॥ ४९ ॥

निर्विकल्पं मनस्तत्त्वं न विकल्पैरभिद्रुतम् ।
निर्विकल्पमतः कार्यं सम्यक्तत्त्वस्य सिद्धये[1] ॥ ५० ॥

अर्थ—निर्विकल्प मन तो तत्त्वस्वरूप है और जो मन विकल्पोंसे पीड़ित है वह तत्त्वस्वरूप नहीं है; इसकारण सम्यक्प्रकार तत्त्वकी सिद्धिके लिये मनको विकल्परहित करना. यह उपदेश है ॥ ५० ॥

अज्ञानविप्लुतं चेतः स्वतत्त्वादपवर्त्तते ।
विज्ञानवासितं तद्धि पश्यत्यन्तः पुरः प्रभुम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो मन अज्ञानसे विगड़ा हुआ है (पीडित है) वह तो निजस्वरूपसे छूट जाता है, और जो मन विज्ञान कहिये सम्यग्ज्ञानसे वासित है वह अपने अन्तरंगमें प्रभु भगवान् परमात्माको देखता है, यह विधि है. इसकारण अज्ञानको दूर करना चाहिये ॥ ५१ ॥

मुनेर्यदि मनो मोहाद्रागाद्यैरभिभूयते ।
तन्नियोज्यात्मनस्तत्त्वे तान्येव क्षिप्यते क्षणात् ॥ ५२ ॥

अर्थ—मुनिका मन यदि मोहके उदयसे रागादिकसे पीड़ित हो तो मुनि उस मनको आत्मस्वरूपमें लगाकर, उन रागादिकोंको क्षणमात्रमें क्षेपण करता है अर्थात् दूर करता है ॥ ५२ ॥

यत्राज्ञात्मा रतः काये तस्माद्व्यावर्त्तितो धिया ।
चिदानन्दमये रूपे योजितः प्रीतिमुत्सृजेत् ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिस कायमें अज्ञानी आतमा रत (रागी) हुआ है उस कायसे बुद्धिपूर्वक भिन्न किये हुए चिदानंद स्वरूपमें लगाया हुआ मन उस कायमें प्रीति छोड़ देता है ॥५३॥

स्वविभ्रमोद्भवं दुःखं स्वज्ञानेनैव हीयते ।
तपसापि न तच्छेद्यमात्मविज्ञानवर्जितैः ॥ ५४ ॥

अर्थ—अपने विभ्रमसे उत्पन्न हुआ दुःख अपनेही ज्ञानसे दूर होता है और जो आत्माके विज्ञानसे रहित पुरुष हैं वे तपके द्वारा भी उस दुःखको दूर नहीं कर सकते । **भावार्थ**—आत्मज्ञानके विना केवल तप करने मात्रसे दुःख नहीं मिटता ॥ ५४ ॥

रूपायुर्बलवित्तादि–सम्पत्तिं स्वस्य वाञ्छति ।
बहिरात्माथ विज्ञानी साक्षात्तेभ्योपि विच्युतिम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो बहिरात्मा है वह तो अपने लिये सुंदररूप, आयु, बल, धन, इत्यादिक चाहता है और जो भेद विज्ञानी पुरुष है वह अपनेमें, रूपादिक विद्यमान हों उनसे भी विच्युति कहिये छूटना चाहता है ॥ ५५ ॥

---

१ ‘ सम्यक्तत्त्वप्रसिद्धये ’ इत्यपि पाठः ।

कृत्वाहंमतिमन्यत्र बध्नाति स्वं स्वतश्च्युतः।
आत्मन्यात्ममतिं कृत्वा तस्माद् ज्ञानी विमुच्यते ॥ ५६ ॥

अर्थ—अपने आत्मस्वभावसे च्युत हुआ वहिरात्मा अन्य पदार्थोंमें अहंबुद्धि करके अपने आपको वांधता है अर्थात् कर्मबन्ध करता है। और ज्ञानी पुरुष आत्मामें ही आत्मबुद्धि करके उस परपदार्थसे छूट जाता है ॥ ५६ ॥

आत्मानं वेत्त्यविज्ञानी त्रिलिङ्गी संगतं वपुः।
सम्यग्वेदी पुनस्तत्त्वं लिङ्गसंगतिवर्जितम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—भेदविज्ञानरहित वहिरात्मा तीन लिंगोंसे चिह्नित शरीरको आत्मा जानता है और सम्यग्ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्वको इन लिंगोंकी संगतिसे रहित जानता है ॥ ५७ ॥

समभ्यस्तं सुविज्ञातं निर्णीतमपि तत्त्वतः।
अनादिविभ्रमात्तत्त्वं प्रस्खलत्येव योगिनः ॥ ५८ ॥

अर्थ—फिर ऐसी भावना करता है कि योगी मुनिका तत्त्व कहिये आत्माका यथार्थ स्वरूप भलेप्रकार अभ्यास रूप किया (परमार्थसे निर्णय किया) हुआ भी अनादि विभ्रमके कारण डिग जाता है। **भावार्थ**—विभ्रमका संस्कार ऐसा तीव्र होता है कि जाना हुआ आत्मस्वरूप भी छूट जाता है; इस कारण ऐसा विचार करै कि—

अचिद्दृश्यमिदं रूपं न चिद्दृश्यं ततो वृथा।
मम रागादयोऽर्थेषु स्वरूपं संश्रयाम्यहम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—यह रूप (मूर्ति) अचेतन है और दृश्य अर्थात् इन्द्रियग्राह्य है और यह चेतन दृश्य (इन्द्रियग्राह्य) नहीं हैं; इसकारण मेरे रूपादिक परपदार्थोंमें जो रागादिक हैं वे सव वृथा (निष्फल) हैं। मैं अपने स्वरूपको आश्रय करता हूं। इसप्रकार विचारै ॥ ५९ ॥

करोत्यज्ञो ग्रहत्यागौ वहिरन्तस्तु तत्त्ववित्।
शुद्धात्मा न वहिर्वान्तस्तौ विदध्यात्कथंचन ॥ ६० ॥

अर्थ—अज्ञानी वाह्य त्याग ग्रहण करता है, और तत्त्वज्ञानी अन्तरंग त्याग ग्रहण करता है, और जो शुद्धात्मा है सो वाह्य और अन्तरंगके दोनों ही त्याग ग्रहण नहीं करता है ॥ ६० ॥

वाक्कायाभ्यां पृथक् कृत्वा मनसात्मानमभ्यसेत्।
वाक्तनुभ्यां प्रकुर्वीत कार्यमन्यन्न चेतसा ॥ ६१ ॥

अर्थ—मुनि आत्माको वचन और कायसे भिन्न करके मनसे अभ्यास करै

तथा अन्य कार्योंको वचन और कायसे करै. चित्तसे नहीं करै. चित्तसे तो आत्माका ही अभ्यास करै ॥ ६१ ॥

विश्वासानन्दयोः स्थानं स्याज्जगदज्ञचेतसाम् ।
क्वानन्दः क्व च विश्वासः स्वस्मिन्नेवात्मवेदिनाम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—अज्ञानचित्तवालोंके तो यह जगत् विश्वास और आनन्दका स्थान है और अपने आत्माहीमें आनन्दके जाननेवालोंके कहां तो आनंद और कहां विश्वास ? अर्थात कहीं भी नहीं, अपनेमें ही आनन्दरूप है ॥ ६२ ॥

स्वबोधादपरं किञ्चिन्न स्वान्ते विभृयात्क्षणम् ।
कुर्यात्कार्यवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामनादृतः ॥ ६३ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानी मुनि ज्ञानके सिवाय किसी कार्यको मनमें क्षणमात्र भी नहीं धारण करता. यदि अन्य कार्योंको किसी कारणवशातः करता भी है तो वचन और कायसे विना आदरके करता है; मनमें तो ज्ञानकी ही वासना निरन्तर रहती है ॥ ६३ ॥

यदक्षविषयं रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणम् ।
आनन्दनिर्भरं रूपमन्तर्ज्योतिर्मयं मम ॥ ६४ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानी मुनि यह विचारता है कि जो इन्द्रियोंके विषयरूप मूर्ति है सो तो मेरे आत्मस्वरूपसे विलक्षण है. मेरा रूप तो आनन्दसे भरा अन्तरंग ज्योतिर्मयी (ज्ञानप्रकाशमय) है ॥ ६४ ॥

अन्तर्दुःखं बहिः सौख्यं योगाभ्यासोद्यतात्मनाम् ।
सुप्रतिष्ठितयोगानां विपर्यस्तमिदं पुनः ॥ ६५ ॥

अर्थ—योगके अभ्यासमें उद्यमरूप है आत्मा जिनका ऐसे साधक मुनियोंके अन्तरंगमें दुःख और बाह्यमें सुख है, और जिनका योग सुप्रतिष्ठित है उनके इससे विपर्यस्त है अर्थात् अन्तरंगमें तो सुख है और बाह्यमें दुःख है; **भावार्थ**— योगी साधक अवस्थामें तो योगाभ्यासको सुखरूप जान उद्यम करता है, परन्तु साधन करते समय कुछ पीड़ा होती है । और जब अभ्यास सिद्ध हो जाता है तब परके देखनेमें तो दुःख दीखता है किन्तु अन्तरंगमें सुखी होता है ॥ ६५ ॥

तद्विज्ञेयं तदाख्येयं तच्छ्रव्यं चिन्त्यमेव वा ।
येन भ्रान्तिमपास्योच्चैः स्यादात्मन्यात्मनः स्थितिः ॥ ६६ ॥

अर्थ—मुनिजनोंको यह करना योग्य है कि जिससे भ्रान्तिको छोड़कर आत्माकी स्थिति आत्मामें ही हो । और यही विषय जानना चाहिये तथा इसको ही वचनसे कहना व सुनना तथा इसको ही विचारना चाहिये ॥ ६६ ॥

विषयेषु न तत्किञ्चित्स्याद्धितं यच्छरीरिणाम् ।
तथाप्येष्वेव कुर्वन्ति प्रीतिमज्ञा न योगिनः ॥ ६७ ॥

अर्थ—यद्यपि इन इन्द्रियोंके विषयोंमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो जीवोंका हितकर हो तथापि ये अज्ञानको जोड़नेवाले मूर्ख प्राणी उन विषयोंमें ही प्रीति करते हैं. सो यह अज्ञानकी चेष्टा है ॥ ६७ ॥

अनाख्यातमिवाख्यातमपि न प्रतिपद्यते ।
आत्मानं जडधीस्तेन वन्ध्यस्तत्र ममोद्यमः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जडधी (मूर्ख) कहते हुए भी विना कहेकी समान आत्माको प्राप्त नहीं होता सो यहां मेरे कहनेका उद्यम वृथा (निष्फल) है. इस प्रकार विचार करै ॥ ६८ ॥

तन्नाहं यन्मया किञ्चित्प्रज्ञापयितुमिष्यते ।
योऽहं न स परग्राह्यस्तन्मुधा बोधनोद्यमः ॥ ६९ ॥

अर्थ—जो कुछ मैं परको जानना चाहता हूं सो मैं वह आत्मा नहीं हूं और जो मैं आत्मा हूं वह आत्मा परके ग्रहण करने योग्य नहीं है; इसकारण मेरे परके संबोधनका जो उद्यम है, सो वृथा है. क्योंकि, आत्मा आपहीसे जाना जाता है. परका कहना सुनना निमित्तमात्र है. इसकारण इसमें आग्रह करना वृथा है ॥ ६९ ॥

निरुद्धज्योतिरज्ञोऽन्तः स्वतोऽन्यत्रैव तुष्यति ।
तुष्यत्यात्मनि विज्ञानी बहिर्विगतविभ्रमः ॥ ७० ॥

अर्थ—अज्ञानी तो अपनेसे भिन्न पर वस्तुमें ही सन्तुष्ट होता है; क्योंकि, अन्तर्ज्योति रुद्ध होगई है. और ज्ञानी पुरुष आत्मामें ही सन्तुष्ट होता है; क्योंकि, उसके बाह्य विभ्रम नष्ट हो गया है ॥ ७० ॥

यावदात्मेच्छयाऽऽदत्ते वाक्चित्तवपुषां व्रजम् ।
जन्म तावदमीषां तु भेदज्ञानाद्भवच्युतिः ॥ ७१ ॥

अर्थ—यह प्राणी जबतक वचन मन कायके समूहको आत्माकी इच्छासे ग्रहण करता है तबतक इसके संसार है। तथा इनका जब भेदज्ञान होता है तब उससे संसारका अभाव होता है ॥ ७१ ॥

जीर्णे रक्ते घने ध्वस्ते नात्मा जीर्णादिकः पटे ।
एवं वपुषि जीर्णादौ नात्मा जीर्णादिकस्तथा ॥ ७२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार वस्त्रके जीर्ण होते, रक्त होते, दृढ होते वा नष्ट होते आत्मा वा शरीर जीर्ण रक्तादिक स्वरूप नहीं होता, उसी प्रकार शरीरके जीर्ण वा ध्वस्त होते हुए आत्मा जीर्णादिकरूप नहिं होता. यह दृष्टान्त दार्ष्टान्त जानना ॥ ७२ ॥

चलमप्यचलप्रख्यं जगद्यस्यावभासते ।
ज्ञानयोगक्रियाहीनं स एवास्कन्दति ध्रुवम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जिस योगी मुनिको चलस्वरूप भी यह जगत् अचलकी समान दीखता है, वही मुनि इन्द्रिय ज्ञानकी और योगकी क्रियासे हीन ऐसे शिवको (निर्वाणको) प्राप्त होता है. **भावार्थ**—जब अपने परिणाम स्थिरीभूत होते हैं तब समस्त पदार्थ ज्ञानमें निश्चल प्रतिबिंब स्वरूप ही भासते हैं और तब ही मुक्त होता है ॥ ७३ ॥

तनुत्रयावृतो देही ज्योतिर्मयवपुः स्वयम् ।
न वेत्ति यावदात्मानं क्व तावद्बन्धविच्युतिः ॥ ७४ ॥

अर्थ—यह आत्मा स्वयं तो ज्ञानज्योति–प्रकाशमय है, और देहसहित देही औदारिक तैजस और कार्माण इन तीन शरीरोंसे ढका हुआ है. सो यह आत्मा जबतक अपने ज्ञानमय आत्माको नहीं जानता तबतक बंधका अभाव कहांसे हो अर्थात् होता नहीं है ॥ ७४ ॥

गलन्मिलदणुव्रातसंनिवेशात्मकं वपुः ।
वेत्ति मूढस्तदात्मानमनाद्युत्पन्नविभ्रमात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—झरते मिलते पुद्गल परमाणुओंके स्कन्धोंके निवेशसे रचा हुआ जो यह शरीर है, उसको यह मूढ बहिरात्मा अनादिसे उत्पन्न हुए विभ्रमसे आत्मा जानता है. यही संसारका बीज है ॥ ७५ ॥

मुक्तिरेव मुनेस्तस्य यस्यात्मन्यचला स्थितिः ।
न तस्यास्ति ध्रुवं मुक्तिर्न यस्यात्मन्यवस्थितिः ॥ ७६ ॥

अर्थ—जिस मुनिकी आत्मामें अचलस्थिति है उसीको मुक्ति होती है. और जिसकी आत्मामें अवस्थिति नहीं है उसको नियमसे मुक्ति नहीं होती। क्योंकि आत्मामें जो अवस्थिति है वही सम्यग्दर्शन व ज्ञानपूर्वक चारित्र है और उसीसे मुक्ति है. सांख्य नैयायिकादि मतावलंबी ज्ञानमात्रसे मुक्ति मानते हैं, सो नहीं है ॥ ७६ ॥

दृढः स्थूलः स्थिरो दीर्घो जीर्णः शीर्णो लघुर्गुरुः ।
वपुषैवमसंबध्नन्स्वं विन्द्याद्वेदनात्मकम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—शरीरसहित मैं दृढ हूं, स्थूल (मोटा) हूं, स्थिर हूं, लंबा हू, जीर्ण हूं, शीर्ण (अति कृश) हूं, हलका हूं, और भारी हूं, इस प्रकार आत्माको शरीरसहित संबंध रूप नहीं करता हुआ पुरुष ही आत्माको ज्ञानस्वरूप जानता है अर्थात् अनुभव करता है ॥ ७७ ॥

जनसंसर्गं वाक्चित्तपरिस्पन्दमनोभ्रमाः ।
उत्तरोत्तरबीजानि ज्ञानी जनस्ततस्त्यजेत् ॥ ७८ ॥

अर्थ—लोकका संसर्ग होनेसे वचन और चित्तका चलना और मनको भ्रम होता है. ये उत्तरोत्तर बीज स्वरूप हैं. अर्थात् लोकके संसर्गसे तो परस्पर वचनालाप होता है और उस वचनालापसे चित्त चलायमान होता है और चित्त चलनेसे मनमें भ्रम होता है. इस कारण, ज्ञानी मुनि लोकके संसर्गको छोड़ै। **भावार्थ**—लौकिक जनकी संगति न करै ॥ ७८ ॥

नगग्रामादिषु स्वस्य निवासं वेत्त्यनात्मवित्।
सर्वावस्थासु विज्ञानी स्वस्मिन्नेवास्तविभ्रमः ॥ ७९ ॥

अर्थ—जो अनात्मावित् हैं अर्थात् आत्माको नहीं जानते वे पर्वत ग्राम आदिमें अपना निवास जानते हैं, और जो अस्तविभ्रम (ज्ञानी) हैं वे समस्त अवस्थाओंमें अपने आत्मामें ही अपना निवासस्थान समझते हैं। **भावार्थ**—परमार्थसे परके आधेय आधार भावको नहीं जानते ॥ ७९ ॥

आत्मेति वपुषि ज्ञानं कारणं कायसन्ततेः।
स्वस्मिन्स्वमिति विज्ञानं स्याच्छरीरान्तरच्युतेः ॥ ८० ॥

अर्थ—शरीरमें यह शरीर ही आत्मा है इस प्रकार जानना कायकी सन्तान अर्थात् आगामी परिपाटीका कारण है, और अपने आत्मामें ही आत्मा है ऐसा ज्ञान इस शरीरसे अन्य शरीर होनेके अभावका कारण है ॥ ८० ॥

आत्माऽऽत्मना भवं मोक्षमात्मनः कुरुते यतः।
अतो रिपुर्गुरुश्चायमात्मैव स्फुटमात्मनः ॥ ८१ ॥

अर्थ—यह आत्मा अपने ही द्वारा अपने संसारको करता है और अपने द्वारा आप ही अपने लिये मोक्ष करता है; इसकारण आप ही अपना शत्रु है और आप ही अपना गुरु है, यह प्रकटतया जानो—पर तो बाह्यनिमित्तमात्र है ॥ ८१ ॥

पृथग् दृष्ट्वात्मनः कायं कायादात्मानमात्मवित्।
तथा त्यजत्यशङ्कोऽङ्गं यथा वस्त्रं घृणास्पदम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—आत्माका जाननेवाला ज्ञानी देहको आत्मासे भिन्न तथा आत्माको देहसे भिन्न देखकर ही निःशंक हो (देहको) त्यागता है। जैसे प्राकृत पुरुष जब वस्त्र मलिन होकर ग्लानिका स्थान होता है, तब उस वस्त्रको निःशंक हो, छोड़ देता है; उसीप्रकार यह देह भी ग्लानिका स्थान है इसकारण ज्ञानीको इसके त्यागनेमें कुछ भी शंका नहीं होती है ॥८२॥

अन्तर्दृष्ट्वाऽऽत्मनस्तत्त्वं बहिर्दृष्ट्वा ततस्तनुम्।
उभयोर्भेदनिष्णातो न स्खलत्याऽऽत्मनिश्चये ॥ ८३ ॥

अर्थ—ज्ञानी आत्माके स्वरूपको अन्तरंगमें देखकर और देहको बाह्यमें देखकर, दोनोंके भेदमें निष्णात कहिये निःसंदेह ज्ञाता होकर आत्माके निश्चयमें नहीं डिगता अर्थात्, निश्चल अन्तरात्मा होकर रहता है ॥ ८३ ॥

तर्कयेज्जगदुन्मत्तं प्रागुत्पन्नात्मनिश्चयः।
पश्चाल्लोष्ठमिवाचष्टे तद्दृढाभ्यासवासितः॥ ८४॥

अर्थ—जिसको आत्माका निश्चय होगया है ऐसा ज्ञानी प्रथम तो इस जगतको उन्मत्त वत् विचारता है, तत्पश्चात् आत्माका दृढ अभ्यास करके पाषाणके समान देखता है। **भावार्थ**—जब ज्ञान उत्पन्न होता है उस समय यह जगत् बावलासा दीखता है; तत्पश्चात् जब ज्ञानाभ्यास दृढ हो जाता है, तब वस्तु स्वभावके विचारसे जैसा है वैसा ही दीखता है अर्थात् उसमें इष्ट अनिष्ट भाव नहिं होता॥ ८४॥

शरीराद्भिन्नमात्मानं शृण्वन्नपि वदन्नपि।
तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः॥ ८५॥

अर्थ—यह पुरुष आत्माको शरीरसे भिन्न सुनता हुआ भी तथा कहता हुआ भी जबतक इसके भेदाभ्यासमें निष्ठित (परिपक्व) नहीं होता, तबतक इससे छूटता नहीं। क्योंकि निरन्तर भेदज्ञानके अभ्याससे ही इसका ममत्व छूटता है॥ ८५॥

व्यतिरिक्तं तनोस्तद्वद्भाव्य आत्माऽऽत्मनाऽऽत्मनि।
स्वप्नेऽप्ययं यथाऽभ्येति पुनर्नाङ्गेन संगतिम्॥ ८६॥

अर्थ—आत्माको आत्माहीके द्वारा आत्मामें ही शरीरसे भिन्न ऐसा विचारना कि जिससे फिर यह आत्मा स्वप्नमें भी शरीरकी संगतिको प्राप्त न हो। अर्थात् मैं शरीर हूं ऐसी बुद्धि स्वप्नमें भी न हो, ऐसा निश्चय करना चाहिये॥ ८६॥

यतो व्रताव्रते पुंसा शुभाशुभनिबन्धने।
तदभावात्पुनर्मोक्षो मुमुक्षुस्ते ततस्त्यजेत्॥ ८७॥

अर्थ—तथा व्रत और अव्रत शुभ और अशुभ दो प्रकारके बंधोंके कारण हैं, और शुभाशुभ कर्मके अभावसे मोक्ष होता है; इसकारण मुक्तिका इच्छुक मुनि इन व्रत और अव्रत दोनोंको ही त्यागता है। अर्थात् इनमें करने न करनेका अभिमान नहीं करता॥ ८७॥

प्रागसंयममुत्सृज्य संयमैकरतो भवेत्।
ततोऽपि विरमेत्प्राप्य सम्यगात्मन्यवस्थितिम्॥ ८८॥

अर्थ—व्रत अव्रतका त्यागना कहा है सो इसप्रकार त्यागै कि प्रथम तौ असंयमको छोड़ संयममें रक्त हो; तत्पश्चात् सम्यक्प्रकारसे आत्मामें अवस्थितिको प्राप्त होकर उस संयममें भी विरक्त हो जावे। अर्थात् संयमका ममत्व वा अभिमान न रक्खै॥ ८८॥

जातिलिङ्गमिति द्वन्द्वमङ्गमाश्रित्य वर्त्तते।
अङ्गात्मकश्च संसारस्तस्मात्तद्द्वितयं त्यजेत्॥ ८९॥

अर्थ—जाति (क्षत्रियादिक) और लिंग मुनि श्रावकादिकका वेष ये दोनों ही देहके आश्रित हैं। तथा इस देहस्वरूपही संसार है, इससे मुनि इन जाति लिंग दोनोंको ही त्यागता है, अर्थात् इनका अभिमान नहीं रखता ॥ ८९ ॥

अभेदविद्यथापङ्गोर्वेत्ति चक्षुरचक्षुषि।
अङ्गेऽपि च तथा वेत्ति संयोगाद्दृश्यमात्मनः ॥ ९० ॥

अर्थ—जिसप्रकार अंधके कन्धेपर पांगुला चढ़कर चलता है, उनका भेद न जाननेवाला कोई पुरुष पंगुके नेत्रोंको अन्धके नेत्र जानता है, उसी प्रकार आत्मा और देहका संयोग है. सो इनका भेद नहिं जाननेवाला अज्ञानी आत्माके दृश्यको अंगका ही दृश्य (देखने योग्य) जानता है ॥ ९० ॥

भेदविन्न यथा वेत्ति पङ्गोश्चक्षुरचक्षुषि।
विज्ञातात्मा तथा वेत्ति न काये दृश्यमात्मनः ॥ ९१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पंगु और अन्धके भेदको जाननेवाला पुरुष पंगुके नेत्रोंको अंधेके नेत्र नहीं जानता, उसीप्रकार आत्मा और देहके भेदको जाननेवाला पुरुष आत्माके दृश्यको देहका नहीं जानता। क्योंकि आत्मा चैतन्य ज्ञानवान् है परन्तु देहके विना चल नहीं सकता इस कारण वह पंगुके समान; और देह अचेतन है, इस कारण वह अंधेके समान है. इस भेदको जो जानता है, वह देहमें न जानकर, आत्मामें ही आत्माको जानता है ॥ ९१ ॥

मत्तोन्मत्तादिचेष्टासु यथाज्ञस्य स्वविभ्रमः।
तथा सर्वास्ववस्थासु न क्वचित्तत्त्वदर्शिनः ॥ ९२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अज्ञानीके मत्त उन्मत्त आदि चेष्टाओंमें आत्माका विभ्रम होता है अर्थात् अज्ञानी अपनेको भूल जाता है और जब चेत करता है तब अपनेको जानता है; उसी प्रकार तत्त्वदर्शीके सब ही अवस्थाओंमें विभ्रम नहीं है अर्थात् सदा ही समस्त अवस्थाओंमें आत्मा जानता है, भूलता कभी नहीं है. **भावार्थ**—आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टिके सर्व अवस्थाओंमें कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥ ९२ ॥

देहात्मदृग्न मुच्येत चेज्जागर्ति पठत्यपि।
सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्येत स्वस्मिन्नुत्पन्ननिश्चयः ॥ ९३ ॥

अर्थ—जिसकी देहमें ही आत्मदृष्टि है ऐसा मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा यदि जागता है तथा पढ़ता है (वचन उच्चार करता है) तो भी वह कर्मोंसे नहीं छूटता और भेदज्ञानी सोता या उन्मत रहता हुआ भी कर्मोंसे मुक्त हो जाता है।

आत्मानं सिद्धमाराध्य प्राप्नोत्यात्मापि सिद्धताम्।
वर्तिः प्रदीपमासाद्य यथाभ्येति प्रदीपताम् ॥ ९३ ॥

अर्थ—जैसे वर्त्तिका (बत्ती) दीपको प्राप्त होकर दीपक हो जाती है; उसी प्रकार यह आत्मा अपनेको सिद्धस्वरूप अनुभव करके सिद्धपनको प्राप्त हो जाता है ॥ ९४ ॥

आराध्यात्मानमेवात्मा परमात्मत्वमश्नुते ।
यथा भवति वृक्षः स्वं स्वेनोद्घृष्य हुताशनः ॥ ९५ ॥

अर्थ—आत्मा आत्माको ही आराध कर परमात्मपनको प्राप्त होता है; जैसे वृक्ष अपनेको आपहीसे घिसकर अग्नि हो जाता है। **भावार्थ**—जैसे बाँसोंके परस्पर घिसनेसे उनमें अग्नि उत्पन्न हो जाती है; उसी प्रकार आत्मा आत्माका आराधन करनेसे परमात्मा हो जाता है ॥ ९५ ॥

इत्थं वाग्गोचरातीतं भावयन्परमेष्ठिनम् ।
आसादयति तद्यस्मान्न भूयो विनिवर्तते ॥ ९६ ॥

अर्थ—यह आत्मा पूर्वोक्त प्रकार वचनके अगोचर परमेष्ठीको भावता हुआ उस पदको पाता है कि जिस पदसे फिर निवृत्त (लौटना) न हो। अर्थात् जो छूटै नहीं ऐसे सिद्ध पदको प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥

अयत्नजनितं मन्ये ज्ञानिनां परमं पदम् ।
यदात्मन्यात्मविज्ञानमात्रमेव समीहते ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो यह आत्मा आत्मामें ही विज्ञान मात्रको सम्यक्प्रकार चाहता है, तो जानना चाहिये कि ज्ञानियोंके परमपद विना यत्नके ही हो गया. 'मैं ऐसा मानता हूं' इस प्रकार आचार्य महाराजने संभावना की है ॥ ९७ ॥

स्वप्ने दृष्टविनाशोऽपि यथात्मा न विनश्यति ।
जागरेऽपि तथा भ्रान्तेरुभयत्राविशेषतः ॥ ९८ ॥

अर्थ—जैसे स्वप्नमें अपनेको नष्ट हुआ देखलेनेसे आत्मा नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जागते हुए भी विनाश नहीं है; किन्तु दोनों जगह विनाशके भ्रमका अविशेष है। **भावार्थ**—स्वप्नमें अपनेको मरा हुआ मानै, उसी प्रकार जागनेपर भी मरा हुआ मानै तो यह भ्रम ही है. आत्मा सदा अमर है. आत्माका मरण मानना भ्रम है ॥ ९८ ॥

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम् ।
चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥ ९९ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू आत्माको आत्माहीमें आपहीसे ऐसा जान कि, मैं अतीन्द्रिय हूं अर्थात् मेरे इन्द्रिय नहीं अथवा मैं इन्द्रियोंके गोचर नहीं हूं। अथवा इन्द्रियोंके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द, विषय मुझ (आत्मा) में नहीं हैं, इस कारण अतीन्द्रिय हूं, तथा अनिर्देश्य हूं—वचनोंके द्वारा कहनेमें नहीं आता ऐसा हूं,

तथा अमूर्त्तीक हूं अर्थात् स्पर्शादिकसे रहित हूं, तथा कल्पनातीत हूं, और चैतन्य तथा आनंदमय हूं, इत्यादि ॥ ९९ ॥

मुच्येताधीतशास्त्रोऽपि नात्मेति कल्पयन्वपुः ।
आत्मन्यात्मानमन्विष्यन् श्रुतशून्योऽपि मुच्यते ॥ १०० ॥

अर्थ—शरीरमें यह शरीर ही आत्मा है, इस प्रकार अभ्यास करता हुआ वा जानता हुआ पुरुष यदि अधीतशास्त्र (पढ़े हैं शास्त्र जिसने ऐसा) है, तथापि कर्मसे नहीं छूटता है अर्थात् मुक्त नहीं हो सकता है। तथा शास्त्रसे शून्य है और आत्मामें ही आत्माको जानता वा मानता है तो कर्मसे छूटकर मुक्त हो जाता है। **भावार्थ**—शास्त्रज्ञान भी आत्मज्ञानके लिये है. जो आत्मज्ञान नहीं हुआ तो शास्त्र पढ़नेसे क्या फल? अर्थात् व्यर्थही है ॥ १०० ॥

पराधीनसुखास्वादनिर्वेदविशदस्य ते ।
आत्मैवामृतता गच्छन्नविच्छिन्नं स्वमीक्षते ॥ १०१ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! पराधीन इन्द्रियजनित सुखके आस्वादमें वैराग्य है स्पष्ट जिसके ऐसा जो तू तिसका आत्मा ही अमृतपनको प्राप्त होता हुआ अविच्छेदरूप अपनेको देखता है। **भावार्थ**—इन्द्रिय सुखका आस्वाद छोड़नेपर ऐसा न जान कि अब सुख नहीं है, किन्तु यह तेरा आत्मा ही अमृतमय हो जाता है, और उस अमृतके आस्वादसे जन्म मरणसे रहित अमर होता है ॥ १०१ ॥

यदभ्यस्तं सुखाद् ज्ञानं तद्दुःखेनापसर्पति ।
दुःखैकशरणस्तस्माद्योगी तत्त्वं निरूपयेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ—जो ज्ञान सुखसे अभ्यास किया है, वह ज्ञान प्रायः दुःख आनेपर चला जाता है, इस कारण योगी दुःखको ही अंगीकार करके तत्त्वका अनुभव करता है। **भावार्थ**—जो तीव्र तप आचरण करता है वह परीपह आ जानेपर डिगता नहीं; अर्थात् दुःख आवे तो भी अपने ज्ञानाभ्यासको नहीं छोड़ता ॥ १०२ ॥

मालिनी ।

निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीपं
निरुपधिमधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम् ।
परममुनिमनीषोद्भेदपर्यन्तभूतं
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ॥ १०३ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू अपने आत्माको अपने आत्मासे ही इस प्रकार विशुद्ध (निर्मल) अनुभव कर कि—यह आत्मा समस्त लोकके यथार्थ स्वरूपको प्रगट करनेवाला अद्वि-

तीय प्रदीप है, तथा सातिशय आनन्दकी सीमाको उपाधिरहित प्राप्त हुआ है, तथा परम मुनिकी बुद्धिसे प्रकट उत्कृष्टता पर्यन्त है स्वरूप जिसका ऐसा है। इस प्रकार आत्माका अनुभव करै, ऐसा उपदेश है ॥ १०३ ॥

इति साधारणं ध्येयं ध्यानयोर्धर्मशुक्लयोः ।
विशुद्धिस्वामिभेदेन भेदः सूत्रे निरूपितः ॥ १०४ ॥

अर्थ—इस (उक्त) प्रकार धर्मध्यान व शुक्लध्यानका ध्येय (ध्यान करने योग्य) पदार्थ साधारणतया कहा गया। और इन दोनोंकी विशुद्धता और ध्यान करनेवाले (ध्याता आदि) का भेद सूत्रमें निरूपण किया है ॥ १०४ ॥

इस प्रकार धर्म शुक्ल ध्यानके वर्णनमें आत्माको जाननेके लिये बहिरात्मा, अंतरात्मा तथा परमात्माका स्वरूप कहकर, तत्पश्चात् बहिरात्माको छोड़ अन्तरात्मा होकर परमात्माका ध्यान करना वर्णन किया गया।

इस अध्यायका संक्षेप यह है कि, जो देह, इन्द्रिय, धन, संपदादिक बाह्य वस्तुओंमें आत्मबुद्धि करै वह तो बहिरात्मा (मिथ्या दृष्टि) है । और जो अन्तरंग विशुद्धदर्शन-ज्ञानमयी चेतनामें आत्मबुद्धि करता है और चेतनाके विकार रागादिक भावोंको कर्मजनित हेय जानता है वह अन्तरात्मा है और वही सम्यग्दृष्टि है। और जो समस्त कर्मोंसे रहित केवलज्ञानादिक गुणसहित हो सो परमात्मा है। उस परमात्माका ध्यान अन्तरात्मा होकर करै। उसमें जो निश्चयनय (शुद्ध द्रव्यार्थिक नय) से अपने आत्माको ही अनन्तज्ञा-नादि गुणोंकी शक्तिसहित जानकर, नयके द्वारा युगपत् शक्ति व्यक्तिरूप परोक्षको अपने अनुभवमें साक्षात् आरोपण करके तद्रूप अपने रूपको ध्यावै और जब वह उसमें लय हो जाय तब समस्त कर्मोंका नाश कर, वैसा ही व्यक्तरूप परमात्मा स्वयं (आप) हो जाता है ॥

यह ध्यान अप्रमत्त सातवें गुणस्थानवर्त्ती मुनिके परिपूर्ण होता है। उसमें धर्मध्यानकी उत्कृष्टता है। ध्यानसे सातिशय अप्रमत्तगुणस्थान श्रेणीको चढ़ता है। उसीसे शुक्लध्यानको प्राप्त होकर, कर्मका नाश कर, केवल ज्ञान उत्पन्न करता है। इस प्रकार धर्मध्यान व शुक्लध्यानका एक ही ध्येय कहा गया है; किन्तु दोनोंमें विशुद्धताका भेद अवश्य है। अर्थात् धर्मध्यानकी विशुद्धतासे शुक्लध्यानकी विशुद्धता अधिक है। और स्वामिका भेद गुणस्थानोंके भेदसे जानना ॥

छप्पय ।

जड चेतन मिलि हैं, अनादिके एकरूप जिमि ।
मूढ भेद नाहिं लखै, प्रकृति मिथ्यात्व उदै इमि ॥
जिन आगमतैं चिह्न, भेद जाने लहि अवसर ।
अनुभव करि चिद्रूप, आप अरु अन्य सकल पर ॥

जब अन्तर आतम होय करि, करै शुद्ध उपयोग मुनि।
तब शुद्ध आतमा ध्याय करि, लहै मोक्ष सुखमय अवनि ॥ ३१ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारस्वरूपे ज्ञानार्णवे शुद्धोपयोग-वर्णनं नाम द्वात्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३२ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशं प्रकरणम्।

आगे धर्मध्यानके भेदोंका वर्णन करते हैं—उसमेंसे प्रथम ही भेदोंकी उत्पत्तिके लिये सामान्यतासे कहते हैं,—

अनादिविभ्रमान्मोहादनभ्यासादसंग्रहात्।
ज्ञातमप्यात्मनस्तत्त्वं प्रस्खलत्येव योगिनः ॥ १ ॥

अर्थ—योगी (मुनि) आत्माके स्वरूपको यथार्थ जानता हुआ भी अनादि विभ्रमकी वासनासे, तथा मोहके उदयसे, तथा विना अभ्याससे और उस तत्त्वके संग्रहके अभावसे मार्गसे च्युत हो जाता है। अर्थात् मुनि भी तत्त्वस्वरूपसे चलायमान हो जाता है ॥ १ ॥

फिर भी कहते हैं,—

अविद्यावासनावेशविशेषविवशात्मनाम्।
योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेतः कुरुते स्थितिम् ॥ २ ॥

अर्थ—तथा आत्माके स्वरूपको यथार्थ जानकर, अपनेमें जोड़ता हुआ भी अर्थात् ध्यानसे एकाग्र लगाता हुआ भी अविद्याकी वासनासे—वेगसे विशेषतया विवश है आत्मा जिनका उनका चित्त स्थिरताको नहीं धारण करता ॥ २ ॥

साक्षात्कर्तुमतः क्षिप्रं विश्वतत्त्वं यथास्थितम्।
विशुद्धिं चात्मनः शश्वद्वस्तुधर्मे स्थिरीभवेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त ध्यानके विघ्नके कारण दूर करनेके लिये तथा समस्त वस्तुओंके स्वरूपका यथास्थित तत्काल साक्षात् करनेके लिये तथा आत्माकी विशुद्धता करनेके लिये निरन्तर वस्तुके धर्ममें स्थिरीभूत होवे। **भावार्थ**—ध्येयमें एकाग्र मनका लगना ध्यान है। उसमें विघ्नके पूर्वोक्त कारण हैं। इनको दूर करनेके लिये समस्त वस्तुका यथार्थ स्वरूप निश्चय करके क्षयादिकरहित वस्तुके धर्ममें ठहरै। यह धर्मध्यानकी सिद्धिका उपाय है, सो विशेषतासे कहते हैं ॥ ३ ॥

अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत्।
सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा ॥ ४ ॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानी इस प्रकार तत्त्वको प्रकटतया चिंतवन करै कि—लक्ष्यके (जो अपने लखनेमें आवै उसके) सम्बन्धसे तौ अलक्ष्यको (जो अनुभवगोचर नहीं उसको) चिंतवन करै, और स्थूल—इन्द्रियगोचर पदार्थसे सूक्ष्म—इन्द्रियोंके अगोचर पदार्थोंको चिंतवन करै. इसी प्रकार.—सालम्ब कहिये किसी ध्येयका आलंबन लेकर, उससे निरालम्ब वस्तु स्वरूपसे तन्मय होना चाहिये । **भावार्थ**—दृष्ट पदार्थके सम्बन्धसे अदृष्टका ध्यान करना कहा गया है. यहां प्रकरणमें परमात्माका ध्यान है, और परमात्मा जो अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी हैं वे छद्मस्थ करके (अल्प ज्ञानीके) दृष्ट नहीं हैं। तथा उनको समान अपना स्वरूप निश्चय नयसे कहा है, वह भी शक्तिरूप है, सो वह भी छद्मस्थके ज्ञानगोचर नहीं है (अदृष्ट है). इस कारण छद्मस्थके अपने क्षयोपशम ज्ञानका उपयोग दृष्ट है. सो इसीके संबंधसे सर्वज्ञके आगमसे परमात्माका स्वरूप निश्चय कर, श्रुतज्ञानके भेदरूप शुद्ध नयके द्वारा परमात्माका ध्यान करना चाहिये. इसीसे परमात्मपदकी प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

अब धर्मध्यानके भेदोंको कहते हैं,—

आज्ञापायविपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा ।
विचयो यः पृथक् तद्धि धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥ ५ ॥

अर्थ—आज्ञा, अपाय, विपाक तथा संस्थान इनका भिन्न भिन्न विचय (विचार) अनुक्रमसे करना ही धर्मध्यानके चार प्रकार हैं । यहां विचय नाम विचार करने अर्थात् चिंतवन करनेका है. तथा इन चारों प्रकारोंके नाम इस प्रकार कहने चाहिये—आज्ञाविचय १, अपायविचय २, विपाकविचय ३, और संस्थानविचय ४ ॥ ५ ॥

अब प्रथम आज्ञाविचय नामा धर्मध्यानका वर्णन करते हैं,—

वस्तुतत्त्वं स्वसिद्धान्तं प्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत् ।
सर्वज्ञाज्ञाभियोगेन तदाज्ञाविचयो मतः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस धर्मध्यानमें अपने जैन सिद्धान्तमें प्रसिद्ध वस्तुस्वरूपको सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाकी प्रधानतासे चिंतवन करै सो आज्ञाविचयनामा धर्मध्यानका प्रथम भेद है ॥ ६ ॥

अनन्तगुणपर्यायसंयुतं तत्त्रयात्मकम् ।
त्रिकालविषयं साक्षाज्जिनाज्ञासिद्धमामनेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—आज्ञाविचय धर्मध्यानमें तत्त्व अनन्त गुण पर्यायोंसहित त्रयात्मक त्रिकाल-गोचर साक्षात् जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञासे सिद्ध हुआ चिंतवन करै (मानै) ॥ ७ ॥

उक्तं च ।

“सूक्ष्मं जिनेन्द्रवचनं हेतुभिर्यन्न हन्यते ।
आज्ञासिद्धं च तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥ १ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र सर्वज्ञ देवके वचनोंसे कहे हुए सूक्ष्म तत्त्व हेतुसे बाध्य नहीं हैं. ऐसे तत्त्व आज्ञासेही ग्रहण करने (मानने) चाहिये; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् वीतराग हैं, वे अन्यथावादी नहीं होते। यदि सर्वज्ञ न हो तो विना जाने अन्यथा कहै, अथवा वीतराग न हो तो रागद्वेषके कारण अन्यथा कहै. और जो सर्वज्ञ और वीतराग हो वह कदापि अन्यथा नहीं कहैगा॥ १॥

प्रमाणनयनिक्षेपैर्निर्णीतं तत्त्वमञ्जसा।
स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं चिदचिल्लक्षणं स्मरेत्॥ ८॥

अर्थ—आज्ञाविचय ध्यानमें प्रमाण नय निक्षेपोंसे निर्णय किये हुए, स्थिति उत्पत्ति और व्ययसंयुत अर्थात् उपजै विनशै स्थिर रहै ऐसा, और चेतन अचेतनरूप है लक्षण जिसका ऐसे तत्त्वसमूहका चिन्तवन करै॥ ८॥

श्रीमत्सर्वज्ञदेवोक्तं श्रुतज्ञानं च निर्मलम्।
शब्दार्थनिचितं चित्रमत्र चिन्त्यमविप्लुतम्॥ ९॥

अर्थ—तथा इस आज्ञाविचय ध्यानमें श्रीमत्सर्वज्ञ करके कहे हुए निर्मल और शब्द तथा अर्थसे परिपूर्ण, नाना प्रकारके निर्बाध श्रुतज्ञानका चिन्तवन करना चाहिये॥ ९॥

अब श्रुतज्ञानका वर्णन करते हैं,—

परिस्फुरति यत्रैतद्विश्वविद्याकदम्बकम्।
द्रव्यभावभिदा तद्धि शब्दार्थज्योतिरग्रिमम्॥ १०॥

अर्थ—शब्द और अर्थका प्रकाश है मुख्य जिसमें ऐसा, तथा जो समस्त प्रकारकी विद्याओंका समूह है,—अर्थात् आचार आदि अंग, पूर्व, अंग बाह्य प्रकीर्णक रूप विद्याका समूह है, तथा द्रव्य श्रुत (शब्दरूप) और भावश्रुत (ज्ञानरूप) ये दो हैं भेद जिसके ऐसा सर्वज्ञ भगवानका कहा हुआ श्रुतज्ञान है॥ १०॥

अपारमतिगम्भीरं पुण्यतीर्थं पुरातनम्।
पूर्वापरविरोधादिकलङ्कपरिवर्जितम्॥ ११॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान कि—अपार है. क्योंकि, जिसके शब्दों
अल्पज्ञानी नहीं पा सकता। तथा गंभीर है. क्योंकि जिसके अर्थकी था
सकता। तथा पुण्यतीर्थ है. क्योंकि, जिसमें पापका लेश भी नहीं है
कारण जीवोंको तारनेवाला है। तथा पुरातन है, अर्थात् अनादिका
पूर्वापरविरोध आदि कलंकोंसे रहित है॥ ११॥

नयोपनयसंपातगहनं गणिभिः स्तुत
विचित्रमपि चित्रार्थसंकीर्णं विश्व

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान कि—द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय और सद्भूत, असद्भूत व्यवहारादिक उपनयोंके संपातसे तो गहन है, तथा गणधरादिकों करके स्तुति करने योग्य है। तथा विचित्र कहिये अपूर्व है तथापि चित्र कहिये अनेक प्रकारके अर्थोंसे भरा हुआ है। तथा समस्त लोकको दिखानेके लिये नेत्रके समान है ॥ १२ ॥

अनेकपदविन्यासैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः ।
प्रसृतं यद्विभात्युच्चै रत्नाकर इवापरः ॥ १३ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान कि—अनेक पदोंका विन्यास (स्थान) है जिनमें ऐसे आचारादि अंग तथा आग्रायणी आदि पूर्व और सामायिकादि प्रकीर्णकोंसे विस्तार रूप है. सो यह श्रुतज्ञान जिसप्रकार रत्नाकर (समुद्र) शोभता है उसी प्रकार शोभता है ॥ १३ ॥

मदमत्तोद्धतक्षुद्रशासनाशीविषान्तकम् ।
दुरन्तघनमिथ्यात्वध्वान्तघर्मांशुमण्डलम् ॥ १४ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान कि—मदसे माते, उद्धत, क्षुद्र (नीच) सर्वथा एकान्त वादियोंका शासन (मत) रूपी आशीविष कहिये सर्पका अन्तक है अर्थात् नष्ट करनेवाला है। तथा दुरन्त कहिये जिसका अन्त बहुत दूर है ऐसे दृढ मिथ्यात्वरूपी अन्धकारके दूर करनेको सूर्यमंडलको समान है ॥ १४ ॥

यत्पवित्रं जगत्यस्मिन्विशुद्ध्यति जगत्त्रयी ।
येन तद्धि सतां सेव्यं श्रुतज्ञानं चतुर्विधम् ॥ १५ ॥

अर्थ—फिर कैसा है यह श्रुतज्ञान कि इस जगतमें पवित्र है, क्योंकि, जिसके द्वारा ये तीनो जगत् पवित्र होते हैं; इसी कारण ही यह श्रुतज्ञान सत्पुरुषोंके सेवने योग्य है। यह श्रुतज्ञान प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग भेदसे चार प्रकारका है ॥ १५ ॥

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं तृतीयं योगिलोचनम् ।
नयद्वयसमावेशात्साद्यनादि व्यवस्थितम् ॥ १६ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य करके संयुक्त है. तथा योगीश्वरोंका तीसरा नेत्र है। तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयोंके कारण सादि अनादिव्यवस्था रूप है. द्रव्य नयसे संतानकी अपेक्षा अनादि है, और पर्यायनयकी अपेक्षा तीर्थंकरोंकी दिव्य ध्वनिसे प्रगट होता है, इस कारण सादि है ॥ १६ ॥

निःशेषनयनिक्षेपनिकषग्रावसन्निभम् ।
स्याद्वादपविनिर्घातभग्नान्यमतभूधरम् ॥ १७ ॥

अर्थ—फिर यह श्रुतज्ञान समस्त नय निक्षेपोंसे वस्तुके स्वरूपकी परीक्षा करनेके लिये कसोटीको समान है. तथा स्याद्वाद कहिये कथंचित् वचनरूपी वज्रके निर्घातसे भग्न किये हैं अन्यमतरूपी पर्वत जिसने ऐसा है ॥ १७ ॥

इत्यादिगुणसंदर्भनिर्भरं भव्यशुद्धिदम् ।
ध्यायन्तु धीमतां श्रेष्ठाः श्रुतज्ञानमहार्णवम् ॥ १८ ॥

अर्थ—इत्यादि पूर्वोक्त गुणोंकी रचनासे भरा हुआ, भव्य जीवोंको शुद्धिका देनेवाला श्रुतज्ञानरूप महासमुद्र है. सो इसको बुद्धिमानोंमें जो श्रेष्ठ हैं वे ध्यावो (चिंतवन करो). यह प्रेरणारूप उपदेश है ॥ १८ ॥

अब ऐसे श्रुतज्ञानकी महिमा कहते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

यज्जन्मज्वरघातकं त्रिभुवनाधीशैर्यदभ्यर्चितम्
यत्स्याद्वादमहाध्वजं नयशताकीर्णं च यत्पठ्यते ।
उत्पादस्थितिभङ्गलाञ्छनयुता यस्मिन्पदार्थाः स्थिता-
स्तच्छ्रीवीरमुखारविन्दगदितं दद्याच्छ्रुतं वः शिवम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो श्रुतज्ञान संसाररूपी ज्वरका तो घातक है, और तीन भुवनके ईश इन्द्रोंसे पूजित है, तथा जो स्याद्वादरूपी बड़ी ध्वजावाला है, और सैकड़ों नयोंसे पूर्ण है, ऐसा कहा जाता है। तथा जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लांछन युक्त पदार्थ रहते हैं, ऐसे श्रीवर्द्धमान स्वामीके मुखकमलसे कहा हुआ श्रुतज्ञान तुम श्रोता जनोंको कल्याणरूप हो. ऐसा आशीर्वचन है ॥ १९ ॥

वाग्देव्याः कुलमन्दिरं बुधजनानन्दैकचन्द्रोदयं
मुक्तेर्मङ्गलमग्रिमं शिवपथप्रस्थानदिव्यानकम् ।
तत्त्वाभासकुरङ्गपञ्चवदनं भव्यान्विनेतुं क्षमं
तच्छ्रोत्राञ्जलिभिः पिबन्तु गुणिनः सिद्धान्तवार्द्धेः पयः ॥ २० ॥

अर्थ—जो वाग्देवी (सरस्वती) के रहनेको कुलगृह है, तथा विद्वानोंके आनन्द उपजानेके लिये अद्वितीय चन्द्रमाका उदय है, मुक्तिका मुख्य मंगल व मोक्षमार्गमें गमन करनेके लिये दिव्य आनक कहिये पटह नामका बाजा है, और तत्त्वाभास (मिथ्यात्व) रूपी हिरणके नाश करनेको सिंहके समान है, तथा भव्य जीवोंको मोक्षमार्गमें चलानेके लिये समर्थ है ऐसे इस सिद्धान्तरूपी समुद्रके जलको हे गुणी जनो! कर्णरूपी अञ्जलियोंसे पान करो ॥ २० ॥

येनैते निपतन्ति वादिगिरयस्तुष्यन्ति योगीश्वराः
भव्या येन विदन्ति निर्वृतिपदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः ।
यद्बन्धुर्यमिनां यदक्षयसुखस्याधारभूतं नृणाम्
तल्लोकद्वयशुद्धिदं जिनवचः पुष्याद्विवेकश्रियम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिसके द्वारा प्रसिद्ध वादीरूप पर्वत गिरते हैं अर्थात् खंडखंड हो जाते हैं, तथा जिसके द्वारा योगीश्वर प्रसन्न होते हैं, और जिसके द्वारा भव्य जीव मोक्षपदको जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं, तथा जिसको पढ़कर पंडितजन संसारके मोहको छोड़ देते हैं, तथा जो वचन संयमी मुनियोंका बंधु (हित करनेवाला) है, तथा जो पुरुषोंके अविनाशी सुखका आधारभूत है, इसप्रकार दोनों लोकोंकी शुद्धताका देनेवाला जिनेन्द्र भगवानका वचन भव्य जीवोंकी विवेकरूपी श्री पुष्ट करे. इस प्रकार यह आशीर्वाद है ॥ २१ ॥

सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेत् ।
यत्र तद्ध्यानमाम्नातमाज्ञाख्यं योगिपुङ्गवैः ॥ २२ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें सर्वज्ञकी आज्ञाको अग्रेसर (प्रधान) करके पदार्थोंको सम्यक्प्रकार चिंतवन करै (विचारै) सो मुनीश्वरोंने आज्ञाविचय नाम धर्मध्यान कहा है ॥ २२ ॥

इसप्रकार आज्ञाविचयनामक धर्मध्यानका प्रथम भेद कहा ।

दोहा ।

श्रीजिन-आज्ञामें कह्यो, वस्तुस्वरूप जु मानि ।
चित्त लगावै तासुमें, आज्ञाविचय सु जानि ॥ ३३ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे अज्ञाविचयध्यानवर्णननाम त्रयस्त्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३३ ॥

अथ चतुस्त्रिंशं प्रकरणम् ।

आगे अपायविचय नामा धर्मध्यानके दूसरे भेदका वर्णन करते हैं,—

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः ।
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः ॥ १ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें कर्मोका अपाय (नाश) हो, तथा सोपाय कहिये पंडितजनों करके इसप्रकार जिसमें चिन्तवन किया जाय कि इन कर्मोंका नाश किस उपायसे होगा ? उस ध्यानको बुद्धिमान् पुरुषोंने अपायविचय कहा है ॥ १ ॥

श्रीमत्सर्वज्ञनिर्दिष्टं मार्गं रत्नत्रयात्मकम् ।
अनासाद्य भवारण्ये चिरं नष्टाः शरीरिणः ॥ २ ॥
मज्जनोन्मज्जनं शश्वद्व्रजन्ति भवसागरे ।
वराकाः प्राणिनोऽप्राप्य यानपात्रं जिनेश्वरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस ध्यानमें ऐसा चिन्तवन होता है कि ये प्राणी श्रीमत्सर्वज्ञजिनेन्द्रके उपदेश किये हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप मार्गको न पाकर, संसाररूप वनमें बहुत काल पर्यन्त नष्ट होते हुए । अर्थात् जन्ममरण और उपार्जन किये कर्मोंके नाश करनेका उपाय जो रत्नत्रय सो उन्होंने नहीं पाया ॥ २ ॥ तथा ये रंक प्राणी जिनेश्वर देवरूपी जहाजको न पाकर, संसाररूप समुद्रमें निरंतर मज्जन उन्मज्जन करते हैं अर्थात् निरंतर जन्म मरण पाते रहते हैं और दुःख भोगते हैं. इसप्रकार चिन्तवन करै ॥ ३ ॥

महाव्यसनसप्तार्चिःप्रदीप्ते जन्मकानने ।
भ्रमताऽद्य मया प्राप्तं सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटम् ॥ ४ ॥

अर्थ—फिर ऐसा चिंतन करै कि—महान् कष्टरूपी अग्निसे प्रज्वलित इस संसाररूपी वनमें भ्रमण करता हुआ मैं इस समय सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्रका तट (किनारा) पागया ॥ ४ ॥

अद्यापि यदि निर्वेदविवेकागेन्द्रमस्तकात् ।
स्खलेत्तदैव जन्मान्ध–कूपपातोऽनिवारितः ॥ ५ ॥

अर्थ—फिर इसप्रकार चिन्तन करै कि मैंने इस समय सम्यग्ज्ञान पाया है; सो यदि अब भी वैराग्य और भेदज्ञानरूप पर्वतके शिखरसे पड़ूं तो संसाररूप अंधकूपमें अवश्य पड़ना होगा ॥ ५ ॥

अनादिभ्रमसंभूतं कथं निर्वार्यते मया ।
मिथ्यात्वाविरतिप्रायं कर्मबन्धनिबन्धनम् ॥ ६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् इसप्रकार चिन्तन करै कि—अनादि अविद्यासे उत्पन्न हुए तथा जिसमें मिथ्यात्व व अविरतकी बहुलता है ऐसे कर्मबंध होनेके कारण मुझसे किसप्रकार निवारण किये जांयगे ॥ ६ ॥

सोऽहं सिद्धः प्रसिद्धात्मा दृग्बोधविमलेक्षणः ।
जन्मपङ्के चिरं खिन्नः खण्ड्यमानः स्वकर्मणा ॥ ७ ॥

अर्थ—फिर ऐसा चिन्तन करै कि—प्रसिद्ध है स्वरूप जिसका ऐसा मैं सिद्ध हूं, दर्शन ज्ञान ही निर्मल नेत्र हैं जिसके ऐसा हूं तथापि संसाररूपी कीचड़में अपने उपार्जन किये हुए कर्मोंसे खंड २ किया चिरकालसे खेदखिन्न हुआ हूं ॥ ७ ॥

एकतः कर्मणां सैन्यमहमेकस्ततोऽन्यतः ।
स्थातव्यमप्रमत्तेन मयास्मिन्नरिसंकटे ॥ ८ ॥

अर्थ—इस संसारमें एक ओर तो कर्मोंकी सेना है और एक तरफ मैं एकेला हूं; इसकारण इस शत्रुसमूहमें मुझको अप्रमत्त (सावधान) होकर रहना चाहिये. असावधान रहूंगा तो कर्मरूप वैरी वहुत हैं; इससे वे मुझे बिगाड़ देंगे ॥ ८ ॥

निर्धूय कर्मसंघातं प्रबलध्यानवह्निना ।
कदा स्वं शोधयिष्यामि धातुस्थमिव काञ्चनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारै कि जिसप्रकार अन्य धातु (पाषाण) में मिला हुआ कंचन अग्निसे शोधकर, शुद्ध किया जाता है उसी प्रकार मैं प्रबल ध्यानरूप अग्निके द्वारा कर्मोंके समूहको नष्ट करके, आत्माको कब शुद्ध करूंगा ? इसप्रकार विचार करै ॥ ९ ॥

किमुपेयो ममात्मायं किंवा विज्ञानदर्शने ।
चरणं वापवर्गाय त्रिभिः सार्द्धं स एव वा ॥ १० ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करै कि—मोक्षके लिये मेरे यह आत्मा उपादेय है, अथवा ज्ञानदर्शन उपादेय हैं, अथवा चारित्र उपादेय है, अथवा ज्ञानदर्शन चारित्र इन तीनों सहित आत्मा ही उपादेय है ॥ १० ॥

कोऽहं ममास्रवः कस्मात्कथं बन्धः क्व निर्जरा ।
का मुक्तिः किं विमुक्तस्य स्वरूपं च निगद्यते ॥ ११ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारै कि मैं कौन हूं और मेरे कर्मोंका आस्रव क्यों होता है ? तथा कर्मोंका बंध क्यों होता है ? और किस कारणसे निर्जरा होती है ? और मुक्ति क्या वस्तु है ? एवं मुक्त होनेपर आत्माका क्या स्वरूप कहा जाता है ? ॥ ११ ॥

जन्मनः प्रतिपक्षस्य मोक्षस्यात्यन्तिकं सुखम् ।
अव्याबाधं स्वभावोत्थं केनोपायेन लभ्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारै कि—संसारका प्रतिपक्षी जो मोक्ष है उसका अविनाशी, अनन्त, अव्याबाध (बाधारहित), स्वभावसे ही उत्पन्न हुआ (स्वाधीन) सुख किस उपायसे प्राप्त हो ? ॥ १२ ॥

मय्येव विदिते साक्षाद्विज्ञातं भुवनत्रयम् ।
यतोऽहमेव सर्वज्ञः सर्वदर्शी निरञ्जनः ॥ १३ ॥

अर्थ—फिर ऐसा ध्यान करै कि मेरे स्वरूपको जाननेसे मैने तीनों भुवन जान लिये. क्योंकि, मैं ही सर्वज्ञ, सबका देखनेवाला, निरंजन और समस्त कर्मकालिमासे रहित हूं ॥ १३ ॥

उक्तं च ।

"एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः ।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः ॥ १ ॥

अर्थ—एक भाव सर्व भावोंके स्वभावस्वरूप है और सर्व भाव एक भावके स्वभावस्वरूप हैं; इसकारण जिसने तत्त्वसे (यथार्थपनेसे) एक भावको जाना उसने समस्त भावोंको यथार्थतया जाना । भावार्थ—आत्माका एक ज्ञानभाव ऐसा है कि जिसमें समस्त भाव (पदार्थ) प्रतिबिम्बित होते हैं. उन पदार्थोंके आकारस्वरूप आप होता है तथा वे भाव सब ज्ञेय हैं. उनके जितने आकार हैं वे एक ज्ञानके आकार होते हैं. इसकारण, जो इसप्रकारके ज्ञानके स्वरूपको यथार्थ जानता है, उसने सबही पदार्थ जाने । अर्थात् ज्ञान ज्ञेयाकार हुआ, इसकारण ज्ञानको जाना तब सब ही जाना । क्योंकि ज्ञान ही आत्मा है, इसकारण ऐसा कहा है ॥ १ ॥"

यावद्यावच्च संबन्धो मम स्याद्बाह्यवस्तुभिः ।
तावत्तावत्स्वयं स्वस्मिन्स्थितिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥ १४ ॥

अर्थ—फिर ऐसा ध्यान करै कि—जब २ मेरे बाह्य वस्तुओंसे संबन्ध होते हैं तब २ मेरी आपहीसे अपनेमें स्थिति होना स्वप्नमें भी दुर्घट है ॥ १४ ॥

तथैवैतेऽनुभूयन्ते पदार्थाः सूत्रसूचिताः ।
अतो मार्गेऽत्र लग्नोऽहं प्राप्त एव शिवास्पदम् ॥ १५ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारै कि जिनसूत्रमें जो पदार्थ कहे हैं वे वैसे ही अनुभव किये जाते हैं, और जैसे कहे हैं वैसे ही दीखते हैं । इसकारण इस सूत्रके मार्गमें लगा हूं, इसी कारण मोक्षस्थान भी मैं पाया हुआ ही मानता हूं । क्योंकि, जब मार्ग पाया और उस मार्गमें चला तो असली ठिकाना प्राप्त हुआ ही कहा जाता है ॥ १५ ॥

इत्युपायो विनिश्चेयो मार्गाच्यवनलक्षणः ।
कर्मणां च तथापाय उपायश्चात्मसिद्धये ॥ १६ ॥

अर्थ—इसप्रकार पूर्वोक्त मोक्षमार्गसे नहीं छूटना है लक्षण जिसका ऐसा तौ उपाय निश्चय करना तथा वैसे ही कर्मोंका अपाय (नाश) निश्चय करना, इसप्रकार अपाय और उपाय दोनोंका आत्माकी सिद्धिके लिये निश्चय करना चाहिये ॥ १६ ॥

मालिनी ।

इति नयशतसीमालम्बि निर्द्धूतदोषं
च्युतसकलकलङ्कैः कीर्त्तितं ध्यानमेतत् ।
अविरतमनुपूर्वं ध्यायतोऽस्तप्रमादं
स्फुरति हृदि विशुद्धे ज्ञानभास्वत्प्रकाशः ॥ १७ ॥

अर्थ—यह पूर्वोक्त प्रकारका अपायविचयनामा ध्यान सैकड़ों नयोंको अवलम्बन करनेवाला है, तथा दूर किये हैं समस्त दोष जिसने ऐसे समस्त कलंकरहित सर्वज्ञदेवने कहा है. सो जो कोई पुरुष इसको अनुक्रमसे निरन्तर प्रमादरहित होकर ध्याता है उसके हृदयमें निर्मल ज्ञानरूप सूर्यका प्रकाश स्फुरायमान होता है ॥ १७ ॥

इसप्रकार अपायविचय नामक धर्मध्यानके दूसरे भेदका वर्णन किया ।

दोहा।

मोक्षमार्गमें विघ्नको, मिटै कौन विधि सोय ।
इमि चिंतै ज्ञानी जबै, विचय अपाय सु होय ॥ ३४ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे अपायविचयवर्णनं नाम चतुस्त्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३४ ॥

अथ पञ्चत्रिंशं प्रकरणम् ।



आगे विपाकविचयनामा धर्म ध्यानके तीसरे भेदका वर्णन करते हैं—

स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः ।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम् ॥ १ ॥

अर्थ—प्राणियोंके अपने उपार्जन किये हुए कर्मके फलका जो उदय होता है वह विपाक नामसे कहा है. सो वह कर्मोदय क्षण क्षणप्रति उदय होता है और ज्ञानावरणादि अनेक रूप है ॥ १ ॥

कर्मजातं फलं दत्ते विचित्रमिह देहिनाम् ।
आसाद्य नियतं नाम द्रव्यादिकचतुष्टयम् ॥ २ ॥

अर्थ—जीवोंके कर्मोंका समूह निश्चित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप चतुष्टयको पाकर इस लोकमें अनेक प्रकारसे अपने नामानुसार फलको (आगे कहते हैं उसप्रकार) देता है॥२॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

स्रक्शय्यासनयानवस्त्रवनितावादित्रमित्राङ्गजान्
कर्पूरागुरुचन्द्रचन्दनवनक्रीडाद्रिसौधध्वजान् ।
मातङ्गांश्च विहङ्गचामरपुरीभक्षान्नपानानि वा
छत्रादीनुपलभ्य वस्तुनिचयान्सौख्यं श्रयन्तेऽङ्गिनः ॥ ३ ॥

अर्थ—ये प्राणी पुष्पमाला, सुंदर शय्या, आसन, यान, वस्त्र, स्त्री, बाजे, मित्र, पुत्रादिको तथा कर्पूर, अगुरु, चन्द्रमा, चंदन, वनक्रीड़ा, पर्वत, महल, ध्वजादिकको तथा

हस्ती, घोड़े, पक्षी, चमर, नगरी और खाने योग्य अन्नपानादिकको तथा छत्रादिक वस्तुसमूहको पाकर, सुखका आश्रय करते हैं अर्थात् भोगते हैं ॥ ३ ॥

तथा—

क्षेत्राणि रमणीयानि सर्वर्त्तुसुखदानि च ।
कामभोगास्पदान्युच्चैः प्राप्य सौख्यं निषेव्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—सर्व ऋतुओंमें सुख देनेवाले, रमणीय और काम भोगके स्थान ऐसे क्षेत्रोंको प्राप्त होकर, अतिशय सुखका अनुभव करते हैं ॥ ४ ॥

(शार्दूलविक्रीडितम् ।)

प्रासासिक्षुरयन्त्रपन्नगगरव्यालानलोग्रग्रहान्
शीर्णाङ्गान्कृमिकीटकण्टकरजःक्षारास्थिपङ्कोपलान् ।
काराशृङ्खलशङ्कुकाण्डनिगडक्रूरारिवैरांस्तथा
द्रव्याण्याप्य भजन्ति दुःखमखिलं जीवा भवाध्वस्थिताः ॥५॥

अर्थ—संसाररूप मार्गमें रहते हुए जीव सेल, तरवार, छुरा, यंत्र, बंदूक आदि शस्त्र और सर्प, विष, दुष्ट हस्ती, अग्नि, तीव्र खोटे ग्रहादिकको तथा दुर्गन्धित सड़े हुए अंग, लट, कीड़े, कांटे, रज, क्षार, अस्थि, कीच पाषाणादिकको तथा बंदीखाना (जेलखाना), सांकल, कीला, कांड, बेड़ी, क्रूर (दुष्ट), वैरी, वैर, इत्यादि द्रव्योंको प्राप्त होकर; दुःखोंको भोगते हैं ॥ ५ ॥

निसर्गेणातिरौद्राणि भयक्लेशास्पदानि च ।
दुःखमेवाप्नुवन्त्युच्चैः क्षेत्राण्यासाद्य जन्तवः ॥ ६ ॥

अर्थ—ये प्राणी स्वभावसे ही रौद्र, भय और क्लेशके ठिकाने, ऐसे क्षेत्रोंको प्राप्त होकर अतिशय दुःखोंको ही पाते हैं ॥ ६ ॥

अरिष्टोत्पातनिर्मुक्तो वातवर्षादिवर्जितः ।
शीतोष्णरहितः कालः स्यात्सुखाय शरीरिणाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अरिष्ट (दुःख देनेवाले) उत्पातसे रहित तथा पवन वर्षाआदिसे वर्जित और शीत उष्णता रहित काल जीवोंके सुखके लिये है ॥ ७ ॥

वर्षातपतुषाराढ्य ईत्युत्पातादिसंकुलः ।
कालः सदैव सत्वानां दुःखानलनिबन्धनम् ॥ ८ ॥

अर्थ—वर्षा, आतप, हिम (बर्फ) सहित तथा ईति कहिये स्वचक्र परचक्रादिकोंके उत्पात आदि सहित काल जीवोंको निरन्तर दुःखरूप अग्निका कारण है ॥ ८ ॥

इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, कालके संबन्धसे जो कर्मोंका उदय होता है; उसके निमित्तसे सुख-दुःख होनेका वर्णन किया ।

अब जो भावसे सुख दुःख होता है; उसका वर्णन करते हैं ।

प्रशमादिसमुद्भूतो भावः सौख्याय देहिनाम् ।
कर्मगौरवजः सोऽयं महाव्यसनमन्दिरम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जो कर्मके उपशमादिकसे उत्पन्न हुआ भाव है, वह तो जीवोंको सुखके अर्थ है; और जो कर्मके तीव्र गुरुपनासे उत्पन्न हुआ भाव है, सो महान् कष्टका घर है ॥ ९ ॥

मूलप्रकृतयस्तत्र कर्मणामष्ट कीर्तिताः ।
ज्ञानावरणपूर्वास्ता जन्मिनां बन्धहेतवः ॥ १० ॥

अर्थ—कर्मकी मूल प्रकृति (भेद) आठ कहीं हैं । ज्ञानावरणादिक वे जीवोंके बंधनका कारण हैं ॥ १० ॥

ज्ञानावृतिकरं कर्म पञ्चभेदं प्रपञ्चितम् ।
निरुद्धं येन जीवानां मतिज्ञानादिपञ्चकम् ॥ ११ ॥

अर्थ—उन आठ कर्म प्रकृतियोंमेंसे प्रथम ज्ञानको आवरण करनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म पांचे भेदरूप कहा गया है। इन पांचो ज्ञानावरण कर्मोंने जीवोंके मति ज्ञानादिक (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल) पांचों ज्ञानोंको रोक रक्खा है अर्थात् ढक रक्खा है ॥ ११ ॥

नवभेदं मतं कर्म दृगावरणसंज्ञकम् ।
रुद्ध्यते येन जन्तूनां शश्वदिष्टार्थदर्शनम् ॥ १२ ॥

अर्थ—दूसरा दर्शनावरण नामक कर्म वह नवै प्रकारका है; जिसने जीवोंके निरन्तर इष्ट वस्तुके दर्शनको रोक रक्खा है अर्थात् ढक रक्खा है ॥ १२ ॥

वेदनीयं विदुः प्राज्ञा द्विधा कर्म शरीरिणाम् ।
यन्मधूच्छिष्टतद्व्यक्त—शस्त्रधारासमप्रभम् ॥ १३ ॥

अर्थ—इसके पश्चात् तीसरा वेदनीय कर्म दो प्रकारका है, एक साता वेदनीय और दूसरा असातावेदनीय । सो यह कर्म जीवोंको सहत लिपटी तरवारकी धारके समान किंचित् सुखदायक है ॥ १३ ॥

---

१ ज्ञानावरणीय १ दर्शनावरणीय २ मोहनीय ३ अन्तराय ४ वेदनीय ५ आयु ६ नाम ७ और गोत्र ८ ये आठ मूल प्रकृति हैं ।

२ मतिज्ञानावरणीय १ श्रुतज्ञानावरणीय २ अवधिज्ञानावरणीय ३ मनःपर्यय ज्ञानावरणीय ४ और केवल ज्ञानावरणीय ।

३ निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानगृद्धि ५ चक्षुर्दर्शनावरणीय ६ अचक्षुर्दर्शनावरणीय ७ अवधिदर्शनावरणीय ८ और केवलदर्शनावरणीय ।

सुरोरगनराधीशसेवितं श्रयते सुखम् ।
सातोदयवशात्प्राणी संकल्पानन्तरोद्भवम् ॥ १४ ॥
असद्वेद्योदयात्तीव्रं शारीरं मानसं द्विधा ।
जीवो विसह्यते दुःखं श्श्वच्छ्वभ्रादिभूमिषु ॥ १५ ॥

अर्थ—यह प्राणी सातावेदनीयके उदयके वशसे तो देवेन्द्र, नागेन्द्र, धरणीन्द्र, व चक्रवर्त्तियोंसे सेवित तथा मनके संकल्प करते ही प्राप्त होनेवाले सुखको प्राप्त होता है, और असाता वेदनीयके उदयसे शरीरसंबन्धी और मनसंबन्धी दो प्रकारके तीव्र दुःख नरकादिक पृथिवियोंमें भोगता है ॥ १४—१५ ॥

दृष्टिमोहप्रकोपेन दृष्टिः साध्वी विलुप्यते ।
तद्विलोपान्निमज्जन्ति प्राणिनः श्वभ्रसागरे ॥ १६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् चौथा मोहनीय कर्म है. उसके दो मूल भेद हैं:—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय. इनमेंसे दर्शनमोहनीय नामक कर्मके प्रकोपसे (उदयसे) जीवोंका सम्यग्दर्शन लोपा जाता है. सम्यग्दर्शनके लोपसे जीव नरकरूपी समुद्रमें डूबता है । इस दर्शनमोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ऐसे तीन प्रकृतियें हैं ॥ १६ ॥

चारित्रमोहपाकेन नाङ्गिभिर्लभ्यते क्षणम् ।
भावशुद्ध्या स्वसात्कर्तुं चरणं स्वान्तशुद्धिदम् ॥ १७ ॥

अर्थ—दूसरा चारित्रमोह कर्म है. उसके उदयसे यह प्राणी मनकी शुद्धि देनेवाले चारित्रको भावकी शुद्धतासे अंगीकार करनेके लिये क्षणमात्र भी समर्थ नहीं होता ॥ १७ ॥

लब्ध्वापि यत्प्रमाद्यन्ति यत्स्खलन्त्यथ संयमात् ॥
सोऽपि चारित्रमोहस्य विपाकः परिकीर्त्तितः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो संयम (चारित्र) को ग्रहण करके भी जीव प्रमादरूप होता है, और संयमसे भ्रष्ट हो जाता है उसका कारण भी चारित्र मोहका उदय कहा है । **भावार्थ**—पहिले श्लोकमें तो चारित्रमोहके उदयसे संयमको ग्रहणही न कर सके ऐसा कहा है और यहां ऐसा कहा है कि कदाचित् चारित्रमोहके क्षयोपशमसे चारित्र (संयम) ग्रहण कर ले तो उसमें भी प्रमाद होता है. अथवा तीव्र उदय होता है तो संयमसे भ्रष्ट भी हो जाता है । इस चारित्रमोहकी प्रकृति जो क्रोध मान माया लोभादिक २५ कषाय हैं, उनका वर्णन अन्यग्रंथोंसे जानना ॥ १८ ॥

अब आयु कर्मके विपाकको कहते हैं,

उपजाति।

सुरायुरारम्भककर्मपाकात्संभूय नाके प्रथितप्रभावैः।
समर्थ्यते देहिभिरायुरग्र्यं सुखामृतस्वादनलोलचित्तैः॥ १९॥

अर्थ—पांचवाँ आयुकर्म है उसके ४ भेद हैं—देवायुः मनुष्यायुः तिर्यगायुः ३ और नारकायुः। सो इनमेंसे देवायुः उत्पन्न करनेवाले कर्मके उदयसे प्राणी स्वर्गमें उत्पन्न होकर, विख्यात है प्रभाव जिसका और सुखामृतके आस्वादनमें आसक्त है चित्त जिसका ऐसा देव हो, स्वर्गके सुख भोगता है॥ १९॥

उपेन्द्रवज्रा।

नरायुषः कर्मविपाकयोगान्नरत्वमासाद्य शरीरभाजः।
सुखासुखाक्रान्तधियो नितान्तं नयन्ति कालं बहुभिः प्रपञ्चैः॥२०॥

अर्थ—तथा प्राणी मनुष्यायुः नामा कर्मके उदययोगसे मनुष्यत्वको पाकर कुछ सुख कुछ दुःखसे व्याप्त है बुद्धि जिनकी ऐसे हो, नानाप्रकारके प्रपञ्चोंसे (कार्योंसे) काल यापन करते हैं॥ २० ॥

चरस्थिरविकल्पासु तिर्यग्गतिषु जन्तुभिः।
तिर्यगायुःप्रकोपेन दुःखमेवानुभूयते॥ २१ ॥

अर्थ—तथा प्राणी तिर्यंच आयुःके उदयसे त्रस स्थावर दो भेदरूप तिर्यञ्चगतियोंमें उत्पन्न होकर, केवल दुःख ही दुःख भोगते हैं॥ २१ ॥

नारकायुःप्रकोपेन नरकेऽचिन्त्यवेदने।
निपतन्त्यङ्गिनस्तूर्णं कृतार्तिकरुणस्वनाः॥ २२॥

अर्थ—तथा नारकायुःकर्मके उदयसे प्राणी अचिन्त्यवेदनावाले नरकोंके बिलोंमें जिसके सुननेसे करुणा हो आवै ऐसे शब्द करते हुए उत्पन्न होते हैं और पांचप्रकारके दुःख भोगते हैं॥ २२॥

नामकर्मोदयः साक्षाद्धत्ते चित्राण्यनेकधा।
नामानि गतिजात्यादिविकल्पानीह देहिनाम्॥ २३ ॥

अर्थ—तथा जीवोंको नामकर्मका उदय अनेकप्रकारके गति जाति आदि ९३ भेद-वाले नामोंको साक्षात् धारण कराता है। नामकर्मकी ९३ प्रकृतियोंका नाम लक्षणादि विशेष भेद गोमठसार ग्रंथसे जानना॥ २३॥

गोत्राख्यं जन्तुजातस्य कर्म दत्ते स्वकं फलम्।
शस्ताशस्तेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाद्य सर्वथा॥ २४॥

अर्थ—तथा गोत्रनाम कर्म जीवोंके समूहको ऊंच नीच गोत्रमें उत्पन्न कराकर, सर्वप्रकारसे अपना फल देता है ॥ २४ ॥

निरुणद्धि स्वसामर्थ्याद्दानलाभादिपञ्चकम् ।
विघ्नसन्ततिविन्यासैर्विघ्नकृत्कर्म देहिनाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—आठवाँ कर्म अन्तराय है सो विघ्न करनेवाला है। वह अपनी सामर्थ्यसे (उदयसे) जीवोंके प्राप्त होनेवाले शक्ति दान लाभ भोग उपभोगोंमें विघ्नसन्ततिकी रचना करता है अर्थात् दानभोगादिकमें अन्तराय डालकर, उनको रोकता है ॥ २५ ॥

मन्दवीर्याणि जायन्ते कर्माण्यतिबलान्यपि ।
अपक्वपाचनायोगात्फलानीव वनस्पतेः ॥ २६ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त अष्टकर्म अतिशय बलिष्ठ हैं तथापि जिसप्रकार वनस्पतिके फल विना पके भी पवनके निमित्तसे (पाल आदिसे) पक जाते हैं उसी प्रकार इन कर्मोंकी स्थिति पूरी होनेसे पहिले भी तपश्चरणादिकसे मन्दवीर्य (अल्पफलदेनेवाले) हो जाते हैं ॥ २६ ॥

उपेन्द्रवज्रा ।

अपक्वपाकः क्रियतेऽस्ततन्द्रैस्तपोभिरुग्रैर्वरशुद्धियुक्तैः ।
क्रमाद्गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसंवृतान्तःकरणैर्मुनीन्द्रैः ॥ २७ ॥

अर्थ—नष्ट हुआ है प्रमाद जिनका और सम्यक्प्रकारसे संवररूप हुआ है चित्त जिनका ऐसे मुनीन्द्र उत्कृष्ट विशुद्धतासहित तपोंसे अनुक्रमसे गुणश्रेणी निर्जराका आश्रय करके विना पके कर्मोंकी भी पकाकर स्थिति पूर्ण हुए विना ही निर्जरा करते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्याद्युत्कृष्टसामग्रीमासाद्योग्रतपोबलात् ।
कर्माणि घातयन्त्युच्चैस्तुर्यध्यानेन योगिनः ॥ २८ ॥

अर्थ—योगीश्वर द्रव्यक्षेत्रकालभावकी उत्कृष्ट सामग्रीको प्राप्त होकर, तीव्र तपके बलसे इस विपाक विचय नामा ध्यानके पश्चात् चौथे संस्थानविचय नामा ध्यानसे कर्मोंको अतिशयताके साथ नष्ट करते हैं ॥ २८ ॥

विलीनाशेषकर्माणि स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥ २९ ॥

अर्थ—उक्त विधानसे कर्मोंकी निर्जरासे विलय हुए हैं समस्त कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान निर्मल पुरुषाकारस्वरूप अपने अंगमें ही प्राप्त हुए आत्माको स्मरण करता है अर्थात् चिन्तवन (ध्यान) करता है ॥ २९ ॥

मालिनी ।

इति विविधविकल्पं कर्म चित्रस्वरूपम्
प्रतिसमयमुदीर्णं जन्मवर्त्यङ्गभाजाम् ।
स्थिरचरविषयाणां भावयन्नस्ततन्द्रो
दहति दुरितकक्षं संयमी शान्तमोहः ॥ ३० ॥

अर्थ—पूर्वोक्तप्रकार अनेक हैं भेद (विकल्प) जिसमें ऐसे कर्मका स्वरूप संसारमें वर्तनेवाले प्राणी स्थावर त्रसोंके समय समयप्रति उदयरूप है. उसको शान्तमोह संयमी मुनि प्रमादरहित होकर विचारता हुआ पापरूपी वनको दग्ध करता है ॥ ३० ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

इत्थं कर्मकटुप्रपाककलिताः संसारघोरार्णवे
जीवा दुर्गतिदुःखवाडवशिखासन्तानसंतापिताः ।
मृत्यूत्पत्तिमहोर्मिजालनिचिता मिथ्यात्ववातेरिताः
क्लिश्यन्ते तदिदं स्मरन्तु नियतं धन्याः स्वसिद्ध्यर्थिनः ॥ ३१ ॥

अर्थ—इसप्रकार भयानक संसाररूप समुद्रमें जो जीव हैं ते ज्ञानावरणादिक कर्मोंके कटुपाकसे (तीव्रोदयसे) संयुक्त हैं । वे दुर्गतिके दुःखरूपी वडवानलकी ज्वालाके संतानसे संतापित हैं । तथा मरण जन्मरूपी बड़ी लहरके समूहसे परिपूर्ण भरे हैं । तथा मिथ्यात्वरूप पवनके प्रेरे हुये क्लेश भोगते हैं । सो जो धन्य पुरुष हैं वे अपनी मुक्तिकी सिद्धिकें लिये इस विपाकविचयध्यानको स्मरण करें (ध्यावें) ॥ ३१ ॥

इसप्रकार विपाकविचय ध्यानका वर्णन किया । इसका संक्षेप यह है कि ज्ञानावरणादिक कर्म जीवोंके अपने तथा परके निरन्तर उदयमें आते हैं सो यह विपाक है. इसको चिन्तवन करनेसे परिणाम विशुद्ध होजानेपर कर्मोंके नाश करनेका उपाय करै तब मुक्त होता है ॥

दोहा।

दुख सुख आये आपके, कर्मविपाक विचार ।
है नीको यह ध्यानभावि, करो दुःखहरतार ॥ ३५ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे विपाकविचयवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३५ ॥

अथ षट्त्रिंशं प्रकरणम् ।

आगे संस्थानविचय नामक धर्मध्यानके चौथे भेदका वर्णन करते हैं. इस ध्यानमें लोकका स्वरूप विचारा जाता है, इसकारण लोकका वर्णन किया जाता है,—

अनन्तानन्तमाकाशं सर्वतः स्वप्रतिष्ठितम् ।
तन्मध्येऽयं स्थितो लोकः श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः ॥ १ ॥

अर्थ—प्रथम तौ सर्वतरफ (चारों ओर) अनन्तानन्त प्रदेशरूप आकाश है सो वह स्वप्रतिष्ठित है अर्थात् आपही अपने आधारपर है; क्योंकि उससे बड़ा अन्य कोई पदार्थ नहीं है जो उसका आधार हो । उस आकाशके मध्य (बीच) में यह लोक स्थित है, सो श्रीमत्सर्वज्ञ देवने वर्णन किया है इसकारण प्रमाणभूत है. क्योंकि, असत्य कल्पना करके अन्य किसीने नहीं कहा. सर्वज्ञ भगवानने प्रत्यक्ष देखकर, जैसा है वैसा ही वर्णन किया है ॥ १ ॥

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः पदार्थैश्चेतनेतरैः ।
सम्पूर्णोऽनादिसंसिद्धः कर्तृव्यापारवर्जितः ॥ २ ॥

अर्थ—यह लोक ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय (क्षय) करके संयुक्त चेतन अचेतन पदार्थोंसे सम्पूर्णतया भरा हुआ है, और अनादिसंसिद्ध है. कर्त्ताके व्यापारसे वर्जित है। अर्थात् केई अन्यमती इस लोकका कर्त्ता हर्त्ता ईश्वर आदिको कहते हैं, तथा कच्छप वा शेष नागके ऊपर स्थित है, इत्यादि बुद्धिकल्पित असत्यार्थ कल्पना करके कहते हैं, सो वैसा नहीं है. सर्वज्ञने जैसा कहा है वैसा ही सत्य है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वाधोमध्यभागैर्यो बिभर्ति भुवनत्रयम् ।
अतः स एव सूत्रज्ञैस्त्रैलोक्याधार इष्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—तथा यह लोक ऊर्ध्व, मध्य, अधोभागसे तीन भुवनोंको धारण करता है इसकारण सूत्रके जाननेवाले तीन लोकका (तीन जगतका) आधार इस लोकको कहते हैं ॥ ३ ॥

उपर्युपरि संक्रान्तैः सर्वतोऽपि निरन्तरैः ।
त्रिभिर्वायुभिराकीर्णो महावेगैर्महाबलैः ॥ ४ ॥

अर्थ—तथा यह लोक उपरि उपरि (एकके उपरि एक) सर्व तरफसे अन्तररहित महावेगवान महाबलवाले तीन पवनोंसे वेढ़ा हुआ है ॥ ४ ॥

घनाब्धिः प्रथमस्तेषां ततोऽन्यो घनमारुतः ।
तनुवातस्ततोऽन्ते विज्ञेया वायवः क्रमात् ॥ ५ ॥

अर्थ—उन तीन पवनोंमेंसे प्रथम तो यह लोक घनोदधि नाम पवनसे बेढ़ा हुआ है, उसके ऊपर घनवात नामका पवन वेढ़ा हुआ है, और उसके ऊपर अन्तमें तनुवात नामका पवन है. इस प्रकार तीन पवनोंसे लोक वेढ़ा हुआ है। इसी कारण उधर इधर हट नहीं सकता, किंतु आकाशके मध्यभागमें स्थित है॥ ५॥

उद्धृत्य सकलं लोकं स्वशक्त्यैव व्यवस्थिताः।
पर्यन्तरहिते व्योम्नि मरुतः प्रांशुविग्रहाः॥ ६॥

अर्थ—और ये तीनों पवन तीन लोकोंको धारण करके अपनी शक्तिसे ही इस अन्तरहित आकाशमें अपने शरीरको विस्तृत किये हुए स्थित हैं॥ ६॥

घनाब्धिवलये लोकः सच नान्ते व्यवस्थितः।
तनुवातान्तरे सोऽपि सचाकाशे स्थितः स्वयम्॥ ७॥

अर्थ—यह लोक तौ घनोदधि नामके वात वलयमें स्थित है, और घनोदधि वातवलय घनवात वलयके मध्यमें है। अर्थात् घनोदधि वातवलयके चारों ओर घनवातवलय घिरा हुआ है और घनवातवलयके चारों तरफ तनुवातवलय घिरा हुआ है और तनुवातवलय आकाशमें स्वयमेव स्थित है. इसमें किसीका कोई कर्त्तव्य नहीं है. अनादिकालसे इसी प्रकारकी व्यवस्था है॥ ७॥

अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः।
मृदङ्गाभस्ततोप्यूर्ध्वं स त्रिधेति व्यवस्थितः॥ ८॥

अर्थ—यह लोक नीचेसे तो वेत्रासन कहिये मोढेके आकारका है, अर्थात् नीचेसे चौड़ा है फिर घटता २ मध्यलोक पर्यन्त सँकड़ा है। फिर मध्यलोक झालरके आकारका है, और उसके ऊपर ऊर्ध्वलोक मृदंगके आकारका है अर्थात् बीचमें कुछ चौड़ा और दोनों तरफ सँकड़ा है. ऐसे तीन प्रकारके लोककी व्यवस्था है॥ ८॥

अस्य प्रमाणमुन्नत्या सप्त सप्त च रज्जवः।
सप्तैका पञ्च चैका च मूलमध्यान्तविस्तरे॥ ९॥

अर्थ—इस लोककी ऊँचाई तो सातसात राजू है; अर्थात् नीचेसे लगाकर मध्यलोकपर्यन्त सात राजू है और उससे ऊपर सात राजू है. इसप्रकार चौदह राजू ऊंचा है, और मूलमें चौड़ा सात राजू है; सो घटता घटता मध्यलोकमें एक राजू चौड़ा है, और उसके ऊपर बीचमें पांच राजू चौड़ा है, और अन्तमें और आदिमें—मध्यलोकके निकट एक एक राजू चौड़ा है॥ ९॥

---

१ 'मृदङ्गसदृशश्चाग्रे' इत्यपि पाठः

अब अधोलोकमें जो नारकियोंकी निवासभूमि हैं उनका वर्णन करते हैं:-

तत्राधोभागमासाद्य संस्थिताः सप्त भूमयः ।
यासु नारकषण्ढानां निवासाः सन्ति भीषणाः ॥ १० ॥

अर्थ—इस लोकके अधोभागमें सात पृथिवी हैं, जिनमें नारकी नपुंसक जीवोंके बड़े भयकारी निवासस्थान हैं ॥ १० ॥

काश्चिद्वज्रानलप्रख्याः काश्चिच्छीतोष्णसंकुलाः ।
तुषारबहुलाः काश्चिद्भूमयोऽत्यन्तभीतिदाः ॥ ११ ॥

अर्थ—उन सप्त नरककी पृथिवियोंमें कई तो वज्राग्निके समान उष्ण हैं, कई शीत उष्णतासे व्याप्त हैं और कई अत्यन्त हिमवाली हैं. इसप्रकार अतिशय भयकारक हैं ॥ ११ ॥

उदीर्णानलदीप्तासु निसर्गोष्णासु भूमिषु ।
मेरुमात्रोऽप्ययःपिण्डः क्षिप्तः सद्यो विलीयते ॥ १२ ॥

अर्थ—उदयरूप है अग्नि जिनमें ऐसी स्वाभाविक उष्णरूप भूमियोंमें यदि मेरुपर्वतको समान लोहेका पिंड डाला जाय तो तत्काल गलकर भस्म हो जाय; ऐसी उन भूमियोंमें उष्णता है ॥ १२ ॥

शीतभूमिष्वपि प्राप्तो मेरुमात्रोऽपि शीर्यते ।
शतधासावयःपिण्डः प्राप्य भूमिं क्षणान्तरे ॥ १३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार उष्णभूमियोंमें मेरु समान लोहेका पिंड गल जाता है उसी प्रकार शीतप्रधान भूमियोंमें भी मेरुके समान लोहेका पिंड डाला जाय तो शीतके कारण क्षणमात्रमें खंड २ होकर बिखर जायगा ॥ १३ ॥

हिंसास्तेयानृताब्रह्मबह्वारम्भादिपातकैः ।
विशन्ति नरकं घोरं प्राणिनोऽत्यन्तनिर्दयाः ॥ १४ ॥

अर्थ—उन घोर नरकोंमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्मचर्य) और बहुत आरंभ परिग्रहादिपापोंके करनेसे ही अत्यन्त निर्दयी जीव प्रवेश करते हैं । **भावार्थ**—हिंसादि पांच पाप अथवा सात व्यसनोंके सेवी जीव ही उन घोर नरकोंमें जाकर दुःख भोगते हैं ॥ १४ ॥

मिथ्यात्वाविरतिक्रोधरौद्रध्यानपरायणाः ।
पतन्ति जन्तवः श्वभ्रे कृष्णलेश्यावशं गताः ॥ १५ ॥

अर्थ—तथा मिथ्यात्व, अविरति, क्रोध, रौद्रध्यानमें तत्पर तथा कृष्ण लेश्याके वश हुए प्राणी नरकमें पड़ते हैं ॥ १५ ॥

अतिपत्रवनाकीर्णे शस्त्रशूलासिसंकुले ।
नरकेऽत्यन्तदुर्गन्धे वसासृक्कृमिकर्दमे ॥ १६ ॥
शिवाश्वव्याघ्रकङ्काढ्ये मांसाशिविहगान्विते ।
वज्रकण्टकसंकीर्णे शूलशाल्मलिदुर्गमे ॥ १७ ॥
संभूय कोष्ठिकामध्ये ऊर्ध्वपादा अधोमुखाः ।
ततः पतन्ति साक्रन्दं वज्रज्वलनभूतले ॥ १८ ॥

अर्थ—नरक कैसे हैं, कि असिपत्र (तरवार) सरीखे हैं पत्र जिनके ऐसे वृक्षोंसे तथा शूल तलवार आदि शस्त्रोंसे व्याप्त हैं, अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त हैं, वसा (अपक्वमांस), रुधिर और कीटोंसे भरा हुआ कर्दम है जिनमें ऐसे हैं, तथा सियाल, श्वान, व्याघ्रादिकसे तथा मांसभक्षी पक्षियोंसे भरे हुए हैं तथा वज्रमय कांटोंसे और शूल शाल्मलि आदिसे दुर्गम हैं अर्थात् जिनमें गमन करना दुःखदायक है, ऐसे नरकोंमें बिलोंके संपुटमें उत्पन्न होकर वे नारकी जीव ऊंचे पांव और नीचे मुख चिल्लाते हुए उन संपुटोंसे (उत्पत्तिस्थानोंसे) वज्राग्निमय पृथिवीमें गिरते हैं ॥ १६–१७–१८ ॥

अयःकण्टककीर्णासु द्रुतलोहाग्निवीथिषु ।
छिन्नभिन्नविशीर्णाङ्गा उत्पतन्ति पतन्ति च ॥ १९ ॥

अर्थ—उस नरकभूमिमें वे नारकी जीव छिन्नभिन्न खंड खंड होकर बिखरे हुए अंगसे पड़कर बारंबार उछल २ के गिरते हैं. सो कैसी भूमिमें गिरते हैं कि जहांपर लोहेके कांटे बिखरे हुए हैं और जिनमें लोहा गल जाता है ॥ १९ ॥

दुःसहा निष्प्रतीकारा ये रोगाः सन्ति केचन ।
साकल्येनैव गात्रेषु नारकाणां भवन्ति ते ॥ २० ॥

अर्थ—जो रोग असह्य हैं, और जिनका कोई उपाय (चिकित्सा) नहीं है ऐसे समस्त प्रकारके रोग नरकोंमें रहनेवाले नारकी जीवोंके शरीरमें रोमरोमप्रति होते हैं ॥ २० ॥

अदृष्टपूर्वमालोक्य तस्य रौद्रं भयास्पदम् ।
दिशः सर्वाः समीक्षन्ते वराकाः शरणार्थिनः ॥ २१ ॥

अर्थ—फिर वे नारकी जीव उस नरकभूमिको अपूर्व और रौद्र (भयानक) देखकर किसीकी शरण लेनेकी इच्छासे चारों तरफ देखते हैं, परन्तु कहीं कोई सुखका कारण नहीं दीखता और न कोई शरणही प्रतीत होता है ॥ २१ ॥

न तत्र सुजनः कोऽपि न मित्रं न च बान्धवाः ।
सर्वे ते निर्दयाः पापाः क्रूरा भीमोग्रविग्रहाः २२ ॥

अर्थ—उस नरकभूमिमें कोई सुजन वा मित्र वा बांधव नहीं है. सभी निर्दय, पापी, क्रूर और भयानक प्रचण्ड शरीरवाले हैं ॥ २२ ॥

सर्वे च हुण्डसंस्थानाः स्फुलिङ्गसदृशेक्षणाः ।
विवर्द्धिताशुभध्यानाः प्रचण्डाश्चण्डशासनाः ॥ २३ ॥

अर्थ—वे सभी नारकी जीव हुंडक संस्थानवाले हैं अर्थात् जिनके शरीरका प्रत्येक अंग अति भयानक वेडोल है, और अग्निके स्फुलिंगके समान जिनके नेत्र हैं, तथा प्रचण्ड, आर्त्त रौद्रध्यानको बढ़ाये हुए हैं, तथा क्रोधी हैं, और जिनका शासन भी प्रचण्ड है ॥२३॥

तत्राक्रन्दरवैः सार्द्धं श्रूयन्ते कर्कशाः स्वनाः ।
दृश्यन्ते गृध्रगोमायुसर्पशार्दूलमण्डलाः ॥ २४ ॥

अर्थ—उस नरकभूमिमें चारों ओरसे पुकारनेके शब्द बड़े कर्कश सुने जाते हैं। तथा गृध्रपक्षी, सियाल, सर्प सिंह, कुत्ते, ये सब जीव बड़े भयानक दीखते हैं ॥ २४ ॥

घ्रायन्ते पूतयो गन्धाः स्पृश्यन्ते वज्रकण्टकाः ।
जलानि पूतिगन्धीनि नद्योऽसृग्मांसकर्द्दमाः ॥ २५ ॥

अर्थ—जिस नरकभूमिमें दुर्गंध सूंघनी पड़ती है और वज्रमय कांटोंसे छिदना पड़ता है और जल जहां दुर्गन्धमय है और रुधिरमांसका है कांदा जिनमें ऐसी नदियें हैं ॥ २५ ॥

चिन्तयन्ति तदालोक्य रौद्रमत्यन्तशङ्किताः ।
केयं भूमिः क्व चानीतः के वयं केन कर्मणा ॥ २६ ॥

अर्थ—उस स्थानको रौद्र (भयानक) देखकर वे नारकी गण (जो नवीन उत्पन्न हुए हैं) अत्यन्त शंकित होकर विचारते हैं कि यह भूमि कौनसी है और हम कौन हैं, कौनसे भयानक कर्मोंने हमे यहां लाकर पटका है ॥ २६ ॥

ततो विदुर्विभङ्गात्स्वं पतितं श्वभ्रसागरे ।
कर्मणाऽत्यन्तरौद्रेण हिंसाद्यारम्भजन्मना ॥ २७ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् विभङ्गावधिसे (कुअवधिज्ञानसे) जानते हैं कि हिंसादिक आरंभोंसे उत्पन्न हुए अत्यन्त रौद्र (खोटे) कर्मसे हम नरकरूपी समुद्रमें पड़े हैं ॥ २७ ॥

ततः प्रादुर्भवत्युच्चैः पश्चात्तापोऽति दुःसहः ।
दहन्नविरतं चेतो वज्राग्निरिव निर्दयः ॥ २८ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् नारकी जीवोंके दुःसह पश्चात्ताप अतिशय करके प्रगट होता है. वह दुःसह पश्चात्ताप वज्राग्निके समान निर्दय हो चित्तको दहन करता हुआ प्रगट होता है ॥२८॥

मनुष्यत्वं समासाद्य तदा कैश्चिन्महात्मभिः ।
अपवर्गाय संविग्नैः कर्म पूज्यमनुष्ठितम् ॥ २९ ॥

विषयाशामपाकृत्य विध्याप्य मदनानलम्।
अप्रमत्तैस्तपश्चीर्णं धन्यैर्जन्मार्तिशान्तये ॥ ३० ॥
उपसर्गाग्निपातेऽपि धैर्यमालम्ब्य चोन्नतम्।
तैः कृतं तदनुष्ठानं येन सिद्धं समीहितम् ॥ ३१ ॥
प्रमादमदमुत्सृज्य भावशुद्ध्या मनीषिभिः।
केनाप्यचिन्त्यवृत्तेन स्वर्गो मोक्षश्च साधितः ॥ ३२ ॥
शिवाभ्युदयदं मार्गं दिशन्तोऽप्यतिवत्सलाः।
मयावधीरिताः सन्तो निर्भर्त्स्य कटुकाक्षरैः ॥ ३३ ॥

अर्थ—कितनेक बड़े पुरुषोंने मनुष्यत्व पाकर वैराग्यसहित हो मोक्षके लिये पूजनीय पवित्राचरण किया ॥ २९ ॥ और उन महाभाग्य मुनियोंने विषयोंकी आशाको दूर करके कामरूप अग्निको बुझाकर निष्प्रमादी हो, संसारपीडाकी शान्तिके लिये तपका संचय किया ॥ ३० ॥ तत्पश्चात् उन उत्तमपुरुषोंने उपसर्गरूपी अग्निको आनेपर बड़े धैर्यका आलंबन कर, वह आचरण किया कि जिससे वांछित कार्य सिद्ध हुआ ॥ ३१ ॥ तथा उन बुद्धिमान् पुरुषोंने प्रमाद और मदको छोड़कर भावकी शुद्धतासे किसी अचिन्त्य आचरणसे स्वर्ग तथा मोक्ष साधा ॥ ३२ ॥ उन सत्पुरुषोंने वात्सल्य भावसे युक्त हो, मुझे मोक्ष और स्वर्ग आदिके मार्गका उपदेश किया, परन्तु मैंने बड़े कटु अक्षरोंसे उनका तिरस्कार करके निंदा की, उनका उपदेश अंगीकार नहीं किया, इत्यादि पश्चात्ताप करते हैं ॥ ३३ ॥

तस्मिन्नपि मनुष्यत्वे परलोकैकशुद्धिदे।
मया तत्संचितं कर्म यज्जातं श्वभ्रशंबलम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—फिर भी नारकी पश्चात्ताप करता है कि परलोककी अद्वितीय शुद्धता देनेवाले उस मनुष्यभवमें भी मैंने वह कर्म संचय किया कि जिससे नरकका शंबल (पाथेय-राहखर्च) हुआ अर्थात् उस कर्मने सहजमें ही नरकमें ला पटका ॥ ३४ ॥

अविद्याक्रान्तचित्तेन विषयान्धीकृतात्मना।
चरस्थिराङ्गिसंघातो निर्दोषोऽपि हतो मया ॥ ३५ ॥

अर्थ—फिर नारकी विचारता है कि अविद्यासे आक्रान्त है चित्त जिसका तथा विषयोंसे अन्धा होकर, मैंने निर्दोष त्रस स्थावरोंके समूहको मारा ॥ ३५ ॥

परवित्तामिषासक्तः परस्त्रीसंगलालसः।
बहुव्यसनविध्वस्तो रौद्रध्यानपरायणः ॥ ३६ ॥
यत्स्थितः प्राक् चिरं कालं तस्यैतत्फलमागतम्।
अनन्तयातनासारे दुरन्ते नरकार्णवे ॥ ३७ ॥

अर्थ—नारकी फिर पश्चात्ताप करता है कि मैं परके धनमें और मांसमें अथवा परके धनरूपी मांसमें आसक्त होकर, परस्त्रीसंग करनेमें लुब्ध हुआ तथा बहुत प्रकारके व्यसनोंसे पीडित होकर, रौद्रध्यानी हुआ ॥ ३६ ॥ पूर्वजन्ममें मैं इसप्रकार रहा, इसकारण उसका यह अनन्त पीडासे असार अपार नरकरूपी समुद्र फल आया है ॥ ३७ ॥

यन्मया वञ्चितो लोको वराको मूढमानसः ।
उपायैर्बहुभिः पापैः स्वाक्षसन्तर्पणार्थिना ॥ ३८ ॥
कृतः पराभवो येषां धनभूस्त्रीकृते मया ।
घातश्च तेऽत्र संप्राप्ताः कर्तुं तस्याद्य निष्क्रियाम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि मैंने भोले रंक जनोंको अति अन्यायरूप उपायोंसे इन्द्रियोंको पोषनेके लिये ठगा ॥ ३८ ॥ तथा परका धन, परकी भूमि वा स्त्री लेनेके लिये जिनका अपमान किया तथा घात किया वे लोग यहां नरकभूमिमें उसका दंड देनेके लिये आकर प्राप्त हुए हैं ॥ ३९ ॥

ये तदा शशकप्राया मया बलवता हताः ।
तेऽद्य जाता मृगेन्द्राभा मां हन्तुं विविधैर्वधैः ॥ ४० ॥

अर्थ—उस मनुष्यभवमें जब मैं था तब तो वे शशक (खरगोश) के समान थे और मैं बलवान् था सो मैंने मारा किन्तु वे आज यहां पर सिंहके समान होकर, अनेक प्रकारके घातोंसे मुझे मारनेके लिये उद्यत हैं ॥ ४० ॥

मानुष्येऽपि स्वतन्त्रेण यत्कृतं नात्मनो हितम् ।
तदद्य किं करिष्यामि दैवपौरुषवर्जितः ॥ ४१ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि जब मनुष्यभवमें मैं स्वाधीन था, तबही मैंने अपना हितसाधन नहीं किया तो अब यहां दैव और पौरुष दोनोंसे रहित होकर, क्या कर सकता हूं ? यहां कुछ भी हितसाधन नहिं हो सकता ॥ ४१ ॥

मदान्धेनापि पापेन निस्त्रिंशेनास्तबुद्धिना ।
विराध्याराध्यसन्तानं कृतं कर्मातिनिन्दितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि मदसे अन्धे, पापी, निर्दय, नष्टबुद्धि मैंने आराधने योग्य जो भले मार्गमें प्रवर्त्तनेवाले उन पूज्य पुरुषोंके सन्तानको विराधकर, निंदनीय कर्म किया ॥ ४२ ॥

यत्पुरग्रामविन्ध्येषु मया क्षिप्तो हुताशनः ।
जलस्थलबिलाकाशचारिणो जन्तवो हताः ॥ ४३ ॥
कृन्तन्ति मम मर्माणि स्मर्यमाणान्यनारतम् ।
प्राचीनान्यद्य कर्माणि क्रकचानीव निर्दयम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि मैने पूर्वभवमें पुर, ग्राम वनमें अग्नि डालकर दव लगाई; और जलचर, थलचर, आकाशचर तथा बिलोंमें रहनेवाले असंख्य जीवोंको मारा वे पूर्वके पापकर्म इस समय स्मरण आनेसे निरन्तर मेरे मर्मस्थानोंको दयारहित करोंतके समान भेदते हैं ॥ ४३—४४ ॥

किं करोमि क्व गच्छामि कर्मजाते पुरःस्थिते ।
शरणं कं प्रपश्यामि वराको दैववञ्चितः ॥ ४५ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि ऐसे नरकोंके दुःखमें भी कर्मोंका समूह मेरे सामने है. उसके होते हुए मैं क्या करूं? कहां जाऊं? किसकी शरण देखूं? मैं रंक दैवसे ठगा हुआ हूं. मुझे कुछ भी सुखका उपाय नहीं दीखता ॥ ४५ ॥

यन्निमेषमपि स्मर्तुं द्रष्टुं श्रोतुं न शक्यते ।
तद्दुःखमत्र सोढव्यं वर्द्धमानं कथं मया ॥ ४६ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि नेत्रके टिमकार मात्र भी जिसके स्मरण करने वा सुननेकी समर्थता नहीं; प्रतिक्षण बढ़ता हुआ वह दुःख मैं कैसे सहूंगा? ॥ ४६ ॥

एतान्यदृष्टपूर्वाणि बिलानि च कुलानि च ।
यातनाश्च महाघोरा नारकाणां मयेक्षिताः ॥ ४७ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि—नरकोंके बिल तथा नारकियोंके कुल (समूह) तथा नारकियोंकी महातीव्र वेदनाका सहना आदि सब मैंने अदृष्ट पूर्व देखा अर्थात् अन्यत्र नहीं देखा ऐसा यहीं पर देखा ॥ ४७ ॥

विषज्वलनसंकीर्णं वर्द्धमानं प्रतिक्षणम् ।
मम मूर्ध्नि विनिक्षिप्तं दुःखं दैवेन निर्दयम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि विष तथा अग्निसे व्याप्त क्षण क्षणमें बढ़नेवाले ये सब दुःख दैव (कर्म) ने दयारहित होकर, मेरे ही माथेपर डाले हैं ॥ ४८ ॥

न दृश्यन्तेऽत्र ते भृत्या न पुत्रा न च बान्धवाः ।
येषां कृते मया कर्म कृतं स्वस्यैव घातकम् ॥ ४९ ॥
न कलत्राणि मित्राणि न पापप्रेरको जनः ।
पदमप्येकमायातो मया सार्द्धं गतत्रपः ॥ ५० ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारता है कि जिनके लिये मैंने अपने घातक पापकर्म पूर्व जन्ममें किये इस समय न तो वे चाकर, न पुत्र, कलत्र, मित्र, व न पापमें प्रेरणा करनेवाले बांधव कोई देखनेमें आते हैं, वे ऐसे निर्लज्ज हो गये कि एक पैंड भी मेरे साथ नहीं आये ॥ ४९—५० ॥

आश्रयन्ति यथा वृक्षं फलितं पत्रिणः पुरा।
फलापाये पुनर्यान्ति तथा ते स्वजना गताः ॥ ५१ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारता है कि जिसप्रकार पक्षी पहिले तो फले हुए वृक्षका आश्रय करते हैं परन्तु जब फलोंका अभाव हो जाता है तब सब पक्षी उड़ जाते हैं, उसी प्रकार मेरे स्वजन गण जाते रहे. ये दुःख भोगनेको कोई साथ नहीं आया ॥ ५१ ॥

शुभाशुभानि कर्माणि यान्त्येव सह देहिभिः।
स्वार्जितानीति यत्प्रोचुः सन्तस्तत्सत्यतां गतम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—फिर क्या विचारता है कि जो सत्पुरुष कहते थे कि अपने उपार्जन किए हुए शुभ अशुभ कर्म हैं वे ही जीवके साथ जाते हैं अन्य कोई साथ नहीं जाता सो वह आज सत्य प्रतीत हुआ ॥ ५२ ॥

धर्म एव समुद्धर्तुं शक्तोऽस्माच्छ्वभ्रसागरात्।
न स स्वप्नेऽपि पापेन मया सम्यक्पुरार्जितः ॥ ५३ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि इस नरकरूपी समुद्रसे उद्धार करनेके लिये एक धर्म ही समर्थ है; परन्तु मुझ पापिष्ठने पहिले स्वप्नमें भी उसका उपार्जन नहीं किया ॥ ५३ ॥

सहायः कोऽपि कस्यापि नाभून्न च भविष्यति।
मुक्त्वैकं प्राक्कृतं कर्म सर्वसत्त्वाभिनन्दकम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि इस संसारमें कोई किसीका सहायक न है, न हुआ और न होगा; किन्तु समस्त जीवोंको आनंद करनेवाला अर्थात् जिसमें सबकी दया हो ऐसा शुभकर्म ही सहायक होता है ॥ ५४ ॥

तत्कुर्वन्त्यधमाः कर्म जिह्वोपस्थादिदण्डिताः।
येन श्वभ्रेषु पच्यन्ते कृतार्त्तकरुणस्वनाः ॥ ५५ ॥

अर्थ—फिर यह विचारता है कि जो अधम (पापी) पुरुष जिह्वा उपस्थेन्द्रियसे दण्डित होते हैं वे ऐसा कर्म करते हैं कि जिस कर्मसे वे पापी पीडित होकर, नरकोंमें पचाये जाते हैं, रोते हैं वा शब्द करते हैं; जिसको सुननेसे अन्यके दया उपज आवै ॥ ५५ ॥

चक्षुरुन्मेषमात्रस्य सुखस्यार्थे कृतं मया।
तत्पापं येन सम्पन्ना अनन्ता दुःखराशयः ॥ ५६ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि मैंने नेत्रोंके टिमकारमात्र सुखके लिये ऐसा पाप किया कि जिससे अनन्त दुःखोंकी राशि प्राप्त हुई ॥ ५६ ॥

याति सार्द्धं ततः पाति करोति नियतं हितम्।
हन्ति दुःखं सुखं दत्ते यः स बन्धुर्न योषितः ॥ ५७ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि यह धर्मरूप बन्धु (हितू) ऐसा है कि साथ जाता है, और जहां जाता है वहीं रक्षा करता है, और यह मित्र नियमसे हित ही करता है, दुःखका नाश करके सुख देता है. ऐसे धर्मरूपी मित्रको मैंने पोषाही नहीं, और जिनको मित्र समझके पोषा उनमेंसे कोई एक भी साथ नहीं आया ॥ ५७ ॥

परिग्रहमहाग्राहसंग्रस्तेनार्तचेतसा।
न दृष्टा यमशार्दूलचपेटा जीवनाशिनी ॥ ५८ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि परिग्रहरूपी महाग्राहसे पकड़े हुए पीडितचित्त होकर मैंने जीवको नाश करनेवाली यमरूपी शार्दूलकी चपेट नहीं देखी, अर्थात् परिग्रहमें आसक्त होकर निरंतर पाप ही करता रहा ॥ ५८ ॥

पातयित्वा महाघोरे मां श्वभ्रेऽचिन्त्यवेदने।
क्व गतास्तेऽधुना पापा मद्वित्तफलभोगिनः ॥ ५९ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि जो कुटुंबादिक मेरे उपार्जन किये हुए धनके फल भोगनेवाले थे वे पापी मुझे अचिन्त्य वेदनामय इस घोर नरकमें डालकर अब कहां चले गये? यहां दुःखमें कोई साथी न हुआ ॥ ५९ ॥

इत्यजस्रं सुदुःखार्त्ता विलापमुखराननाः।
शोचन्ते पापकर्माणि वसन्ति नरकालये ॥ ६० ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे नारकी जीव निरनन्तर महादुःखसे पीडित हुए, मुखसे पुकारते हुए, विलाप करते हुए अपने पापकार्योंको स्मरण करकरके; शोच करते हैं और नरकमंदिरमें वसते हैं ॥ ६० ॥

इति चिन्तानलेनोच्चैर्दह्यमानस्य ते तदा।
धावन्ति शरशूलासिकराः क्रोधाग्निदीपिताः ॥ ६१ ॥
वैरं पराभवं पापं स्मारयित्वा पुरातनम्।
निर्भर्त्स्य कटुकालापैः पीडयन्त्यतिनिर्दयम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्तप्रकारकी चिन्तारूप अग्निसे अतिशय जलते हुए नारकीके ऊपर उसी समय अन्य पुराने नारकी वाण, शूल, तलवार लिये हुए, क्रोधरूपी अग्निसे जलते हुए दौड़ते हैं, और पूर्वके पाप तथा वैरको याद कराते हुए कटु वचनोंसे तिरस्कार करके, उसे अतिनिर्दयतासे जिसप्रकार वनता है दुःख देते हैं ॥ ६१–६२ ॥

उत्पाटयन्ति नेत्राणि चूर्णयन्त्यस्थिसंचयम्।
दारयन्त्युदरं क्रुद्धास्त्रोटयन्त्यन्त्रमालिकाम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—वे पुराने नारकी उस विलाप करते हुए नये नारकीके नेत्रोंको उखाडते हैं,

हड्डियोंको चूर्ण कर डालते हैं, उदरको फाड़ते ह, और क्रोधी होकर उसकी आंतोंको तोड़ डाल्ते हैं ॥ ६३ ॥

निष्पीडयन्ति यन्त्रेषु दलन्ति विषमोपलैः।
शाल्मलीषु निघर्षन्ति कुम्भीषु क्राथयन्ति च ॥ ६४ ॥

अर्थ—तथा वे नारकी उसे घानीमें डालकर पीलते हैं और कठिन पाषाणोंसे दलते हैं, लोहेके कांटेवाले वृक्षोंसे घिसते (रगड़ते) हैं तथा कुंभियोंमें (कलशियोंमें) डालकर काढ़ा करते (उबालते) हैं ॥ ६४ ॥

असह्यदुःखसन्तानदानदक्षाः कलिप्रियाः।
तीक्ष्णदंष्ट्रा करालास्या भिन्नाञ्जनसमप्रभाः ॥ ६५ ॥
कृष्णलेश्योद्धताः पापा रौद्रध्यानैकभाविताः।
भवन्ति क्षेत्रदोषेण सर्वे ते नारकाः खलाः॥ ६६ ॥

अर्थ—तथा वे नारकी कैसे हैं कि—असह्य दुःखोंकी निरन्तरता देनेमें चतुर हैं, कलह करना ही जिनको प्रिय है, तीक्ष्ण दाढ़ोंसे भयानक मुखवाले हैं, बिखरे हुए कागलको समान जिनके शरीरकी काली प्रभा है । तथा कृष्णलेश्याके कारण उद्धत हैं, पापरूप हैं और एक रौद्रध्यानके भावनेवाले हैं, एवं क्षेत्रके दोषसे वे सबही नारकी दुष्ट होते हैं ॥ ६५–६६ ॥

वैक्रियिकशरीरत्वाद्विक्रियन्ते यदृच्छया ।
यन्त्राग्निश्वापदाङ्गैस्ते हन्तुं चित्रैर्वधैः परान् ॥ ६७ ॥

अर्थ—उन नारकियोंका वैक्रियिक शरीर होनेके कारण अपनी इच्छानुसार घाणी अग्नि हिंस्रजन्तु सिंहादिकका रूप बनाकर, अनेकप्रकारसे परस्पर मारनेके लिये विक्रिया करते हैं ॥ ६७ ॥

न तत्र बान्धवः स्वामी मित्रभृत्याङ्गनाङ्गजाः।
अनन्तयातनासारे नरकेऽत्यन्तभीषणे ॥ ६८ ॥

अर्थ—उस अत्यन्त भयानक नरकमें न तो कोई बाधव है, न कोई हितू है, न कोई मित्र है, न कोई भृत्यही है, न स्त्री है, न पुत्र है, केवल अनन्त यातनाका भयानक वृष्टिपातही है ॥ ६८ ॥

तत्र ताम्रमुखा गृध्रा लोहतुण्डाश्च वायसाः।
दारयन्त्येव मर्माणि चञ्चुभिर्नखरैः खरैः ॥ ६९ ॥

अर्थ—उस नरकमें तामेकेसे हैं मुख–चोंच जिनके ऐसे तो गृध्रपक्षी हैं और लोहेकी चोंचवाले काक हैं, सो चोंचोंसे तथा तीक्ष्ण नखोंसे नारकी जीवोंके मर्मोको विदारते हैं ॥ ६९ ॥

कृमयः पूतिकुण्डेषु वज्रसूचीसमाननाः।
भित्वा चर्मास्थिमांसानि पिबन्त्याकृष्य लोहितम् ॥ ७० ॥

अर्थ—तथा उस नरकमें पीवके कुंडोंमें वज्रकी सूईसमान हैं मुख जिनके ऐसे कीड़े वा जोंकें नारकी जीवोंके चमड़े और हाड़मांसको विदार कर, रक्त (खून) को पीतीं हैं ॥ ७० ॥

बलाद्विदार्य संदंशैर्वदनं क्षिप्यते क्षणात्।
विलीनं प्रज्वलत्ताम्रं यैः पीतं मद्यमुद्धतैः ॥ ७१ ॥

अर्थ—तथा जिन पापियोंने मनुष्यजन्ममें उद्धत होकर, मद्यपान किया है; उनके मुखको संडासीसे फाड़ २ कर, तुरतके पिघलाये हुए तामेको पिलाते हैं ॥ ७१ ॥

परमांसानि यैः पापैर्भक्षितान्यतिनिर्दयैः।
शूलापक्वानि मांसानि तेषां खादन्ति नारकाः ॥ ७२ ॥

अर्थ—और जिन पापियोंने मनुष्यभवमें निर्दय होकर, अन्य जीवोंका मांस भक्षण किया है; उनके मांसके शूले पका २ कर नारकी जीव खाते हैं ॥ ७२ ॥

यः प्राक्परकलत्राणि सेवितान्यात्मवञ्चकैः।
योज्यन्ते प्रज्वलन्तीभिः स्त्रीभिस्ते ताम्रजन्मभिः ॥ ७३ ॥

अर्थ—तथा जिन आत्मवञ्चक पापी जनोंने पूर्वभवमें परस्त्री सेवन की हैं, उनको तामेकी लाल की हुई स्त्रियोंसे संगम कराया जाता है ॥ ७३ ॥

न सौख्यं चक्षुरुन्मेषमात्रमप्युपलभ्यते।
नरके नारकैर्दीनैर्हन्यमानैः परस्परम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—नरकमें नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको मारते हैं, सो वे दीन एक पलकमात्र भी सुखको नहीं पाते ॥ ७४ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन जन्मकोटिशतैरपि।
केनापि शक्यते वक्तुं न दुःखं नरकोद्भवम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—बहुत कहां तक कहें? क्योंकि, उस नरकमें उत्पन्न हुए दुःखको कोटि जन्म लेकर भी कोई कहनेको समर्थ नहीं है तो हम क्या कह सक्ते हैं ॥ ७५ ॥

विस्मृतं यदि केनापि कारणेन क्षणान्तरे।
स्मारयन्ति तदाभ्येत्य पूर्ववैरं सुराधमाः ॥ ७६ ॥

अर्थ—यदि वे नारकी किसी कारणसे क्षणमात्रके लिये भूल जाते हैं तो उसी समय नीच असुर देव आकर, उन्हे पूर्ववैर याद करा देते हैं जिससे फिर वे परस्पर मार पीट करके अपनेको महादुःखी कर लेते हैं ॥ ७६ ॥

बुभुक्षा जायतेऽत्यर्थं नरके तत्र देहिनाम् ।
यां न शामयितुं शक्तः पुद्गलप्रचयोऽखिलः ॥ ७७ ॥

अर्थ—तथा उस नरकमें नारकी जीवोंको भूख ऐसी लगती है कि समस्त पुद्गलोंका समूह भी उसको शमन करनेमें असमर्थ है ॥ ७७ ॥

तृष्णा भवति या तेषु वाडवाग्निरिवोल्वणा ।
न सा शाम्यति निःशेषपीतैरप्यम्बुराशिभिः ॥ ७८ ॥

अर्थ—तथा नरकमें नारकी जीवोंके जो तृषा वड़वाग्निकी समान अति उत्कट (तीव्र) होती है सो समस्त समुद्रोंका जल पी लें तो भी नहीं मिटती ॥ ७८ ॥

बिन्दुमात्रं न तैर्वारि प्राप्यते पातुमातुरैः ।
तिलमात्रोऽपि नाहारो ग्रसितुं लभ्यते हि तैः ॥ ७९ ॥

अर्थ—यद्यपि नरकोंमें उपर्युक्त भूख प्यासकी तीव्रता है, परन्तु न तो किसी कालमें तिलमात्र किसीको भोजन मिलता है और न एक बिंदु पानी ही कहीं मिलता है. इस प्रकार आतुर होकर, निरंतर भूख प्यास सहते हैं ॥ ७९ ॥

तिलादप्यतिसूक्ष्माणि कृतखण्डानि निर्दयैः ।
वपुर्मिलति वेगेन पुनस्तेषां विधेर्वशात् ॥ ८० ॥

अर्थ—तथा उन नारकियोंके शरीर निर्दय नारकियोंके द्वारा तिलतिलमात्र खण्ड किये जाते हैं परन्तु मृत्यु नहीं आती, तत्काल मिलकर शरीर बन जाता है. इनके ऐसा ही कर्मोदय है, जो मरण नहीं होता. सागरोंकी आयु पूर्ण होनेपर ही मरण होता है. अकालमृत्यु कभी नहीं होती ॥ ८० ॥

यातनारुक्शरीरायुर्लेश्यादुःखभयादिकम् ।
वर्द्धमानं विनिश्चेयमधोऽधः श्वभ्रभूमिषु ॥ ८१ ॥

अर्थ—उन नरककी भूमियोंमें पीडा, रोग, शरीर, आयु, लेश्या, दुःख, भय इत्यादि नीचे नीचे वढता हुआ है । अर्थात् पहिले नरकसे (पृथिवीसे) दूसरे नरकमें अधिक है, दूसरेसें तीसरेमें और तीसरेसें चौथेमें और चौथेसे पांचवेंमें और पांचवेंसे छठेमें और छठेसे सातवेंमें इस क्रमसे अधिक २ हैं. यह अधोलोकका वर्णन हुआ ॥ ८१ ॥

अब मध्यलोकका वर्णन करते हैं,—

मध्यभागस्ततो मध्ये तत्रास्ते झल्लरीनिभः ।
यत्र द्वीपसमुद्राणां व्यवस्था वलयाकृतिः ॥ ८२ ॥

अर्थ—उस अधोलोकके ऊपर झालरके समान (घंटा वजानेकी वड़वलीके समान) गोलाकार मध्यलोकका मध्य भाग है, उसमें गोल २ वलयों (कड़ों) के समान असंख्यात द्वीप समुद्र हैं ॥ ८२ ॥

जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयोऽर्णवाः।
स्वयम्भूरमणान्तास्ते प्रत्येकं द्वीपसागराः॥ ८३॥

अर्थ—उस मध्यलोकमें जम्बूद्वीपादिक तो द्वीप हैं और लवणसमुद्रादिक समुद्र हैं सो अन्तके स्वयंभूरमण पर्यन्त भिन्न २ हैं। **भावार्थ**—सबके बीच एक लाख योजन चौड़ा लंबा गोल जम्बूद्वीप है, और उसके चारों ओर दो लाख योजनके व्यासका खाईकी समान लवणसमुद्र है. इसी प्रकार समुद्रके चारों ओर द्वीप और द्वीपोंके चारों ओर समुद्र, इसप्रकार स्वयंभूरमण समुद्रपर्यन्त द्वीपसमुद्रोंकी स्थिति है॥ ८३॥

द्विगुणा द्विगुणा भोगाः प्रावर्त्यान्योन्यमास्थिताः।
सर्वे ते शुभनामानो वलयाकारधारिणः॥ ८४॥

अर्थ—तथा वे द्वीप और समुद्र दूने २ विस्तारवाले हैं तथा परस्पर एक दूसरेको लपेटे हुए हैं। गोलाकार कड़ेके आकार हैं और उनके नाम भी जम्बूद्वीप, धातकीद्वीप, पुष्करद्वीप, लवणसमुद्र, कालोदधि, आदि उत्तमोत्तम हैं॥ ८४॥

मानुषोत्तरशैलेन्द्रमध्यस्थमतिसुन्दरम्।
नरक्षेत्रं सरिच्छैलसुराचलविराजितम्॥ ८५॥

अर्थ—तथा मानुषोत्तर पर्वतके मध्यस्थ नदीपर्वत मेरुपर्वतसे अतिसुन्दर मनुष्यक्षेत्र है। **भावार्थ**—सबसे बीचमें एक लाखयोजन व्यासका जंबूद्वीप है. जम्बूद्वीपके चारों ओर दो लाख योजनका लवणसमुद्र है. लवणसमुद्रके चारों तरफ चार लाखयोजन धातकीखंडद्वीप है और धातकीखंडद्वीपके चारों ओर आठ लाख योजनका कालोदधि समुद्र है और कालोदधि समुद्रके चारों तरफ १६ लाख योजन चौड़ा पुष्करद्वीप है. पुष्करद्वीपके उत्तरार्द्धमें अर्थात् अगले आधे भागमें ८ लाख योजन चौड़ा मानुषोत्तर नामका दीवारके समान पर्वत पड़ा हुआ है, इसकारण इस द्वीपको पुष्करार्द्ध द्वीप कहते हैं. और इन अढ़ाई द्वीपोंमें ही मनुष्य रहते हैं. अगले द्वीपोंमें मनुष्य नहीं हैं और न उससे आगे मनुष्य जा ही सकते हैं, इसी कारण उस पर्वतका नाम मानुषोत्तर पर्वत है॥ ८५॥

तत्रार्यम्लेच्छखण्डानि भूरिभेदानि तेष्वमी।
आर्या म्लेच्छा नराः सन्ति तत्क्षेत्रजनितैर्गुणैः॥ ८६॥

अर्थ—उस मनुष्यक्षेत्रमें अर्थात् अढ़ाई द्वीपोंमें अनेक आर्यखंड और म्लेच्छखंड है, और आर्यक्षेत्रोंमें आर्यपुरुष और म्लेच्छक्षेत्रोंमें म्लेच्छ रहते हैं. उन क्षेत्रोंके अनुसार ही उनके गुण आचारादिक हैं। अर्थात् आर्योंके उत्तम आचार, उत्तम गुण हैं, और म्लेच्छोंके निकृष्ट आचार और धर्मशून्यतादि निकृष्ट गुण हैं॥ ८६॥

क्वचित्कुमानुषोपेतं क्वचिद्यन्तरसंभृतम्।
क्वचिद्भोगधराकीर्णं नरक्षेत्रं निरन्तरम्॥ ८७॥

अर्थ—यह मनुष्यक्षेत्र निरंतर कहीं तो कुमानुष, कुभोगभूमिसहित है, कहीं व्यन्तर देवोंसे भरा है, कहीं उत्तम भोगभूमि सहित है, इसप्रकार संक्षेपसे मध्यलोकका वर्णन किया॥८७॥

आगे ऊर्ध्वलोकका वर्णन करते हैं,—

ततो नभसि तिष्ठन्ति विमानानि दिवौकसाम् ।
चरस्थिरविकल्पानि ज्योतिष्काणां यथाक्रमम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—उस मध्यलोकके ऊपर आकाशमें ज्योतिषी देवोंके विमान रहते हैं. वे चर स्थिर भेदसे दो प्रकारके हैं । अर्थात् कई विमान तो निरन्तर गमन करते रहते हैं और कई विमान स्थिर रहते हैं ॥ ८८ ॥

तदूर्ध्वं सन्ति देवेशकल्पाः सौधर्मपूर्वकाः ।
ते षोडशाच्युतस्वर्गपर्यन्ता नभसि स्थिताः ॥ ८९ ॥

अर्थ—ज्योतिषी देवोंके विमानोंके ऊपर कल्पवासी देवोंके कल्प (विमान) हैं. जिनके सौधर्म स्वर्ग, ईशानस्वर्ग आदि नाम हैं. वे अच्युतस्वर्ग पर्यन्त सोलह हैं और आकाशमें स्थित हैं ॥ ८९ ॥

उपर्युपरि देवेशनिवासयुगलं क्रमात् ।
अच्युतान्तं ततोऽप्यूर्ध्वमेकैकत्रिदशास्पदम् ॥ ९० ॥

अर्थ—वे देवोंके निवास (स्वर्ग) आकाशमें दो स्वर्गके ऊपर दो स्वर्ग फिर उन दोके ऊपर फिर दो स्वर्ग, इसप्रकार दो दोके आठ युगल हैं. और उनके ऊपर एक एक विमान करके नव ग्रैवेयक विमान हैं, तथा एक अनुदिश और एक अनुत्तर विमान भी है॥९०॥

निशादिनविभागोऽयं न तत्र त्रिदशास्पदे ।
रत्नालोकः स्फुरत्युच्चैः सततं नेत्रसौख्यदः ॥ ९१ ॥

अर्थ—उन देवोंके निवासोंमें रात्रिदिनका विभाग नहीं है. क्योंकि, वहांपर सूर्यचन्द्रमा नहीं हैं किन्तु नेत्रोंको सुख देनेवाला रत्नोंका उत्तम प्रकाश निरन्तर स्फुरायमान रहता है॥९१॥

वर्षातपतुषारादिसमयैः परिवर्जितः ।
सुखदः सर्वदा सौम्यस्तत्र कालः प्रवर्त्तते ॥ ९२ ॥

अर्थ—उन स्वर्गोंमें वर्षा, शीत आतप आदिक समय वा ऋतुओंसे रहित सदाकाल सुख देनेवाला सौम्य मध्यस्थ काल (वसन्तऋतु) रहता है ॥ ९२ ॥

उत्पातभयसन्तापभङ्गचौरारिविड्वराः ।
न हि स्वप्नेऽपि दृश्यन्ते क्षुद्रसत्त्वाश्च दुर्जनाः ॥ ९३ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें उत्पात, भय, सन्ताप, भंग, चौर, शत्रु, वञ्चक तथा क्षुद्र जीव, दुर्जन ये स्वप्नमें भी नहीं दीखते ॥ ९३ ॥

चन्द्रकान्तशिलानद्धाः प्रवालदलदन्तुराः।
वज्रेन्द्रनीलनिर्माणा विचित्रास्तत्र भूमयः ॥ ९४ ॥

अर्थ—उन देवोंके निवासोंमें पृथिवी चन्द्रकान्त मणियोंसे बँधी हुई है तथा मूंगेके पत्रकी समान रची हुई है. तथा कहीं २ हीरा इन्द्रनीलमणि आदि नाना प्रकारके रत्नोंसे बनी हुई है ॥ ९४ ॥

माणिक्यरोचिषां चक्रैः कर्बुरीकृतदिङ्मुखाः।
वाप्यः स्वर्णाम्बुजच्छन्ना रत्नसोपानराजिताः ॥ ९५ ॥

अर्थ—तथा स्वर्गोंमें वापिकायें माणिककी किरणोंके समूहोंसे दशों दिशाओंको अनेक वर्णमय कर रही हैं तथा सुवर्णमय कमलोंसे आच्छादित और रत्नमय सीढ़ियोंसे सुशोभित हैं ॥ ९५ ॥

सरांस्यमलवारीणि हंसकारण्डमण्डलैः।
वाचालै रुद्धतीर्थानि दिव्यनारीजनेन च ॥ ९६ ॥

अर्थ—स्वर्गमें सरोवर भी अतिस्वच्छ निर्मल जलवाले हैं, हंस वा कारंड जातिके पक्षियोंके समूहसे तथा देवांगना वा अप्सराओं से रुके हुए हैं तट जिनके ऐसे हैं ॥ ९६ ॥

गावः कामदुघाः सर्वाः कल्पवृक्षाश्च पादपाः।
चिन्तारत्नानि रत्नानि स्वर्गलोके स्वभावतः ॥ ९७ ॥

अर्थ—तथा उस स्वर्गमें गौ हैं वे तो कामधेनु हैं, वृक्ष हैं सो कल्पवृक्ष हैं और रत्न हैं सो चिन्तामणि रत्न हैं. ये सब क्षेत्रके स्वभावसे निरन्तर रहते हैं ॥ ९७ ॥

ध्वजचामरछत्राङ्कैर्विमानैर्वनितासखाः।
संचरन्ति सुरासारैः सेव्यमानाः सुरेश्वराः ॥ ९८ ॥

अर्थ—उन स्वर्गोंके अधिपति इन्द्र ध्वजा, चमर, छत्रोंसे चिह्नित हुए विमानोंके द्वारा अनेक देवांगनाओंसहित यत्र तत्र विचरते हैं. उनकी अनेक देव सेवा करते हैं ॥ ९८ ॥

यक्षकिन्नरनारीभिर्मन्दारवनवीथिषु।
कान्ताश्लिष्टाभिरानन्दं गीयन्ते त्रिदशेश्वराः ॥ ९९ ॥

अर्थ—तथा वहांके इन्द्र, मंदारवृक्षोंकी गलियोंमें यक्ष और किन्नर जातीय देवोंकी देवांगना अपने पतिसहित आलिंगित आनंदसे भरी गाती हैं, उनके गीत सुनते हैं ॥ ९९ ॥

क्रीडागिरिनिकुञ्जेषु पुष्पशय्यागृहेषु वा ।
रमन्ते त्रिदशा यत्र वरस्त्रीवृन्दवेष्टिताः ॥ १०० ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंके देव क्रीडापर्वतोंकी कुंजोंमें, पुष्पलतादिकृत कंदराओंमें पुष्पोंकी शय्यामें सुन्दर देवांगनाओंके समूहके साथ वेष्टित होकर नाना प्रकारकी आनन्दक्रीडा करते हैं ॥ १०० ॥

मन्दारचम्पकाशोकमालतीरेणुरञ्जिताः ।
भ्रमन्ति यत्र गन्धाढ्या गन्धवाहाः शनैः शनैः ॥ १०१ ॥

अर्थ—उन स्वर्गोंमें मंदार, चम्पक, अशोक, मालतीके पुष्पोंकी रजसे रंजित भ्रमरों-सहित मन्दमन्द सुगन्ध पवन वहता है ॥ १०१ ॥

लीलावनविहारैश्च पुष्पावचयकौतुकैः ।
जलक्रीडादिविज्ञानैर्विलासास्तत्र योषिताम् ॥ १०२ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें देवांगनाओंके विलास, क्रीडावनके विहारोंसे तथा पुष्पोंके चुननेके कौतुकसे तथा जलक्रीडाके विज्ञानोंसे (चतुराइयोंसे) वड़ी शोभा है ॥ १०२ ॥

वीणामादाय रत्यन्ते कलं गायन्ति योषितः ।
ध्वनन्ति मुरजा धीरं दिवि देवाङ्गनाहताः ॥ १०३ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें देवांगनायें संभोगके अन्तमें वीणा लेकर सुन्दर गान करती हैं तथा उनके वजायेहुए मृदंग धीरे २ वजते हैं ॥ १०३ ॥

कोकिलाः कल्पवृक्षेषु चैत्यागारेषु योषितः ।
विबोधयन्ति देवेशांल्ललितैर्गीतनिःस्वनैः ॥ १०४ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें कल्पवृक्षोंपर तो कोकिलायें और चैत्यमन्दिरोंमें देवांगनायें सुन्दर गीत और शव्दोंसे इन्द्रोंको आनन्द प्रदान करती हैं ॥ १०४ ॥

नित्योत्सवयुतं रम्यं सर्वाभ्युदयमन्दिरम् ।
सुखसंपद्गुणाधारं कैः स्वर्गमुपमीयते ॥ १०५ ॥

अर्थ—प्रत्येक स्वर्ग नित्यही उत्सवोंसहित है, रमणीक है, समस्त अभ्युदयोंके भोगोंका निवास है तथा सुख, संपद् और गुणोंका आधार है सो उसको किसकी उपमा दी जाय ? ॥ १०५ ॥

पञ्चवर्णमहारत्ननिर्माणाः सप्त भूमिकाः ।
प्रासादाः पुष्करिण्यश्च चन्द्रशाला वनान्तरे ॥ १०६ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंके वागोंमें पांच वर्णोंके रत्नोंसे वने हुए सात सात खनके महल हैं और वापिका तथा चन्द्रशाला (शिरोगृह—अंटे) हैं ॥ १०६ ॥

प्राकारपरिखावप्रगोपुरोत्तुङ्गतोरणैः।
चैत्यद्रुमसुरागारैर्नगर्यो रत्नराजिताः॥ १०७॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें जो नगरी हैं वे कोट, खाई, बड़े दरवाजों और ऊंचे तोरणोंसे तथा चैत्य वृक्ष, और देवोंके मंदिर आदिकसे रत्नमयी शोभती हैं॥ १०७॥

इन्द्रायुधश्रियं धत्ते यत्र नित्यं नभस्तलम्।
हर्म्याग्रलग्नमाणिक्यमयूखैः कर्बुरीकृतम्॥ १०८॥

अर्थ—तथा स्वर्गोंमें आकाश महलोंके अग्रभागमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे विचित्र वर्णका होकर इन्द्रधनुषकीसी शोभाको नित्य धारण किये हुए रहता है॥ १०८॥

सप्तभिस्त्रिदशानीकैर्विमानैरङ्गनान्वितैः।
कल्पद्रुमगिरीन्द्रेषु रमन्ते विबुधेश्वराः॥ १०९॥

अर्थ—स्वर्गोंके इन्द्र सात प्रकारकी देवसेनाओंसे तथा देवांगनासहित विमानोंके द्वारा कल्पवृक्षों तथा क्रीडावनोंमें रमते हैं (आनन्द करते हैं)॥ १०९॥

हस्त्यश्वरथपादातवृषगन्धर्वनर्त्तकि।
सप्तानीकानि सन्त्यस्य प्रत्येकं च महत्तरम्॥ ११०॥

अर्थ—हस्ती, घोडे, रथ, पयादे, बैल, गन्धर्व, नर्त्तकी इसप्रकार सात प्रकारकी सेना इन्द्रकी होती है, सो प्रत्येक एकसे एक बढ़कर है॥ ११०॥

शृङ्गारसारसंपूर्णा लावण्यवनदीर्घिकाः।
पीनस्तनभराक्रान्ताः पूर्णचन्द्रनिभाननाः॥ १११॥
विनीताः कामरूपिण्यो महर्द्धिमहिमान्विताः।
हावभावविलासाढ्या नितम्बभरमन्थराः॥ ११२॥
मन्ये शृंगारसर्वस्वमेकीकृत्य विनिर्मिताः।
स्वर्गवासविलासिन्यः संति मूर्त्ता इव श्रियः॥ ११३॥

अर्थ—उन स्वर्गोंमें विलासिनी देवांगनायें शृंगारका सार है जिनके ऐसी लावण्यरूपी जलकी वापिकाही हैं तथा पीन कुचोंके भारसहित हैं. जिनके मुख पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान हैं. विनीत हैं, चतुर हैं, महाऋद्धिकी शोभासहित हैं; मुखके हाव भाव चित्तविकार विलास, भ्रूविकार आदिसे भरी हुई हैं; नितम्बोंके भारसे धीरगतिवाली हैं. आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि—वे देवांगनायें मानों शृंगारका सर्वस्व एकत्र करकेही वनाई गई हैं, जिससे मूर्त्तिमान् लक्ष्मीसमान ही शोभती हैं॥ १११–११२–११३॥

गीतवादित्रविद्यासु शृंगाररसभूमिषु।
परिरम्भादिसर्वेषु स्त्रीणां दाक्ष्यं स्वभावतः॥ ११४॥

अर्थ—स्वर्गोंमें शृंगाररसकी भूमि ऐसी गीत व बाजेकी विद्याओंमें तथा आलिंगनादि समस्त क्रियाओंमें स्त्रियोंकी स्वभावसेही प्रवणिता होती है ॥ ११४ ॥

सर्वावयवसम्पूर्णा दिव्यलक्षणलक्षिताः ।
अनङ्गप्रतिमा धीराः प्रसन्नप्रपांशुविग्रहाः ॥ ११५ ॥
हारकुण्डलकेयूरकिरीटाङ्गदभूषिताः ।
मन्दारमालतीगन्धा अणिमादिगुणान्विताः ॥ ११६ ॥
प्रसन्नामलपूर्णेन्दुकान्ताः कन्ताजनप्रियाः ।
शक्तित्रयगुणोपेताः सत्त्वशीलावलम्बिनः ॥ ११७ ॥
विज्ञानविनयोद्दामप्रीतिप्रसरसंभृताः ।
निसर्गसुभगाः सर्वे भवन्ति त्रिदिवौकसः ॥ ११८ ॥

अर्थ—उन स्वर्गोंमें देव कैसे हैं कि—शरीरके समस्त अवयव जिनके सम्पूर्ण सुडौल हैं, दिव्य—मनोहर लक्षणों सहित हैं, कामदेवके समान सुन्दर हैं, धीर हैं (क्षोभरहित हैं), प्रसन्न वा विस्तीर्ण है शरीर जिनका ऐसे हैं ॥ ११५ ॥ तथा हार कुंडल केयूर—(भुजबन्ध) किरीट—(मुकुट) अंगद (कटक आदि) इन आभूषणोंसे भूषित हैं, मन्दार मालतीके पुष्पोंकी समान जिनके अंगमें सुगन्धि है. अणिमा महिमादि अष्टऋद्धिसहित हैं ॥११६॥ प्रसन्न निर्मल पूर्ण चन्द्रमासमान मनोहर हैं, और कान्ताजन कहिये स्त्रियोंको अतिशय प्रिय लगनेवाले हैं, तीन शक्ति कहिये प्रभुत्व, मन्त्र, उत्साह इन गुणोंसहित हैं, तथा सत्व, पराक्रम और शील कहिये सुस्वभावके अवलम्बन करनेवाले हैं ॥ ११७ ॥ तथा विज्ञान, प्रवीणता और विनय वा उत्तम प्रीतिके प्रसर कहिये वेगसे भरे हैं । स्वर्गमें समस्त देव इसीप्रकार स्वभावसे सुन्दर होते हैं ॥ ११८ ॥

न तत्र दुःखितो दीनो वृद्धो रोगी गुणच्युतः ।
विकलाङ्गो गतश्रीकः स्वर्गलोके विलोक्यते ॥ ११९ ॥

अर्थ—तथा उस स्वर्गमें कोई ऐसा नहीं देखा जाता जो दुःखी, दीन, वृद्ध, वा गुणरहित, विकल—अंग अथवा कान्तिहीन हो ॥ ११९ ॥

सभ्यसामानिकामात्यलोकपालप्रकीर्णकाः ।
मित्राद्यभिमतस्तेषां पार्श्ववर्त्ती परिग्रहः ॥ १२० ॥

अर्थ—स्वर्गोंमें सभाके देव, सामानिकदेव, अमात्यादिकदेव, लोकपालदेव, प्रकीर्णकदेव ये भेद हैं. तथा मित्र आदिक सबही उन इन्द्रोंके पार्श्ववर्त्ती परिवार उनके अभिमत (इष्ट प्रीति करनेवाले) हैं ॥ २० ॥

वन्दिगायनसैरन्ध्रीस्वाङ्गरक्षाः पदातयः ।
नटवेत्रिविलासिन्यः सुराणां सेवको जनः ॥ १२१ ॥

अर्थ—तथा स्वर्गोंमें उन देवोंकी सेवा करनेवाले देव हैं, वंदीजन हैं, गानेवाले हैं, दंड धरनेवाले हैं, तथा नाचनेवाली विलासिनी अप्सरायें हैं ॥ १२१ ॥

तत्रातिभव्यताधारे विमाने कुन्दकोमले ।
उपपादिशिलागर्भे संभवन्ति स्वयं सुराः ॥ १२२ ॥

अर्थ—स्वर्गोंमें अतिमनोज्ञताका आधार ऐसे विमानमें कुन्दके पुष्पसमान कोमल ऐसी उपपादि शिलाके मध्यसे देव स्वयमेव उत्पन्न होते हैं । **भावार्थ**—देवोंके उत्पन्न होनेकी उपपादि शय्या है उसपर जन्म लेते हैं. जिसप्रकार कोई सोया हुआ आदमी उठता है इसीप्रकार जिसका स्वर्गमें जन्म होता है वह जीव पूर्णांग उस उपपाद शय्यापर उठता है ॥ १२२ ॥

सर्वाक्षसुखदे रम्ये नित्योत्सवविराजिते ।
गीतवादित्रलीलाढ्ये जयजीवस्वनाकुले ॥ १२३ ॥
दिव्याकृतिसुसंस्थानाः सप्तधातुविवर्जिताः ।
कायकान्तिपयःपूरैः प्रसादितदिगन्तराः ॥ १२४ ॥
शिरीषसुकुमाराङ्गाः पुण्यलक्षणलक्षिताः ।
अणिमादिगुणोपेता ज्ञानविज्ञानपारगाः ॥ १२५ ॥
मृगाङ्कमूर्त्तिसंकाशाः शान्तदोषाः शुभाशयाः ।
अचिन्त्यमहिमोपेता भयक्लेशार्त्तिवर्जिताः ॥ १२६ ॥
वर्द्धमानमहोत्साहा वज्रकाया महाबलाः ।
अचिन्त्यपुण्ययोगेन गृह्णन्ति वपुरूर्जितम् ॥ १२७ ॥

अर्थ—उस उपपाद शय्याका स्थान कैसा है कि—समस्त इन्द्रियोंको सुख देनेवाला है. रमणीक है. नित्यही उत्सवसहित विराजता है. गीत वादित्रादि लीलाओंसहित है. तथा "जयवन्त होओ चिरंजीवी होओ" ऐसे शब्दोंसे व्याप्त है ॥ १२३ ॥ ऐसे स्थानपर जो देव उत्पन्न होते हैं वे कैसे हैं कि—दिव्य सुन्दराकार है संस्थान जिनका और जिनका सप्तधातुरहित शरीर है. जो शरीरकी प्रभारूपी जलके प्रभावोंसे समस्त दिशाओंको प्रसन्न करनेवाले हैं ॥ १२४ ॥ जिनका शरीर शिरीषपुष्पके समान कोमल है, पवित्र लक्षणोंसहित है. अणिमा महिमादि गुणोंसे युक्त हैं. अवधिज्ञानादि विज्ञान चतुरताओंके पारगामी हैं ॥ १२५ ॥ तथा चन्द्रमाकी मूर्त्तिसमान हैं, जिनमें सब दोष शान्त होगये हैं, जिनका चित्त शुभ है, अचिन्त्य महिमासहित हैं, भय क्लेश पीडासे रहित हैं— ॥ १२६ ॥ जिनका उत्साह वढताही रहता है, वज्रके समान दृढ शरीर है, वड़े पराक्रमी हैं, इसप्रकारके देव अचिन्त्य पुण्यके योगसे उस उपपादस्थानमें शरीरको धारण करते हैं ॥ १२७ ॥

सुखामृतमहाम्भोधेर्मध्यादिव विनिर्गताः ।
भवन्ति त्रिदशाः सद्यः क्षणेन नवयौवनाः ॥ १२८ ॥

अर्थ—उस उपपादशय्यामें वे देव उत्पन्न होते हैं सो जिसप्रकार समुद्रमेंसे कोई मनुष्य निकले उसीप्रकार वे देव सुखरूपी महासमुद्रमेंसे तत्काल नव यौवनरूप होकर उत्पन्न होते हैं ॥ १२८ ॥

किं च पुष्पफलाक्रान्तैः प्रवालदलदन्तुरैः ।
तेषां कोकिलवाचालैर्द्रुमैर्जन्म निगद्यते ॥ १२९ ॥

अर्थ—फूल फलोंसे भरपूर, कोमल पत्तोंसे अंकुरित और कोकिलाओंसे शब्दायमान वृक्षों करके उनके जन्मकी सूचना की जाती है ॥ १२९ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषैजयमङ्गलपाठकैः ।
विबोध्यन्ते शुभैः शब्दैः सुखनिद्रात्यये यथा ॥ १३० ॥

अर्थ—तथा वे देव उस उपपादशय्यामें ऐसे उत्पन्न होते हैं कि जैसे कोई राजकुमार सोता हो और वह गीत वादित्रोंके शब्दोंसे, 'जय जय' इत्यादि मंगलके पाठोंसे तथा उत्तमोत्तम शब्दोंसे सुखनिद्राका अभाव होनेपर जगाया जाता है; उसीप्रकार देव भी उस उपपादशिलामें (शय्यामें) उठकर सावधान होते हैं ॥ १३० ॥

किञ्चिद्भ्रममपाकृत्य वीक्षते स शनैः शनैः ।
यावदाशा मुहुः स्निग्धैस्तदा कर्णान्तलोचनैः ॥ १३१ ॥

अर्थ—तथा उस उपपाद शय्यामें सावधान होकर कुछ भ्रमको दूर करके उस समय कर्णान्त पर्यन्त नेत्रोंको उघाड़कर दृष्टि फेरफेरं चारों ओर देखता है ॥ १३१ ॥

तत्पश्चात् क्या करता है सो कहते हैं,—

इन्द्रजालमथ स्वप्नः किं नु मायाभ्रमोनु किम् ।
दृश्यमानमिदं चित्रं मम नायाति निश्चयम् ॥ १३२ ॥

अर्थ—फिर सावधान होकर वह देव ऐसा विचारता है कि अहो ! यह क्या इन्द्रजाल है ? अथवा मुझे क्या स्वप्न आ रहा है ? अथवा यह मायामय कोई भ्रम है. यह तो बड़ा आश्चर्य देखनेमें आता है. निश्चय नहीं कि यह क्या है ? इसप्रकार सन्देहरूप होता है ॥ १३२ ॥

इदं रम्यमिदं सेव्यमिदं श्लाघ्यमिदं हितम् ।
इदं प्रियमिदं भव्यमिदं चित्तप्रसत्तिदम् ॥ १३३ ॥
एतत्कन्दलितानन्दमेतत्कल्याणमन्दिरम् ।
एतन्नित्योत्सवाकीर्णमेतदत्यन्तसुन्दरम् ॥ १३४ ॥

सर्वर्द्धिमहिमोपेतं महर्द्धिकसुरार्चितम् ।
सप्तानीकान्वितं भाति त्रिदशेन्द्रसमाजिरम् ॥ १३५ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह देव विचार करता है—कि यह वस्तु रमणीय है, यह सेवनीय है, यह सराहने योग्य है, यह हितरूप है, यह प्रिय है, यह सुन्दर है, यह चित्तको प्रसन्नता देनेवाली है ॥ १३३ ॥ तथा—यह आनन्दको उत्पन्न करनेवाला कल्याणका मंदिर निरन्तर उत्सवरूप तथा अत्यन्त सुंदर है. इत्यादि विचार करता है ॥ १३४ ॥ तथा यह स्थान समस्त ऋद्धि और महिमा सहित महाऋद्धिके धारक देवोंसे पूजनीय सात प्रकारकी सेनासहित देवेन्द्रके स्थानके समान दीखता है ॥ १३५

फिर भी कुछ विशेष है,—

मामेवोद्दिश्य सानन्दः प्रवृत्तः किमयं जनः ।
पुण्यमूर्त्तिः प्रियः श्लाघ्यो विनीतोऽत्यन्तवत्सलः ॥ १३६ ॥
त्रैलोक्यनाथसंसेव्यः कोऽयं देशः सुखाकरः ।
अनन्तमहिमाधारो विश्वलोकाभिनन्दितः ॥ १३७ ॥
इदं पुरमतिस्फीतं वनोपवनराजितम् ।
अभिभूय जगद्भूत्या वलतीव ध्वजांशुकैः ॥ १३८ ॥

अर्थ—फिर वह देव विचारता है कि—ये सामने जो लोग खड़े हैं वे मुझे ही देखकर आनन्दसहित प्रवृत्त हैं, ये पवित्र हैं, उज्वल है मूर्ति जिनकी ऐसे हैं तथा ये सब बहुत प्रिय हैं, प्रशंसनीय हैं, विनीत हैं, चतुर हैं, अत्यन्त प्रीति युक्त हैं ॥ १३६ ॥ तथा फिर विचारता है कि यह सुखकी खानि तीन लोकके स्वामी द्वारा सेवने योग्य कौनसा देश है? यह देश अनन्त महिमाका आधार है, सबको वांछनीय है ॥ १३७ ॥ तथा यह नगर भी अति विस्तीर्ण है, वन उपवनोंसे शोभित है, संपदाके द्वारा समस्त जगतको जीतकर ध्वजाओंके वस्त्रोंके हिलनेसे मानो दौड़ता है, नृत्यही करता है, इत्यादि विचारता है ॥ १३८ ॥

आकलय्य तदाकूतं सचिवा दिव्यचक्षुषः ।
नतिपूर्वं प्रवर्त्तन्ते वक्तुं कालोचितं तदा ॥ १३९ ॥
प्रसादः क्रियतां देव नतानां स्वेच्छया दृशा ।
श्रूयतां च वचोऽस्माकं पौर्वापर्यप्रकाशकम् ॥ १४० ॥

अर्थ—तत्पश्चात उसी समय वहांके मंत्री देव दिव्यनेत्रोंसे उस उत्पन्न हुए देवेंद्रके अभिप्रायको समझकर नमस्कार करके कहते हैं कि—हे देव! हम सेवकोंपर प्रसन्न हूजिये, निर्मल दृष्टिसे देखिये और हमारे पूर्वापर परिपाटीके प्रकाश करनेवाले वचनोंको सुनिये ॥ १३९–१४० ॥

अद्य नाथ वयं धन्याः सफलं चाद्य जीवितम् ।
अस्माकं यत्त्वया स्वर्गः संभवेन पवित्रितः ॥ १४१ ॥
प्रसीद जय जीव त्वं देव पुण्यस्तवोद्भवः ।
भव प्रभुः समग्रस्य स्वर्गलोकस्य सम्प्रति ॥ १४२ ॥
सौधर्मोऽयं महाकल्पः सर्वामरशतार्चितः ।
नित्याभिनवकल्याणवार्द्धिवर्द्धनचन्द्रमाः ॥ १४३ ॥
कल्पः सौधर्मनामायमीशानप्रमुखाः सुराः ।
इहोत्पन्नस्य शक्रस्य कुर्वन्ति परमोत्सवम् ॥ १४४ ॥
अत्र संकल्पिताः कामा नवं नित्यं च यौवनम् ।
अत्राविनश्वरा लक्ष्मीः सुखं चात्र निरन्तरम् ॥ १४५ ॥
स्वर्विमानमिदं रम्यं कामगं कान्तदर्शनम् ।
पादाम्बुजनता चेयं तव त्रिदशमण्डली ॥ १४६ ॥
एते दिव्याङ्गनाकीर्णाश्चन्द्रकान्ता मनोहराः
प्रासादा रत्नवाप्यश्च क्रीडानद्यश्च भूधराः ॥ १४७ ॥
सभाभवनमेतत्ते नतामरशतार्चितम् ।
रत्नदीपकृतालोकं पुष्पप्रकरशोभितम् ॥ १४८ ॥
विनीतवेषधारिण्यः कामरूपा वरस्त्रियः ।
तवादेशं प्रतीक्षन्ते लास्यलीलारसोत्सुकाः ॥ १४९ ॥
आतपत्रमिदं पूज्यमिदं च हरिविष्टरम् ।
एतच्च चामरव्रातमेते विजयकेतवः ॥ १५० ॥
एता अग्रे महादेव्यो वरस्त्रीवृन्दवन्दिताः ।
तृणीकृतसुराधीशलावण्यैश्वर्यसम्पदः ॥ १५१ ॥
शृंगारजलधेर्वेला-विलासोल्लासितभ्रुवः ।
लीलालङ्कारसम्पूर्णास्तव नाथ समर्पिताः ॥ १५२ ॥
सर्वावयवनिर्माणश्रीरासां नोपमास्पदम् ।
यासां श्लाघ्यामलस्निग्धपुण्याणुप्रभवं वपुः ॥ १५३ ॥
अयमैरावणो नाम देवदन्ती महामनाः ।
धत्ते गुणाष्टकैश्वर्याच्छ्रियं विश्वातिशायिनीम् ॥ १५४ ॥
इदं मत्तगजानीकमितोऽश्वीयं मनोजवम् ।
एते स्वर्णरथास्तुङ्गा वल्गन्त्येते पदातयः ॥ १५५ ॥

एतानि सप्त सैन्यानि पालितान्यमरेश्वरैः।
नमन्ति ते पदद्वन्द्वं नतिविज्ञप्तिपूर्वकम् ॥ १५६ ॥
समग्रं स्वर्गसाम्राज्यं दिव्यभूत्योपलक्षितम्।
पुण्यैस्ते सम्मुखीभूतं गृहाण प्रणतामरम् ॥ १५७ ॥
इति वादिनि सुस्निग्धे सचिवेऽत्यन्तवत्सले।
अवधिज्ञानमासाद्य पौर्वापर्यं स बुद्ध्यति ॥ १५८ ॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य सौधर्म स्वर्गमें इन्द्र उत्पन्न होता है तो उसका मन्त्री सबकी तरफसे इस प्रकार कहता है कि हे नाथ! आपने यहां उत्पन्न होकर इस स्वर्गको पवित्र किया सो आज हम धन्य हुए, हमारा जीवन भी आज सफल हुआ ॥ १४१ ॥ हे नाथ! आप प्रसन्न हूजिये, चिरंजीव रहिये, हे देव! आपका उत्पन्न होना पुण्यरूप है, पवित्र है, आप इस स्वर्गलोकके स्वामी हूजिये ॥ १४२ ॥ यह सौधर्म नामा महास्वर्ग है, सैकड़ों देवोंसे पूजित है. यह स्वर्ग सर्वदेवोंके कल्याणरूप समुद्रको बढ़ानेके लिये चन्द्रमाके समान है ॥१४३॥ यह सौधर्म नामा स्वर्ग ऐसा है कि—इसमें जो इन्द्र उत्पन्न होता है उसका ईशान इन्द्र आदि समस्त देव परमोत्सव करते हैं ॥ १४४ ॥ इस स्वर्गमें वांछित पदार्थ भोगने योग्य हैं. यहां नित्य नया यौवन है, अविनश्वर लक्ष्मी है, निरन्तर सुखही सुख है ॥ १४५ ॥ तथा यह स्वर्गीय विमान जहां जाना चाहै वहीं जा सकता है. इसका दर्शन अति मनोहर है. यह देवोंकी मंडली (सभा) आपके चरणकमलोंमें नम्रीभूत है ॥ १४६ ॥ ये मनोहर अप्सराओंसे भरे हुए चन्द्रकान्तके समान मनोहर आपके महल हैं. ये रत्नमयी वापिकायें हैं. ये क्रीडानदियें तथा पर्वत हैं ॥ १४७ ॥ यह सभाभवन है सो नम्रीभूत देवोंके द्वारा सेवा करने योग्य है, पूजित है. यह रत्नमयी दीपकोंसे प्रकाशमान पुष्पसमूहोंसे शोभित है ॥ १४८ ॥ और विनीत चतुर वेशकी धरनेवाली कामरूपिणी सुंदर स्त्रियें नृत्य संगीतादि रसमें उत्सुक होकर आपके सामने नृत्य करनेके लिये आपकी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रही हैं ॥ १४९ ॥ तथा यह आपका छत्र है. यह आपका पूजनीय सिंहासन है. यह चमरोंका समूह है. ये विजयकी ध्वजायें हैं ॥ १५० ॥ और ये सब आपकी अग्रमहिषी अर्थात् पट्टदेवियें हैं. ये श्रेष्ठ देवांगनाओंद्वारा वंदने योग्य हैं तथा इन्द्रके ऐश्वर्यको तृणकी समान समझनेवाली हैं ॥ १५१ ॥ तथा शृंगाररूपी समुद्रकी लहरोंके समान चंचल हैं. विलासके कारण जिनकी भौंहे प्रफुल्लित हैं और लीलारूपी अलङ्कारसे पूरित हैं. सो हे नाथ! ये आपके चरणोंमें समर्पित हैं ॥ १५२ ॥ इन पट्टदेवियोंके शरीरकी शोभा अनुपम है. क्योंकि, इनका शरीर योग्य निर्मल स्निग्ध पवित्र परमाणुओंके द्वारा बना हुआ है ॥ १५३ ॥ हे नाथ! यह आपका महामनवाला ऐरावत नामा हस्ती है. यह अणिमा महिमादि आठ गुणोंके ऐश्वर्यसे समस्त प्रकारकी विक्रियारूप

लक्ष्मीको धरनेवाला है ॥ १५४ ॥ और यह आपकी मदोन्मत्त हस्तियोंकी सेना है, यह घोड़ोंकी सेना है, इसका वेग मनके समान है। यह सुवर्णमयी ऊंचे ऊंचे रथोंकी सेना है और ये पयादे हैं ॥ १५५ ॥ तथा यह आपकी सात प्रकारकी सेना है. पूर्वके इन्द्रों द्वारा पालित है. यह आपके चरणकमलोंको प्रार्थनापूर्वक नमस्कार करती है ॥ १५६ ॥ यह समस्त स्वर्गीय राज्य दिव्य सम्पदाओंसे शोभित है, सो आपके पुण्यके प्रतापसे आपके सन्मुख हुआ है. नम्रीभूत हैं देव जिसमें ऐसा है. सो आप ग्रहण कीजिये ॥ १५७ ॥ इस प्रकार अति स्नेहयुक्त अत्यन्त प्रीतिपूर्वक कहता है, उसी समय इन्द्र अवधिज्ञानको प्राप्त होकर पूर्व जन्मसंबंधी समस्त वृत्तान्तको जान जाता है ॥ १५८ ॥

अहो तपः पुरा चीर्णं मयान्यजनदुश्चरम्।
वितीर्णं चाभयं दानं प्राणिनां जीवितार्थिनाम् ॥ १५९ ॥
आराधितं मनःशुद्ध्या दृग्बोधादिचतुष्टयम्।
देवश्च जगतां नाथः सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥ १६० ॥
निर्दग्धं विषयारण्यं स्मरवैरी निपातितः।
कषायतरवश्छिन्ना रागशत्रुर्नियन्त्रितः ॥ १६१ ॥
सर्वस्तस्य प्रभावोऽयमहं येनाद्य दुर्गतेः।
उद्धृत्य स्थापितं स्वर्गराज्ये त्रिदशवन्दिते ॥ १६२ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह इन्द्र अवधिज्ञानसे सब जानकर मन ही मनमें कहता है कि—अहो! देखो, मैंने पूर्व भवमें अन्यसे आचरण करनेमें नहीं आवे ऐसे तपको धारण किया तथा अनेक जीवोंको मैंने अभयदान दिया ॥ १५९ ॥ तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, इन चारों आराधनाओंसे त्रैलोक्यके नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर देवाधिदेवका आराधन किया था ॥ १६० ॥ तथा मैंने पूर्वभवमें इन्द्रियोंके विषयरूप वनको दग्ध किया था, कामरूप शत्रुका नाश किया था, कषायरूप वृक्षोंको काट दिया था और रागरूपी शत्रुको पीडित किया था ॥ १६१ ॥ उसीका यह प्रभाव है. उक्त आचरणोंने ही इस समय मुझे दुर्गतिसे बचाकर इस देवोंके वंदनीय स्वर्गके राज्यमें स्थापन किया है ॥ १६२ ॥

रागादिदहनज्वाला न प्रशाम्यन्ति देहिनाम्।
सद्वृत्तवार्यसंसिक्ताः क्वचिज्जन्मशतैरपि ॥ १६३ ॥
तन्नात्र सुलभं मन्ये त्वत्किं कुर्मोऽधुना वयम्।
सुराणां स्वर्गलोकेऽस्मिन्दर्शनस्यैव योग्यता ॥ १६४ ॥
अतस्तत्त्वार्थश्रद्धा मे श्रेयसी स्वार्थसिद्धये।
अर्हद्देवपदद्वन्द्वे भक्तिश्चात्यन्तनिश्चला ॥ १६५ ॥

यान्यत्र प्रतिबिम्बानि स्वर्गलोके जिनेशिनाम् ।
विमानचैत्यवृक्षेषु मेर्वाद्युपवनेषु च ॥ १६६ ॥
तेषां पूर्वमहं कृत्वा स्वद्रव्यैः स्वर्गसंभवैः ॥
पुष्पचन्दननैवद्यैर्गन्धदीपाक्षतोत्करैः ॥ १६७ ॥
गीतवादित्रनिर्घोषैः स्तुतिस्तोमैर्मनोहरैः ।
स्वर्गैश्वर्यं ग्रहीष्यामि ततस्त्रिदशवन्दितः ॥ १६८ ॥
इति सर्वज्ञदेवस्य कृत्वा पूजामहोत्सवम् ।
स्वीकरोति ततो राज्यं पट्टबन्धादिलक्षणम् ॥ १६९ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह इन्द्र विचारता है कि-जीवोंके रागादिकरूप अग्निकी ज्वाला सम्यक् चारित्ररूपी जलको सींचे विना सैकड़ों जन्म लेनेपर भी नहीं बुझती ॥ १६३ ॥ ऐसा सम्यक् चारित्र इस स्वर्गमें सुलभ नहीं है, इसलिये क्या करूं? इस स्वर्गलोकमें तो सम्यग्दर्शनकी ही योग्यता है, चारित्रकी योग्यता नहीं है ॥ १६४ ॥ इस कारण मेरे स्वार्थके लिये तत्त्वार्थश्रद्धानही कल्याणकारी वा श्रेष्ठ है, तथा अर्हन्त भगवान्के चरणयुगलमें अत्यन्त निश्चल भक्ति करना ही कल्याणकारी है ॥ १६५ ॥ इसलिये यहां स्वर्गमें विमानों, चैत्य वृक्षों तथा मेरु आदिके उपवनोंमें जो जिनेन्द्र भगवान्के प्रतिबिम्ब हैं ॥ १६६ ॥ उनका प्रथमही इस स्वर्गके उत्पन्न हुए अपने द्रव्य पुष्प, चंदन, नैवेद्य, गन्ध, दीपक, व अक्षतोंके समूहसे पूजन करके ॥ १६७ ॥ तथा गीत नृत्य वादित्रोंके शब्दोंसहित मनोहर स्तुतियें करके तत्पश्चात् इस देवोंसे वंदनीय स्वर्गके ऐश्वर्यको ग्रहण करना चाहिये ॥ १६८ ॥ इस प्रकार विचारकर वह इन्द्र सर्वज्ञ देवकी पूजा करके महान् उत्सव पूर्वक पट्टबंधादिक है लक्षण जिसका ऐसे स्वर्गके राज्यको ग्रहण करता है ॥ १६९ ॥

तस्मिन्मनोजवैर्यानैर्विचरन्तो यदृच्छया ।
वनाद्रिसागरान्तेषु दीव्यन्ते ते दिवौकसः ॥ १७० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वे स्वर्गके देव मनके समान वेगवाले विमानोंके द्वारा स्वच्छन्द विचरते हुए वन, पर्वत वा समुद्रोंके तीरपर क्रीडा करते रहते हैं ॥ १७० ॥

संकल्पानन्तरोत्पन्नैर्दिव्यभोगैः समन्वितम् ।
सेवमानाः सुरानीकैः श्रयन्ति स्वर्गिणः सुखम् ॥ १७१ ॥

अर्थ—तथा संकल्प करते ही उत्पन्न होनेवाले नानाप्रकारके दिव्य मनोहर भोगोंको भोगते हुए देवोंकी सेनासहित वे स्वर्गके सुख भोगते रहते हैं ॥ १७१ ॥

महाप्रभावसम्पन्ने महाभूत्योपलक्षिते ।
कालं गतं न जानन्ति निमग्नाः सौख्यसागरे ॥ १७२ ॥

अर्थ—इस प्रकार महाप्रभावसहित महाविभूतियुक्त स्वर्गोंके सुखरूपी समुद्रमें निमग्न रहते हुए समयको नहीं जानते कि कितना बीत गया ॥ १७२ ॥

क्वचिद्गीतैः क्वचिन्नृत्यैः क्वचिद्वाद्यैर्मनोरमैः ।
क्वचिद्विलासिनीव्रातक्रीडाशृङ्गारदर्शनैः ॥ १७३ ॥
दशाङ्गभोगजैः सौख्यैर्लभ्यमानाः क्वचित् क्वचित् ।
वसन्ति स्वर्गिणः स्वर्गे कल्पनातीतवैभवे ॥ १७४ ॥

अर्थ—इस प्रकार कहीं तो मनके लुभानेवाले गीत तथा नृत्य वादित्रों सहित तथा कहीं विलासिनी अप्सराओंके समूहसे किये हुए क्रीडा शृंगार सहित ॥ ७३ ॥ तथा कहींपर दश प्रकारके भोगों (कल्प वृक्षों) से उत्पन्न हुए सुखों सहित कल्पनातीत विभववाले स्वर्गोंमें वे देव रहते हैं ॥ १७४ ॥

अव दशांग भोगोंके नाम गिनाते हैं,—

मद्यतूर्यगृहज्योतिर्भूषाभाजनविग्रहाः ।
स्रग्दीपवस्त्रपात्राङ्गा दशधा कल्पपादपाः ॥ १७५ ॥

अर्थ—मद्य, वादित्र, गृह, ज्योति, भूषण, भोजन, माला, दीपक, वस्त्र, पात्र, इन दश प्रकारके भोगोंके देनेवाले दश प्रकारके कल्पवृक्ष स्वर्गोंमें होते हैं. इस कारण स्वर्गके देव दशांग भोग भोगते हैं ॥ १७५ ॥

यत्सुखं नाकिनां स्वर्गे तद्वक्तुं केन पार्यते ।
स्वभावजमनातङ्कं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ॥ १७६ ॥

अर्थ—स्वर्गोंमें स्वर्गवासियोंको जो सुख है उसको वर्णन करनेमें कोई समर्थ नहीं है. क्योंकि, वह सुख विना प्रयासके स्वयमेव उत्पन्न होता है. उस सुखमें आतंक (रोगादिक) नहीं हैं और समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें समर्थ है ॥ १७६ ॥

अशेषविषयोद्भूतं दिव्यस्त्रीसंगसंभवम् ।
विनीतजनविज्ञानज्ञानाद्यैश्वर्यलाञ्छितम् ॥ १७७ ॥

अर्थ—स्वर्गोंका सुख समस्त प्रकारके विषयोंसे उत्पन्न हुआ है तथा दिव्य स्त्रियोंके संगमसे उत्पन्न हुआ है तथा विज्ञान चतुराई ज्ञानादिक ऐश्वर्य सहित उत्पन्न हुआ है. उसका वर्णन कौन कर सकता है ॥ १७७ ॥

सौधर्माद्यच्युतान्ता ये कल्पाः षोडश वर्णिताः ।
कल्पातीतास्ततो ज्ञेया देवा वैमानिकाः परं ॥ १७८ ॥
अहमिन्द्राभिधानास्ते प्रवीचारविवर्जिताः ।
विवर्द्धितशुभध्यानाः शुक्लेश्यावलम्बिनः ॥ १७९ ॥

अर्थ—सौधर्म स्वर्गसे लगाकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त सोलह स्वर्ग कल्प कहे जाते

हैं. उनसे ऊपर जो नवग्रैवेयकोंमें वैमानिक देव हैं, वे कल्पातीत कहाते हैं ॥ १७८ ॥ वे देव अहमिन्द्र नामसे वर्णन किये जाते हैं अर्थात् उनका आचार्योंने अहमिन्द्र नाम कहा है. वे अहमिन्द्र कामरहित हैं. उनके स्त्रीका मैथुन वर्जित है, इसी कारण वहां देवांगनायें नहीं होतीं. उन देवोंका शुभ ध्यान उत्तरोत्तर वढ़ता हुआ है और वे शुक्ल लेश्याके धरनेवाले हैं ॥ १७९ ॥

अनुत्तरविमानेषु श्रीजयन्तादिपञ्चसु ।
संभूय स्वर्गिणश्च्युत्वा व्रजन्ति पदमव्ययम् ॥ १८० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् उन नवग्रैवेयक विमानोंसे ऊपर श्रीजयन्तादिक पांच[1] अनुत्तर विमान हैं. उनमें जो देव उत्पन्न होते हैं वे वहांसे गिरकर, मनुष्य हो अवश्यही मोक्षको पाते हैं ॥ १८० ॥

कल्पेषु च विमानेषु परतः परतोऽधिकाः ।
शुभलेश्यायुर्विज्ञानप्रभावैः स्वर्गिणः स्वयम् ॥ १८१ ॥

अर्थ—तथा कल्पोंमें और कल्पातीत विमानोंमें शुभ लेश्या आयु विज्ञान प्रभावादिक करके देव स्वयंही अगले २ विमानोंमें अधिक अधिक बढ़ते हुए हैं ॥ १८१ ॥

ततोऽग्रे शाश्वतं धाम जन्मजातङ्कविच्युतम् ।
ज्ञानिनां यदधिष्ठानं क्षीणनिःशेषकर्मणाम् ॥ १८२ ॥

अर्थ—उन अनुत्तर विमानोंसे आगे अर्थात् ऊपर शाश्वत धाम (मोक्षस्थान वा सिद्धशिला) है. सो संसारसे उत्पन्न हुए क्लेश दुःखादिसे रहित है और समस्त कर्मोंके नाश करनेवाले सिद्ध भगवानोंका आश्रयस्थान है ॥ १८२ ॥

चिदानन्दगुणोपेता निष्ठितार्था विबन्धनाः ।
यत्र सन्ति स्वयं बुद्धाः सिद्धाः सिद्धेः स्वयंवराः ॥ १८३ ॥

अर्थ—उस मोक्षस्थानमें सिद्ध भगवान् विद्यमान हैं, वे चैतन्य और आनन्द कहिये गुणोंसे संयुक्त हैं, कृतकृत्य हैं, कर्मबन्धसे रहित हैं, स्वयंबुद्ध हैं, अर्थात् जिनके स्वाधीन अतीन्द्रिय ज्ञान है तथा सिद्धिको (मुक्तिको) स्वयं वरनेवाले हैं ॥ १८३ ॥

समस्तोऽयमहो लोकः केवलज्ञानगोचरः ।
तं व्यस्तं वा समस्तं वा स्वशक्त्या चिन्तयेद्यतिः ॥ १८४ ॥

अर्थ—अहो भव्य जीवो ! यह समस्त लोक केवलज्ञानगोचर है तथापि इस संस्थानविचय नामा धर्म ध्यानमें मुनि सामान्यतासे सबहीको तथा व्यस्त कहिये कुछ भिन्न भिन्नको अपनी शक्तिके अनुसार चिन्तवन करै ॥ १८४ ॥

---

(१) विजय १ वैजयन्त २ जयन्त ३ अपराजित ४ और सर्वार्थसिद्धि ५ ये पांच विमान हैं।

विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥ १८५ ॥

अर्थ—तथा इस लोकके संस्थानके चिन्तवनके पश्चात् अपने शरीरमें प्राप्त पुरुषाकार अपने आत्माको कर्मरहित स्फुरायमान अति निर्मल चिन्तवन करै (स्मरण करै) ॥ १८५ ॥

मालिनी ।

इति निगदितमुच्चैर्लोकसंस्थानमित्थं
नियतमनियतं वा ध्यायतः शुद्धबुद्धेः ।
भवति सततयोगाद्योगिनो निष्प्रमादं
नियतमनतिदूरं केवलज्ञानराज्यम् ॥ १८६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—इस पूर्वोक्त प्रकारसे कहे हुए लोकके स्वरूपको (संस्थानको) इस प्रकार नियत मर्यादासहित वा अनियत मर्यादारहित चिन्तवन करता हुआ जो निर्मल बुद्धि मुनि है उसको प्रमादरहित ध्यान करनेसे नियमसे शीघ्र ही केवल ज्ञान राज्यकी प्राप्ति होती है । **भावार्थ**—अप्रमत्त नामा सातवें गुणस्थानमें यह धर्म ध्यान उत्कृष्ट होता है, उस गुणस्थानसे फिर क्षपक श्रेणीका प्रारंभ करनेपर अन्तर्मुहूर्त्तमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है ॥ १८६ ॥

इस प्रकार संस्थानविचय नाम धर्म ध्यानमें लोकसंस्थानका चिंतवन करना होता है इस कारण लोकके संस्थानोंका संक्षेप वर्णन किया—यदि किसीको लोकका विशेष वर्णन देखना हो तो त्रिलोकसारादि ग्रंथोंको देखे ।

छप्पय ।

लोकरूप सर्वज्ञ कथित सत्यारथ जाने ।
अधो मध्य अरु ऊर्ध भेद त्रय कहे सुमाने ॥
रचना है षट्द्रव्यतणी बहुभाव विचारो ।
दिव्यदृष्टितैं नित्य अनित पर्यय लखि धारो ॥
इस ध्यान तूर्यमें ध्येय करि, ध्यावो जिय मन स्थिर रहे ।
पुनि आतमको संस्थान हू, चितवो ज्यों विध ना रहे ॥ ३५ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे संस्थानविचयनामकध्यानवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३५ ॥

अथ षट्त्रिंशं प्रकरणम् ।

आगे—इस संस्थान विचय नामा धर्म ध्यानमें पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इस प्रकार ध्यानके जो चार भेद कहे हैं उनका वर्णन किया जाता है,—

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्द्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः॥ १॥

अर्थ—जो भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यके समान योगीश्वर हैं उन्होंने ध्यानको पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे चार प्रकारका कहा है॥ १॥

पिण्डस्थं पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिताः।
संयमी यास्वसंमूढो जन्मपाशान्निकृन्तति॥ २॥

अर्थ—पिंडस्थ ध्यानमें श्रीवर्द्धमान स्वामीसे कही हुई जो पांच धारणायें हैं उनमें संयमी मुनि ज्ञानी होकर संसाररूपी पाशको काटता है॥ २॥

पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम्॥ ३॥

अर्थ—वे धारणा पार्थिवी, आग्नेयी, तथा श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती ऐसे यथाक्रमसे होती हैं॥ ३॥

सो प्रथम ही पार्थिवी धारणाका स्वरूप कहते हैं,—

तिर्यग्लोकसमं योगी स्मरति क्षीरसागरम्।
निःशब्दं शान्तकल्लोलं हारनीहारसंनिभम्॥ ४॥

अर्थ—प्रथम ही योगी मध्यलोकमें स्वयंभू रमण नामा समुद्रपर्यन्त जो तिर्यक् लोक है, उसके समान निःशब्द, कल्लोलरहित, तथा बरफके सदृश सफेद क्षीरसमुद्रका ध्यान (चिन्तवन) करै॥ ४॥

तस्य मध्ये सुनिर्माणं सहस्रदलमम्बुजम्।
स्मरत्यमितभादीप्तं द्रुतहेमसमप्रभम्॥ ५॥

अर्थ—उस क्षीरसमुद्रके मध्यभागमें सुन्दर है निर्माण (रचना) जिसकी और अमित फैलती हुई दीप्तिसे शोभायमान, पिघलाये हुए सुवर्णकीसी प्रभावाले एक सहस्रदलके कमलका चिन्तवन (ध्यान) करै॥ ५॥

अब्जरागसमुद्भूतकेसरालिविराजितम्।
जम्बूद्वीपप्रमाणं च चित्तभ्रमररञ्जकम्॥ ६॥

अर्थ—फिर इस कमलको कैसा ध्यावै कि कमलके रागसे उत्पन्न हुई केसरोंकी पंक्तिसे विराजमान (शोभायमान) तथा चित्तरूपी भ्रमरको रंजायमान करनेवाले जम्बूद्वीपके बराबर लाख योजनका चिन्तवन करै॥ ६॥

स्वर्णाचलमयीं दिव्यां तत्र स्मरति कर्णिकाम्।
स्फुरत्पिङ्गप्रभाजालपिशङ्गितदिगन्तराम्॥ ७॥

अर्थ—तत्पश्चात् उस कमलके मध्य सुवर्णाचल (मेरु) के समान, स्फुरायमान है पीतरंगकी प्रभाका समूह जिसमें, तथा उसके द्वारा पीतरंगकी कर दी हैं दशों दिशायें जिसने, ऐसी एक कर्णिकाका ध्यान करै ॥ ७ ॥

शरच्चन्द्रनिभं तस्यामुन्नतं हरिविष्टरम् ।
तत्रात्मानं सुखासीनं प्रशान्तमिति चिन्तयेत् ॥ ८ ॥

अर्थ—उस कमलकी कर्णिकामें शरद ऋतुके चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णका एक ऊंचा सिंहासन चिंतवन करै. उस सिंहासनमें अपने आत्माको सुखरूप, शान्त स्वरूप, क्षोभरहित चिंतवन करै ॥ ८ ॥

रागद्वेषादिनिःशेषकलङ्कक्षपणक्षमम् ।
उद्युक्तं च भवोद्भूतकर्मसन्तानशातने ॥ ९ ॥

अर्थ—उस सिंहासनपर बैठे हुए अपने आत्माको ऐसा विचारै कि यह रागद्वेषादिक समस्त कलंकोंको क्षय करनेमें समर्थ है और संसारमें उत्पन्न हुए जो जो कर्म हैं उनके सन्तानको नाश करनेमें उद्यमी है ॥ ९ ॥

इस प्रकार यह पार्थिवी धारणाका स्वरूप जानना । अब आग्नेयी धारणाका वर्णन करते हैं,—

ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात्कमलं नाभिमण्डले ।
स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतपत्रकम् ॥ १० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् योगी (ध्यानी) निश्चल अभ्याससे अपने नाभिमंडलमें १६ सोलह ऊंचे २ पत्रोंके एक मनोहर कमलका ध्यान (चिन्तवन) करै ॥ १० ॥

प्रतिपत्रसमासीनस्वरमालाविराजितम् ।
कर्णिकायां महामन्त्रं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ॥ ११ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् उस कमलकी कर्णिकामें महामन्त्रका (जो आगे कहा जाता है उसका) चिन्तवन करै और उस कमलके सोलह पत्रोंपर 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' इन १६ अक्षरोंका ध्यान करै ॥ ११ ॥

उस महामन्त्रका स्वरूप कहते हैं,—

रेफरुद्धं कलाबिन्दुलाञ्छितं शून्यमक्षरम् ।
लसदिन्दुच्छटाकोटिकान्तिव्याप्तहरिन्मुखम् ॥ १२ ॥

अर्थ—रेफसे रुद्ध कहिये आवृत और कला तथा बिन्दुसे चिह्नित और शून्य कहिये हकार ऐसा अक्षर लसत् कहिये देदीप्यमान होते हुए इंदुकी छटाकोटिकी कान्तिसे व्याप्त किया है दिशाका मुख जिसने ऐसा महामन्त्र "र्हं" उस कमलकी कर्णिकामें स्थापन कर, चिन्तवन करै ॥ १२ ॥

फिर कैसा चिन्तवन करै सो कहते हैं,—

तस्य रेफाद्विनिर्यान्तीं शनैर्धूमशिखां स्मरेत्।
स्फुलिङ्गसंततिं पश्चाज्ज्वालालीं तदनन्तरम्॥ १३॥
तेन ज्वालाकलापेन वर्द्धमानेन सन्ततम्।
दहत्यविरतं धीरः पुण्डरीकं हृदिस्थितम्॥ १४॥

अर्थ—तत्पश्चात् उस महामन्त्रके रेफसे मंद मन्द निकलती हुई धूमकी (धूयेंकी) शिखाका चिन्तवन करै, तत्पश्चात् उसमेंसे अनुक्रमसे प्रवाहरूप निकलते हुए स्फुलिंगोंकी पंक्तिका चिन्तवन करै और तत्पश्चात् उसमेंसे निकलती हुई ज्वालाकी लपटोंको विचारै॥ १३॥ तत्पश्चात् योगी मुनि क्रमसे बढ़ते हुए उस ज्वालाके समूहसे अपने हृदयस्थ कमलको निरन्तर जलाता हुआ चिन्तवन करै॥ १४॥

उस हृदयस्थ कमलका विशेष स्वरूप कहते हैं,—

तदष्टकर्मनिर्माणमष्टपत्रमधोमुखम्।
दहत्येव महामन्त्रध्यानोत्थप्रबलोऽनलः॥ १५॥

अर्थ—वह हृदयस्थ कमल अधोमुख आठ पत्रका (पाखुंड़ीवाला) हैं. उन आठ पत्रों (दलों) पर आठ कर्म स्थित हों। ऐसे कमलको नाभिस्थ कमलकी कर्णिकामें स्थित "हँ" महामन्त्रके ध्यानसे उठी हुई प्रबल अग्नि निरंतर दहती है. इस प्रकार चिन्तवन करै, तब अष्टकर्म जलजाते हैं. यह चैतन्यपरिणामोंकी सामर्थ्य है॥ १५॥

ततो बहिः शरीरस्य त्रिकोणं वह्निमण्डलम्।
स्मरेज्ज्वालाकलापेन ज्वलन्तमिव वाडवम्॥ १६॥
वह्निबीजसमाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाङ्कितम्।
ऊर्ध्ववायुपुरोद्भूतं निर्धूमं काञ्चनप्रभम्॥ १७॥
अन्तर्दहति मन्त्रार्चिर्बहिर्वह्निपुरं पुरम्।
धगद्धगितिविस्फूर्जज्ज्वालाप्रचयभासुरम्॥ १८॥
भस्मभावमसौ नीत्वा शरीरं तच्च पङ्कजम्।
दाह्याभावात्स्वयं शान्तिं याति वह्निः शनैः शनैः॥ १९॥

अर्थ—उस कमलके दग्ध हुए पश्चात् शरीरके बाह्य त्रिकोण वह्निका (अग्निका) चिन्तवन करै, सो ज्वालाके समूहोंसे जलते हुए वडवानलके समान ध्यान करै॥ १६॥ तथा अग्नि बीजाक्षर 'र' से व्याप्त और अन्तमें साथियाके चिन्हसे चिह्नित हो, ऊर्ध्व वायुमंडलसे उत्पन्न धूमरहित कांचनकीसी प्रभावाला चिंतवन करै॥ १७॥ इस प्रकार यह धगधगायमान फैलती हुई लपटोंके समूहसे देदीप्यमान बाहरका अग्निपुर (अग्निमंडल) अंतरंगकी मंत्राग्निको दग्ध करता है॥ १८॥ तत्पश्चात् यह अग्निमंडल उस नाभिस्थ कमल और शरीरको भस्मी-

भूत करके दाह्यका (जलाने योग्य पदार्थका) अभाव होनेसे धीरे धीरे अपने आप यह अग्नि शान्त हो जाती है ॥ १९ ॥

इस प्रकार यह आग्नेयी धारणा कही. आगे मारुती नामा धारणाका स्वरूप कहते हैं,—

विमानपथमापूर्य संचरन्तं समीरणम् ।
स्मरत्यविरतं योगी महावेगं महाबलम् ॥ २० ॥

अर्थ—योगी (ध्यान करनेवाला मुनि) आकाशमें पूर्ण होकर विचरते हुए महावेगवाले और महाबलवान् ऐसे वायुमंडलका चिन्तवन करै ॥ २० ॥

चालयन्तं सुरानीकं ध्वनन्तं त्रिदशालयम् ।
दारयन्तं घनव्रातं क्षोभयन्तं महार्णवम् ॥ २१ ॥
व्रजन्तं भुवनाभोगे संचरन्तं हरिन्मुखे ।
विसर्पन्तं जगन्नीडे निविशन्तं धरातले ॥ २२ ॥
उद्धूय तद्रजः शीघ्रं तेन प्रबलवायुना ।
ततः स्थिरीकृताभ्यासः समीरं शांतिमानयेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् उस पवनको ऐसा चिन्तवन करै कि—देवोंकी सेनाको चलायमान करता है, मेरु पर्वतको कँपाता है, मेघोंके समूहको बखेरता हुआ, समुद्रको क्षोभरूप करता हुआ ॥ २१ ॥ तथा लोकके मध्य गमन करता हुआ, दशों दिशाओंमें संचरता हुआ जगतरूप घरमें फैला हुआ, पृथिवीतलमें प्रवेश करता हुआ चिंतवन करै ॥ २२ ॥ तत्पश्चात् ध्यानी (मुनि) ऐसा चिंतवन करै कि वह जो शरीरादिकका भस्म है उसको इस प्रबल वायुमंडलने तत्काल उड़ादिया, तत्पश्चात् इस वायुको स्थिररूप चिन्तवन करके शान्तरूप करै ॥ २३ ॥

इस प्रकार यह मारुती धारणा कही । अब वारुणी धारणाका वर्णन करते हैं,—

वारुण्यां स हि पुण्यात्मा घनजालचितं नभः ।
इन्द्रायुधतडिद्गर्जच्चमत्काराकुलं स्मरेत् ॥ २४ ॥

अर्थ—वही पुण्यात्मा (ध्यानी मुनि) इन्द्र धनुष, बिजुली, गर्जनादि चमत्कार सहित मेघोंके समूहसे भरे हुए आकाशका ध्यान (चिन्तवन) करै ॥ २४ ॥

सुधाम्बुप्रभवैः सान्द्रैर्बिन्दुभिर्मौक्तिकोज्ज्वलैः ।
वर्षन्तं तं स्मरेद्धीरः स्थूलस्थूलैर्निरन्तरम् ॥ २५ ॥

अर्थ—तथा उन मेघोंको अमृतसे उत्पन्न हुए मोती समान उज्वल बड़े २ बिंदुओंसे निरन्तर धारारूप वर्षते हुए आकाशको धीर, वीर मुनि स्मरण करै अर्थात् ध्यान करै ॥२५॥

---

१ 'घनव्रात' इत्यपि पाठः ।

ततोऽर्द्धेन्दुसमं कान्तं पुरं वरुणलाञ्छितम्।
ध्यायेत्सुधापयःपूरैः प्लावयन्तं नभस्तलम्॥ २६॥

अर्थ—तत्पश्चात् अर्द्धचन्द्राकार, मनोहर, अमृतमय जलके प्रवाहसे आकाशको वहाते हुए वरुणपुरका (वरुणमंडलका) चिन्तवन करै॥ २६॥

तेनाचिन्त्यप्रभावेण दिव्यध्यानोत्थिताम्बुना।
प्रक्षालयति निःशेषं तद्रजः कायसंभवम्॥ २७॥

अर्थ—अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे दिव्य ध्यानसे उत्पन्न हुए जलसे शरीरके जलनेसे उत्पन्न हुए समस्त भस्मको प्रक्षालन करता है अर्थात् धोता है, ऐसा चिन्तवन करै॥२७॥

इसप्रकार वारुणी धारणा है। अब तत्त्वरूपवती धारणाको कहते हैं,—

सप्तधातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम्।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति संयमी॥ २८॥

अर्थ—तत्पश्चात् संयमी मुनि सप्त धातुरहित, पूर्णचन्द्रमाके समान है निर्मल प्रभा जिसकी ऐसे सर्वज्ञसमान अपने आत्माका ध्यान करै॥ २८॥

मृगेन्द्रविष्टरारूढं दिव्यातिशयसंयुतम्।
कल्याणमहिमोपेतं देवदैत्योरगार्चितम्॥ २९॥
विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम्।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत्॥ ३०॥

अर्थ—तत्पश्चात् अपने आत्माके अतिशय युक्त, सिंहासनपर आरूढ, कल्याणकी महिमासहित, देव दानव धरणेन्द्रादिसे पूजित है ऐसा चिन्तवन करै॥ २९॥ तत्पश्चात् विलय होगये हैं आठ कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान (प्रगट) अति निर्मल पुरुषाकार अपने शरीरमें प्राप्त हुए अपने आत्माका चिंतवन करै। इस प्रकार तत्त्वरूपवती धारणा कही गई॥ ३०॥

आर्या।

इत्यविरतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः।
शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन॥ ३१॥

अर्थ—इस प्रकार पिंडस्थ ध्यानमें जिसका निश्चल अभ्यास होगया है वह ध्यानी मुनि अन्य प्रकारसे साधनेमें न आवे ऐसे मोक्षके सुखको शीघ्र ही (अल्प समयमें ही) प्राप्त होता है॥ ३१॥

---

१ 'शुद्धधीः' इत्यपि पाठः।

स्रग्धरा।

इत्थं यत्रानवद्यं स्मरति नवसुधासान्द्रचन्द्रांशुगौरं
श्रीमत्सर्वज्ञकल्पं कनकगिरितटे वीतविश्वप्रपञ्चम्।
आत्मानं विश्वरूपं त्रिदशगुरुगणैरप्यचिन्त्यप्रभावं
तत्पिण्डस्थं प्रणीतं जिनसमयमहाम्भोधिपारं प्रयातैः॥ ३२॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे जिस पिंडस्थ ध्यानमें निर्दोष, नये अमृतसे भीगीहुई चन्द्रमाकी किरण सदृश—गोरे वर्ण, श्रीमत्सर्वज्ञ भगवान् समान तथा मेरु गिरिके तट वा शिखरपर वैठा, वीते हैं समस्त प्रपंच जिसके ऐसे, तथा विश्वरूप—समस्त ज्ञेय पदार्थोंके आकार जिसमें प्रतिविम्बित हो रहे हैं ऐसे देवेंद्रोंके समूहसे भी जिसका अधिक प्रभाव हो ऐसे आत्माका जो चिन्तवन किया जाय उसको जिनसिद्धान्तरूपी महासमुद्रके पार पहुँचनेवाले मुनीश्वरोंने पिंडस्थ ध्यान कहा है॥ ३२॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्रकुहकक्रूराभिचाराः क्रियाः
सिंहाशीविषदैत्यदन्तिशरभा यान्त्येव निःसारताम्।
शाकिन्यो ग्रहराक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासनां
एतद्ध्यानधनस्य सन्निधिवशाद्भानोर्यथा कौशिकाः॥ ३३॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर उलूक (घूघू) भाग जाते हैं उसी प्रकार इस पिंडस्थ ध्यानरूपी धनके समीप होनेसे विद्या, मंडल, मंत्र, यन्त्र, इन्द्रजालके आश्चर्य (प्रसिद्ध कपट) क्रूर अभिचार (मरणादि) स्वरूप क्रिया, तथा सिंह, आशीविष (सर्प) दैत्य हस्ती अष्टापद ये सवही निःसारताको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् किसी प्रकारका भी उपद्रव नहीं करते तथा शाकिनी ग्रह राक्षस वगैरह भी खोटी वासनाको छोड़ देते हैं।

भावार्थ—पिंडस्थ ध्यानके प्राप्त होनेवाले मुनिके निकट कोई दुष्ट जीव किसी प्रकारका भी उपद्रव नहीं कर सकते. समस्त विघ्न दूरसे नष्ट हो जाते हैं॥ ३३॥

इस प्रकार पिंडस्थ ध्यानका वर्णन किया। यहां कोई ऐसा कहै कि ध्यान तो ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माका ही करना है. इतनी पृथिवी, अग्नि, पवन, जलादिककी कल्पना किसलिये करनी? उसको कहा जाता है कि—

यह शरीर पृथिवी आदि धातुमय है और सूक्ष्म पुद्गल कर्मके द्वारा उत्पन्न हुआ है. उसका आत्माके साथ संवंध है. इनके संवंधसे आत्मा द्रव्य भावरूप कलंकसे अनादि कालसे मलिन हो रहा है. इस कारण इस जीवके विना विचारे अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं. उन विकल्पोंके निमित्तसे परिणाम निश्चल नहीं होते. उनको निश्चल करनेके

१ 'निर्विकल्पं' इत्यपि पाठः।

लिये स्वाधीन चिंतवनोंसे चित्तको वश करना चाहिये. सो, ध्यानमें किसीका आलम्बन किये विना चित्त निश्चल नहीं होता, इसकारण उसको आलम्बन करनेके लिये पिंडस्थ ध्यानमें पृथिवी आदि पांच प्रकारकी धारणाकी कल्पना स्थापन की गयी है। सो, प्रथम तो पृथिवी संबंधी धारणासे मनको थांभै तत्पश्चात् अग्निकी धारणासे कर्म और शरीरको दग्ध करनेकी कल्पना करके मनको रोकै, तत्पश्चात् पवनकी धारणाकी कल्पना करके शरीर तथा कर्मकी भस्मको उड़ाकर मनको थाँभै, तत्पश्चात् जलकी धारणासे उसमेंसे बची बचाई रजको धो देनेरूप ध्यानसे मनको थांभै, तत्पश्चात् आत्मा, शरीर और कर्मसे रहित शुद्ध ज्ञानानंदमय कल्पना करके, उसमें मनको स्तंभन करै. इस प्रकार मनको थांभते २ अभ्यासके करनेसे ध्यानका दृढ अभ्यास हो जाता है तव आत्मा शुक्लध्यानमें ठहरता है, उस समय घातिकर्मोंका नाश करके केवल ज्ञानकी प्राप्ति होकर, मोक्ष हो जाती है। तथा अन्यमती भी इसीप्रकार पार्थिवी आदि धारणा करनेको कहते हैं. परन्तु उनके आत्मतत्त्वका यथार्थ निरूपण नहीं होनेके कारण उनके यहां सत्यार्थ धारणा नहीं होती। कुछ लौकिक चमत्कार सिद्ध हो तो हो जाओ, परन्तु मोक्षकी प्राप्ति तो यथार्थ तत्त्वके श्रद्धान ज्ञान आचरण विना होती ही नहीं, इस कारण इसमें सन्देह नहीं करना ॥

चौपई १५ मात्रा।

या पिंडस्थ ध्यानके माँहिं। देहविषे थित आतम ताहि।
चितवै पंच धारणा धारि। निज आधीन चित्तको पारि ॥ ३६ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे पिण्डस्थ-
ध्यानवर्णनं नाम सप्तत्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३७ ॥

अथ अष्टत्रिंशं प्रकरणम्।

आगे पदस्थ ध्यानका वर्णन करते हैं,—

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥ १ ॥

अर्थ—जिसको योगीश्वर पवित्र मंत्रोंके अक्षर स्वरूप पदोंका अवलंबन करके चिंतवन करते हैं उसको अनेक नयोंके पार पहुंचनेवाले योगीश्वरोंने पदस्थ ध्यान कहा है ॥ १ ॥

प्रथम ही वर्णमातृका ध्यानका विधान कहते हैं,—

ध्यायेदनादिसिद्धान्तप्रसिद्धां वर्णमातृकाम्।
निःशेषशब्दविन्यासजन्मभूमिं जगन्नुताम् ॥ २ ॥

अर्थ—अनादि सिद्धान्तमें प्रसिद्ध जो वर्णमातृका अर्थात् अकारादि स्वर और ककारादि व्यञ्जनोंका समूह है उसका चिन्तवन करै. क्योंकि, यह वर्णमातृका सम्पूर्ण शब्दोंकी रचनाकी जन्मभूमि है और जगतसे वंदनीय है ॥ २ ॥

द्विगुणाष्टदलाम्भोजे नाभिमण्डलवर्तिनि ।
भ्रमन्तीं चिन्तयेद्ध्यानी प्रतिपत्रं स्वरावलीम् ॥ ३ ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला पुरुष नाभिमंडलपर स्थित सोलह दल (पँखड़ी) के कमलमें प्रत्येक दलपर क्रमसे फिरती हुई स्वरावलीका अर्थात् अआ इई उऊ ऋॠ ऌॡ ए ऐ ओ औ अंअः इन अक्षरोंका चिन्तवन करै ॥ ३ ॥

चतुर्विंशतिपत्राढ्यं हृदि कञ्जं सकर्णिकम् ।
तत्र वर्णानिमान्ध्यायेत्संयमी पञ्चविंशतिम् ॥ ४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् ध्यानी अपने हृदयस्थानपर कर्णिका सहित चौवीस पत्रोंका कमलँ संयमी मुनि चिन्तवन करके उसकी कर्णिका तथा पत्रोंमें क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ व भ म इन पचीस अक्षरोंका ध्यान करै ॥ ४ ॥

ततो वदनराजीवे पत्राष्टकविभूषिते ।
परं वर्णाष्टकं ध्यायेत्सञ्चरन्तं प्रदक्षिणम् ॥ ५ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् आठ पत्रोंसे विभूषित मुखकमलके प्रत्येक पत्रपर भ्रमण करते हुए य र ल व श ष स ह इन आठ वर्णोंका ध्यान करै ॥ ५ ॥

इत्यजस्रं स्मरन् योगी प्रसिद्धां वर्णमातृकाम् ।
श्रुतज्ञानाम्बुधेः पारं प्रयाति विगतभ्रमः ॥ ६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रसिद्ध वर्णमातृकाका निरन्तर ध्यान करता हुआ योगी भ्रमरहित होकर, श्रुतज्ञानरूपी समुद्रके पारको (उत्तरतटको) प्राप्त हो जाता है । **भावार्थ**—इसप्रकार ध्यान करनेवाला मुनि श्रुतकेवली हो सकता है ॥ ६ ॥

उक्तं च—आर्या ।

कमलदलोदरमध्ये ध्यायन्वर्णाननादिसंसिद्धान् ।
नष्टादिविषयबोधं ध्याता सम्पद्यते कालात् ॥ १ ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला पुरुष कमलके पत्र और कर्णिकाके मध्यमें अनादि संसिद्ध (पूर्वोक्त ४९) अक्षरोंका ध्यान करता हुआ कितने ही कालमें नष्टादि वस्तु संबंधी ज्ञानको प्राप्त करता है ॥ १ ॥

उक्तं च—वसन्ततिलका ।

जाप्याज्जयेत् क्षयमरोचकमग्निमान्द्यं
कुष्ठोदरामकसनश्वसनादिरोगान् ।

प्राप्नोति चाप्रतिमवाङ्महतीं महद्भ्यः
पूजां परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्ताम् ॥ २ ॥

अर्थ—इस वर्णमातृकाके जाप्यसे योगी क्षयरोग, अरुचिपना, अग्निमंदता, कुष्ठ, उदर रोग, कास तथा श्वास आदि रोगोंको जीतता है। और वचनसिद्धता, महान् पुरुषोंसे पूजा तथा परलोकमें उत्तम पुरुषोंसे प्राप्त की हुई श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

अब मन्त्रराजका ध्यान कहते हैं,—

अथ मन्त्रपदाधीशं सर्वतत्त्वैकनायकम्।
आदिमध्यान्तभेदेन स्वरव्यञ्जनसम्भवम् ॥ ७ ॥
ऊर्ध्वाधोरेफसंरुद्धं सपरं बिन्दुलाञ्छितम्।
अनाहतयुतं तत्त्वं मन्त्रराजं प्रचक्षते ॥ ८ ॥

अर्थ—अब समस्त मन्त्र पदोंका स्वामी, सब तत्त्वोंका नायक, आदि मध्य और अन्तके भेदसे स्वर तथा व्यंजनोंसे उत्पन्न, ऊपर और नीचे रेफ (र्) से रुका हुआ तथा बिन्दु (ँ) से चिह्नित सपर कहिये हकार अर्थात् (र्हं) ऐसा बीजाक्षर तत्त्व है. अनाहतसहित इसको योगीजन मन्त्रराज कहते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

देवासुरनतं भीमदुर्बोधध्वान्तभास्करम्।
ध्यायेन्मुर्द्धस्थचन्द्रांशुकलापाक्रान्तदिङ्मुखम् ॥ ९ ॥

अर्थ—देव और असुर कर रहे हैं नमस्कार जिसको ऐसा, अज्ञानरूपी अन्धकारके दूर करनेके लिये सूर्यके समान तथा मस्तकपर स्थित जो चन्द्रमा उसकी किरणोंके समूहसे व्याप्त किया है दिशाओंका मुख (आदि) भाग जिसने ऐसे इस मन्त्रराजका ध्यान करै ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् इस मन्त्रराजका कैसा ध्यान करै सो कहते हैं।

कनककमलगर्भे कर्णिकायां निषण्णं
विगतमलकलङ्कं सान्द्रचन्द्रांशुगौरम्।
गगनमनुसरन्तं सञ्चरन्तं हरित्सु
स्मर जिनवरकल्पं मन्त्रराजं यतीन्द्र ॥ १० ॥

अर्थ—हे मुनीन्द्र! सुवर्णमय कमलके मध्यमें कर्णिकापर विराजमान, मल तथा कलंकसे रहित, शरदृतुके पूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके समान गौरवर्णके धारक, आकाशमें गमन करते हुए तथा दिशाओंमें व्याप्त होते हुए ऐसे श्रीजिनेन्द्रके सदृश इस मन्त्रराजका स्मरण अर्थात् ध्यान करो ॥ १० ॥

---

(१) अनाहतका स्वरूप आगे लिखा जावेगा।

इस मन्त्रराजके विषयमें जो मत हैं उनको कहते हैं।

बुद्धः कैश्चिद्धरिः कैश्चिदजः कैश्चिन्महेश्वरः ।
शिवः सार्वस्तथैशानः सोऽयं वर्णः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

अर्थ—कितने ही इस (ह्रँ) अक्षरको बुद्ध, कितने ही हरि, कितने ही ब्रह्मा, कितने ही महेश्वर, कितने ही शिव, कितने ही सार्व और कितने ही ईशानस्वरूप कहते हैं ॥ ११ ॥

परन्तु यथार्थमें यह अक्षर क्या है सो कहते हैं।

मन्त्रमूर्तिं समादाय देवदेवः स्वयं जिनः ।
सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सोऽयं साक्षाद्व्यवस्थितः ॥ १२ ॥

अर्थ—यह मन्त्रराज (ह्रँ) अक्षर ऐसा है कि मानो सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शान्तमूर्त्तिके धारक देवाधिदेव स्वयं श्रीजिनेन्द्र भगवान् ही मन्त्रमूर्त्तिको धारण करके साक्षात् विराजमान हैं। भावार्थ—यह मन्त्रराज अक्षर साक्षात् श्रीजिनेन्द्रस्वरूप है ॥ १२ ॥

ज्ञानबीजं जगद्वन्द्यं जन्मज्वलनवार्मुचम् ।
पवित्रं मतिमान्ध्यायेदिमं मन्त्रमहेश्वरम् ॥ १३ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष मन्त्रराजको ज्ञानका बीज, जगत्से वंदनीय तथा संसाररूपी अग्निके लिये अर्थात् जन्मसंतापको दूर करनेके लिये मेघके समान ध्यावे ॥ १३ ॥

सकृदुच्चारितं येन हृदि येन स्थिरीकृतम् ।
तत्त्वं तेनापवर्गाय पाथेयं प्रगुणीकृतम् ॥ १४ ॥

अर्थ—इस मन्त्रराज महातत्त्वको जिस पुरुषने एक वार भी उच्चारण किया तथा जिसने हृदयमें स्थित किया उसने मोक्षके लिये पाथेय (संवल) संग्रह किया ॥ १४ ॥

यदैवेदं महातत्त्वं मुनेर्धत्ते हृदि स्थितिम् ।
तदैव जन्मसन्तानप्ररोहः प्रविशीर्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस समय यह महातत्त्व मुनिके हृदयमें स्थिति करता है उस ही काल संसारके सन्तानका अंकुर गल जाता है अर्थात् टूट जाता है ॥ १५ ॥

अब इस मन्त्रराजका ध्यान कैसे करै सो कहते हैं,—

स्फुरन्तं भ्रूलतामध्ये विशन्तं वदनाम्बुजे ।
तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ॥ १६ ॥
स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु कुर्वन्तमलके स्थितिम् ।
भ्रमन्तं ज्योतिषां चक्रे स्पर्द्धमानं सितांशुना ॥ १७ ॥
संचरन्तं दिशामास्ये प्रोच्छलन्तं नभस्तले ।
छेदयन्तं कलङ्कौघं स्फोटयन्तं भवभ्रमम् ॥ १८ ॥

नयन्तं परमस्थानं योजयन्तं शिवश्रियम्।
इति मन्त्राधिपं धीर कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥ १९ ॥

अर्थ—धैर्यका धारक योगी कुंभक प्राणायामसे इस मन्त्रराजको भौंहकी लताओंमें स्फुरायमान होता हुआ, मुखकमलमें प्रवेश करता हुआ, तालुआके छिद्रसे गमन करता हुआ, तथा अमृतमय जलसे झरता हुआ ॥ १६ ॥ नेत्रकी पलकोंपर स्फुरायमान होता हुआ, केशोंमें स्थिति करता तथा ज्योतिषियोंके समूहमें भ्रमता हुआ, चन्द्रमाके साथ स्पर्द्धा करता हुआ ॥ १७ ॥ दिशाओंमें संचरता हुआ, आकाशमें उछलता हुआ, कलंकके समूहको छेदता हुआ, संसारके भ्रमको दूर करता हुआ ॥ १८ ॥ तथा परम स्थानको (मोक्षस्थानको) प्राप्त करता हुआ, मोक्षलक्ष्मीसे मिलाप कराता हुआ ध्यावै ॥ १९ ॥

अनन्यशरणः साक्षात्तत्संलीनैकमानसः।
तथा स्मरत्यसौ ध्यानी यथा स्वप्नेऽपि न स्खलेत् ॥ २० ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला इस मन्त्राधिपको अन्य किसीका शरण न लेकर; इसहीमें साक्षात् तल्लीन मन करके, स्वप्नमें भी इस मंत्रसे च्युत न हो ऐसा दृढ होकर, ध्यावै ॥ २० ॥

इति मत्वा स्थिरीभूतं सर्वावस्थासु सर्वथा।
नासाग्रे निश्चलं धत्ते यदि वा भ्रूलतान्तरे ॥ २१ ॥

अर्थ—ऐसे पूर्वोक्त प्रकार महामन्त्रके ध्यानके विधानको जानकर, मुनि समस्त अवस्थाओंमें स्थिर स्वरूप सर्वथा नासिकाके अग्रभागमें अथवा भौंहलताके मध्यमें इसको निश्चल धारण करै ॥ २१ ॥

तत्र कैश्चिच्च वर्णादिभेदैस्तत्कल्पितं पुनः।
मन्त्रमण्डलमुद्रादिसाधनैरिष्टसिद्धिदम् ॥ २२ ॥

अर्थ—इस नासिकाके अग्रभाग अथवा भौंहलताके मध्यमें निश्चल धारण करनेके अवसरमें कई आचार्योंने उस मंत्राधिपको ध्यान करनेमें अक्षरादिकके भेद करके कल्पना किया है और मंत्र मंडल मुद्रा इत्यादिक साधनोंसे इष्टकी सिद्धिका देनेवाला कहा है ॥ २२ ॥

उक्तं च—

अकारादि हकारान्तं रेफमध्यं सबिन्दुकम्।
तदेव परमं तत्त्वं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥ १ ॥

अर्थ—अकार है आदिमें जिसके, हकार है अन्तमें जिसके और रेफ है मध्यमें जिसके और बिन्दुसहित ऐसा जो अर्हं पद है वही परम तत्त्व है। जो कोई इसको जानता है वह तत्त्वका जाननेवाला है ॥ १ ॥

सर्वावयवसंपूर्णं ततोऽवयवविच्युतम् ।
क्रमेण चिन्तयेद्ध्यानी वर्णमात्रं शशिप्रभम् ॥ २ ॥

अर्थ—प्रथम तो ध्यानी अर्हं अक्षरका पूर्वोक्त समस्त अवयवोंसहित चिन्तवन करै. तत्पश्चात् अवयवरहित ध्यान करै फिर क्रमसे चन्द्रमासमान प्रभावाला वर्णमात्र (हकार) स्वरूप चिन्तवन करै ॥ २ ॥

बिन्दुहीनं कलाहीनं रेफद्वितयवर्जितम् ।
अनक्षरत्वमापन्नमनुच्चार्यं च चिन्तयेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् इस मंत्रराजका बिन्दु (अनुस्वार) रहित, कला (अर्द्ध चन्द्राकार) रहित, दोनों रेफ (र्) रहित, अक्षर रहितताको प्राप्त, तथा उच्चारण करने योग्य न हो ऐसा क्रमसे चिन्तवन करै ॥ ३ ॥

चन्द्रलेखासमं सूक्ष्मं स्फुरन्तं भानुभास्वरम् ।
अनाहताभिधं देवं दिव्यरूपं विचिन्तयेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—चन्द्रमाकी रेखा समान सूक्ष्म और सूर्यसरीखा देदीप्यमान, स्फुरायमान होता हुआ तथा दिव्य रूपका धारक ऐसा जो अनाहत नामका देव है उसका चिन्तवन करै ॥ २३ ॥

अस्मिन्स्थिरीकृताभ्यासाः सन्तः शान्तिं समाश्रिताः ।
अनेन दिव्यपोतेन तीर्त्वा जन्मोग्रसागरम् ॥ २४ ॥

अर्थ—इस अनाहत नामा देवमें किया है स्थिर अभ्यास जिन्होंने ऐसे सत्पुरुष इस दिव्य जहाजके द्वारा संसाररूप घोर समुद्रको तिरकर, शान्तिको प्राप्त होगये हैं ॥ २४ ॥

फिर इसका चिंतवन अन्य प्रकारसे कहते हैं,—

तदेव च पुनः सूक्ष्मं क्रमाद्बालाग्रसन्निभम् ।
ध्यायेदेकाग्रतां प्राप्य कर्तुं चेतः सुनिश्चलम् ॥ २५ ॥

अर्थ—और फिर एकाग्रताको प्राप्त होकर, चित्तको स्थिर (निश्चल) करनेके लिये उसही अनाहतको अनुक्रमसे सूक्ष्म ध्याता हुआ बालके अग्रभाग समान ध्यावै ॥ २५ ॥

ततोऽपि गलिताशेषविषयीकृतमानसः ।
अध्यक्षमीक्षते साक्षाज्जगज्ज्योतिर्मयं क्षणे ॥ २६ ॥

अर्थ—उसके पश्चात् गलित हो गये हैं समस्त विषय जिसमें ऐसे अपने मनको स्थिर करनेवाला योगी उसी क्षणमें ज्योतिर्मय साक्षात जगतको प्रत्यक्ष अवलोकन करता है ॥ २६ ॥

---

१ बिन्दुमात्रं इत्यपि पाठः ।

सिद्ध्यन्ति सिद्धयः सर्वा अणिमाद्या न संशयः ।
सेवां कुर्वन्ति दैत्याद्या आज्ञैश्वर्यं च जायते ॥ २७ ॥

अर्थ—इस अनाहत मंत्रके ध्यानसे ध्यानीके अणिमा आदि सर्व सिद्धियें होती हैं और दैत्यादिक सेवा करते हैं तथा आज्ञा और ऐश्वर्य होता है इसमें संदेह नहीं है ॥ २७ ॥

क्रमात्प्रच्याव्य लक्ष्येभ्यस्ततोऽलक्ष्ये स्थिरं मनः ।
दधतोऽस्य स्फुरत्यन्तर्ज्योतिरत्यक्षमक्षयम् ॥ २८ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् क्रमसे लक्ष्योंसे (लखने योग्य वस्तुओंसे) छुड़ाकर, अलक्ष्यमें अपने मनको धारण करते हुए ध्यानीके अन्तरंगमें अक्षय तथा इंद्रियोंके अगोचर ज्योति अर्थात् ज्ञान प्रकट होता है ॥ २८ ॥

इति लक्ष्यानुसारेण लक्ष्याभावः प्रकीर्तितः ।
तस्मिन्स्थितस्य मन्येऽहं मुनेः सिद्धं समीहितम् ॥ २९ ॥

अर्थ—इस प्रकार लक्ष्यके अनुसार लक्ष्यका अभाव कहा गया. सो, आचार्य महाराज उत्प्रेक्षासे कहते हैं कि उस अलक्ष्यमें स्थिर रहनेवाले मुनिके वांछित कार्यको मैं सिद्ध हुआ मानता हूं ॥ २९ ॥

एतत्तत्त्वं शिवाख्यं वा समालम्ब्य मनीषिणः ।
उत्तीर्णा जन्मकान्तारमनन्तं क्लेशसंकुलम् ॥ ३० ॥

अर्थ—इस अनाहत तत्त्व अथवा शिवनामा तत्त्वको अवलंवन करके मनीषीगण अनन्तक्लेशसहित संसाररूपी वनसे पार हो गये । इसप्रकार मंत्रराज और अनाहत दोनों मंत्रोंके ध्यानका विधान कहा ॥ ३० ॥

अब प्रणव मन्त्रके (ओंकारके) ध्यानका विधान कहते हैं,—

स्मर दुःखानलज्वाला-प्रशान्तेर्नवनीरदम् ।
प्रणवं वाङ्मयज्ञानप्रदीपं पुण्यशासनम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—हे मुने ! तू प्रणव नामा अक्षरका स्मरण कर अर्थात् ध्यान कर. क्योंकि, यह प्रणव नामा अक्षर दुःखरूपी अग्निकी ज्वालाको शान्त करनेके लिये मेघकी समान है तथा वाङ्मयके (समस्त श्रुतके) प्रकाश करनेके लिये दीपक है और पुण्यका शासन है ॥ ३१ ॥

यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिः प्रसूतमतिनिर्मलम् ।
वाच्यवाचकसंबन्धस्तेनैव परमेष्ठिनः ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस प्रणवसे अतिनिर्मल शब्दरूप ज्योति अर्थात् ज्ञान उत्पन्न हुआ है और परमेष्ठीका वाच्य वाचक संबंध भी इसी प्रणवसे होता है अर्थात् परमेष्ठी तो इस प्रणवका वाच्य और यह परमेष्ठीका वाचक है ॥ ३२ ॥

हृत्कञ्जकर्णिकासीनं स्वरव्यञ्जनवेष्टितम् ।
स्फीतमत्यन्तदुर्द्धर्षं देवदैत्येन्द्रपूजितम् ॥ ३३ ॥
प्रक्षरन्मूर्द्धिसंक्रान्तचन्द्रलेखामृतप्लुतम् ।
महाप्रभावसम्पन्नं कर्मकक्षहुताशनम् ॥ ३४ ॥
महातत्त्वं महाबीजं महामन्त्रं महत्पदम् ।
शरच्चन्द्रनिभं ध्यानी कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला संयमी हृदयकमलकी कर्णिकामें स्थिर और स्वर व्यञ्जन अक्षरोंसे वेढ़ा हुआ, उज्वल, अत्यन्त दुर्धर्ष, देव और दैत्योंके इन्द्रोंसे पूजित तथा झरते हुए मस्तकमें स्थित चन्द्रमाकी (लेखा) रेखा के अमृतसे आर्द्रित, महाप्रभावसम्पन्न, कर्मरूपी वनको दग्ध करनेके लिये अग्निसमान ऐसे इस महातत्त्व, महावीज, महामंत्र महापदस्वरूप तथा शरदके चंद्रमाकी समान गौर वर्णके धारक 'ओं' को कुंभक प्राणायामसे चिन्तवन करै ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अब इसका विशेष विधान कहते हैं,—

सान्द्रसिंदूरवर्णाभं यदि वा विद्रुमप्रभम् ।
चिन्त्यमानं जगत्सर्वं क्षोभयत्यभिसंगतम् ॥ ३६ ॥
जाम्बूनदनिभं स्तम्भे विद्वेषे कज्जलत्विषम् ।
ध्येयं वश्यादिके रक्तं चन्द्राभं कर्मशातने ॥ ३७ ॥

अर्थ—यह प्रणव अक्षर गहरे सिंदूरके वर्णकी समान अथवा मूंगेकी समान चिन्तवन किया हुआ मिलेहुए जगतको क्षोभित करता है ॥ ३६ ॥ तथा इस प्रणवको स्तंभनके प्रयोगमें सुवर्णके समान पीला चिंतवन करै और द्वेषके प्रयोगमें कज्जलकी समान काला तथा वश्यादि प्रयोगमें रक्त (लाल) वर्ण और कर्मोंके नाश करनेमें चन्द्रमाकी समान श्वेतवर्ण ध्यान करै ॥ ३७ ॥

इसप्रकार प्रणव अर्थात् ॐकार मंत्रके ध्यानका विधान कहा । अब पंचपरमेष्ठीके नमस्काररूप मंत्रोंके ध्यानका विधान कहते हैं,—

गुरुपञ्चनमस्कारलक्षणं मन्त्रमूर्जितम् ।
विचिन्तयेज्जगज्जन्तुपवित्रीकरणक्षमम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—पंचपरमेष्ठियोंको नमस्कार करनेरूप है लक्षण जिसका ऐसे महामंत्रको चिंतवन करै. क्योंकि, यह नमस्कारात्मक मंत्र जगतके जीवोंको पवित्र करनेमें समर्थ है ॥ ३८ ॥

स्फुरद्विमलचन्द्राभे दलाष्टकविभूषिते ।
कञ्जे तत्कर्णिकासीनं मन्त्रं सप्ताक्षरं स्मरेत् ॥ ३९ ॥

दिग्दलेषु ततोऽन्येषु विदिक्पत्रेष्वनुक्रमात्।
सिद्धादिकं चतुष्कं च दृष्टिबोधादिकं तथा ॥ ४० ॥

अर्थ—स्फुरायमान निर्मल चन्द्रमाकी कान्तिसमान आठ पत्रसे शोभित जो कमल है उसकी कर्णिकापर स्थित सात अक्षरके "**णमो अरहंताणं**" मंत्रका चिन्तवन करै ॥ ३९ ॥ और उस कर्णिकासे बाहरके आठ पत्रोंमेंसे ४ दिशाओंके ४ दलों-पर "**णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं,** ये ४ मंत्रपद और विदिशाओंके चार पत्रोंपर **सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः,** इन चार नमस्कार मंत्रोंका चिन्तवन करै। इस प्रकार अष्टदलका कमल और एक कर्णिकामें नव मंत्रोंको स्थापन कर चिन्तवन करै ॥ ४० ॥

श्रियमात्यन्तिकीं प्राप्ता योगिनो येऽत्र केचन।
अमुमेव महामन्त्रं ते समाराध्य केवलम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—इस लोकमें जिन कितने ही योगियोंने आत्यन्तिकी लक्ष्मीको (मोक्षलक्ष्मीको) प्राप्त किया है उन सबोंनें एकमात्र इस महामन्त्रको आराधन करके ही प्राप्त किया है ॥ ४१ ॥

प्रभावमस्य निःशेषं योगिनामप्यगोचरम्।
अनभिज्ञो जनो ब्रूते यः स मन्येऽनिलार्दितः ॥ ४२ ॥

अर्थ—इस महामन्त्रका पूर्ण प्रभाव योगी मुनीश्वरोंके भी अगोचर है. उनके द्वारा भी कहनेमें नहिं आता और जो इसको नहिं जाननेवाला पुरुष इसके प्रभावको कहता है उसको मैं वायु रोगसे प्रलाप करनेवाला मानता हूं ॥ ४२ ॥

अनेनैव विशुद्ध्यन्ति जन्तवः पापपङ्किताः[1]।
अनेनैव विमुच्यन्ते भवक्लेशान्मनीषिणः ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो जीव पापसे मलिन हैं वे इसी मन्त्रसे विशुद्ध होते हैं और इसी मन्त्रके प्रभावसे मनीषिगण (बुद्धिमान्) संसारके क्लेशोंसे छूटते हैं ॥ ४३ ॥

असावेव जगत्यस्मिन्भव्यव्यसनबान्धवः।
अमुं विहाय सत्त्वानां नान्यः कश्चित्कृपापरः[2] ॥ ४४ ॥

अर्थ—भव्य जीवोंको आपदाके समय यही मन्त्र इस जगतमें बांधव (मित्र) है इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी जीवोंपर कृपा करनेमें तत्पर नहीं है। **भावार्थ**—सबका रक्षक यही एक महामन्त्र है ॥ ४४ ॥

एतद्व्यसनपाताले भ्रमत्संसारसागरे।
अनेनैव जगत्सर्वमुद्धृत्य विधृतं शिवे ॥ ४५ ॥

---

१ 'पापशङ्किताः' इत्यपि पाठः। २ 'कृपाकरः' इत्यपि पाठः।

अर्थ—आपदा अर्थात् कष्ट ही है पातालगर्त्त जिसमें ऐसे संसाररूपी समुद्रमें भ्रमते हुए इस जगतको इस मन्त्रने ही उद्धार करके मोक्षमें धारण किया है ॥ ४५ ॥

कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च ।
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ॥ ४६ ॥

अर्थ—पूर्व कालमें हजारों पाप करके तथा सैंकड़ों जीवोंको मारकर तिर्यञ्च भी इस महामंत्रको शुद्ध भावोंसे आराधन करके, स्वर्गको प्राप्त हुए हैं. उनकी कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है ॥ ४६ ॥

शतमष्टोत्तरं चास्य त्रिशुद्ध्या चिन्तयन्मुनिः ।
भुञ्जानोऽपि चतुर्थस्य प्राप्नोत्यविकलं फलम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—मन वचन कायको शुद्ध करके इस मन्त्रको एकसो आठवार चिन्तवन करै तो वह मुनि आहार करता हुआ भी चतुर्थ कहिये एक उपवासके पूर्ण फलको प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

इस प्रकार महामन्त्रके विधान, फल और महिमाका वर्णन किया । अब षोडशाक्षरी विद्याको कहते हैं,—

स्मर पञ्चपदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम् ।
गुरुपञ्चकनामोत्थां षोडशाक्षरराजिताम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—हे मुने, तू सोलह अक्षरोंसे विराजमान जो महाविद्या है उसका स्मरण कर अर्थात् ध्यान कर. क्योंकि षोडशाक्षरी विद्या पञ्च पदों और पंच परमगुरुके नामोंसे उत्पन्न हुई है और जगतमात्रसे नमस्कार करने योग्य है. वह सोलह अक्षरीविद्या यह है—"अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः ॥ ४८ ॥

अस्याः शतद्वयं ध्यानी जपन्नेकाग्रमानसः ।
अनिच्छन्नप्यवाप्नोति चतुर्थतपसः फलम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो जीव षोडशाक्षरी विद्याका एकाग्र मन होकर, दोसौ बार जप करता है वह नहीं चाहता हुआ भी चतुर्थ तप अर्थात् एक उपवासके फलको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

विद्यां षड्वर्णसम्भूतामजय्यां पुण्यशालिनीम् ।
जपन्प्रागुक्तमभ्येति फलं ध्यानी शतत्रयम् ॥ ५० ॥

अर्थ—तथा "अरहन्त सिद्ध" इस प्रकार छह अक्षरोंसे उत्पन्न हुई विद्याका तीनसौ बार जप करनेवाला मनुष्य एक उपवासके फलको प्राप्त होता है. क्योंकि, यह षडक्षरी विद्या अजय्य है और पुण्यको उत्पन्न करनेवाली तथा पुण्यसे शोभित है ॥ ५० ॥

चतुर्वर्णमयं मन्त्रं चतुर्वर्गफलप्रदम् ।
चतुःशतं जपन्योगी चतुर्थस्य फलं लभेत् ॥ ५१ ॥

अर्थ—"अरहंत" इन चार अक्षरोंका मन्त्र है सो धर्म अर्थ काम मोक्षरूप फलको देनेवाला है. इसका जो चारसौ बार जप करता है वह एक उपवासका फल पाता है॥ ५१ ॥

वर्णयुग्मं श्रुतस्कन्धसारभूतं शिवप्रदम् ।
ध्यायेज्जन्मोद्भवाशेषक्लेशविध्वंसनक्षमम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—'सिद्ध' इन दो अक्षरोंका युग्म है, सो श्रुतस्कन्ध का (द्वादशांगशास्त्रका) सारभूत है, मोक्षको देनेवाला है, संसारसे उत्पन्न हुए समस्त क्लेशोंको नाश करनेमें समर्थ है, इसलिये योगी इसका ध्यान करै ॥ ५२ ॥

अवर्णस्य सहस्रार्द्धं जपन्नानन्दसंभृतः ।
प्राप्नोत्येकोपवासस्य निर्जरां निर्जिताशयः ॥ ५३ ॥

अर्थ—जो मुनि अपने चित्तको वश करके, आनंदसे 'अ' इस वर्णमात्रका पांचसौ बार जप करता है; वह एक उपवासके निर्जरारूपफलको प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

एतद्धि कथितं शास्त्रे रुचिमात्रप्रसाधकम् ।
किन्त्वमीषां फलं सम्यक्स्वर्गमोक्षैकलक्षणम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—यह जो शास्त्रमें इन मंत्रोंका एक उपवासरूप फल कहा है सो केवल मंत्र जपनेकी रुचि करानेके लिये है; किन्तु, वास्तवमें उक्त मंत्रोंका उत्तम फल स्वर्ग और मोक्ष ही है ॥ ५४ ॥

पञ्चवर्णमयीं विद्यां पञ्चतत्त्वोपलक्षिताम् ।
मुनिवीरैः श्रुतस्कन्धाद्बीजबुद्ध्या समुद्धृताम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—पांच तत्त्वोंसे युक्त, पांच अक्षरमयी विद्याको मुनीश्वरोंने द्वादशाग शास्त्रमेंसे सारभूत समझकर निकाली है. वह पंचाक्षरमयी विद्या ॐ ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रौँ ह्रः अ सि आ उ सा नमः इस प्रकार है ॥ ५५ ॥

अस्यां निरन्तराभ्यासाद्वशीकृतनिजाशयः ।
प्रोच्छिन्नत्याशु निःशङ्को निगूढं जन्मबन्धनम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त पंचाक्षरमयी विद्यामें निरन्तर अभ्यास करनेसे वशीभूत कर लिया है मन जिसने ऐसा मुनि निःशंक होकर, अतिकठिन संसाररूपी बन्धनको शीघ्र ही काट देता है ॥ ५६ ॥

आर्या ।

मङ्गलशरणोत्तमपदनिकुरम्बं यस्तु संयमी स्मरति ।
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो संयमी मुनि एकाग्रबुद्धिसे मंगल, शरण, उत्तम इन पदोंके समूहको स्मरण करता है वह मोक्षलक्ष्मीका आश्रय करता है। वह मंगलकारक उत्तम पदोंका समूह यह है:—चत्तारि मंगलं। अरहन्त मंगलं। सिद्ध मंगलं। साहु मंगलं। केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा। अरहंत लोगुत्तमा। सिद्ध लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा। केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि। अरहंतसरणं पव्वज्जामि। सिद्धसरणं पव्वज्जामि। साहुसरणं पव्वज्जामि। केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि ॥ ५७ ॥

सिद्धेः सौधं समारोढुमियं सोपानमालिका।
त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना विद्या विश्वातिशायिनी ॥ ५८ ॥

अर्थ—और जगत्में अतिशयरूप तेरह अक्षरोंसे उत्पन्न हुई यह विद्या मोक्षके महलको चढनेके लिये सीढियोंकी पंक्ति है। वह १३ तेरह अक्षरका मन्त्र 'ॐ अर्हत् सिद्ध सयोगकेवली स्वाहा' इस प्रकार है ॥ ५८ ॥

प्रसादयितुमुद्युक्तैर्मुक्तिकान्तां यशस्विनीम्।
दूतिकेयं मता मन्ये जगद्वन्द्यैर्मुनीश्वरैः ॥ ५९ ॥

अर्थ—यशकी धारक मुक्तिरूपी स्त्रीको प्रसन्न करनेके लिये उद्यमी हुए ऐसे तथा जगत्से पूज्य मुनीश्वरोंने इस तेरह अक्षरी विद्याको मुक्तिको प्रसन्न करनेके अर्थ दूती माना है, ऐसा मैं मानता हूं ॥ ५९ ॥

सकलज्ञानसाम्राज्यदानदक्षं विचिन्तय।
मन्त्रं जगत्त्रयी–नाथ–चूडारत्नं कृपास्पदम् ॥ ६० ॥

अर्थ—यह मन्त्र सकल ज्ञानके साम्राज्यके (केवल ज्ञानके) देखनेमें प्रवीण है और जगत्त्रयके नाथोंके चूडारत्न समान है तथा कृपाका स्थान है. सो हे मुने, तू चिन्तवन कर। वह मन्त्र—'ॐ ह्रीं श्रीं नमः' है ॥ ६० ॥

नचास्य भुवने कश्चित्प्रभावं गदितुं क्षमः।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेन यः साम्यमवलम्बते ॥ ६१ ॥

अर्थ—इस मन्त्रका प्रभाव लोकमें कोई भी कहनेको समर्थ नहीं है. क्योंकि यह मन्त्र श्रीमत्सर्वज्ञ देवकी समानताको धारण करनेवाला है ॥ ६१ ॥

स्मर कर्मकलङ्कौघध्वान्तविध्वंसभास्करम्।
पञ्चवर्णमयं मन्त्रं पवित्रं पुण्यशासनम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—हे मुने, तू पंच अक्षरमयी जो मन्त्र है उसे चिन्तवन कर. क्योंकि, यह मंत्र कर्मकलंकोंके समूहरूप अंधकारका विध्वंसन करनेको सूर्यके समान है, पवित्र है, और पुण्यशासन है। वह मन्त्र 'णमो सिद्धाणं' यह है ॥ ६२ ॥

सर्वसत्त्वाभयस्थानं वर्णमालाविराजितम् ।
स्मर मन्त्रं जगज्जन्तुक्लेशसंततिघातकम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—हे मुने ! तू समस्त जीवोंका अभयस्थान–तथा जगतके जीवोंके क्लेशकी सन्ततिको काटनेवाला और अक्षरोंकी पंक्तिसे विराजमान ऐसे मन्त्रका चिन्तवन कर, वह मंत्र यह है—' ॐ नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिनेऽनन्तशुद्धिपरिणामविस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मङ्गलाय वरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा ' ॥ ६३ ॥

स्मरेन्दुमण्डलाकारं पुण्डरीकं मुखोदरे ।
दलाष्टकसमासीनं वर्णाष्टकविराजितम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—हे मुने ! तू मुखमें चन्द्रमंडलके आकारका, आठ अक्षरोंसे शोभायमान, आठ पत्रोंका एक कमल चिन्तवन कर ॥ ६४ ॥

वे आठ अक्षर कौन २ से हैं, सो कहते हैं—

ॐ णमो अरहंताणमिति वर्णानपि क्रमात् ।
एकशः प्रतिपत्रं तु तस्मिन्नेव निवेशयेत् ॥ ६५ ॥

अर्थ—'ॐ णमो अरहंताणं' ये आठ अक्षर मुखमें स्मरण किए हुये उस कमलके आठों पत्रोंपर क्रमसे एक एक अक्षरका स्थापनकर, ध्यान करना चाहिये ॥ ६५ ॥

स्वर्णगौरीं स्वरोद्भूतां केशरालीं ततः स्मरेत् ।
कर्णिकां च सुधास्यन्दबिन्दुव्रजविभूषिताम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् अमृतके झरनोंके बिन्दुओंसे सुशोभित कर्णिकाका चिन्तवन करै, और उसमें स्वरोंसे उत्पन्न हुई तथा सुवर्णके समान गौरवर्णवाली केशरोंकी पंक्तिका ध्यान करै ॥ ६६ ॥

प्रोद्यत्संपूर्णचन्द्राभं चन्द्रबिम्बाच्छनैः शनैः ।
समागच्छत्सुधाबीजं मायावर्णं तु चिन्तयेत् ॥ ६७ ॥

अर्थ—पश्चात् उदयको प्राप्त होते हुए, पूर्णचन्द्रमाकी कान्तिसमान, चन्द्रबिंबसे मंद मंद अमृतबीजको प्राप्त होते हुए मायावर्ण ह्रीं का चिंतवन करै ॥ ६७ ॥

इस मायावर्णका किस प्रकार चिन्तवन करै, सो कहते हैं,—

विस्फुरन्तमतिस्फीतं प्रभामण्डलमध्यगम् ।
संचरन्तं मुखाम्भोजे तिष्ठन्तं कर्णिकोपरि ॥ ६८ ॥
भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं वियति क्षणे ।
छेदयन्तं मनोध्वान्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ॥ ६९ ॥

व्रजन्तं तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे।
ज्योतिर्मयमिवाचिन्त्यप्रभावं भावयेन्मुनिः ॥ ७० ॥

अर्थ—उपर्युक्त मायाबीज ह्रीं अक्षरको स्फुरायमान होता हुआ, अत्यंत उज्वल प्रभामंडलके मध्य प्राप्त हुआ, कभी पूर्वोक्त मुखस्थ कमलमें संचरता हुआ तथा कभी २ उसकी कार्णिकाके उपरि तिष्ठता हुआ, तथा कभी २ उस कमलके आठों दलोंपर फिरता हुआ तथा कभी २ क्षणभरमें आकाशमें चलता हुआ, मनके अज्ञान अंधकारको दूर करता हुआ, अमृतमयी जलसे चूता हुआ तथा तालुआके छिद्रसे गमन करता हुआ तथा भौंहोंकी लताओंमें स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिर्मयके समान अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे मायावर्णका चिन्तवन करै ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ ७० ॥

अब इस मन्त्रकी महिमाका वर्णन करते हैं,—

वाक्पथातीतमाहात्म्यं देवदैत्योरगार्चितम्।
विद्यार्णवमहापोतं विश्वतत्त्वप्रदीपकम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—इस मन्त्रका माहात्म्य वचनातीत है—इसको देव दैत्य नागेन्द्र पूजते हैं तथा यह मन्त्र विद्यारूपी समुद्रके तिरनेको महान् जहाज है. और जगतके पदार्थोंको दिखानेके लिये दीपक ही है ॥ ७१ ॥

अमुमेव महामन्त्रं भावयन्नस्तसंशयः।
अविद्याव्यालसंभूतं विषवेगं निरस्यति ॥ ७२ ॥

अर्थ—इसी महामन्त्रको संशयरहित होकर, ध्यान करनेवाला मुनि अविद्यारूपी सर्पसे उत्पन्न हुए विषके वेगको दूर करता है ॥ ७२ ॥

इति ध्यायन्नसौ ध्यानी तत्संलीनैकमानसः।
वाङ्मनोमलमुत्सृज्य श्रुताम्भोधिं विगाहते ॥ ७३ ॥

अर्थ—ऐसे पूर्वोक्त प्रकार इस मन्त्रको ध्यान करता हुआ और उस ध्यानमें ही लीन है मन जिसका ऐसा जो ध्यानी है वह अपने मन तथा वचनके मलको नष्ट करके श्रुत समुद्रमें अवगाहन करता है—अर्थात् शास्त्ररूपी समुद्रमें तैरता है ॥ ७३ ॥

ततो निरन्तराभ्यासान्मासैः षड्भिः स्थिराशयः।
मुखरन्ध्राद्विनिर्यान्तीं धूमवर्तिं प्रपश्यति ॥ ७४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह ध्यानी स्थिरचित्त होकर, निरन्तर अभ्यास करनेपर छह महीनेमें अपने मुखसे निकलती हुई (धूम) धूयेंकी वर्तिका देखता है ॥ ७४ ॥

ततः संवत्सरं यावत्तथैवाभ्यस्यते यदि।
प्रपश्यति महाज्वालां निःसरन्तीं मुखोदरात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् यदि एक वर्षपर्यन्त उसी प्रकार अभ्यास करै तो मुखमेंसे निकलती हुई महा अग्निकी ज्वालाको देखता है ॥ ७५ ॥

ततोऽतिजातसंवेगो निर्वेदालम्बितो वशी ।
ध्यायन्पश्यत्यविश्रान्तं सर्वज्ञमुखपङ्कजम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् अतिशय उत्पन्न हुआ है धर्मानुराग जिसके ऐसा वैराग्यावलंबित जितेन्द्रिय मुनि निरन्तर ध्यान करता २ सर्वज्ञके मुखकमलको देखता है ॥ ७६ ॥

अथाप्रतिहतानन्दप्रीणितात्मा जितश्रमः ।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेशं प्रत्यक्षमिव वीक्षते ॥ ७७ ॥

अर्थ—यहांसे आगे वही ध्यानी अनिवारित आनंदसे तृप्त है आत्मा जिसका और जीता है दुःख जिसने ऐसा होकर, श्रीमत्सर्वज्ञदेवको प्रत्यक्ष अवलोकन करता है ॥ १७ ॥

सर्वातिशयसंपूर्णं दिव्यरूपोपलक्षितम् ।
कल्याणमहिमोपेतं सर्वसत्त्वाभयप्रदम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—सर्वज्ञको ध्यानी कैसे प्रत्यक्ष देखता है कि—सर्व अतिशयोंसे परिपूर्ण दिव्य रूपसे उपलक्षित पंचकल्याणककी महिमासहित समस्त जीवोंको अभयदान देनेवाले तथा—॥ ७८ ॥

प्रभावलयमध्यस्थं भव्यराजीवरञ्जकम् ।
ज्ञानलीलाधरं वीरं देवदेवं स्वयंभुवम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—प्रभावलयके बीचमें स्थित हुए भव्यरूप कमलोंको रंजायमान करनेवाले, ज्ञानकी लीलाके धरनेवाले, विशिष्ट लक्ष्मीवाले, देवोंके देव स्वयंभू ऐसे सर्वज्ञको साक्षात् देखता है ॥ ७९ ॥

ततो विधूततन्द्रोऽसौ तस्मिन्संजातनिश्चयः ।
भवभ्रममपाकृत्य लोकाग्रमधिरोहति ॥ ८० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् इस मन्त्रका ध्यान करनेवाला मुनि प्रमादको नष्ट करके तथा इस मंत्रमें सर्वज्ञके स्वरूपका निश्चय हो जानेपर संसारभ्रमको दूर करके, लोकके अग्रभाग मोक्षस्थानको आश्रय करता है ॥ ८० ॥

इसप्रकार मुखकमलमें अष्टदलकमलमें आठ अक्षरोंको स्थापन करके, कर्णिकाके केशरोंमें सोलह स्वर स्थापनपूर्वक ह्रीं वर्णका जो पूर्वोक्त प्रकारसे ध्यान करै, उसका फल (महिमा) वर्णन किया ।

अब अन्य विद्याका वर्णन करते हैं,—

आर्या.

स्मर सकलसिद्धविद्यां प्रधानभूतां प्रसन्नगम्भीराम् ।
विधुबिम्बनिर्गतामिव क्षरत्सुधार्द्रां महाविद्याम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—हे मुने, तू सकल सिद्धविद्याका भी चिंतवन कर. क्योंकि, वह विद्या प्रधानस्वरूप है, प्रसन्न है, गंभीर है, तथा चंद्रमाके बिंबसे निकली हुईके समान जो झरती हुई सुधा है उससे आर्द्रित है. ऐसी वह महाविद्या 'क्ष्वीं' ऐसा अक्षर है ॥ ८१ ॥

अविचलमनसा ध्यायंल्ललाटदेशे स्थितामिमां देवीम् ।
प्राप्नोति मुनिरजस्रं समस्तकल्याणनिकुरम्बम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—इस विद्या देवीको ललाट देशपर स्थित करके, निश्चल मनसे निरन्तर ध्यान करता हुआ मुनि समस्त कल्याणके समूहको प्राप्त होता है ॥ ८२ ॥

मालिनी.

अमृतजलधिगर्भान्निःसरन्तीं सुदीप्ता-
मलकतलनिषण्णां चन्द्रलेखां स्मर त्वम् ।
अमृतकणविकीर्णां प्लावयन्तीं सुधाभिः
परमपदधरित्र्यां धारयन्तीं प्रभावम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—हे मुने, तू इस अमृतके समुद्रसे निकलती हुई, भलेप्रकार देदीप्यमान, ललाटदेशमें स्थित, अमृतके कणोंसे बिखरी हुई और अमृतसे आर्द्रित करती हुई चंद्रलेखाको स्मरण कर. क्योंकि, यह विद्या मोक्षरूपी पृथिवीमें अपने प्रभावको धारण करनेवाली है ॥ ८३ ॥

एतां विचिन्तयन्नेव स्तिमितेनान्तरात्मना ।
जन्मज्वरक्षयं कृत्वा याति योगी शिवास्पदम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—इस विद्याको पूर्वोक्त प्रकारसे अपने निश्चल मनसे ध्यान करता हुआ ध्यानी योगी संसाररूप ज्वरका क्षय करके, मोक्ष स्थानको प्राप्त होता है ॥ ८४ ॥

यदि साक्षात्समुद्विग्नो जन्मदावोग्रसंक्रमात् ।
तदा स्मरादिमन्त्रस्य प्राचीनं वर्णसप्तकम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—हे मुने, जो तू संसाररूप अग्निके तीव्र संक्रम (संयोग) से उद्वेगरूप हुआ है अर्थात् दुःखी हुआ है तो आदिमंत्र जो पंच नमस्कार मन्त्र है उसके पहिले सात अक्षरोंका ध्यान कर, वे सात अक्षर 'णमो अरहंताणं' ये हैं ॥ ८५ ॥

यदत्र प्रणवं शून्यमनाहतमिति त्रयम् ।
एतदेव विदुः प्राज्ञास्त्रैलोक्यतिलकोत्तमम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—जो इस प्रकरणमें प्रणव और शून्य तथा अनाहत ये तीन अक्षर हैं इन तीनों अक्षरोंको ही बुद्धिमानोंने तीनलोकके तिलक समान कहा है ॥ ८६ ॥

नासाग्रदेशसंलीनं कुर्वन्नत्यन्तनिर्मलम् ।
ध्याता ज्ञानमवाप्नोति प्राप्य पूर्वं गुणाष्टकम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—इन तीन अक्षरोंको नासिकाके अग्रभागमें अत्यन्त लीन करता हुआ ध्यानी अणिमा महिमादिक आठ ऋद्धियोंको प्राप्त होकर, तत्पश्चात् अति निर्मल ज्ञानको (केवल ज्ञानको) प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥

शङ्खेन्दुकुन्दधवला ध्याता देवास्त्रयो विधानेन ।
जनयन्ति सर्वविषयं वोधं कालेन तद्ध्यानात् ॥ ८८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ये तीन देव (अक्षर) शंखके समान, कुन्दके पुष्पसमान तथा चंद्रमासमान विधानपूर्वक ध्याये जावें तो इनके ध्यानसे कितने ही कालमें समस्त विषयोंका ज्ञान करानेवाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ८८ ॥

प्रणवयुगलस्य युग्मं पार्श्वे मायायुगं विचिन्तयति ।
मूर्द्धस्थं हंसपदं कृत्वा व्यस्तं वितन्द्रात्मा ॥ ८९ ॥

अर्थ—प्रणवयुगल कहिये दो ओंकारका युग्म और दोनो तरफ दो मायायुगल ह्रीं ह्रीं ऐसे और इनके उपरि हंसपद रखकर, प्रमादरहित होकर, ध्यानी भिन्न भिन्न चिंतवन करै. वह मंत्र ' ह्रीं ॐ ॐ ह्रीं हंसः ' ऐसा है ॥ ८९ ॥

ततो ध्यायेन्महाबीजं स्त्रींकारं छिन्नमस्तकम् ।
अनाहतयुतं दिव्यं विस्फुरन्तं मुखोदरे ॥ ९० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् छिन्नमस्तक महाबीज जो ' स्त्रीं ' ऐसा अक्षर है उसको अनाहतसहित दिव्यमुखपर स्फुरायमान होता हुआ चिंतवन करै ॥ ९० ॥

श्रीवीरवदनोद्गीर्णां विद्यां चाचिन्त्यविक्रमाम् ।
कल्पवल्लीमिवाचिन्त्यफलसंपादनक्षमाम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—और श्रीवर्द्धमान भगवानके मुखसे निकली हुई विद्याको चिन्तवन करै. कैसी है वह विद्या अचिन्त्य पराक्रमवाली और कल्पवेलकी समान अचिन्त्य फल देनेमें समर्थ है. ऐसी विद्या " ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारिस्से स्वाहा " तत्पश्चात् ऐसा मंत्र है " ॐ ह्रीं स्वर्हं नमो नमोऽर्हंताणं ह्रीं नमः " ऐसे अक्षर हैं ॥ ९१ ॥

आर्या ।

विद्यां जपति य इमां निरन्तरं शान्तविश्वविस्पन्दः ।
अणिमादिगुणाँल्लब्ध्वा ध्यानी शास्त्रार्णवं तरति ॥ ९२ ॥

अर्थ—जो ध्यानी शान्तवेग निश्चल होकर, इस विद्याको निरन्तर जपता है वह अणिमादिक गुणोंको प्राप्त होकर, शास्त्रसमुद्रके पार हो जाता है अर्थात् श्रुतकेवली होता है ॥ ९२ ॥

त्रिकालविषयं साक्षाज्ज्ञानमस्योपजायते ।
विश्वतत्त्वप्रबोधश्च सतताभ्यासयोगतः ॥ ९३ ॥

अर्थ—इस विद्याका ध्यान करनेवालेके निरंतर अभ्यास करनेसे समस्त तत्त्वोंका ज्ञान और त्रिकालविषयकसाक्षात्ज्ञान कहिये केवलज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ९३ ॥

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरास्तथान्ये व्यन्तरादयः ।
ध्यानविध्वंसकर्तारो येन तद्धि प्रपञ्च्यते ॥ ९४ ॥

अर्थ—अत्र ध्यानीके उपसर्ग करनेवाले क्रूरजन्तु तथा ध्यानको नाश करनेवाले व्यन्तरादिक जिस ध्यानसे उपशमताको प्राप्त होते हैं उस ध्यानका विस्तारसे वर्णन करते हैं ॥ ९४ ॥

दिग्दलाष्टकसम्पूर्णे राजीवे सुप्रतिष्ठितम् ।
स्मरत्वात्मानमत्यन्तस्फुरद्ग्रीष्मार्कभास्करम् ॥ ९५ ॥
प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य पूर्वादिषु प्रदक्षिणम् ।
विचिन्तयति पत्रेषु वर्णैकैकमनुक्रमात् ॥ ९६ ॥
अधिकृत्य छदं पूर्वं सर्वाशासम्मुखः परम् ।
स्मरत्यष्टाक्षरं मन्त्रं सहस्रैकं शताधिकम् ॥ ९७ ॥
प्रत्यहं प्रतिपत्रेषु महेन्द्राशाद्यनुक्रमात् ।
अष्टरात्रं जपेद्योगी प्रसन्नामलमानसः ॥ ९८ ॥
तस्याचिन्त्यप्रभावेण क्रूराशयकलङ्किताः ।
त्यजन्ति जन्तवो दर्पं सिंहत्रस्ता इव द्विपाः ॥ ९९ ॥

अर्थ—आठ दिशा संबंधी आठ पत्रोंसे पूर्ण कमलमें भले प्रकार स्थापित और अत्यन्त स्फुरायमान ग्रीष्मऋतुके सूर्यके समान देदीप्यमान आत्माको स्मरण करै ॥ ९५ ॥ प्रणव है आदिमें जिसके ऐसे मंत्रको पूर्वादिक दिशाओंमें प्रदक्षिणारूप एक एक पत्रपर अनुक्रमसे एक एक अक्षरका चिन्तवन करै. वे अक्षर " ॐ णमो अरहंताणं " ये हैं ॥ ९६ ॥ इनमेंसे प्रथम पत्रको मुख्य करके, सर्व दिशाओंके सन्मुख होकर, इस अष्टाक्षर मंत्रको ग्यारहसै वार चिन्तवन (ध्यान) करै ॥ ९७ ॥ इस प्रकार प्रतिदिन प्रत्येक पत्रमें पूर्व दिशादिकके अनुक्रमसे आठ रात्रिपर्यन्त प्रसन्न होकर, जपै ॥ ९८ ॥ उसके अचिन्त्य प्रभावसे क्रूरचित्त जीव, सिंहसे भयभीत होकर जिस प्रकार हाथी गर्व छोड़ देते हैं उसी प्रकार अपना गर्व छोड़ देते हैं ॥ ९९ ॥

अष्टरात्रे व्यतिक्रान्ते कमलस्यास्यवर्त्तिनः ।
निरूपयति पत्रेषु वर्णानेताननुक्रमात् ॥ १०० ॥

आलम्ब्य प्रक्रियामेनां पूर्वं विघ्नौघशान्तये ।
पश्चात्सप्ताक्षरं मन्त्रं ध्यायेत्प्रणववर्जितम् ॥ १०१ ॥
मन्त्रः प्रणवपूर्वोऽयं निश्शेषाभीष्टसिद्धिदः ।
ऐहिकानेककामार्थं मुक्त्यर्थं प्रणवच्युतः ॥ १०२ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् पूर्वोक्त आठ रात्रियोंके व्यतीत होनेके पश्चात् इस कमलके पत्रोंपर वर्तनेवाले अक्षरोंको अनुक्रमसे निरूपण करके देखै ॥ १०० ॥ इस प्रकार इस प्रक्रियाको प्रथम विघ्नके समूहकी शान्तिके लिये आलंबन करके, तत्पश्चात् प्रणववर्जित सात अक्षर स्वरूप "**णमो अरहंताणं**" इस मन्त्रका ध्यान करै ॥ १०१ ॥ जब इस मन्त्रको प्रणवपूर्वक ध्यावै तब यह समस्तमनोवांछित सिद्धिका देनेवाला है तथा इस लोकसम्बन्धी अनेक कार्योंके लिये है और प्रणववर्जित ध्यान करनेसे यह मन्त्र मुक्तिका कारण है ॥ १०२ ॥

स्मर मन्त्रपदं वान्यज्जन्मसंघातघातकम् ।
रागाद्युग्रतमस्तोमप्रध्वंसरविमण्डलम् ॥ १०३ ॥

अर्थ—अब कहते हैं कि हे मुने, तू अन्य एक मन्त्रपदका स्मरण कर. क्योंकि, वह मन्त्र जन्मसमूहको घात करनेवाला है और रागादिकरूप तीव्र अंधकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यमंडल समान है. वह मंत्र—"**श्रीमदृषभादिवर्द्धमानान्तेभ्यो नमः**" ऐसा है॥१०३॥

मनः कृत्वा सुनिष्कम्पं तां विद्यां पापभक्षिणीम् ।
स्मर सत्त्वोपकाराय या जिनेन्द्रैः प्रकीर्तिता ॥ १०४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् हे मुने, तू निश्चलमनसे उस पापभक्षिणी विद्याको स्मरण कर जिसको कि समस्त जीवोंके उपकारार्थ श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌ने कही है. वह विद्या यह है—**ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वालिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा** । ये पापभक्षिणी विद्याके अक्षर हैं ॥ १०४ ॥

चेतः प्रसत्तिमाधत्ते पापपङ्कः प्रलीयते ।
आविर्भवति विज्ञानं मुनेरस्याः प्रभावतः ॥ १०५ ॥

अर्थ—इस पापभक्षिणी विद्याके प्रभावसे मुनिका चित्त प्रसन्नताको धारण करता है, पापरूपी पंक प्रलय हो जाता है और विशिष्ट ज्ञान प्रगट होता है ॥ १०५ ॥

मुनिभिः संजयन्ताद्यैर्विद्यावादात्समुद्धृतम् ।
भुक्तिमुक्तेः परं धाम सिद्धचक्राभिधं स्मरेत् ॥ १०६ ॥
तस्य प्रयोजकं शास्त्रं तदाश्रित्योपदेशतः ।
ध्येयं मुनीश्वरैर्जन्ममहाव्यसनशान्तये ॥ १०७ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् सिद्धचक्र नामा मंत्रको संजयन्तादिक महामुनियोंने विद्यानुवाद नामा दशम पूर्वसे उद्धृत किया है—सो यह मन्त्र भोग और मोक्षका उत्कृष्ट धाम है, इसका ध्यान करै ॥ १०६ ॥ इस सिद्धचक्र मन्त्रके प्रयोजक शास्त्रका आश्रय लेकर, उसके उपदेशसे जन्मरूप महाकष्टकी शान्तिके लिये मुनीश्वरोंको ध्यान करना चाहिये. इसके अक्षरादिकका विधान उसके प्रयोजक शास्त्रसे जानना ॥ १०७ ॥

स्मर मन्त्रपदाधीशं मुक्तिमार्गप्रदीपकम् ।
नाभिपङ्कजसंलीनमवर्णं विश्वतोमुखम् ॥ १०८ ॥
सिवर्णं मस्तकाम्भोजे साकारं मुखपङ्कजे ।
आकारं कण्ठकञ्जस्थं स्मरोकारं हृदि स्थितम् ॥ १०९ ॥

अर्थ—हे मुने ! तू मन्त्रपदोंका स्वामी और मुक्तिके मार्गको प्रकाश करनेवाले अकार अक्षरको नाभिकमलमें चिन्तवन कर. यह अक्षर सर्वव्यापी है । और सि अक्षरको मस्तक कमलपर, आ अक्षरको कंठस्थ कमलमें, उ अक्षरको हृदयकमलपर और सा अक्षरको मुखस्थ कमलपर ऐसे 'असि आउसा' इन पांच अक्षरोंको पांच स्थानोंपर चिन्तवन कर ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

सर्वकल्याणबीजानि बीजान्यन्यान्यपि स्मरेत् ।
यान्याराध्य शिवं प्राप्ता योगिनः शीलसागराः ११० ॥

अर्थ—सर्व कल्याणके बीज अन्यान्य भी मंत्र हैं. जिनको आराधन करके शीलके सागर योगीगण मोक्षको प्राप्त हुए हैं. उन सबही अक्षरोंको ध्यानी मुनि चिन्तवन करै, 'नमः सर्वसिद्धेभ्यः' यह भी एक मन्त्रपद है ॥ ११० ॥

श्रुतसिन्धुसमुद्भूतमन्यद्वा पदमक्षरम् ।
तत्सर्वं मुनिभिर्ध्येयं स्यात्पदस्थप्रसिद्धये ॥ १११ ॥

अर्थ—अन्य भी पद तथा अक्षर जो श्रुतसमुद्र द्वादशांग शास्त्रसे उत्पन्न हुए हैं वे सब ही पदस्थ ध्यानकी प्रसिद्धतार्थ होते हैं उन्हें भी मुनिगणोंको ध्यानगोचर करना चाहिये ॥ १११ ॥

एवं समस्तवर्णेषु मन्त्रविद्यापदेषु च ।
कार्यक्रमेण विश्लेषो लक्ष्यभावप्रसिद्धये ॥ ११२ ॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त अक्षरोंमें तथा मन्त्रपद और विद्या पदोंमें अनुक्रमसे लक्ष्य भावकी प्रसिद्धताके लिये भेद करना अर्थात् भिन्न २ चिन्तवन करना चाहिये ॥ ११२ ॥

अन्यद्यच्छ्रुतस्कन्धबीजं निर्वेदकारणम् ।
तत्तद्ध्यायन्नसौ ध्यानी नापवर्गपथि स्खलेत् ॥ ११३ ॥

अर्थ—अन्य जो जो द्वादशांग शास्त्रके बीजाक्षर हैं तथा वैराग्यके कारण हैं उन उन मंत्रोंको ध्यान करता हुआ मुनि मोक्षमार्गमें गमन करता हुआ डिगता नहीं। **भावार्थ**—जो ज्ञान वैराग्यके कारण मंत्र, पद वा बीजाक्षर हैं वे सब ही मोक्षमार्गमें ध्यान करने योग्य (ध्येय) हैं ॥ ११३ ॥

उक्तं च ।

ध्येयं स्याद्वीतरागस्य विश्ववर्त्यर्थसंचयम् ।
तद्धर्मव्यत्ययाभावान्माध्यस्थ्यमधितिष्ठतः ॥ १ ॥

अर्थ—जो वीतराग है उसके इस लोकमें प्रवर्त्तनेवाले समस्त पदार्थोंके समूह ध्येय हैं, क्योंकि, वीतराग उस पदार्थके स्वरूपमें विपरीतताके अभावसे मध्यस्थताको आश्रय करता है। **भावार्थ**—वीतरागके ज्ञानमें जो ज्ञेय आता है, उसका स्वरूप यथार्थ जाननेके कारण उसके इष्ट अनिष्ट ममत्वभाव नही होते. इस कारण उनसे मध्यस्थ भाव रहता है, अर्थात् वीतरागतासे नहिं छूटते ॥ १ ॥

पुनः उक्तं च ।

वीतरागो भवेद्योगी यत्किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्यद् ग्रन्थविस्तरः ॥ २ ॥

अर्थ—वीतराग योगी जो कुछ चिंतवन करै वही ध्यान है, इस कारण अन्य कहना है वह ग्रन्थका विस्तार मात्र है, वीतरागके सब ही ध्येय हैं ॥ २ ॥

वीतरागस्य विज्ञेया ध्यानसिद्धिर्ध्रुवं मुनेः ।
क्लेश एव तदर्थं स्याद्रागार्त्तस्येह देहिनः ॥ ११४ ॥

अर्थ—जो मुनि वीतराग है उसके ध्यानकी सिद्धि अवश्य होती है. और जो रागसे पीड़ित है उसका ध्यान करना क्लेशके लिये ही है अर्थात् रागीके ध्यानकी सिद्धि नहिं होती ॥ ११४ ॥

यहां कोई प्रश्न करै कि सर्वथा वीतराग तो सर्व मोहका अभाव होनेसे होता है. उसके ध्यान करनेकी इच्छा ही नहिं होती और जो इच्छा होती है तो वह वीतराग कैसे हो ? उसका **समाधान**—यह है कि यहांपर राग संसार देह भोगसंबन्धी है, उसकी अपेक्षा वीतराग कहा है. ध्यानसे राग करनेको राग नहिं कहा जाता. क्योंकि, ध्यान रागका अभाव करनेवाला है। इस रागसे भी मुनिके राग नहीं है इसकारण वीतराग ही कहा जाता है परमार्थ अपेक्षा यह एकदेश सर्वदेशका व्यवहार जानना ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

निर्मथ्य श्रुतसिन्धुमुन्नतधियः श्रीवीरचन्द्रोदये
तत्त्वान्येव समुद्धरन्ति मुनयो यत्नेन रत्नान्यतः ।

तान्येतानि हृदि स्फुरन्ति सुभगन्यासानि भव्यात्मनां
ये वाञ्छन्त्यनिशं विमुक्तिललनासम्भोगसंभावनाम् ॥ ११५ ॥

अर्थ—श्रीवीर वर्द्धमानस्वामीरूप चन्द्रमाके उदय होते हुए जे उन्नतबुद्धि मुनि हैं वे शास्त्ररूपी समुद्रको मथकर, सुन्दर है रचना जिनकी ऐसे मंत्ररूप तत्त्वोंको (रत्नोंको) निकालते हैं. और ये सब मंत्रपदरूप रत्न मुक्तिरूपी स्त्रीके संभोगकी निरंतर वांछा करनेवाले भव्य पुरुषोंके ही हृदयमें स्फुरायमान होते हैं। **भावार्थ**—जो मुक्ति चाहनेवाले हैं वे इन मंत्ररूप पदोंका अभ्यास करैं ॥ ११५ ॥

विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥ ११६ ॥

अर्थ—इन मंत्रपदोंके अभ्यासके पश्चात् विलय हुए हैं समस्त कर्म जिसमें ऐसे अतिनिर्मल स्फुरायमान अपने आत्माको अपने शरीरमें चिंतवन करै (ध्यान करै)। **भावार्थ**—इन मंत्रपदोंके अभ्याससे विशुद्धता बढ़ती है और चित्त एकाग्र हो जानेपर शुद्धस्वरूपका निर्मल प्रतिभास होता है और उस स्वरूपमें उपयोग स्थिरताको प्राप्त होता है तथा बड़ा संवर होता है और कर्मोंकी निर्जरा होती है तथा घातिकर्मोंका नाश करके केवल ज्ञानको प्राप्त हो, मोक्षको पाता है ॥ ११६ ॥

इस प्रकार यह मंत्रपदोंका ध्यान मोक्षका महान् उपाय है और लौकिक प्रयोजन भी इससे अनेक प्रकारके सिद्ध होते हैं। अणिमा महिमादिक ऋद्धियें प्राप्त होतीं हैं. परन्तु मोक्षके इच्छुक मुनियोंको इनसे कुछ प्रयोजन नहीं है ॥

यहां कोई पूछै कि गृहस्थ इन मंत्रोंका ध्यान करै कि नहीं ? उसका समाधान यह है कि जैसा ध्यान मुनिके होता है वैसा गृहस्थके होता ही नहीं परंतु जो अपनी शक्तिके अनुसार धर्मार्थी होकर ध्यान करै तो शुभ फलकी प्राप्ति होती है। लौकिक प्रयोजन विषयकषाय साधनेके लिये आकर्षण विद्वेषण उच्चाटन मारण आदिके लिये करनेका मोक्षमार्गमें निषेध किया है ॥

आडिल्ल ।

अक्षरपदको अर्थ रूप ले ध्यानमें ।
जे ध्यावें इम मन्त्ररूप इक तानमें ॥
ध्यानपदस्थ जु नाम कह्यो मुनिराजने ।
जे यामें ह्वै लीन लहै निजकाजने ॥ ३८ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारस्वरूपज्ञानार्णवे
पदस्थध्यानवर्णनं नामाष्टत्रिंशं प्रकरणम् ॥ ३८ ॥

अथ एकोनत्रिंशं प्रकरणं लिख्यते।

आगे रूपस्थ ध्यानका वर्णन करते हैं,—

आर्हन्त्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम्।
ध्यायेद्देवेन्द्रचन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयम्भुवम्॥ १॥
सर्वातिशयसंपूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम्।
सर्वभूतहितं देवं शीलशैलेन्द्रशेखरम्॥ २॥
सप्तधातुविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीकटाक्षितम्।
अनन्तमहिमाधारं सयोगिपरमेश्वरम्॥ ३॥
अचिन्त्यचरितं चारुचारित्रैः समुपासितम्।
विचित्रनयनिर्णीतं विश्वं विश्वैकबान्धवम्॥ ४॥
निरुद्धकरणग्रामं निषिद्धविषयद्विषम्।
ध्वस्तरागादिसन्तानं भवज्वलनवार्मुचम्॥ ५॥
दिव्यरूपधरं धीरं विशुद्धज्ञानलोचनम्।
अपि त्रिदशयोगीन्द्रैः कल्पनातीतवैभवम्॥ ६॥
स्याद्वादपविनिर्घातभिन्नान्यमतभूधरम्।
ज्ञानामृतपयःपूरैः पवित्रितजगत्त्रयम्॥ ७॥
इत्यादिगणनातीतगुणरत्नमहार्णवम्।
देवदेवं स्वयम्बुद्धं स्मराद्यं जिनभास्करम्॥ ८॥

अर्थ—इस रूपस्थ ध्यानमें अरहन्त भगवान्का ध्यान करना चाहिये; जिसमें अरहंतका किस प्रकारका स्वरूप चिन्तवन करना चाहिये सो कहते हैं।—अरहन्तताकी महिमा जो समवसरणादिकी रचना है उस सहित, सर्वज्ञ, परमेश्वर, देवेन्द्र चन्द्रमा सूर्यादिकी सभाके मध्यमें स्थित, स्वयंभू॥ १॥ तथा समस्त अतिशयोंसे संपूर्ण, सब लक्षणोंसे लक्षित, तथा जिनसे समस्त जीवोंका हित होता है ऐसे, और शील कहिये उत्तर गुणरूपी पर्वतके शिखर॥ २॥ तथा सप्तधातुसे रहित, और मोक्षलक्ष्मी जिनको कटाक्ष पूर्वक देखती है ऐसे, अनन्त महिमाके आधार सयोगकेवली, परमेश्वर,॥ ३॥ तथा अचिन्त्य है चरित जिनका, और सुन्दर चरित्रवाले गणधरादिक मुनिगणोंसे सेवनीय तथा अनेक नयोंसे निर्णय किया है विश्व अर्थात् समस्त वस्तुओंका आकार स्वरूप जगत जिन्होंने ऐसे, और समस्त जगतके हितू॥ ४॥ तथा इन्द्रियोंके ग्रामोंको रोकनेवाले, विषयरूप शत्रुओंको निषेध कर देनेवाले तथा रागादिक सन्तानका करदिया है नाश जिन्होंने ऐसे, और संसाररूपी अग्निके बुझानेको मेघके समान॥ ५॥ तथा दिव्यरूपके धारक,

धीर अर्थात् क्षोभरहित, निर्मल ज्ञान ही जिनके नेत्र हैं ऐसे, देव और योगीश्वरोंकी कल्पनासे अतीत है विभव जिनका ऐसे ॥ ६ ॥ तथा स्याद्वादरूप वज्रसे खंडे है अन्य मत-रूपी पर्वत जिन्होंने ऐसे, तथा ज्ञानरूप अमृतमय जलके प्रवाहोंसे पवित्र स्वरूप किया है तीन जगत् जिन्होंने ऐसे ॥ ७ ॥ इनको आदि लेकर गणनासे अतीत गुणरूप रत्नोंके महासमुद्र, देवोंके देव, स्वयंबुद्ध, जिनोंके सूर्य, ऐसे श्रीऋषभदेव सर्वज्ञका हे मुने, तू चिन्तवन (ध्यान) कर ॥ ८ ॥

जन्ममृत्युजराक्रान्तं रागादिविषमूर्छितम् ।
सर्वसाधारणैर्दोषैरष्टादशभिरावृतम् ॥ ९ ॥
अनेकव्यसनोच्छिष्टं संयमज्ञानविच्युतम् ।
संज्ञामात्रेण केचिच्च सर्वज्ञं प्रतिपेदिरे ॥ १०

अर्थ—कई अन्यमती जन्म जरा मरणसे व्याप्त, रागद्वेषादि विषसे मूर्छित, सर्व साधारण मनुष्यके समान क्षुधा तृषा आदि १८ दोषोंसे आच्छादित ॥ ९ ॥ तथा अनेक व्यसनों (कष्ट आपदाओं) कर सहित, संयम और ज्ञानसे रहित, ऐसे आत्माको नाममात्रसे सर्वज्ञ मानते हैं ॥ १० ॥

इतरोऽपि नरः षड्भिः प्रमाणैर्वस्तुसंचयम् ।
परिच्छन्दन्मतः कैश्चित्सर्वज्ञः सोऽपि नेक्ष(ष्य)ते ॥ ११ ॥

अर्थ—तथा कईने प्रत्यक्ष १ अनुमान २ उपमान ३ आगम ४ अर्थापत्ति ५ और अभाव ६ इन छे प्रमाणोंसे वस्तुके समूहको जानते हुए अन्य पुरुषको भी सर्वज्ञ माना है सो वह भी सर्वज्ञ नहीं है ॥ ११ ॥

इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं,—

अतः सम्यक्स विज्ञेयः परित्यज्यान्यशासनम् ।
युक्त्यागमविभागेन ध्यातुकामैर्मनीषिभिः ॥ १२ ॥

अर्थ—इस कारण जो सर्वज्ञ भगवान्का ध्यान करनेके इच्छुक बुद्धिमान् पुरुष हैं उनको चाहिये कि, अन्य मतोंको छोड़कर, युक्ति और आगमसे निर्णय करके, सर्वज्ञको सम्यक् प्रकारसे निश्चय करैं ॥ १२ ॥

युक्त्या वृषभसेनाद्यैर्निर्द्धूयासाधुवल्गितम् ।
यस्य सिद्धिः सतां मध्ये लिखिता चन्द्रमण्डले ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस सर्वज्ञकी सिद्धि वृषभसेन आदि गणधर और आचार्योंने युक्तिसे असाधु दुर्जनोंके कथनका खंडन करके, सत्पुरुषोंके बीचमें निर्मल चन्द्रमण्डलमें लिखी है ॥ १३ ॥

अनेकवस्तुसंपूर्णं जगद्यस्य चराचरम् ।
स्फुरत्यविकलं बोधविशुद्धादर्शमण्डले ॥ १४ ॥
स्वभावजमसंदिग्धं निर्दोषं सर्वदोदितम् ।
यस्य विज्ञानमत्यक्षं लोकालोकं विसर्पति ॥ १५ ॥
यस्य विज्ञानघर्मांशु--प्रभाप्रसरपीडिताः ।
क्षणादेव क्षयं यान्ति खद्योता इव दुर्नयाः ॥ १६ ॥
पादपीठीकृताशेषत्रिदशेन्द्रसभाजिरम् ।
योगिगम्यं जगन्नाथं गुणरत्नमहार्णवम् ॥ १७ ॥
पवित्रितधरापृष्ठं समुद्धृतजगत्त्रयम् ।
मोक्षमार्गप्रणेतारमनन्तं पुण्यशासनम् ॥ १८ ॥
भामण्डलनिरुद्धार्कचन्द्रकोटिसमप्रभम् ।
शरण्यं सर्वगं शान्तं दिव्यवाणीविशारदम् ॥ १९ ॥
अक्षोरगशकुन्तेशं सर्वाभ्युदयमन्दिरम् ।
दुःखार्णवपतत्सत्त्वदत्तहस्तावलम्बनम् ॥ २० ॥
मृगेन्द्रविष्टरारूढं मारमातङ्गघातकम् ।
इन्दुत्रयसमोद्दामच्छत्रत्रयविराजितम् ॥ २१ ॥
हंसालीपातलीलाढ्यचामरव्रजवीजितम् ।
वीततृष्णं जगन्नाथं वरदं विश्वरूपिणम् ॥ २२ ॥
दिव्यपुष्पानकाशोकराजितं रागवर्जितम् ।
प्रातिहार्यमहालक्ष्मीलक्षितं परमेश्वरम् ॥ २३ ॥
नवकेवललब्धिश्रीसंभवं स्वात्मसंभवम् ।
तुर्यध्यानमहावह्नौ हुतकर्मेन्धनोत्करम् ॥ २४ ॥
रत्नत्रयसुधास्यन्दमन्दीकृतभवश्रमम् ।
वीतसंगं जितद्वैतं शिवं शान्तं सनातनम् ॥ २५ ॥
अर्हन्तमजमव्यक्तं कामदं कामनाशकम् ।
पुराणपुरुषं देवं देवदेवं जिनेश्वरम् ॥ २६ ॥
विश्वनेत्रं जगद्वन्द्यं योगिनाथं महेश्वरम् ।
ज्योतिर्मयमनाद्यन्तं त्रातारं भुवनेश्वरम् ॥ २७ ॥
योगीश्वरं तमीशानमादिदेवं जगद्गुरुम् ।
अनन्तमच्युतं शान्तं भास्वन्तं भूतनायकम् ॥ २८ ॥

---

१ 'चतुर्मुखम्' इत्यपि पाठः ।

सन्मतिं सुगतं सिद्धं जगज्ज्येष्ठं पितामहम् ।
महावीरं मुनिश्रेष्ठं पवित्रं परमाक्षरम् ॥ २९ ॥
सर्वज्ञं सर्वदं सार्वं वर्धमानं निरामयम् ।
नित्यमव्ययमव्यक्तं परिपूर्णं पुरातनम् ॥ ३० ॥
इत्यादिसान्वयानेकपुण्यनामोपलक्षितम् ।
स्मर सर्वगतं देवं वीरममरनायकम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि–हे मुने, तू आगे लिखे हुए प्रकारसे सर्वज्ञ देवका स्मरण कर–कि जिस सर्वज्ञ देवके ज्ञानरूप निर्मल दर्पणके मंडलमें अनेक वस्तुओंसे भरा हुआ चराचर यह जगत प्रकाशमान है ॥ १४ ॥ तथा जिसका ज्ञान स्वभावहींसे उत्पन्न हुआ है, संशयादिक रहित है, निर्दोष है, सदाकाल उदयरूप है, तथा इन्द्रियोंका उल्लंघन करके प्रवर्त्तनेवाला है और लोकालोकमें सर्वत्र विस्तरता है ॥ १५ ॥ तथा खद्योत (जुगनू) के समान जिसके विज्ञानरूप सूर्यकी प्रभासे पीडित हुये दुर्नऍं (एकान्त पक्ष) क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं ॥ १६ ॥ तथा जिसने समस्त इंद्रोंकी सभाके स्थानको सिंहासनरूप किया है तथा योगीगणोंसे गम्य है, जगतका नाथ है, गुणरूपी रत्नोंका महान् समूह है ॥ १७ ॥ तथा पवित्र किया है पृथिवीतल जिसने, तथा उद्धरण किया है तीन जगत जिसने ऐसा और मोक्षमार्गका निरूपण करनेवाला है, अनन्त है और जिसका शासन पवित्र है ॥ १८ ॥ तथा जिसने भामंडलसे सूर्यको आच्छादित किया है, कोटि चंद्रमाकी समान प्रभाका धारक है, जो जीवोंको शरणभूत है, सर्वत्र जिसके ज्ञानकी गति है, शान्त है, दिव्यवाणीमें प्रवीण है ॥ १९ ॥ तथा इन्द्रियरूपी सर्पोंको गरुडसमान है, समस्त अभ्युदयका मंदिर है, तथा दुःखरूप समुद्रमें पड़ते हुए जीवोंको हस्तावलंबन देनेवाला है ॥ २० ॥ तथा सिंहासनपर स्थित है, कामरूप हस्तीका घातक है, तथा तीन चन्द्रमाकी समान मनोहर तीन छत्र सहित विराजमान है ॥ २१ ॥ तथा हंसपंक्तिके पड़नेकी लीलापूर्ण चमरोंके समूहसे वीजित है, तृष्णारहित है, जगतका नाथ है, वरका देनेवाला और विश्वरूपी है । अर्थात् ज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंके रूप देखनेवाला है ॥ २२ ॥ तथा दिव्य पुष्पवृष्टि, आनक अर्थात् दुंदुभि वाजों तथा अशोक वृक्षोंसहित विराजमान है, तथा रागरहित (वीतराग) है, प्रातिहार्य महालक्ष्मीसे चिह्नित है, परमऐश्वर्यकरके सहित (परमेश्वर) है ॥ २३ ॥ तथा अनंतज्ञान १, दर्शन २, दान ३, लाभ ४, भोग ५, उपभोग ६, वीर्य ७, क्षायिकसम्यक्त्व ८, और चारित्र ९, इन नवलब्धिरूपी लक्ष्मीकी जिससे उत्पत्ति है, तथा अपने आत्मासे ही उत्पन्न है, और शुक्लध्यानरूपी महान् अग्निमें होम दिया है कर्मरूपी इन्धनका समूह जिसने ऐसा है ॥ २४ ॥ तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

सम्यक् चारित्ररूप अमृतके झरनोंसे संसारके खेदको दूर करनेवाला है, परिग्रहरहित है, जीत लिया है द्वैतभाव जिसने ऐसा है, कल्याणस्वरूप, शान्तरूप तथा सनातन अर्थात् नित्यरूप है ॥ २५ ॥ तथा अरहन्त है, अजन्मा है, अव्यक्त है अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं है तथा कामद (मनोवांछित दाता) है, कामका नाशक है, पुराण पुरुष है, देव है, देवोंका देव है, जिनेश्वर है ॥ २६ ॥ तथा समस्त लोकको देखने वा दिखानेको नेत्र समान है, जगतके वंदने योग्य है, योगियोंका नाथ है, महेश्वर है, ज्योतिर्मय (ज्ञान प्रकाशमय) है, आदि अंतरहित है, सबका रक्षक है, तीन भुवनका ईश्वर है ॥ २७ ॥ योगीश्वर है, ईशान है, आदिदेव है, जगद्गुरु है, अनन्त है, अच्युत है, शान्त है, तेजस्वी है, भूतनायक है, ॥ २८ ॥ सन्मति है, सुगत है, सिद्ध है, जगत्में ज्येष्ठ है, पितामह है, महावीर है, मुनिश्रेष्ठ है, पवित्र है, परमाक्षर है ॥ २९ ॥ सर्वज्ञ है, सबका दाता है, सर्वहितैषी है, वर्द्धमान है, निरामय (रोगरहित) है, नित्य है, अव्यय (नाशरहित) है, अव्यक्त है, परिपूर्ण है, पुरातन है ॥ ३० ॥ इत्यादिक अनेक सार्थ पवित्र नाम सहित, सर्वगत, देवोंका नायक, सर्वज्ञ जो श्रीवीरतीर्थंकर है उसको हे मुने, तू स्मरण कर ॥ ३१ ॥

इस प्रकार दोषरहित, सर्वज्ञ देव, अरहंत जिनदेवका ही ध्यान करना चाहिये। अन्यमती गुणरहित दोषसहितको सर्वज्ञ कहते हैं सो नाममात्र है, कल्पित है, वह सर्वज्ञ ध्यान करने योग्य नहीं है.

अनन्यशरणं साक्षात्तत्संलीनैकमानसः ।
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतां गतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त सर्वज्ञ देवका ध्यान करनेवाला ध्यानी अन्य शरणसे रहित हो, साक्षात् उसमें ही संलीन है मन जिसका ऐसा हो, तन्मयताको पाकर, उसी स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

यमाराध्य शिवं प्राप्ता योगिनो जन्मनिस्पृहाः ।
यं स्मरन्त्यनिशं भव्याः शिवश्रीसंगमोत्सुकाः ॥ ३३ ॥
यस्य वागमृतस्यैकामासाद्य कणिकामपि ।
शाश्वते पथि तिष्ठन्ति प्राणिनः प्रास्तकल्मषाः ॥ ३४ ॥
देवदेवः स ईशानो भव्याम्भोजैकभास्करः ।
ध्येयः सर्वात्मना वीरः निश्चलीकृत्य मानसम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जिस सर्वज्ञ देवको आराधन करके संसारसे निस्पृह मुनिगण मोक्षको प्राप्त हुए हैं तथा मोक्षलक्ष्मीके संगममें उत्सुक भव्यजीव जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं ॥ ३३ ॥ तथा जिनके वचनरूपी अमृतकी एक कणिका मात्रको पाकर, संसारी जीव कल्मष (मिथ्यात्व

पापों) को नष्ट करके शाश्वत मोक्षमार्गमें तिष्ठते हैं ॥ ३४ ॥ सो देवोंका देव, ईशान, भव्य जीवरूप कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्य समान ऐसा श्रीवीरजिनेन्द्र मनको निश्चल करके ध्यान करने योग्य (ध्येय) है. अन्य कल्पित ध्येय (ध्यान करने योग्य) नहीं है ॥ ३५ ॥

तस्मिन्निरन्तराभ्यासवशात्संजातनिश्चलाः ।
सर्वावस्थासु पश्यन्ति तमेव परमेष्ठिनम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—उस सर्वज्ञ देवके ध्यानमें अभ्यास करनेके प्रभावसे निश्चल हुए योगीगण सर्व अवस्थाओंमें उसी परमेष्ठीको देखते हैं ॥ ३६ ॥

तदालम्ब्य परं ज्योतिस्तद्गुणग्रामरञ्जितः ।
अविक्षिप्तमना योगी तत्स्वरूपमुपाश्नुते ॥ ३७ ॥

अर्थ—योगी (ध्यानी मुनि) उस सर्वज्ञ देव परमज्योतिको आलंबन करके उसके गुणग्रामोंमें रंजायमान होता हुआ मनमें विक्षेपरहित होकर, उसी स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

इत्थं तद्भावनानन्दसुधास्यन्दाभिनन्दितः ।
न हि स्वप्नाद्यवस्थासु ध्यायन्प्रच्यवते मुनिः ॥ ३८ ॥

अर्थ—इस प्रकार उस सर्वज्ञ देवकी भावनासे उत्पन्न हुए आनंदरूप अमृतके वेगसे आनंदरूप हुआ मुनि स्वप्नादिक अवस्थाओंमें भी ध्यानसे च्युत नहीं होता ॥ ३८ ॥

अथवा इस प्रकार है—

तस्य लोकत्रयैश्वर्यं ज्ञानराज्यं स्वभावजम् ।
ज्ञानत्रयजुषां मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो उस सर्वज्ञ देवके तीन लोकका ईश्वरत्व है, स्वभावसे उत्पन्न ज्ञानका राज्य है वह मति श्रुत अवधि इन तीन ज्ञानसहित योगी मुनियोंके भी अगोचर है ऐसा मैं मानता हूं ॥ ३९ ॥

परन्तु कुछ विशेष है सो कहते हैं,—

साक्षान्निर्विषयं कृत्वा साक्षं चेतः सुसंयमी ।
नियोजयत्यविश्रान्तं तस्मिन्नेव जगद्गुरौ ॥ ४० ॥

अर्थ—यद्यपि सर्वज्ञ देवका रूप छद्मस्थ ज्ञानीके अगोचर है तथापि इन्द्रिय और मनको अन्य विषयोंसे हटाकर, सुसंयमी मुनि निरन्तर साक्षात् उसी भगवान्के स्वरूपमें अपने मनको लगाता है ॥ ४० ॥

तद्गुणग्रामसंलीनमानसस्तद्गताशयः ।
तद्भावभावितो योगी तन्मयत्वं प्रपद्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ—उस परमात्मामें मन लगावे तब उसके ही गुणोंमें लीन चित्त होकर, उसमें ही चित्तको प्रवेश करके उसी भावसे भावित योगी मुनि उसीकी तन्मयताको प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

यदाभ्यासवशात्तस्य तन्मयत्वं प्रजायते ।
तदात्मानमसौ ज्ञानी सर्वज्ञीभूतमीक्षते ॥ ४२ ॥

अर्थ—जब अभ्यासके वशसे उस मुनिके उस सर्वज्ञके स्वरूपसे तन्मयता उत्पन्न होती है उस समय वह मुनि अपने असर्वज्ञ आत्माको सर्वज्ञ स्वरूप देखता है ॥ ४२ ॥

तब किस प्रकार मानता है सो कहते हैं,—

एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः ।
तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपनेको देखता है, उस समय ऐसा मानता है कि, यह वही सर्वज्ञ देव है, वही तत्स्वरूपताको प्राप्त हुआ मैं हूं, इस कारण वही सर्वका देखनेवाला मैं हूं,, अन्य मैं नहीं हूं ऐसा मानता है ॥ ४३ ॥

उक्तं च ।

"येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ १ ॥

अर्थ—जिस जिस भावसे यह यंत्रवाहक (जीव) जुड़ता है उस २ भावसे तन्मयताको प्राप्त होता है—जैसे निर्मल स्फटिक मणि जिस वर्णसे युक्त होता है वैसा ही वर्ण स्वरूप हो जाता है ॥ १ ॥"

इस प्रकार अन्य शास्त्रमें कहा है, तथा अन्य प्रकार भी कहते हैं,—

भव्यतैव हि भूतानां साक्षान्मुक्तेर्निबन्धनम् ।
अतः सर्वज्ञता भव्ये भवन्ती नात्र शङ्क्यते ॥ ४४ ॥

अर्थ—अथवा इस प्रकार है कि जीवोंके भव्यत्व भाव है सो साक्षात् मुक्तिका कारण है इस कारण भव्य प्राणीमें सर्वज्ञता होनेमें संदेह नहिं करना अर्थात् भव्यके निःसंदेह सर्वज्ञता होती ही है ॥ ४४ ॥

अयमात्मा स्वसामर्थ्याद्विशुद्ध्यति न केवलम् ।
चालयत्यपि संक्रुद्धो भुवनानि चतुर्दश ॥ ४५ ॥

अर्थ—यह आत्मा अपने सामर्थ्यसे केवल विशुद्ध ही नहिं होता है किन्तु

रूप होता है तो चौदह भुवनोंको भी (लोकोंको भी) चला देता है. भावार्थ--आत्माकी अचिन्त्य सामर्थ्य है कि जो आप सर्वज्ञके ध्यानसे तन्मय होता है तो सर्वज्ञ हो जाता है और किसी समय यदि क्रोधसे तन्मय हो जाय तो चौदह भुवनोंको चला देता है ॥ ४५ ॥

स्रग्धरा ।

त्रैलोक्यानन्दबीजं जननजलनिधेर्यानपात्रं पवित्रं
लोकालोकप्रदीपं स्फुरदमलशरच्चन्द्रकोटिप्रभाढ्यम् ।
कस्यामप्यग्रकोटौ जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठं
देवं विश्वैकनाथं शिवमजमनघं वीतरागं भजस्व ॥ ४६ ॥

अर्थ—हे मुने, तू वीतराग देवका ही ध्यान कर. कैसे हैं वीतराग भगवान् ? तीनो लोकोंके जीवोंको आनन्दके कारण हैं, संसाररूप समुद्रके पार होनेके लिये जहाज तुल्य हैं तथा पवित्र अर्थात् द्रव्यभाव मलसे रहित हैं तथा लोक अलोकके प्रकाश करनेके लिये दीपकके समान हैं और प्रकाशमान तथा निर्मल ऐसे जो करोड़ शरदके चंद्रमा उनकी प्रभासे भी अधिक प्रभाके धारक हैं तथा किसी मुख्य कोटिमें समस्त जगतका उल्लंघन कर पाई है प्रतिष्ठा जिन्होंने ऐसे हैं, जगतके अद्वितीय नाथ हैं, शिवस्वरूप हैं, अजन्मा हैं, पापरहित हैं, ऐसे वीतराग भगवान्का ध्यान करो ॥ ४६ ॥

इस प्रकार रूपस्थ ध्यानका वर्णन किया । इसमें अरहंत सर्वज्ञ सर्व अतिशयोंसे पूर्णका ध्यान करना कहा है. उसीके अभ्याससे तन्मय होकर, उसके समान अपने आत्माको ध्यावना, जिससे वैसाही हो जाता है. इस प्रकार वर्णन किया ।

सोरठा ।

सर्वविभवजुत जान, जे ध्यावैं अरहंतकूं ।
मन वसि करि सति मान, ते पावैं तिस भावकूं ॥ ३९ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे रूपस्थधर्मध्यानवर्णनं नाम एकोनचत्वारिंशं प्रकरणम् ॥ ३९ ॥

---

(१) नरक ७, भवनवासी देवोंका स्थान १, ज्योतिश्चक्र १, मध्यलोक १, सोलह स्वर्ग १, नवग्रैवेयक १, नव अनुदिश १, पंच अनुत्तर १ इस प्रकार चौदह भुवन हैं। अन्यमती चौदह भुवन अन्य प्रकार मानते हैं ।

अथ चत्वारिंशं प्रकरणम् ।

इस प्रकरणमें रूपातीत ध्यानका वर्णन करते हैं. सो, प्रथम ही असमीचीन ध्यानका निषेध करते हैं,—

वीतरागं स्मरन्योगी वीतरागो विमुच्यते ।
रागी सरागमालम्ब्य क्रूरकर्माश्रितो भवेत् ॥ १ ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला योगी वीतरागका ध्यान करता हुआ वीतराग होकर, कर्मोंसे छूट जाता है। और रागीको अवलंबन करके, ध्यान करनेसे रागी होकर, क्रूर कर्मोंके आश्रित हो जाता है अर्थात् अशुभ कर्मोंसे बँध जाता है ॥ १ ॥

मन्त्रमण्डलमुद्रादिप्रयोगैर्ध्यातुमुद्यतः ।
सुरासुरनरव्रातं क्षोभयत्यखिलं क्षणात् ॥ २ ॥

अर्थ—यदि ध्यानी मुनि मन्त्र, मंडल, मुद्रादि प्रयोगोंसे ध्यान करनेमें उद्यत हो तो समस्त सुर, असुर और मनुष्योंके समूहको क्षणमात्रमें क्षोभित करसकता है ॥ २ ॥

क्रुद्धस्याप्यस्य सामर्थ्यमचिन्त्यं त्रिदशैरपि ।
अनेकविक्रियासारध्यानमार्गावलम्बिनः ॥ ३ ॥

अर्थ—अनेक प्रकारकी विक्रियारूप असार ध्यानमार्गको अवलंबन करनेवाले क्रोधीके भी ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिसका देव भी चिन्तवन नहिं कर सकते ॥ ३ ॥

उपजातिः ।

बहूनि कर्माणि मुनिप्रवीरैर्विद्यानुवादात्प्रकटीकृतानि ।
असंख्यभेदानि कुतूहलार्थं कुमार्गकुध्यानगतानि सन्ति ॥ ४ ॥

अर्थ—ज्ञानी मुनियोंने विद्यानुवादपूर्वसे असंख्य भेदवाले अनेक प्रकारके विद्वेषण उच्चाटन आदि कर्म कौतूहलके लिये प्रकट किये हैं। परन्तु वे सब कुमार्ग और कुध्यानके अन्तर्गत हैं ॥ ४ ॥

उपेन्द्रवज्रा ।

असावनन्तप्रथितप्रभावः स्वभावतो यद्यपि यन्त्रनाथः ।
नियुज्यमानः स पुनः समाधौ करोति विश्वं चरणाग्रलीनम् ॥५॥

अर्थ—यद्यपि यह आत्मा स्वभावसे ही अनन्त और जगत्प्रसिद्ध प्रभावका धारक है। फिर समाधिमें (ध्यानमें) जोड़ा हुआ हो तो यह समस्त जगतको अपने चरणोंमें लीन कर लेता है ॥ ५ ॥

स्वप्नेऽपि कौतुकेनापि नासद्ध्यानानि योगिभिः ।
सेव्यानि यान्ति बीजत्वं यतः सन्मार्गहानये ॥ ६ ॥

अर्थ—परन्तु योगी मुनियोंको चाहिये कि असमीचीन ध्यानोंको कौतुकसे स्वप्नमें भी न विचारैं। क्योंकि, असमीचीन ध्यान सन्मार्गकी हानिके लिये बीज स्वरूप (कारण) है। भावार्थ—खोटे ध्यानसे खोटा मार्ग ही चलता है, इस कारण मुनि जनोंको बुरा ध्यान कदापि नहिं करना चाहिये ॥ ६ ॥

सन्मार्गात्प्रच्युतं चेतः पुनर्वर्षशतैरपि ।
शक्यते न हि केनापि व्यवस्थापयितुं पथि ॥ ७ ॥

अर्थ—खोटे ध्यानके कारण सन्मार्गसे विचलित हुए चित्तको फिर सैकडों वर्षोंमें भी कोई सन्मार्गमें लानेको समर्थ नहिं हो सकता; इस कारण खोटा ध्यान कदापि नहिं करना चाहिये ॥ ७ ॥

असद्ध्यानानि जायन्ते स्वनाशायैव केवलम् ।
रागाद्यसद्ग्रहावेशात्कौतुकेन कृतान्यपि ॥ ८ ॥

अर्थ—असमीचीन (खोटे) ध्यान कौतुक मात्रसे किये हुए भी रागादिरूप खोटे ग्रहोंके आवेशसे केवल अपने नाशके लिये ही होते हैं ॥ ८ ॥

निर्भरानन्दसन्दोहपदसंपादनक्षमम् ।
मुक्तिमार्गमतिक्रम्य कः कुमार्गे प्रवर्त्तते ॥ ९ ॥

अर्थ—इसकारण अतिशयरूप आनंदके समूहके स्थानको उत्पन्न करनेमें समर्थ ऐसे मोक्षमार्गको (समीचीन ध्यानको) छोड़कर ऐसा कौन है जो कुमार्गमें (खोटे ध्यानमें) प्रवृत्ति करै, ज्ञानवान् तो कदापि नहिं करै ॥ ९ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

क्षुद्रध्यानपरप्रपञ्चचतुरा रागानलोद्दीपिताः
मुद्रामण्डलयन्त्रमन्त्रकरणैराराधयन्त्याहृताः ।
कामक्रोधवशीकृतानिह सुरान् संसारसौख्यार्थिनो
दुष्टाशाभिहताः पतन्ति नरके भोगार्तिभिर्वञ्चिताः ॥ १० ॥

अर्थ—जो पुरुष खोटे ध्यानके उत्कृष्ट प्रपंचोंको विस्तार करनेमें चतुर हैं वे इस लोकमें रागरूप अग्निसे प्रज्वलित होकर मुद्रा, मंडल, यंत्र, मंत्र, आदि साधनोंके द्वारा कामक्रोधसे वशीभूत कुदेवोंका आदरसे आराधन करते हैं। सो, सांसारिक सुखके चाहनेवाले और दुष्ट आशासे पीड़ित तथा भोगोंकी पीड़ासे वंचित होकर वे नरकमें पड़ते हैं, इस कारण कहते हैं कि ॥ १० ॥—

तद्ध्येयं तदनुष्ठेयं तद्विचिन्त्यं मनीषिभिः ।
यज्जीवकर्मसंबन्धविश्लेषायैव जायते ॥ ११ ॥

अर्थ—वही बुद्धिमानोंको ध्यान करने योग्य है और वही अनुष्ठान व चिन्तवन करने योग्य है जो कि जीव और कर्मोंके संबंधको दूर करनेवाला ही हो । अर्थात् जिस कार्यसे कर्मोंसे मोक्ष हो वही कार्य करना योग्य है ॥ ११ ॥

फिर भी कुछ विशेषतासे कहते हैं,—

स्वयमेव हि सिद्ध्यन्ति सिद्धयः शान्तचेतसाम् ।
अनेकफलसंपूर्णा मुक्तिमार्गावलम्बिनाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मुनि शान्तचित्त हैं और मुक्तिमार्गके अवलम्बन करनेवाले हैं उनके अनेक प्रकारके फलोंसे भरी हुई सिद्धियां स्वयमेव सिद्ध हो जाती हैं । **भावार्थ**—समीचीन ध्यानसे नाना प्रकारकी ऋद्धियें विना चाहे ही सिद्ध हो जाती हैं । फिर, खोटे आशयसे खोटे ध्यान करनेमें क्या लाभ है ? ॥ १२ ॥

संभवन्ति न चाभीष्टसिद्धयः क्षुद्रयोगिनाम् ।
भवत्येव पुनस्तेषां स्वार्थभ्रंशोऽनिवारितः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो खोटे ध्यान करनेवाले क्षुद्र योगी हैं उनको इष्ट सिद्धियां कदापि नहिं होतीं; किन्तु उनके उलटी स्वार्थकी अनिवार्य हानि ही होती है ॥ १३ ॥

भवप्रभवसंबन्धनिरपेक्षा मुमुक्षवः ।
न हि स्वप्नेऽपि विक्षिप्तं मनः कुर्वन्ति योगिनः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो मोक्षाभिलाषी योगीश्वर मुनि हैं वे जिससे संसारकी उत्पत्ति हो ऐसे संबंधोंसे निरपेक्ष रहते हैं । वे अपने मनको स्वप्नमें भी चलायमान नहिं करते हैं । **भावार्थ**—उनको किसी प्रकारकी ऋद्धि प्राप्त हो, कोई देवता आकर उनकी महिमा करै तथा किसीको ऋद्धिवान् देखें तौ भी वे मोक्षमार्गसे कदापि अपने मनको च्युत नहिं करते ॥ १४ ॥

अब रूपातीत ध्यानका वर्णन करते हैं,—

अथ रूपे स्थिरीभूतचित्तः प्रक्षीणविभ्रमः ।
अमूर्त्तमजमव्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते ततः ॥ १५ ॥

अर्थ—इसके पश्चात् रूपस्थ ध्यानमें स्थिरीभूत है चित्त जिसका तथा नष्ट हो गये हैं विभ्रम जिसके ऐसा ध्यानी अमूर्त्त, अजन्मा, इन्द्रियोंसे अगोचर, ऐसे परमात्माके ध्यानका प्रारंभ करता है ॥ १५ ॥

चिदानन्दमयं शुद्धममूर्त्तं परमाक्षरम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें ध्यानी मुनि चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त, परमाक्षररूप आत्माको आत्मा करि ही स्मरण करै अर्थात् ध्यावै सो रूपातीत ध्यान माना गया है ॥ १६ ॥

वदन्ति योगिनो ध्यानं चित्तमेवमनाकुलम् ।
कथं शिवत्वमापन्नमात्मानं संस्मरेन्मुनिः ॥ १७ ॥

अर्थ—योगीश्वर चित्तके आकुलतारहित होने अर्थात् क्षोभरहित होनेको ही ध्यान कहते हैं। तो कोई मुनि मोक्षप्राप्त आत्माका स्मरण कैसे करै ? **भावार्थ**—जब ध्येय और ध्यानी पृथक् पृथक् है तो चित्तको क्षोभ अवश्य होगा ॥ १७ ॥

इसका समाधान इस प्रकार है:—

विवेच्य तद्गुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च ।
अनन्यशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥ १८ ॥

अर्थ—प्रथम तो उस परमात्माके गुणसमूहोंको पृथक् २ विचारै और फिर उन गुणोंके समुदायरूप परमात्माको गुणगुणीके अभिन्न भावसे विचारै और फिर किसी अन्यके शरणसे रहित होकर; ज्ञानी पुरुष उसी परमात्मामें लीन हो जावे। **भावार्थ**—इस ध्यानमें प्रथम तो गुण और गुणीका पृथक्रूपसे विचार है परन्तु अन्तमें परमात्मामें लीन होनेसे ध्येय और ध्यानी पृथक् रूप न रहेंगे ॥ १८ ॥

तद्गुणग्रामसम्पूर्णं तत्स्वभावैकभावितः ।
कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ॥ १९ ॥

अर्थ—परमात्माके स्वभावसे एकरूप भावित अर्थात् मिला हुआ ध्यानी मुनि उस परमात्माके गुणसमूहोंसे पूर्णरूप अपने आत्माको करके, फिर उसे परमात्मामें योजन करै। ऐसा विधान है ॥ १९ ॥

द्वयोर्गुणैर्मतं साम्यं व्यक्तिशक्तिव्यपेक्षया ।
विशुद्धेतरयोः स्वात्मतत्त्वयोः परमागमे ॥ २० ॥

अर्थ—परमागममें विशुद्ध अर्थात् कर्मरहित और उससे इतर अर्थात् कर्मसहित इन दोनों स्वात्मतत्त्वोंमें शक्ति और व्यक्तिकी अपेक्षासे गुणोंसे समानता मानी है। **भावार्थ**—जब शक्ति और व्यक्तिको भिन्न २ मानते हैं तब तो कर्मरहित विशुद्ध आत्मा व्यक्तिरूपसे परमात्मा है और कर्मसहित आत्मा शक्तिरूपसे परमात्मा है। और यदि शक्ति और व्यक्तिको अभिन्न मानते हैं तो दोनोंही समान हैं ॥ २० ॥

अब शक्ति और व्यक्ति भिन्नाभिन्न माननेमें अविरोधका हेतु दिखलाते हैं—

यः प्रमाणनयैर्नूनं स्वतत्त्वमवबुद्ध्यते ।
बुद्ध्यते परमात्मानं स योगी वीतविभ्रमः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो मुनि प्रमाण और नयोंके द्वारा अपने आत्मतत्त्वको जानता है वही योगी विना किसी सन्देहके परमात्माको जानता है । **भावार्थ**—जबतक प्रमाण और नयोंका स्वरूप तथा इनके द्वारा आत्माका स्वरूप न जाना जायगा तबतक कर्मसहित ही आत्मा शक्तिकी अपेक्षासे कर्मरहित है यह विरोध भी दूर न हो सकेगा । इन दोनोंका विरोध दूर करनेवाला स्याद्वाद है । इसलिये स्याद्वादको समझ कर, फिर यदि इन दोनोंका विचार करते हैं, तो कोई विरोध नहीं रहता और न भ्रम ही रहता है ॥ २१ ॥

अब कर्मरहित परमात्माका स्वरूप कहते हैं कि, जिसके द्वारा यह योगी अपने आत्माको रूपातीत ध्यानमें चिन्तवन करैः—

व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम् ।
चरमाङ्गात्कियन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥ २२ ॥
लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम् ।
पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्त्तं च चिन्तयेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—आकाशके आकार अर्थात् अमूर्त, अनाकार अर्थात पुद्गलके आकारसे रहित, निष्पन्न अर्थात् फिर जिसमें किसी प्रकारकी हीनाधिकता न हो, शान्त अर्थात क्षोभरहित, अच्युत अर्थात् जो अपने रूपसे कभी च्युत न हो, चरम शरीरसे किञ्चित् न्यून अर्थात जिस शरीरसे मोक्ष हुआ है उस शरीरसे नासिकादि रन्ध्र प्रदेशोंसे हीन, अपने घनीभूत प्रदेशोंसे स्थित तथा लोकाकाशके अग्रभागमें स्थित, शिवीभूत अर्थात पाहिले अकल्याणरूप थे अब कल्याणरूप हुए ऐसे, अनामय अर्थात रोगादिकसे सर्वथा रहित और पुरुषाकारको प्राप्त होकर भी अमूर्त अर्थात् आकार तो पुरुषका है परन्तु तौ भी उसमें रूप रस गंध स्पर्शादिक नहीं हैं ऐसे परमात्माका ध्यान इस रूपातीत ध्यानमें करै ॥ २२ ॥ २३ ॥

निष्कलस्य विशुद्धस्य निष्पन्नस्य जगद्गुरोः ।
चिदानन्दमयस्योच्चैः कथं स्यात्पुरुषाकृतिः ॥ २४ ॥

अर्थ—जो परमातमा निष्कल अर्थात् देहरहित है, विशुद्ध अर्थात् द्रव्यभावरूप दोनों मलोंसे रहित है, निष्पन्न अर्थात् जिसमें कुछ हीनाधिकता होनेवाली नहीं है, जो जगत्का गुरु है और जो चिदानन्द स्वरूप अर्थात् चैतन्य और आनन्द स्वरूप है, महान् है, ऐसे परमात्माके पुरुषाकृति अर्थात् पुरुषका आकार कैसे हो सकता है ? ॥ २४ ॥

इसका समाधान—

विनिर्गतमधूच्छिष्टप्रतिमे मूषिकोदरे ।
यादृग्गगनसंस्थानं तदाकारं स्मरेद्विभुम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जिससे मोम निकल गया है ऐसी मूषिकाके उदरमें जैसा आकाशका आकार है तदाकार परमात्मा प्रभुका ध्यान करै ॥ २५ ॥

इसीका दूसरा दृष्टान्त कहते हैं।

सर्वावयवसम्पूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम्।
विशुद्धादर्शसङ्क्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम् ॥ २६ ॥

अर्थ—समस्त अवयवोंसे पूर्ण और समस्त लक्षणोंसे लक्षित ऐसे निर्मल दर्पणमें पड़ते हुए प्रतिबिम्बके समान प्रभावाले परमात्माका चिन्तवन करै। **भावार्थ**—जैसे निर्मल दर्पणमें पुरुषके समस्त अवयव और लक्षण दिखाई पड़ते हैं उसी तरह परमात्माके प्रदेश शरीरके अवयवरूप परिणत हैं। और उनमें समस्त लक्षणोंकी तरह समस्त गुण रहते हैं ॥ २६ ॥

इत्यसौ सन्तताभ्यासवशात्संजातनिश्चयः।
अपि स्वप्नाद्यवस्थासु तमेवाध्यक्षमीक्षते ॥ २७ ॥

अर्थ—इस प्रकार जिसके निरन्तर अभ्यासके वशसे निश्चय हो गया है ऐसा ध्यानी स्वप्नादिक अवस्थामें भी उसी परमात्माको प्रत्यक्ष देखता है। **भावार्थ**—दृढ अभ्याससे स्वप्नादिकमें भी परमात्मा ही दिखाई पड़ता है ॥ २७ ॥

सोऽहं सकलवित्सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः।
परमात्मा परंज्योतिर्विश्वदर्शी निरञ्जनः ॥ २८ ॥
तदासौ निश्चलोऽमूर्त्तो निष्कलङ्को जगद्गुरुः।
चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः ॥ २९ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे जब परमात्माका निश्चय हो जाता है और दृढ अभ्याससे उसका प्रत्यक्ष होने लगता है उस समय परमात्माका चिन्तवन इस प्रकार करै कि ऐसा परमात्मा मैं ही हूं, मैं ही सर्वज्ञ हूं, सर्वव्यापक हूं, सिद्ध हूं, तथा मैं ही साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य था। संसारसे रहित, परमात्मा, परमज्योतिस्वरूप, समस्त विश्वका देखनेवाला मैं ही हूं। मैं ही निरंजन हूं। ऐसा परमात्माका ध्यान करै। उस समय अपना स्वरूप निश्चल, अमूर्त्त अर्थात् शरीररहित, निष्कलङ्क, जगत्का गुरु, चैतन्यमात्र और ध्यान तथा ध्याताके भेदरहित ऐसा अतिशय स्फुरायमान होता है ॥ २८ ॥ २९ ॥

पृथग्भावमतिक्रम्य तथैक्यं परमात्मनि।
प्राप्नोति स मुनिः साक्षाद्यथान्यत्वं न बुध्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—यह मुनि जिस समय पूर्वोक्त प्रकारसे परमात्माका ध्यान करता है उस समय परमात्मामें पृथक् भाव अर्थात् अल्पपनेका उल्लंघन करके साक्षात् एकताको इस

तरह प्राप्त हो जाता है कि, जिससे पृथक्पनेका बिल्कुल भान नहीं होता। **भावार्थ**—उस समय ध्याता और ध्येयमें द्वैतभाव नहीं रहता ॥ ३० ॥

उक्तं च ।

" निष्कलः परमात्माहं लोकालोकावभासकः ।
विश्वव्यापी स्वभावस्थो विकारपरिवर्जितः ॥ १ ॥

अर्थ—निष्कल अर्थात् देहरहित, लोक और अलोकको देखने और जाननेवाला, विश्वमें व्यापक, स्वभावमें स्थिर, समस्त विकारोंसे रहित ऐसा परमात्मा मैं हूं। ऐसा अन्य ग्रन्थोंमें भी अभेद भाव दिखाया है ॥ १ ॥ "

मालिनी ।

इतिविगतविकल्पं क्षीणरागादिदोषं
विदितसकलवेद्यं त्यक्तविश्वप्रपञ्चम् ।
शिवमजमनवद्यं विश्वलोकैकनाथं
परमपुरुषमुच्चैर्भावशुद्ध्या भजस्व ॥ ३१ ॥

अर्थ—यहां आचार्य विशेष उपदेशरूप प्रेरणा करते हैं कि हे मुने, इस प्रकार जिसके समस्त विकल्प दूर होगये हैं, जिसके रागादिक सब दोष क्षीण हो चुके हैं, जो जानने योग्य समस्त पदार्थोका जाननेवाला है, जिसने संसारके समस्त प्रपञ्च छोड़ दिये हैं, जो शिव अर्थात् कल्याण स्वरूप अथवा मोक्ष स्वरूप है, जो अज अर्थात् जिसको आगे जन्म मरण नहीं करना है, जो अनवद्य अर्थात् पापोंसे रहित है, तथा जो समस्त लोकका एक अद्वितीय नाथ है ऐसे परम पुरुष परमात्माको भावोंकी शुद्धतापूर्वक अतिशय करके भज। **भावार्थ**—शुद्ध भावोंसे ऐसे परम पुरुष परमात्माका ध्यान कर ॥ ३१ ॥

इस प्रकार इस अध्यायमें रूपातीत ध्यानका निरूपण किया है। इसका संक्षेप भावार्थ यह है कि जब ध्यानी सिद्ध परमेष्ठीके ध्यानका अभ्यास करके शक्तिकी अपेक्षासे आपको भी उनके समान जानकर और आपको उनके समान व्यक्तरूप करनेके लिये उसमें (आपमें) लीन होता है, तब आप कर्मका नाश कर, व्यक्तरूप सिद्ध परमेष्ठी होता है।

दोहा ।

सिद्ध निरञ्जन कर्मविन, मूरतिरहित अनन्त ।
जो ध्यावै परमातमा, सो पावे शिव संत ॥ १ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे रूपातीत-ध्यानवर्णनं नाम चत्वारिंशं प्रकरणम् ॥ ४० ॥

अथैकचत्वारिंशं प्रकरणम् ।

आगे श्रीशुभचन्द्राचार्य धर्म्यध्यानका फल वर्णन करते हुए प्रथम ही कुछ उपदेश करते हैं:--

वंशस्थम् ।

प्रसीद शान्तिं व्रज सन्निरुद्ध्यतां
दुरन्तजन्मज्वरजिह्मितं मनः ।
अगाधजन्मार्णवपारवर्त्तिनां
यदि श्रियं वाञ्छसि विश्वदर्शिनाम् ॥ १ ॥

अर्थ—हे आत्मन्, यदि तू अगाध संसाररूपी समुद्रके पारवर्त्ती और समस्त लोकालोकके देखनेवाले ऐसे अरहंत और सिद्ध भगवान्‌की लक्ष्मीकी इच्छा करता है तो प्रसन्न हो, शान्तता धारण कर और दुरन्त संसाररूप ज्वर करके मूर्छित मनको वश कर । **भावार्थ**—आचार्यका उपदेश है कि यदि तू ध्यान करना चाहता है तो प्रथम ही अपने मनको वशमें कर और शान्तभाव धारण कर ॥ १ ॥

यदि रोद्धुं न शक्नोति तुच्छवीर्यो मुनिर्मनः ।
तदा रागतरध्वंसं कृत्वा कुर्यात्सुनिश्चलम् ॥ २ ॥

अर्थ—और तुच्छवीर्य मुनि अर्थात् सामर्थ्यहीन मुनि यदि अपने मनको वश नहीं कर सकै तो रागद्वेषका नाश करके मनको निश्चल करै । **भावार्थ**—मनको रागद्वेषरूप परिणत न होने दे ॥ २ ॥

अनुप्रेक्षाश्च धर्म्यस्य स्युः सदैव निबन्धनम् ।
चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य स्वस्वरूपं निरूपय ॥ ३ ॥

अर्थ—हे मुने ! अनित्य अशरणादिक बारह अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्यादिकका चिन्तवन करना सदा धर्मध्यानका कारण है । इसलिये अपनी चित्तरूपी भूमिमें उन अनुप्रेक्षाओंको स्थिर करके अपने स्वरूपका अवलोकन कर ॥ **भावार्थ**—यदि तेरा चित्त स्थिर न होता हो तो बारह भावनाओंका चिन्तवन कर । ये भावना धर्मध्यानमें कारण हैं ॥ ३ ॥

स्फोटयत्याशु निष्कम्पो यथा दीपो घनं तमः ।
तथा कर्मकलङ्कौघं मुनेर्ध्यानं सुनिश्चलम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जैसे निष्कम्प अर्थात् अचल दीपक सघन अन्धकारको शीघ्र ही दूर कर देता है; उसी तरह मुनिका सुनिश्चल ध्यान भी कर्मकलंकके समूहको शीघ्र ही नाश करता है । **भावार्थ**—कर्मके नाश करनेके लिये ध्यान करना ही चाहिये ॥ ४ ॥

चलत्येवाल्पसत्वानां क्रियमाणमपि स्थिरम् ।
चेतः शरीरिणां शश्वद्विषयैर्व्याकुलीकृतम् ॥ ५ ॥
न स्वामित्वमतः शुक्ले विद्यतेऽत्यल्पचेतसाम् ।
आद्यसंहननस्यैव तत्प्रणीतं पुरातनैः ॥ ६ ॥
छिन्ने भिन्ने हते दग्धे देहे स्वमिव दूरगम् ।
प्रपश्यन् वर्षवातादिदुःखैरपि न कम्पते ॥ ७ ॥
न पश्यति तदा किञ्चिन्न शृणोति न जिघ्रति ।
स्पृष्टं किञ्चिन्न जानाति साक्षान्निर्वृत्तलेपवत् ॥ ८ ॥

कालापकम् ॥

अर्थ—अल्पवीर्य अर्थात् सामर्थ्यहीन प्राणियोंका मन स्थिर करते हुए भी निरन्तर विषयोंसे व्याकुल होता हुआ चलायमान होता ही है । इसलिये अतिशय अल्पचित्तवालोंका शुक्लध्यान करनेमें अधिकार नहीं है । प्राचीन मुनियोंने पहलेके (वज्र वृषभ नाराच) संहननवालेके ही शुक्लध्यान कहा है । इसका कारण यह है कि इस संहननवालेका ही चित्त ऐसा होता है कि, शरीरको छेदने, भेदने, मारने और जलानेपर भी अपने आत्माको उस शरीरसे अत्यन्त दूर अर्थात् भिन्न देखता हुआ चलायमान नहीं होता, और न वर्षाकालके पवन आदिक दुःखोंसे कम्पायमान होता है । तथा उस ध्यानके समय लेपकी मूर्ति अर्थात् रंगसे निकाली हुई चित्रामकी मूर्तिकी तरह हो जाता है । इस कारण, यह योगी न तो कुछ देखता है, न कुछ सुनता है, न कुछ सूंघता है और न कुछ स्पर्श किये हुएको जानता है । **भावार्थ—**ऐसे पुरुषके शुक्लध्यान होता है ॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

आद्यसंहननोपेता निर्वेदपदवीं श्रिताः ।
कुर्वन्ति निश्चलं चेतः शुक्लध्यानक्षमं नराः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिनके आदिका संहनन है और जो वैराग्य पदवीको प्राप्त हुए हैं, ऐसे पुरुष ही अपने चित्तको शुक्लध्यान करनेमें समर्थ ऐसा निश्चल करते हैं ॥ ९ ॥

सामग्र्योरुभयोर्ध्यातुर्ध्यानं बाह्यान्तरङ्गयोः ।
पूर्वयोरेव शुक्लं स्यान्नान्यथा जन्मकोटिषु ॥ १० ॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्व कही हुई बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् आदिके संहनन और वैराग्यभाव इन दोनों सामग्रियोंसे ध्यान करनेवालेके शुक्लध्यान होता है । अन्यथा अर्थात् विना आदिके संहनन और वैराग्यभावके, करोड़ों जन्मोंमें भी नहीं हो सकता ॥ १० ॥

सर्व साधारण जीवोंके शुक्लध्यान असंभव है, इसलिये धर्म्यध्यानकी रीति कहते हैं।

अतिक्रम्य शरीरादिसङ्गानात्मन्यवस्थितः।
नैवाक्षमनसायोगं करोत्येकाग्रताश्रितः॥ ११॥

अर्थ—धर्म्यध्यान करनेवाला शरीरादिक परिग्रहोंको छोड़, आत्मामें अवस्थित होता हुआ, एकाग्रताको धारण कर, इन्द्रिय और मनका संयोग नहीं करता है अर्थात् इन्द्रियोंसे जो पदार्थोंका ग्रहण होता है उनका मनसे संयोग नहीं करता। मनको केवल स्वरूपमें ही स्थिर रखता है॥ ११॥

अब इस ध्यानका फल लिखते हैं।

असंख्येयमसंख्येय सद्दृष्ट्यादिगुणेऽपि च।
क्षीयते क्षपकस्यैव कर्मजातमनुक्रमात्॥ १२॥
शमकस्य क्रमात् कर्म शान्तिमायाति पूर्ववत्।
प्राप्नोति निर्गतातङ्कः स सौख्यं शमलक्षणम्॥ १३॥

अर्थ—इस धर्म्यध्यानमें कर्मोंका क्षय करनेवाले क्षपकके सद्दृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानसे लेकर, सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त अनुक्रमसे असंख्यात असंख्यात गुणा कर्मका समूह क्षय होता है। और जो कर्मोंका उपशम करनेवाला उपशमक है उसके क्रमसे असंख्यात असंख्यात गुणा कर्मका समूह उपशम होता है। इसलिये ऐसा धर्म्यध्यानी आतंक दाहादि दुःखोंसे रहित होता हुआ उपशम भावरूप सुखको प्राप्त होता है॥ १२॥ १३॥

धर्मध्यानस्य विज्ञेया स्थितिरान्तर्मुहूर्त्तिकी।
क्षायोपशमिको भावो लेश्या शुक्लैव शाश्वती॥ १४॥

अर्थ—इस धर्म्यध्यानकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है, इसका भाव क्षायोपशमिक है और लेश्या सदा शुक्ल ही रहती है। **भावार्थ**—धर्म्यध्यान अन्तर्मुहूर्त्त रहता है। धर्म्यध्यानवालेके क्षायोपशमिक भाव और शुक्ल लेश्या होती है॥ १४॥

इदमत्यन्तनिर्वेदविवेकप्रशमोद्भवम्।
स्वात्मानुभवमत्यक्ष योजयत्यङ्गिनां सुखम्॥ १५॥

अर्थ—यह धर्म्यध्यान जीवोंको अत्यन्त निर्वेद अर्थात् संसार देह भोगादिकोंसे अत्यन्त वैराग्य तथा विवेक अर्थात् भेदज्ञान और प्रशम अर्थात् मंदकषाय इनसे उत्पन्न होनेवाले अपने आत्माके ही अनुभवमें आनेवाले और इन्द्रियोंसे अतीत अर्थात् अतीन्द्रिय ऐसे सुखको प्राप्त करता है॥ १५॥

अब इस धर्म्यध्यानके चिह्न कहते हैं—

उक्तं च ।

"अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥ १ ॥

अर्थ—अलौल्य अर्थात् विषयोंमें इन्द्रियोंकी लंपटता न होना और मनका चपल न होना, आरोग्य अर्थात् शरीर नीरोग होना, निष्ठुरता न होना, शरीरका गंध शुभ होना, मलमूत्रका अल्प होना, शरीर कान्तिसहित होना अर्थात् शक्तिहीन न होना, चित्तका प्रसन्न होना अर्थात् खेद शोकादिक मलिन भावरूप न होना, और स्वर अर्थात् शब्दोंका उच्चारण सौम्य होना, ये चिह्न योगकी प्रवृत्तिके अर्थात् ध्यान करनेवालेके प्रारम्भदशामें होते हैं । **भावार्थ**—ऐसे चिह्नवाले पुरुषके ध्यानका प्रारम्भ होता है ॥ १ ॥'

अब इस धर्म्यध्यानका फल कहते हैं ।

अथावसाने स्वतनुं विहाय ध्यानेन संन्यस्तसमस्तसङ्गाः ।
ग्रैवेयकानुत्तरपुण्यवासे सर्वार्थसिद्धौ च भवन्ति भव्याः ॥ १६ ॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष इस पर्यायके अन्त समयमें समस्त परिग्रहोंको छोड़कर, धर्म्यध्यानसे अपना शरीर छोड़ते हैं, वे पुरुष पुण्यके स्थानरूप ऐसे ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानोंमें तथा सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न होते हैं । **भावार्थ**—यदि परिग्रहका त्याग कर, मुनि हो, धर्म्यध्यानसे इस पर्यायको छोड़े तो नव ग्रैवेयक, नव अनुत्तर और सर्वार्थसिद्धिमें उत्तम देव हो ॥ १६ ॥

तत्रात्यन्तमहाप्रभावकलितं लावण्यलीलान्वितं
स्रग्भूषाम्बरदिव्यलाञ्छनचितं चन्द्रावदातं वपुः ।
संप्राप्योन्नतवीर्यबोधसुभगं कामज्वरार्त्तिच्युतं
सेवन्ते विगतान्तरायमतुलं सौख्यं चिरं स्वर्गिणः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो जीव धर्म्यध्यानके प्रभावसे स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं, वे वहां अत्यन्त महाप्रभावसहित; सुन्दरता और क्रीड़ायुक्त तथा माला, भूषण, वस्त्र और दिव्य लक्षणादिसहित; चन्द्रमासदृश शुक्लवर्ण शरीरको पाकर; उन्नत वीर्य और ज्ञानसे सुभग, कामज्वरकी वेदनासे रहित और अन्तरायरहित ऐसे अतुल सुखोंको चिरकाल पर्यन्त भोगते हैं ॥ १७ ॥

ग्रैवेयकानुत्तरवासभाजां विचारहीनं सुखमत्युदारम् ।
निरन्तरं पुण्यपरम्पराभिर्विवर्द्धते वार्द्धिरिवेन्दुपादैः ॥ १८ ॥

अर्थ—ग्रैवेयक और अनुत्तरादि विमानोंमें रहनेवाले देवोंका सुख कामसेवनसे रहित होता है अर्थात् उनके कामसेवन सर्वथा नहीं है तथापि उनका सुख अत्यन्त उदार

है। और वह जैसे चन्द्रमाकी किरणोंसे समुद्र बढ़ता है वैसे ही निरन्तर पुण्यकी परंपरासे बढ़ता ही रहता है। **भावार्थ**—वहाका सुख सदा वृद्धिरूप है॥ १८॥

देवराज्यं समासाद्य यत्सुखं कल्पवासिनाम्।
निर्विशन्ति ततोऽनन्तं सौख्यं कल्पातिवर्त्तिनः॥ १९॥

अर्थ—इन्द्रपदको पानेपर कल्पवासियोंको जो सुख मिलता है उससे अनन्तगुणा सुख कल्पातीतों (नव ग्रैवेयक, नव अनुत्तर और विजयादिक पांच विमानोंमें रहनेवाले अहमिन्द्रों) को प्राप्त होता है॥ १९॥

संभवन्त्यथ कल्पेषु तेष्वचिन्त्यविभूतिदम्।
प्राप्नुवन्ति परं सौख्यं सुराः स्त्रीभोगलाञ्छितम्॥ २०॥

अर्थ—अथवा धर्म्यध्यानसे पर्याय छोड़कर, जो उन कल्पस्वर्गोंमें (सोलह स्वर्गोंमें) उत्पन्न होते हैं वे देव भी अचिन्त्य विभूतिके देनेवाले और स्त्रियोंके भोगोंसहित उत्कृष्ट सुखको प्राप्त होते हैं॥ २०॥

दशाङ्गभोगसम्भूतं महाष्टगुणवर्द्धितम्।
यत्कल्पवासिनां सौख्यं तद्वक्तुं केन पार्यते॥ २१॥

अर्थ—कल्पवासी देवोंका सुख दशाङ्ग भोगासे उत्पन्न हुआ है और अणिमादिक आंठ महागुणोंसे बढ़ा हुआ है। इसलिये उस सुखको कौन वर्णन कर सकता है॥ २१॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वाभ्युदयभूषितम्।
नित्योत्सवयुतं दिव्यं दिवि सौख्यं दिवौकसाम्॥ २२॥

अर्थ—स्वर्गमें देवोंका सुख सर्वद्वन्द्व अर्थात् क्षोभोंसे रहित है, समस्त अभ्युदयोंसे भूषित, नित्य उत्सवोंसहित और दिव्य है॥ २२॥

प्रतिसमयमुदीर्णं स्वर्गसाम्राज्यरूढं
सकलविषयबीजं स्वान्तदत्ताभिनन्दम्।
ललितयुवतिलीलालिङ्गनादिप्रसूतं
सुखमतुलमुदारं स्वर्गिणो निर्विशन्ति॥ २३॥

अर्थ—स्वर्गके देव प्रत्येक समयमें उदयरूप अर्थात् विच्छेदरहित, स्वर्गके साम्राज्यसे प्रसिद्ध, समस्त विषयोंका कारण, अन्तःकरणको आनन्द देनेवाले, सुन्दर देवाङ्गनाओंकी लीला और आलिंगनादिकसे उत्पन्न, अतुल और उदार सुखका अनुभव करते हैं॥ २३॥

सर्वाभिमतभावोत्थं निर्विघ्नं स्वःसुखामृतम्।
सेव्यमाना न बुद्ध्यन्ते गतं जन्म दिवौकसः॥ २४॥

अर्थ—स्वर्गनिवासी देव अपने समस्त मनोवांछित पदार्थोंसे उत्पन्न और निर्विघ्न ऐसे स्वर्गके सुखरूप अमृतका सेवन करते हुए व्यतीत हुए जन्मको अर्थात् गये हुए देवपर्यायको नहीं जानते॥ २४॥

तस्माच्च्युत्वा त्रिदिवपटलाद्दिव्यभोगावसाने
कुर्वन्त्यस्यां भुवि नरनुते पुण्यवंशेऽवतारम्।
तत्रैश्वर्यं परमवपुषं प्राप्य देवोपनीतै-
र्भोगैर्नित्योत्सवपरिणतैर्लाल्यमाना वसन्ति॥ २५॥

अर्थ—फिर वे स्वर्गके देव दिव्य भोगोंको भोगकर, उस स्वर्गपटलसे च्युत होते हैं और इस भूमंडलमें जिसको लोग नमस्कार करते हैं ऐसे उत्तम पुण्य वंशमें अवतार लेते हैं। और वहां भी परम (उत्कृष्ट) शरीर और ऐश्वर्यको पाकर, नित्य उत्सव रूप परिणत ऐसे देवोपनीत अनेक भोगोंसे लालित और पुष्ट हुए निवास करते हैं। यह सब धर्म्यध्यानका फल है॥ २५॥

ततो विवेकमालम्ब्य विरज्य जननभ्रमात्।
त्रिरत्नशुद्धिमासाद्य तपः कृत्वान्यदुष्करम्॥ २६॥
धर्मध्यानं च शुक्लं च स्वीकृत्य निजवीर्यतः।
कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा व्रजन्ति पदमव्ययम्॥ २७॥

अर्थ—उसके वाद अर्थात् उत्तम मनुष्यभवके सुख भोगकर, पुनः भेदज्ञानको (शरीरादिकसे आत्माकी भिन्नताको) अवलंबन कर, संसारके परिभ्रमणसे विरक्त हो, रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रकी शुद्धताको प्राप्त कर, दुर्धर तप कर तथा अपनी शक्तिके अनुसार धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको धारण कर और समस्त कर्मोंका नाश कर, अविनाशी मोक्ष पदको प्राप्त होते हैं। यह धर्म्यध्यानका परंपरारूप फल है। इस प्रकार धर्म्यध्यानका फल निरूपण किया॥ २६।२७॥

दोहा।

धर्मध्यानको फल भलो, पद अहमिन्द्र सुरेन्द्र।
परंपरा शिवपुर वसें, जे नर धरें वितन्द्र॥ १॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे धर्म्यध्यानफल-
वर्णनं नामैकचत्वारिंशं प्रकरणम्॥ ४१॥

अथ द्विचत्वारिंशं प्रकरणम् ।

अब आचार्य शुक्लध्यानका वर्णन करते हैं ।

शुक्लध्यान धर्म्यध्यानपूर्वक होते हैं, इसलिये प्रथम ही धर्मध्यानकी प्रेरणा करते हैं ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

रागाद्युग्ररुजाकलापकलितं सन्देहलोलायितं
विक्षिप्तं सकलेन्द्रियार्थगहने कृत्वा मनो निश्चलम् ।
संसारव्यसनप्रबन्धविलयं मुक्तेर्विनोदास्पदं
धर्मध्यानमिदं विदन्तु निपुणा अत्यक्षसौख्यार्थिनः ॥ १ ॥

अर्थ—अतीन्द्रिय सुखके चाहनेवाले निपुण मुनि प्रथम ही रागादिक तीव्र रोगोंके समूहोंसे व्याप्त, अनेक सन्देहोंसे चलायमान अर्थात् जबतक निर्णय न हो तबतक स्थिर न रहनेवाले और समस्त इन्द्रियोंके विषयरूप गहन वनमें विक्षिप्त अर्थात् भूले हुए मनको निश्चल करते हैं । संसारके कष्ट आपत्ति आदि व्यसनोंके प्रबंधसे रहित और मुक्तिके क्रीडा करनेका स्थान ऐसे इस ध्यानको धर्म्यध्यान कहते हैं । **भावार्थ—**मनको निश्चल करके, धर्मध्यान होता है । इसमें सांसारिक व्यापारके प्रवर्त्तनका सर्वथा अभाव है ॥ १ ॥

आत्मार्थं श्रय मुञ्च मोहगहनं मित्रं विवेकं कुरु
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनोः ।
धर्म्यध्यानसुधासमुद्रकुहरे कृत्वावगाहं परं
पश्यानन्तसुखस्वभावकलितं मुक्तेर्मुखाम्भोरुहम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे आत्मन्, तू आत्माके प्रयोजनका आश्रय कर अर्थात् और प्रयोजनोंको छोड़कर केवल आत्माके प्रयोजनका ही आश्रय कर; तथा मोहरूपी वनको छोड, विवेक अर्थात् भेदज्ञानको मित्र बना, संसार देहके भोगोंसे वैराग्यका सेवन कर; और परमार्थसे जो शरीर और आत्मामें भेद है उसका निश्चयसे चिन्तवन कर । और धर्म्यध्यानरूपी अमृतके समुद्रके कुहर (मध्य) में परम अवगाहन (स्नान) करके अनन्त सुख स्वभावसहित मुक्तिके मुखकमलको देख ॥ २ ॥

अब शुक्लध्यानका निरूपण करते हैं ।

अथ धर्म्यमतिक्रान्तः शुद्धिं चात्यन्तिकीं श्रितः ।
ध्यातुमारभते वीरः शुक्लमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस धर्म्यध्यानके अनन्तर धर्म्यध्यानसे अतिक्रान्त होकर अर्थात् निकलकर, अत्यन्त शुद्धताको प्राप्त हुआ धीर वीर मुनि अत्यन्त निर्मल शुक्लध्यानके ध्यावनेका प्रारम्भ करता है ॥ ३ ॥

निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—जो निष्क्रिय अर्थात् क्रियारहित है, इन्द्रियातीत है और ध्यानकी धारणासे रहित है अर्थात् "मैं इसका ध्यान करूं" ऐसी इच्छासे रहित है और जिसमें चित्त अन्तर्मुख अर्थात् अपने स्वरूपहीके सन्मुख है; उसको शुक्लध्यान कहते हैं ॥ ४ ॥

आदिसंहननोपेतः पूर्वज्ञः पुण्यचेष्टितः।
चतुर्विधमपि ध्यानं स शुक्लं ध्यातुमर्हति ॥ ५ ॥

अर्थ—जिसके प्रथम-वज्र वृषभ नाराच संहनन है; जो पूर्व अर्थात् ग्यारह अंग चौदह पूर्वका जाननेवाला है और जिसकी पुण्यरूप चेष्टा हो अर्थात् शुद्धचारित्र हो; वही मुनि चारों प्रकारके शुक्लध्यानोंको धारण करने योग्य होता है ॥ ५ ॥

आर्या।

"शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा।
वैडूर्यमणिशिखाइव सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च ॥ १ ॥

अर्थ—आत्माके शुचिगुणके सम्बन्धसे इसका नाम शुक्ल पड़ा है। कषायरूपी रजके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे जो आत्माके निर्मल परिणाम होते हैं वही शुचिगुणका योग है। और वह शुक्लध्यान वैडूर्यमणिकी शिखाके समान निर्मल और निष्कंप अर्थात् कंपतासे रहित है ॥ १ ॥"

कषायमलविश्लेषात्प्रशमाद्वा प्रसूयते।
यतः पुंसामतस्तज्ज्ञैः शुक्लमुक्तं निरुक्तिकम् ॥ ६ ॥

अर्थ—पुरुषोंके कषायरूपी मलके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे यह शुक्लध्यान होता है। इसलिये उस ध्यानके जाननेवाले आचार्योंने इसका नाम शुक्ल ऐसा निरुक्तिपूर्वक अर्थात् सार्थक कहा है ॥ ६ ॥

छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे तु शुक्ले प्रकीर्त्तिते।
द्वे त्वन्त्ये क्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—शुक्लध्यानके पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरतक्रिया-निवृत्ति ऐसे चार भेद हैं। उनमेंसे पहिलेके दो अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क तो छद्मस्थ

योगी अर्थात् बारहवें गुणस्थान पर्यन्त अल्पज्ञानियोंके होते हैं। और अन्तके दो शुक्लध्यान सर्वथा रागादिदोषोंसे रहित ऐसे केवल ज्ञानियोंके होते हैं ॥ ७ ॥

श्रुतज्ञानार्थसम्बन्धाच्छ्रुतालम्बनपूर्वके ।
पूर्वे परे जिनेन्द्रस्य निःशेषालम्बनच्युते ॥ ८ ॥

अर्थ—प्रथमके दो शुक्लध्यान जो कि छद्मस्थोंके होते हैं वे श्रुतज्ञानके अर्थके संबंधसे श्रुतज्ञानके आलंबनपूर्वक हैं अर्थात् उनमें श्रुतज्ञानपूर्वक पदार्थका आलंबन होता है। और अन्तके दो शुक्लध्यान जो कि जिनेन्द्रदेवके होते हैं वे समस्त आलंबनरहित होते हैं ॥ ८ ॥

सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं च कीर्त्तितम् ।
शुक्लमाद्यं द्वितीयं तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ ९ ॥

अर्थ—आदिके दो शुक्लध्यानोंमें पहला शुक्लध्यान वितर्क, वीचार और पृथक्त्वसहित है इसलिये इसका नाम **पृथक्त्ववितर्कवीचार** है, और दूसरा इससे विपर्यस्त है, सो ही कहते हैं ॥ ९ ॥

सवितर्कमवीचारमेकत्वपदलाञ्छितम् ।
कीर्तितं मुनिभिः शुक्लं द्वितीयमतिनिर्मलम् ॥ १० ॥

अर्थ—दूसरा शुक्लध्यान वितर्कसहित है, परन्तु वीचाररहित है और एकत्व पदसे लाञ्छित अर्थात् सहित है। इसलिये इसका नाम मुनियोंने **एकत्ववितर्काविचार** कहा है। यह ध्यान अत्यन्त निर्मल है ॥ १० ॥

सूक्ष्मक्रियाप्रतीपाति तृतीयं सार्थनामकम् ।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानं तुर्यमार्यैर्निवेदितम् ॥ ११ ॥

अर्थ—तीसरे शुक्लध्यानका **सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति** ऐसा सार्थक नाम है। इसमें उपयोगकी क्रिया नहीं है परन्तु कायकी क्रिया विद्यमान है। यह कायकी क्रिया घटते घटते जब सूक्ष्म रह जाती है तब यह तीसरा शुक्लध्यान होता है, और इससे इसका **सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति** ऐसा नाम है। और आर्यपुरुषोंने चौथे ध्यानका नाम **समुच्छिन्नक्रिय** अर्थात् व्युपरतक्रियानिवृत्ति ऐसा कहा है। इसमें कायकी क्रिया भी मिट जाती है ॥ ११ ॥

तत्र त्रियोगिनामाद्यं द्वितीयं त्वेकयोगिनाम् ।
तृतीयं तनुयोगानां स्यात्तुरीयमयोगिनाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—शुक्लध्यानके चारों भेदोंमेंसे पहला जो पृथक्त्ववितर्कवीचार है सो मन, वचन, काय इन तीनों योगोंवाले मुनियोंके होता है। क्योंकि, इसमें योग पलटते रहते हैं।

दूसरा एकत्ववितर्कावीचार किसी एक योगसे ही होता है । क्योंकि, इसमें योग पलटते नहीं । योगी जिस योगमें लीन है, वही योग रहता है । तीसरा सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति काययोग वालेके ही होता है । क्योंकि, केवली भगवान्के केवल काययोगकी सूक्ष्मक्रिया ही है । शेष दो योगोंकी क्रिया नहीं है । और चौथा समुच्छिन्नक्रिय अयोगकेवलीके होता है । क्योंकि, अयोगकेवलीके योगोंकी क्रियाका सर्वथा अभाव है ॥ १२ ॥

अब इनका स्पष्ट अर्थ कहते हैं ।

पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र विद्यते ।
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें पृथक् पृथक् रूपसे वितर्क अर्थात् श्रुतका वीचार अर्थात् संक्रमण होता है अर्थात् जिसमें अलग अलग श्रुतज्ञान बदलता रहता है, उसको सवितर्क सवीचार सपृथक्त्व ध्यान कहते हैं ॥ १३ ॥

अवीचारो वितर्कस्य यत्रैकत्वेन संस्थितः ।
सवितर्कमवीचारं तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें वितर्कका वीचार (संक्रमण) नहीं होता और जो एक रूपसे ही स्थित हो उसको पंडितजन सवितर्क अवीचार रूप एकत्व ध्यान कहते हैं ॥ १४ ॥

पृथक्त्वं तत्र नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते ।
अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमः स्मृतः ॥ १५ ॥

अर्थ—तहां नानात्व अर्थात् अनेकपनेको पृथक्त्व कहते हैं, श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं और अर्थ, व्यञ्जन और योगोंके संक्रमणका नाम वीचार कहा गया है ॥ १५ ॥

अर्थादर्थान्तरापत्तिरर्थसंक्रान्तिरिष्यते ।
ज्ञेया व्यञ्जनसंक्रान्तिर्व्यञ्जनाद्यञ्जने स्थितिः ॥ १६ ॥
स्यादियं योगसंक्रांतिर्योगाद्योगान्तरे गतिः ।
विशुद्धध्यानसामर्थ्यात्क्षीणमोहस्य योगिनः ॥ १७ ॥

अर्थ—एक अर्थ (पदार्थ) से दूसरे अर्थकी प्राप्ति होना अर्थसंक्रान्ति है । एक व्यञ्जनसे दूसरे व्यञ्जनमें प्राप्त होकर स्थिर होना व्यञ्जनसंक्रान्ति है । और एक योगसे दूसरे योगमें गमन करना योगसंक्रान्ति है । इस प्रकार विशुद्ध ध्यानके सामर्थ्यसे जिसका मोहनीयकर्म नष्ट होगया है ऐसे योगीके ये होते हैं ॥ १६ ॥ १७ ॥

उक्तं च ।

" अर्थादर्थं वचः शब्दं योगाद्योगं समाश्रयेत् ।
पर्यायादपि पर्यायं द्रव्याणोश्चिन्तयेदणुम् ॥ २ ॥

अर्थ—एक अर्थसे दूसरे अर्थका चिन्तवन करे । एक शब्दसे दूसरे शब्दका और

एक योगसे दूसरे योगका आश्रय ले। एक पर्यायसे दूसरे पर्यायका चिन्तवन करे। और द्रव्यरूप अणुसे अणुका चिन्तवन करे। ऐसा अन्य ग्रन्थोंमें लिखा है॥ २॥"

अर्थादिषु यथा ध्यानी संक्रामत्यविलम्बितम्।
पुनर्व्यावर्त्तते तेन प्रकारेण स हि स्वयम्॥ १८॥

अर्थ—जो ध्यानी अर्थ व्यञ्जन आदि योगोंमें जैसे शीघ्रतासे संक्रमण करता है वह ध्यानी अपने आप पुनः उसीप्रकार लौटता है॥ १८॥

त्रियोगी पूर्वविद्यः स्यादिदं ध्यायत्यसौ मुनिः।
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वमतो मतम्॥ १९॥

अर्थ—जिसके तीनों योग होते हैं और जो पूर्वका जाननेवाला होता है, वही मुनि इस पहले ध्यानको धारण करता है। इसलिये इस ध्यानका नाम **सवितर्कसविचारसपृथक्त्व** कहा है॥ १९॥

अस्याचिन्त्यप्रभावस्य सामर्थ्यात्स प्रशान्तधीः।
मोहमुन्मूलयत्येव शमयत्यथवा क्षणे॥ २०॥

अर्थ—इस अचिन्त्य प्रभाववाले ध्यानके सामर्थ्यसे जिसका चित्त शान्त होगया है ऐसा ध्यानी मुनि क्षणभरमें मोहनीय कर्मका मूलसे नाश करता है, अथवा उसका उपशम करता है॥ २०॥

उक्तं च।

"इदमत्र तु तात्पर्यं श्रुतस्कन्धमहार्णवात्।
अर्थमेकं समादाय ध्यायन्नर्थान्तरं व्रजेत्॥ ३॥

अर्थ—इस ध्यानमें अर्थादिकके पलटनेका तात्पर्य यह है कि श्रुतस्कन्ध अर्थात् द्वादशांग शास्त्ररूप महासमुद्रसे एक अर्थको लेकर उसका ध्यान करता हुआ दूसरे अर्थको प्राप्त होता है॥ ३॥"

शब्दाच्छब्दान्तरं यायाद्योगं योगान्तरादपि।
सवीचारमिदं तस्मात्सवितर्कं च लक्ष्यते॥ २१॥

अर्थ—यह ध्यान एक शब्दसे दूसरे शब्द पर जाता है और एक योगसे दूसरे योगपर जाता है इसलिये इसका नाम **सवीचारसवितर्क** कहते हैं॥ २१॥

श्रुतस्कन्धमहासिन्धुमवगाह्य महामुनिः।
ध्यायेत्पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानमग्रिमम्॥ २२॥

अर्थ—महामुनि द्वादशांग शास्त्ररूप महासमुद्रको अवगाहन करके, इस पृथक्त्ववितर्क वीचार नामक पहले शुक्लध्यानको ध्यावे॥ २२॥

एवं शान्तकषायात्मा कर्मकक्षाशुशुक्षणिः ।
एकत्वध्यानयोग्यः स्यात्पृथक्त्वेन जिताशयः ॥ २३ ॥

अर्थ—इस प्रकार पृथक्त्व ध्यानसे जिसने अपना चित्त जीत लिया है और जिसके कषाय शान्त होगये हैं और जो कर्मरूप कक्ष अर्थात् तृणसमूह अथवा वनके दग्ध करनेको अग्निके समान है; ऐसा महामुनि एकत्व ध्यानके योग्य होता है ॥ २३ ॥

पृथक्त्वे तु यदा ध्यानी भवत्यमलमानसः ।
तदैकत्वस्य योग्यः स्यादाविर्भूतात्मविक्रमः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिस समय इस ध्यानीका चित्त पृथक्त्व ध्यानके द्वारा कषायमलसे रहित होता है, तब इस ध्यानीका पराक्रम प्रगट होता है और तभी यह एकत्व ध्यानके योग्य होता है। **भावार्थ**—एकत्व ध्यान, पृथक्त्व ध्यानपूर्वक ही होता है ॥ २४ ॥

ज्ञेयं प्रक्षीणमोहस्य पूर्वज्ञस्यामितद्युतेः ।
सवितर्कमिदं ध्यानमेकत्वमतिनिश्चलम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जिसका मोहनीयकर्म नष्ट होगया है और जो पूर्वका जाननेवाला है और जिसकी दीप्ति अपरिमित है, उस मुनिके अत्यन्त निश्चल ऐसा यह सवितर्क एकत्वध्यान होता है ॥ २५ ॥

अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कं च योगिनः ।
एकत्वमेकयोगस्य जायतेऽत्यन्तनिर्मलम् ॥ २६ ॥

अर्थ—किसी एक योगवाले मुनिके पृथक्त्वरहित, वीचाररहित और वितर्कसहित ऐसा यह एकत्व ध्यान अत्यन्त निर्मल होता है ॥ २६ ॥

द्रव्यं चैकमणुं चैकं पर्यायं चैकमश्रमः ।
चिन्तयत्येकयोगेन यत्रैकत्वं तदुच्यते ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें योगी खेदरहित होकर, एक द्रव्यको, एक अणुको अथवा एक पर्यायको एक योगसे चिन्तवन करता है; उसको एकत्व ध्यान कहते हैं ॥ २७ ॥

उक्तं च ।

"एकं द्रव्यमथाणुं वा पर्यायं चिन्तयेद्यदि ।
योगैकेन यदक्षीणं तदेकत्वमुदीरितम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जो यति समर्थ होता हुआ एक योगसे एक द्रव्य, एक अणु अथवा एक पर्यायको चिन्तवन करै उसे एकत्व ध्यान कहते हैं ॥ ४ ॥"

अस्मिन् सुनिर्मलध्यानहुताशे प्रविजृम्भिते ।
विलीयन्ते क्षणादेव घातिकर्माणि योगिनः ॥ २८ ॥

अर्थ—योगी पुरुषोंके अतिशय निर्मल **एकत्ववितर्क अवीचार** नामक द्वितीय ध्यानरूपी अग्निके प्रगट होते हुए घातिया कर्म क्षणमात्रमें नष्ट होजाते हैं ॥ २८ ॥

दृग्बोधरोधकद्वन्द्वं मोहविघ्नस्य वा परम् ।
स क्षिणोति क्षणादेव शुक्लधूमध्वजार्चिषा ॥ २९ ॥

अर्थ—ध्यानी मुनि इस दूसरे शुक्लध्यानरूपी अग्निकी ज्वालासे दर्शन और ज्ञानके आवरण करनेवाले दर्शनावरण, ज्ञानावरण कर्मको और मोहनीय और अन्तराय कर्मको क्षणमात्रमें ही नष्ट कर देता है । **भावार्थ**—इस एकत्व शुक्लध्यानसे घातिकर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ॥ २९ ॥

इस प्रकार **पृथक्त्ववितर्कवीचार** और **एकत्ववितर्कअवीचार** इन आदिके दोनों शुक्लध्यानोंका निरूपण किया । इनका संक्षेप भावार्थ यह है कि पहले ध्यानमें द्रव्य पर्यायस्वरूप अर्थसे अर्थान्तरका संक्रमण करता है तथा उस अर्थकी संज्ञारूप शास्त्रके वचनसे वचनान्तरका (दूसरे वचनका) संक्रमण करता है और तीनों योगोंमेंसे एक योगसे दूसरा, दूसरेसे योगान्तर इस तरह संमक्रण करता है । पलटते पलटते ठहरता भी है, परन्तु उसी ध्यानकी सन्तान चली जाती है । इसलिये उस ध्यानसे मोहनीय कर्मका क्षय अथवा उपशम होता जाता है । और दूसरे ध्यानमें संक्रमण होना बंद हो जाता है । तब शेष रहे हुए घातिया कर्मोंका जड़से नाश करके, केवलज्ञानको प्राप्त होता है ।

अब केवलज्ञानकी महिमा निरूपण करते हैं और फिर अगले दोनों शुक्लध्यानोंका निरूपण करेंगे।

आत्मलाभमथासाद्य शुद्धिं चात्यन्तिकीं पराम् ।
प्राप्नोति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम् ॥ ३० ॥

अर्थ—एकत्ववितर्कअवीचार ध्यानसे घातिकर्मको नाश करके, अपने आत्मलाभको प्राप्त होता है और अत्यन्त उत्कृष्ट शुद्धताको पाकर, केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

अलब्धपूर्वमासाद्य तदासौ ज्ञानदर्शने ।
वेत्ति पश्यति निःशेषं लोकालोकं यथास्थितम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—वे ज्ञान और दर्शन दोनों अलब्धपूर्व हैं अर्थात् पहले कभी प्राप्त नहीं हुए थे सो उनको पाकर, उसी समय वे केवली भगवान् समस्त लोक और अलोकको यथावत् देखते और जानते हैं ॥ ३१ ॥

तदा स भगवान् देवः सर्वज्ञः सर्वदोदितः ।
अनन्तसुखवीर्यादिभूतेः स्यादग्रिमं पदम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस समय केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है उस समय वे भगवान् सर्वकालमें उदयरूप सर्वज्ञदेव होते हैं। और अनन्त सुख अनन्त वीर्य आदिक विभूतिके प्रथम स्थान होते हैं. यह भावमुक्तका स्वरूप है ॥ ३२ ॥

इन्द्रचन्द्रार्कभोगीन्द्रनरामरनतक्रमः ।
विहरत्यवनीपृष्ठं स शीलैश्वर्यलाञ्छितः ॥ ३३ ॥

अर्थ—इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, धरणेन्द्र, मनुष्य, और देवोंसे नमस्कृत हुए हैं चरण जिनके, ऐसे केवली भगवान् शील अर्थात् चौरासी लाख उत्तरगुण और ऐश्वर्य सहित पृथ्वीतलमें विहार करते हैं ॥ ३३ ॥

उन्मूलयति मिथ्यात्वं द्रव्यभावमलं विभुः ।
बोधयत्यपि निःशेषं भव्यराजीवमण्डलम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—वे विभु सर्वज्ञ भगवान् पृथ्वीतलमें विहार करके जीवोंके द्रव्यमल और भावमल रूप मिथ्यात्वको जड़से नाश करते हैं और समस्त भव्यजीवरूपी कमलोंकी मंडली (समूह) को प्रफुल्लित करते हैं। **भावार्थ**—जीवोंके मिथ्यात्वको दूर करके उनको मोक्षमार्गमें लगाते हैं ॥ ३४ ॥

ज्ञानलक्ष्मीं तपोलक्ष्मीं लक्ष्मीं त्रिदशयोजिताम् ।
आत्यन्तिकीं च सम्प्राप्य धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—इस शुक्ल ध्यानके प्रभावसे ज्ञानलक्ष्मी, तपोलक्ष्मी और देवोंकी की हुई समवसरण आदिक लक्ष्मी तथा मोक्षलक्ष्मीको पाकर, धर्मके चक्रवर्त्ती होते हैं ॥ ३५ ॥

कल्याणविभवं श्रीमान् सर्वाभ्युदयसूचकम् ।
समासाद्य जगद्वन्द्यं त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत् ॥ ३६ ॥

अर्थ—अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मीकरके सहित केवली भगवान् जगत्से वंदनीय और सब अभ्युदयोंका सूचक ऐसे कल्याणरूप विभव (संपदा) को पाकर, तीनों लोकोंके अधिपति होते हैं ॥ ३६ ॥

तन्नामग्रहणादेव निःशेषा जन्मजा रुजः ।
अप्यनादिसमुद्भूता भव्यानां यान्ति लाघवम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिन भगवानके नाम लेनेसे ही भव्य जीवोंके अनादि कालसे उत्पन्न हुए जन्ममरणजन्य समस्त रोग लघु (हलके) हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

तदार्हन्त्यं परिप्राप्य स देवः सर्वगः शिवः ।
जायतेऽखिलकर्मौघजरामरणवर्जितः ॥ ३८ ॥

अर्थ—तब वे सर्वगत और शिव ऐसे भगवान् अरहंतपनेको पाकर, संपूर्ण कर्मोंके

समूह और जरामरणसे रहित हो जाते हैं। **भावार्थ**—अरहंतपना पाकर, सिद्ध परमेष्ठी होते हैं ॥ ३८ ॥

अब कुछ विशेष कहते हैं:—

तस्यैव परमैश्वर्यं चरणज्ञानवैभवम् ।
ज्ञातुं वक्तुमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूं कि उन सर्वज्ञ भगवान्का परम ऐश्वर्य, चारित्र और ज्ञानके विभवका जानना और कहना बड़े बड़े योगियोंके भी अगोचर है ॥ ३९ ॥

मोहेन सह दुर्द्धर्षे हते घातिचतुष्टये ।
देवस्य व्यक्तिरूपेण शेषमास्ते चतुष्टयम् ॥ ४० ॥

अर्थ—केवली भगवान्के जब मोहनीय कर्मके साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन चार दुर्द्धर्ष घातिया कर्मोंका नाश हो जाता है तब अवशेष चार अघाति कर्म व्यक्तिरूपसे रहते हैं ॥ ४० ॥

सर्वज्ञः क्षीणकर्मासौ केवलज्ञानभास्करः ।
अन्तर्मुहूर्त्तशेषायुस्तृतीयं ध्यानमर्हति ॥ ४१ ॥

अर्थ—कर्मोंसे रहित और केवल ज्ञानरूपी सूर्यसे पदार्थोंको प्रकाश करनेवाले ऐसे वे सर्वज्ञ जब अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण आयु बाकी रह जाता है तब तीसरे सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति शुक्लध्यानके योग्य होते हैं ॥ ४१ ॥

आर्या ।

षण्मासायुषि शेषे संवृत्ता ये जिनाः प्रकर्षेण ।
ते यान्ति समुद्घातं शेषा भाज्याः समुद्घाते ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो जिनदेव उत्कृष्ट छः महीनेकी आयु अवशेष रहते हुए केवली हुए हैं वे अवश्य ही समुद्घात करते हैं और शेष अर्थात् जो छः महीनेसे अधिक आयु रहते हुए केवली हुए हैं वे समुद्घातमें विकल्प रूप हैं। **भावार्थ**—उनका कोई नियम नहीं है, समुद्घात करें और न भी करें ॥ ४२ ॥

यदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः ।
समुद्घातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा ॥ ४३ ॥

अर्थ—जब अरहंत परमेष्ठीके आयु कर्म अन्तर्मुहूर्त्तका अवशेष रह जाता है और अन्य तीनों कर्मोंकी स्थिति अधिक होती है तब समुद्घातकी विधि साक्षात् प्रथम ही आरम्भ करते हैं ॥ ४३ ॥

उपजातिः ।

अनन्तवीर्यप्रथितप्रभावो दण्डं कपाटं प्रतरं विधाय ।
स लोकमेनं समयैश्चतुर्भिर्निःशेषमापूरयति क्रमेण ॥ ४४ ॥

अर्थ—अनन्त वीर्यके द्वारा जिनका प्रभाव फैला हुआ है ऐसे वे केवली भगवान् क्रमसे दण्ड, कपाट, प्रतर, इन तीन क्रियाओंको तीन समयमें करके; चौथे समयमें इस समस्त लोकको पूरण करते हैं । **भावार्थ**—आत्माके प्रदेश पहले समयमें दण्डरूप लम्बे, द्वितीय समयमें कपाटरूप चौड़े, तीसरे समयमें प्रतर रूप मोटे होते हैं और चौथे समयमें इसके प्रदेश समस्त लोकमें भर जाते हैं । इसीको लोकपूरण कहते हैं । ये सब क्रिया चार समयमें होती हैं ॥ ४४ ॥

तदा स सर्वगः सार्वः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ।
विश्वव्यापी विभुर्भर्त्ता विश्वमूर्त्तिर्महेश्वरः ॥ ४५ ॥

अर्थ—केवली भगवान् जिस समय लोकपूर्ण होते हैं उस समय उनके सर्वगत, सार्व, सर्वज्ञ, सर्वतोमुख, विश्वव्यापी, विभु, भर्त्ता, विश्वमूर्ति और महेश्वर ये नाम यथार्थ (सार्थक) होते हैं ॥ ४५ ॥

लोकपूरणमासाद्य करोति ध्यानवीर्यतः ।
आयुःसमानि कर्माणि भुक्तिमानीय तत्क्षणे ॥ ४६ ॥

अर्थ—केवली भगवान् लोकपूरण प्रदेशोंको पाकर, ध्यानके बलसे वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीनों अघाति कर्मोंकी स्थिति घटाकर, अर्थात् भोगमें लाकर, आयु कर्मके समान स्थिति करते हैं । **भावार्थ**—यदि वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मसे अधिक हो तो लोकपूरण अवस्थामें उनकी स्थिति आयुकर्मकी स्थितिके समान करलेते हैं ॥ ४६ ॥

ततः क्रमेण तेनैव स पश्चाद्विनिवर्त्तते ।
लोकपूरणतः श्रीमान् चतुर्भिः समयैः पुनः ॥ ४७ ॥

अर्थ—श्रीमान् केवली भगवान् पुनः लोकपूरण प्रदेशोंसे उसी क्रमसे चार समयोंमें लौटकर, स्वस्थ होते हैं । **भावार्थ**—लोकपूरणसे प्रतर, कपाट, दण्डरूप होकर; चौथे समयमें शरीरके समान आत्मप्रदेशोंको करते हैं ॥ ४७ ॥

काययोगे स्थितिं कृत्वा बादरेऽचिन्त्यचेष्टितः ।
सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—जिनकी चेष्टा अचिन्त्य है ऐसे केवली भगवान् उस समय बादर काययोगमें स्थिति करके; बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको सूक्ष्म करते हैं ॥ ४८ ॥

काययोगं ततस्त्यक्त्वा स्थितिमासाद्य तद्द्वये ।
स सूक्ष्मीकुरुते पश्चात् काययोगं च बादरम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—पुनः वे भगवान् काययोगको छोड़कर, वचनयोग और मनोयोगमें स्थिति करके, बादर काययोगको सूक्ष्म करते हैं ॥ ४९ ॥

काययोगे ततः सूक्ष्मे स्थितिं कृत्वा पुनः क्षणात् ॥
योगद्वयं निगृह्णाति सद्यो वाक्चित्तसंज्ञकम् ॥ ५० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोगमें स्थिति करके, क्षणमात्रसे उसी समय वचनयोग और मनोयोग दोनोंका निग्रह करते हैं ॥ ५० ॥

सूक्ष्मक्रियं ततो ध्यानं स साक्षात् ध्यातुमर्हति ।
सूक्ष्मैककाययोगस्थस्तृतीयं यद्धि पठ्यते ॥ ५१ ॥

अर्थ—तब यह सूक्ष्मक्रिय ध्यानको साक्षात् ध्यान करने योग्य होता है । और वह वहांपर सूक्ष्म एक काययोगमें स्थित हुआ उसका ध्यान करता है । यही तृतीय सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाति ध्यान है ॥ ५१ ॥

द्वासप्ततिर्विलीयन्ते कर्मप्रकृतयो द्रुतम् ।
उपान्त्ये देवदेवस्य मुक्तिश्रीप्रतिबन्धकाः ॥ ५२ ॥

अर्थ—तदनन्तर अयोग गुणस्थानके उपान्त्य अर्थात् अन्त समयके पहले समयमें देवाधिदेवके मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्रतिबंधक कर्मोंकी बहत्तर प्रकृति शीघ्र ही नष्ट होती हैं ॥५२॥

तस्मिन्नेव क्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मलम् ।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ॥ ५३ ॥

अर्थ—भगवान् अयोगि परमेष्ठीके उसी अयोग गुण स्थानके उपान्त्य समयमें साक्षात् निर्मल ऐसा समुच्छिन्नक्रिय नामक चौथा शुक्लध्यान प्रकट होता है ॥ ५३ ॥

विलयं वीतरागस्य पुनर्यान्ति त्रयोदश ।
चरमे समये सद्यः पर्यन्ते या व्यवस्थिताः ॥ ५४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वीतराग अयोगी केवलीके अयोग गुणस्थानके अन्त समयमें शेष रही हुई तेरह कर्मप्रकृति जो कि अबतक लगी हुई थीं तत्काल ही विलय जाती हैं ॥५४॥

तदासौ निर्मलः शान्तो निष्कलङ्को निरामयः ।
जन्मजानेकदुर्वारबन्धव्यसनविच्युतः ॥ ५५ ॥
सिद्धात्मा सुप्रसिद्धात्मा निष्पन्नात्मा निरञ्जनः ।
निष्क्रियो निष्कलः शुद्धो निर्विकल्पोऽतिनिर्मलः ॥ ५६ ॥
आविर्भूतयथाख्यातचरणोऽनन्तवीर्यवान् ।

परा शुद्धिं परिप्राप्तो दृष्टेर्बोधस्य चात्मनः ॥ ५७ ॥
अयोगी त्यक्तयोगत्वात्केवलोत्पादनिर्वृतः ।
साधितात्मस्वभावश्च परमेष्ठी परं प्रभुः ॥ ५८ ॥
लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालं स्थित्वा ततः परम् ।
स स्वभावाद्व्रजत्यूर्ध्वं शुद्धात्मा वीतबन्धनः ॥ ५९ ॥

अर्थ—उस अयोग केवली चौदहवें गुणस्थानमें केवली भगवान् निर्मल, शान्त, निष्कलङ्क, निरामय और जन्ममरणरूप संसारके अनेक दुर्निवार बन्धके कष्टोंसे रहित हैं । इनका आत्मा सिद्ध, सुप्रसिद्ध और निष्पन्न है । तथा ये कर्ममलरहित निरंजन हैं, क्रियारहित हैं, शरीररहित हैं, शुद्ध हैं, निर्विकल्प हैं और अत्यन्त निर्मल हैं । इनके यथाख्यात चारित्र प्रगट हुआ है अर्थात् चारित्रकी पूर्णता हुई है । और अनन्त वीर्य सहित हैं अर्थात् अब अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते । और आत्माके दर्शन ज्ञानकी उत्कृष्ट शुद्धताको प्राप्त हुए हैं । तथा ये मन वचन कायके योगोंसे रहित हैं इसलिये अयोगी हैं । अत्यन्त निर्वृत्त हैं इसलिये केवल हैं । इन्होंने अपना आत्मा सिद्ध करलिया है इसलिये साधितात्मा हैं । तथा स्वभावस्वरूप हैं, परमेष्ठी हैं और उत्कृष्ट प्रभु हैं । उस चौदहवें गुणस्थानमें इतने समय तक ठहरते हैं कि जितने समयमें लघु पांच अक्षरका उच्चारण हो और फिर कर्मबन्धनसे रहित वे शुद्धात्मा स्वभावहीसे ऊर्ध्व गमन करते हैं ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

इस प्रकार अबतक सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति इन दोनों शुक्लध्यानोंका निरूपण किया । इन दोनों ध्यानोंका फल मोक्ष है इसलिये अब कुछ मोक्षका वर्णन करते हैं ।

अवरोधविनिर्मुक्तं लोकाग्रं समये प्रभुः ।
धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमीयते ॥ ६० ॥

अर्थ—पश्चात् वे भगवान् ऊर्ध्व गमन कर, एक समयमें ही कर्मके अवरोधरहित लोकके अग्रभागविषें विराजमान होते हैं । लोकाग्रभागसे आगे धर्मास्तिकायका अभाव है इसलिये इनका आगे गमन नहीं होता । यही अनुमानद्वारा दिखलाते हैं ॥ ६० ॥

धर्मो गतिस्वभावोऽयमधर्मः स्थितिलक्षणः ।
तयोर्योगात्पदार्थानां गतिस्थिती उदाहृते ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो गतिस्वभाव है अर्थात् गमन करनेमें हेतु है सो धर्मास्तिकाय है और जो स्थिति लक्षणरूप है अर्थात् पदार्थोंकी स्थितिमें कारण है सो अधर्मास्तिकाय है । इन दोनोंके निमित्तसे पदार्थोंकी गति और स्थिति कही गई है ॥ ६१ ॥

तौ लोकगमनान्तस्थौ ततो लोके गतिस्थिती।
अर्थानां न तु लोकान्तमतिक्रम्य प्रवर्त्तते ॥ ६२ ॥

अर्थ—वे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोकके गमन पर्यन्त स्थित हैं, इसलिये पदार्थोंकी गति और स्थिति लोकमें ही होती है; लोकको उल्लंघन करके नहीं होती ॥ ६२ ॥

इसलिये भगवान् लोकाग्रभागतक ही गमन करते हैं।

स्थितिमासाद्य सिद्धात्मा तत्र लोकाग्रमन्दिरे।
आस्ते स्वभावजानन्तगुणैश्वर्योपलक्षितः ॥ ६३ ॥

अर्थ—सिद्धात्मा उस लोकाग्रमन्दिरमें स्थिति पाकर, स्वभावसे उत्पन्न हुए अनन्त गुण और ऐश्वर्यसहित विराजमान रहते हैं ॥ ६३ ॥

आत्यन्तिकं निराबाधमत्यक्षं स्वस्वभावजम्।
यत्सुखं देवदेवस्य तद्वक्तुं केन पार्यते ॥ ६४ ॥

अर्थ—सिद्धात्मा देवाधिदेवका जो अत्यन्त, बाधारहित, अतीन्द्रिय और अपने स्वभावसे ही उत्पन्न सुख है उसका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ ६४ ॥

तथाप्युद्देशतः किञ्चित् ब्रवीमि सुखलक्षणम्।
निष्ठितार्थस्य सिद्धस्य सर्वद्वन्द्वातिवर्त्तिनः ॥ ६५ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जिनके समस्त प्रयोजन सम्पन्न हो चुके हैं और सुखके घातक ऐसे समस्त द्वन्द्वोंसे जो रहित हैं ऐसे सिद्ध भगवानके सुखको यद्यपि कोई नहीं कह सकता; तथापि मैं नाममात्रसे किञ्चित् कहता हूं ॥ ६५ ॥

यदेव मनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थसम्भवम्।
निर्विशन्ति निराबाधं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ॥ ६६ ॥
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकम्।
भाविनो यच्च भोक्ष्यन्ति स्वादिष्ठं स्वान्तरञ्जकम् ॥ ६७ ॥
अनन्तगुणितं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम्।
एकस्मिन् समये भुङ्क्ते तत्सुखं परमेश्वरः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जो समस्त देव और मनुष्य इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न और इन्द्रियोंके तृप्त करनेमें समर्थ ऐसे निराबाध सुखको वर्त्तमान कालमें भोगते हैं। तथा सबने अतीत कालमें जो सुख भोगे हैं और जो सुख महाऋद्धियोंसे उत्पन्न हुए हैं तथा स्वादिष्ठ और मनको प्रसन्न करनेवाले जो सुख आगामी कालमें भोगे जायँगे उन समस्त सुखोंसे अनन्त गुणे अतीन्द्रिय और अपने स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले सुखको श्रीसिद्ध भगवान् परमेश्वर एक ही समयमें भोगते हैं ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

इन्द्रियोंके विना भगवान्‌के कैसे सुख होता है सो दिखलाते हैं ।

त्रिकालविषयाशेषद्रव्यपर्यायसङ्कुलम् ।
जगत्स्फुरति बोधार्के युगपद्योगिना पतेः ॥ ६९ ॥

अर्थ—योगीश्वरोंके पति श्रीसिद्ध भगवानके ज्ञानरूपी सूर्यमें भूत, भविष्यत, वर्त्तमान तीनों काल सम्बन्धी समस्त द्रव्य पर्यायोंसे व्याप्त जो यह जगत् है सो एकही समयमें स्पष्ट प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है । **भावार्थ**—इन्द्रियज्ञान तुच्छ है । उससे उत्पन्न हुआ सुख कितना हो सकता है । सिद्ध भगवानके एक ही समयमें समस्त पदार्थोंका ज्ञान होता है इसलिये उनके सुखकी क्या महिमा ? सुखका कारण ज्ञान है । जहां पूर्ण ज्ञान है वहां पूर्ण सुख भी है ॥६९॥

अब सिद्ध भगवानके गुणोंकी महिमा कहते हैं ।

सर्वतोऽनन्तमाकाशं लोकेतरविकल्पितम् ।
तस्मिन्नपि घनीभूय यस्य ज्ञानं व्यवस्थितम् ॥ ७० ॥

अर्थ—यह आकाश सर्वतः अनन्त है और उसके लोक और अलोक ऐसे दो भेद हैं । उस समस्त आकाशमें सिद्ध परमेष्ठीका ज्ञान घनीभूत होकर, भरा हुआ है ॥ ७० ॥

निद्रातन्द्राभयभ्रान्तिरागद्वेषार्त्तिसंशयैः ।
शोकमोहजराजन्ममरणाद्यैश्च विच्युतः ॥ ७१ ॥

अर्थ—श्रीसिद्ध भगवान् निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीडा और संशयसे रहित हैं, तथा शोक, मोह, जरा, जन्म और मरण इत्यादिकसे रहित हैं ॥ ७१ ॥

क्षुत्तृट्श्रममदोन्मादमूर्च्छामात्सर्यवर्जितः ।
वृद्धिह्रासव्यतीतात्मा कल्पनातीतवैभवः ॥ ७२ ॥

अर्थ—और क्षुधा, तृषा, खेद, मद, उन्माद, मूर्च्छा और मत्सर भावोंसे रहित हैं और न इनकी आत्मामें वृद्धि ह्रास (घटना बढ़ना) है, और इनका विभव कल्पानातीत है ॥७२॥

निष्कलः करणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दितः ॥ ७३ ॥

अर्थ—सिद्ध भगवान् शरीररहित हैं, इन्द्रियरहित हैं मनके विकल्पोंसे रहित हैं निरंजन हैं अर्थात् जिनके नये कर्मोंका बंध नहीं है । अनन्तवीर्यताको प्राप्त हुए हैं अर्थात् अपने स्वभावसे कभी च्युत नहीं होते और नित्य आनन्दसे आनन्दरूप हैं अर्थात् जिनके सुखमें कभी विच्छेद नहीं होता ॥ ७३ ॥

परमेष्ठी परं ज्योतिः परिपूर्णः सनातनः ।
संसारसागरोत्तीर्णः कृतकृत्योऽचलस्थितिः ॥ ७४ ॥

अर्थ—तथा परमेष्ठी (परम पदमें विराजमान), परं ज्योतिः (ज्ञानप्रकाशरूप), परिपूर्ण, सनातन (नित्य), संसाररूपी समुद्रसे उत्तीर्ण अर्थात् संसारसम्बन्धी चेष्टाओंसे रहित, कृतकृत्य (जिनको करना कुछ शेष नहीं है) अचलस्थिति (प्रदेशोंकी क्रियाओंसे रहित) ऐसे सिद्ध भगवान् हैं ॥ ७४ ॥

संतृप्तः सर्वदैवास्ते देवस्त्रैलोक्यमूर्द्धनि ।
नोपमेयं सुखादीनां विद्यते परमेष्ठिनः ॥ ७५ ॥

अर्थ—पुनः सिद्ध भगवान् संतृप्त हैं, तृष्णारहित हैं, तीन लोकके शिखरपर सदा विराजमान हैं अर्थात् गमनरहित हैं । इस संसारमें कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा परमेष्ठीके सुखको दी जाय । उनका सुख निरुपमेय है ॥ ७५ ॥

चरस्थिरार्थसम्पूर्णे मृगमाणं जगत्त्रये ।
उपमानोपमेयत्वं मन्ये स्वस्यैव स स्वयम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यदि चर और स्थिर पदार्थोंसे भरे हुए इन तीनों जगतोंमें उपमेय और उपमान ढूंढा जाय तो मैं ऐसा मानता हूं कि वे स्वयं ही उपमान उपमेय रूप हैं । **भावार्थ**—सिद्ध भगवानका उपमान सिद्ध ही हैं और किसीके साथ उनकी उपमा नहीं दी जा सकती ॥ ७६ ॥

यतोऽनन्तगुणानां स्यादनन्तांशोपि कस्यचित् ।
ततो न शक्यते कर्तुं तेन साम्यं जगत्त्रये ॥ ७७ ॥

अर्थ—क्योंकि तीनों जगतमें उन सिद्ध परमेष्ठीके अनन्त गुणोंका अनन्तवां अंश भी किसी पदार्थमें नहीं है. इसलिये उनकी समानता किसीके साथ नहीं कर सकते । **भावार्थ**—इसीलिये उनका उपमान उपमेय भाव अपना अपने ही साथ है ॥ ७७ ॥

शक्यते न यथा ज्ञातुं पर्यन्तं व्योमकालयोः ।
तथा स्वभावजातानां गुणानां परमेष्ठिनः ॥ ७८ ॥

अर्थ—जैसे कोई आकाश और कालका अन्त नहीं जान सकता उसी तरह स्वभावसे उत्पन्न हुए परमेष्ठीके गुणोंका अन्त भी कोई नहीं जान सकता ॥ ७८ ॥

मालिनी ।

गगनघनपतङ्गाहीन्द्रचन्द्राचलेन्द्र-
क्षितिदहनसमीराम्भोधिकल्पद्रुमाणाम् ।
निचयमपि समस्तं चिन्त्यमानं गुणानां
परमगुरुगुणौघैर्नोपमानत्वमेति ॥ ७९ ॥

अर्थ—आकाश, मेघ, सूर्य, सर्पोंका इन्द्र, चन्द्रमा, मेरु, पृथ्वी, अग्नि, वायु, समुद्र और कल्पवृक्षोंके गुणोंका समस्त समूह भी चिन्तवन किया जाय तौ भी उनकी उपमा परम गुरु श्रीसिद्ध परमेष्ठीके गुणोंके साथ नहीं हो सकती। **भावार्थ**—संसारके उत्तमोत्तम पदार्थोंके गुण विचार करनेसे भी ऐसा कोई पदार्थ नहीं देख पड़ता कि जिसके गुणोंकी उपमा सिद्ध परमेष्ठीके गुणोंके साथ दी जाय ॥ ७९ ॥

नासत्पूर्वाश्च पूर्वा नो निर्विशेषविकारजाः ।
स्वाभाविकविशेषा ह्यभूतपूर्वाश्च तद्गुणाः ॥ ८० ॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठीके गुण पूर्वमें नहीं थे ऐसे नहीं हैं " अर्थात् पूर्वमें भी शक्तिरूपसे विद्यमान ही थे। क्योंकि असत्का प्रादुर्भाव नहीं होता यह नियम है। यदि असत्का भी प्रादुर्भाव माना जाय तो शशशृंगकाभी प्रादुर्भाव होना चाहिये, किंतु होता नहीं है। यही इस नियममें प्रमाण " है। और पूर्वमें व्यक्त नहीं थे तथा विशेष विकारसे उत्पन्न नहीं किंतु स्वाभाविक हैं। (इस प्रकार पूर्वार्द्धद्वारा निषेधमुख कथनकरके, इसी विषयको पुनः उत्तरार्द्धद्वारा विधिमुखवाक्यसे कहते हैं कि—) सिद्ध परमेष्ठीके गुण स्वाभाविकविशेष अर्थात् पूर्वमें भी शक्तिकी अपेक्षा स्वभावमें ही विद्यमान और अभूतपूर्व अर्थात् पूर्वमें व्यक्त नहीं हुए ऐसे हैं। **भावार्थ**—आत्माके जो स्वाभाविक गुण पूर्वावस्थामें अव्यक्त रहते हैं वे ही सिद्धावस्थामें व्यक्त होजाते हैं; इसीसे (शक्तिकी अपेक्षा पूर्वमें भी विद्यमान होनेके कारण) उन गुणोंको 'पूर्वमें नहीं थे' ऐसा नहीं कह सकते। और पूर्वमें व्यक्त नहीं थे इससे 'पूर्वमें थे' ऐसा भी नहीं कह सकते। और स्वाभाविक होनेके कारण उनको विकारज भी नहीं कह सकते किंतु वे (गुण) शक्तिकी अपेक्षा स्वाभाविक और व्यक्तिकी अपेक्षा अभूतपूर्व ही कहे जाते हैं ॥ ८० ॥

वाक्पथातीतमाहात्म्यमनन्तज्ञानवैभवम् ।
सिद्धात्मनां गुणग्रामं सर्वज्ञज्ञानगोचरम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—जिसका माहात्म्य वचनोंसे कहने योग्य नहीं है और जिसके अनन्त ज्ञानका विभव है, ऐसे सिद्ध परमेष्ठीके गुणोंका समूह सर्वज्ञके ज्ञानके गोचर है ॥ ८१ ॥

परन्तु वहां भी इतना विशेष है कि—

स स्वयं यदि सर्वज्ञः सम्यग्ब्रूते समाहितः ।
तथाप्येति न पर्यन्तं गुणानां परमेष्ठिनः ॥ ८२ ॥

अर्थ—सर्वज्ञ देव परमेष्ठीके गुणोंको जानते हैं, परंतु यदि वे उन गुणोंको समाधानसहित अच्छी तरह कहें तो वे भी उनका पार पा नहीं सकेंगे। **भावार्थ**—वचनकी संख्या अल्प है और गुण अनन्त हैं इसलिये वे वचनोंसे नहीं कहे जा सक्ते ॥ ८२ ॥

त्रैलोक्यतिलकीभूतं निःशेषविषयच्युतम्।
निर्द्वन्द्वं नित्यमत्यक्षं स्वादिष्ठं स्वस्वभावजम् ॥ ८३ ॥
निरौपम्यमविच्छिन्नं स देवः परमेश्वरः।
तत्रैवास्ते स्थिरीभूतः पिबन् ज्ञानसुखामृतम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—श्रीसिद्ध परमेष्ठी परमेश्वर देव समस्त त्रैलोक्यका तिलकस्वरूप, समस्त विषयोंसे रहित, निर्द्वन्द्व अर्थात् प्रतिपक्षी रहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, स्वादस्वरूप, अपने स्वभावसे ही उत्पन्न, उपमारहित और विच्छेदरहित ज्ञान और सुखरूपी अमृतको पीते हुए स्थिरीभूत तीन लोकके शिखरपर विराजमान रहते हैं ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

स्रग्धरा।

देवः सोऽनन्तवीर्यो दृगवगमसुखानर्घ्यरत्नावकीर्णः
श्रीमान्त्रैलोक्यमूर्ध्नि प्रतिवसति भवध्वान्तविध्वंसभानुः।
स्वात्मोत्थानन्तनित्यप्रवरशिवसुधाम्भोधिमग्नः स देवः
सिद्धात्मा निर्विकल्पोऽप्रतिहतमहिमा शश्वदानन्दधामा ॥ ८५ ॥

अर्थ—जिनके अनन्त वीर्य है अर्थात् प्राप्त स्वभावसे कभी च्युत नहीं होते, जो दर्शन ज्ञान और सुखरूप अमूल्य रत्नोंसहित है, जो संसाररूप अन्धकारको दूर कर सूर्यके समान विराजमान है, जो अपने आत्माहीसे उत्पन्न ऐसे अनन्त नित्य उत्कृष्ट शिवसुखरूपी अमृतके समुद्रमें सदा मग्न है, विकल्परहित है, जिसकी महिमा अप्रतिहत (जो किसीसे आहत न होवे) है और जो निरन्तर आनन्दके निवासस्थान हैं ऐसे श्रीसिद्ध परमेष्ठी देव शोभायमान जो तीनों लोकोंका मस्तक (शिखर) है उसमें सदा निवास करते हैं ॥ ८५ ॥

इति कतिपयवरवर्णैर्ध्यानफलं कीर्तितं समासेन।
निःशेषं यदि वक्तुं प्रभवति देवः स्वयं वीरः ॥ ८६ ॥

अर्थ—ऐसे पूर्वोक्त प्रकार कितने ही श्रेष्ठ अक्षरोंके द्वारा संक्षेपसे ध्यानका फल कहा है। इसका समस्त फल कहनेको स्वयं श्रीवर्द्धमान स्वामी ही समर्थ हो सकते हैं ॥ ८६ ॥

दोहा।

सकल कषाय अभावतें, उज्वल चेतन भाव।
शुक्लध्यानमें होय तव, कर्मनिर्जरा थाव ॥ १ ॥
सर्व कर्मका नाश करि, देत मोक्ष यह ध्यान।
सुख अनन्त तहँ भोगवै, सदा रहै स्थिर ध्यान ॥ २ ॥

अब ग्रन्थका उपसंहार करते हैं।

मालिनी।

इति जिनपतिसूत्रात्सारमुद्धृत्य किञ्चित्
स्वमतिविभवयोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीतम्।

विबुधमुनिमनीषाम्भोधिचन्द्रायमाणं
चरतु भुवि विभूत्यै यावदद्रीन्द्रचन्द्रः ॥ ८७ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हमने इस प्रकार जिनेन्द्र देव सर्वज्ञके सूत्रसे थोड़ासा सार लेकर, अपनी बुद्धिके विभवानुसार यह ध्यानका शास्त्र निर्माण किया है। सो यह शास्त्र विद्वान् मुनियोंकी बुद्धिरूप समुद्रके बढ़ानेके लिये चन्द्रमाके समान होता हुआ जबतक मेरु और चन्द्रमा रहें तबतक इस पृथ्वीमें अपनी विभूतिके लिये सदा प्रवर्त्ते (यह आचार्यका आशीर्वाद है) ॥ ८७ ॥

ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वतः ।
यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोऽपि भवार्णवः ॥ ८८ ॥

अर्थ—भव्य जीव जिसके ज्ञानसे ही अत्यन्त कठिनतासे पार करने योग्य संसाररूप समुद्रके पार हो जाते हैं ऐसे इस ज्ञानार्णव ग्रन्थका माहात्म्य यथार्थ रीतिसे अपने चित्तमें कौन जानता है. ॥ ८८ ॥

इस प्रकार इस शास्त्रकी महिमा निरूपण की। इसका तात्पर्य यह है कि इस शास्त्रका नाम ज्ञानार्णव सार्थक है। ज्ञानको समुद्रकी उपमा है। जो ज्ञानको जानता है वही निर्मल जल है और उसमें जो सर्व पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं वे ही रत्न हैं। इस प्रकार ज्ञानकी स्वच्छता और एकाग्रता करनेका इसमें वर्णन है इस कारण इसका नाम ज्ञानसमुद्र (ज्ञानार्णव) है। यद्यपि यह ग्रंथ मुनियोंके पढ़ने योग्य है परन्तु इस पंचमकालमें मुनिपनेकी दुर्लभता है इस कारण गृहस्थी भी इसको पढ़ै सुनै और सुनावै तो उसके यथार्थ श्रद्धान हो जाय तथा ज्ञानकी भावना रहै तौ बड़ा लाभ हो, परंपरासंस्कार पर भवमें चला जाय तो उत्तम गति हो, सुखकी प्राप्ति हो, इस कारण गृहस्थको पढ़ना सुनना सुनावना योग्य है।

सवैया २३ सा

ज्ञानसमुद्र तहां सुखनीर पदारथ पंकतिरत्न विचारो ।
राग विरोध विमोह कुजंतु मलीन करो तिन दूर विडारो ॥
शक्ति सँभार करो अवगाहन निर्मल होय सुतत्त्व उधारो ।
ठान क्रिया निज नेम सवै गुन भोजन भोगन मोक्ष पधारो ॥ ४१ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे पिण्डस्थध्यानवर्णनं नाम द्विचत्वारिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥

प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची।

[illegible] मूल और पं० नाथूरामजी प्रेमीकृत [illegible]
और [illegible] स्वरूपका विशद वर्णन है। मू० सजिल्दका १।)

[illegible]) पुनः संशोधित होके छपेगी।

३ [illegible] मूल, स्व० पं० जयचन्द्रजीकृत भाषाटीका, योगके विषयका [illegible] है। [illegible] मी है। मूल्य सजिल्दका ४)

४ [illegible] मूल और स्व० पं० ठाकुरप्रसादजी शर्मा व्याकरणा- [illegible] ग्रंथ है। मूल्य १)

५ [illegible] (अप्राप्य) पुनः छपेगी।

६ [illegible] गाथायें, और स्व० पं० मनोहरलालजी [illegible] सहित। मूल्य सजिल्दका २॥)

७ [illegible] मूल गाथायें, और पं० सूरजचन्द्रजी [illegible] सहित। मू० सजिल्दका २॥)

८ [illegible] मूल गाथायें, और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत [illegible] सहित। मूल्य सजिल्दका १॥)

९ [illegible] मूल गाथायें, अमृतचन्द्रसूरि और जयसेनकी [illegible] हिन्दीटीका, डॉ० ए० एन० उपाध्यायकी अंग्रेजीटीका और [illegible] है। [illegible] मूल्य ६)

१० [illegible] और [illegible] — श्रीयोगीन्दुदेवकृत अपभ्रंश भाषाके दोहे, श्रीब्रह्मदेवसूरि- [illegible] टीका है। डॉ० ए० एन० उपाध्याय एम० ए०, डी० लिट्० [illegible] प्रस्तावना [illegible] प्रस्तावनाका हिन्दी सार भी है। मू० सजिल्दका ४॥)

११ [illegible] होकर पुनः छपेगा।

१२ [illegible] अप्राप्य है।

१३ [illegible] मूल, और डॉ० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० [illegible] हिन्दी अनुवाद सहित। न्यायका अपूर्व ग्रंथ है। बड़ी खोजसे लिखे हुए [illegible] है। [illegible]

१४ [illegible] अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र मोक्षशास्त्र—श्रीमत् उमास्वातिकृत [illegible] पं० [illegible] सिद्धान्तशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका, मू० सजिल्दका ३)

१५ [illegible] और [illegible] — श्रीमद्राजचन्द्रकृत, अनुवादकर्ता—पं० [illegible] मूल्य ॥)

१६ [illegible] और [illegible] — श्रीमद्राजचन्द्रप्रणीत। अनुवादकर्ता—पं० जगदीश- [illegible] मूल्य ॥) १७ योगसार—अप्राप्य है।

१८ [illegible] और [illegible] — डॉ० ए० एन० उपाध्याय, अँग्रेजी ग्रंथ, मू० १)

१९ [illegible] समस्त पत्रों, रचनाओं (ग्रन्थों) का अपूर्व संग्रह, [illegible] महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना है, अनुवादकर्ता डा० [illegible] पृष्ठसंख्या १०००, मूल्य सिर्फ ६)

[illegible] प्रशमरतिप्रकरण सं० टी०, भा० टी०, श्रीमन्त-

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा सं० टी०, भा० टी०,

[illegible] आदि, मूल गाथायें, सं० टी०

[illegible]

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची।

१ **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**—श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत मूल और पं॰ नाथूरामजी प्रेमीकृत सरल और विस्तृत भाषाटीका। इसमें श्रावकाचार और अहिंसाके स्वरूपका विशद वर्णन है। मू॰ सजिल्दका १।)

२ **पंचास्तिकाय**—(अप्राप्य) पुनः संशोधित होके छपेगी।

३ **ज्ञानार्णव**—श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत मूल, स्व॰ पं॰ जयचन्द्रजीकृत भाषाटीका, योगके विषयका अपूर्व ग्रंथ है। महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रस्तावना भी है। मूल्य सजिल्दका ४)

४ **सप्तभंगीतरंगिणी**—श्रीविमलदासकृत मूल और स्व॰ पं॰ ठाकुरप्रसादजी शर्मा व्याकरणाचार्यकृत भाषाटीका। नव्यन्यायका महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। मूल्य १)

५ **बृहद्द्रव्यसंग्रह**—(अप्राप्य) पुनः छपेगी।

६ **गोम्मटसार-कर्मकांड**—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत गाथायें, और स्व॰ पं॰ मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और भाषाटीका सहित। मूल्य सजिल्दका २॥)

७ **गोम्मटसार-जीवकांड**—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, और पं॰ खूबचन्द्रजी सिद्धांतशास्त्रीकृत संस्कृतछाया और भाषाटीका सहित। मू॰ सजिल्दका २॥)

८ **लब्धिसार**—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, और स्व॰ पं॰ मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दीटीका सहित। मूल्य सजिल्दका १॥)

९ **प्रवचनसार**—श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल गाथायें, अमृतचन्द्रसूरि और जयसेनकी संस्कृत टीकायें, स्व॰ पांडे हेमराजकी हिन्दीटीका, डॉ॰ ए॰ एन॰ उपाध्यायकी अंग्रेजीटीका और अंग्रेजीमें महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना है। सजिल्दका मूल्य ५)

१० **परमात्मप्रकाश और योगसार**—श्रीयोगीन्दुदेवकृत अपभ्रंश भाषाके दोहे, श्रीब्रह्मदेवसूरिकृत संस्कृतटीका, स्व॰ पं॰ दौलतरामजीकृत भाषाटीका है। डॉ॰ ए॰ एन॰ उपाध्याय एम॰ ए॰, डी॰ लिट्॰ की लिखी महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना है, अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी सार भी है। मू॰ सजिल्दका ४॥)

११ **समयसार**—(अप्राप्य) संशोधित होकर पुनः छपेगा।

१२ **द्रव्यानुयोगतर्कणा**—श्रीभोजसागरकृत, अप्राप्य है।

१३ **स्याद्वादमंजरी**—श्रीमल्लिषेणसूरिकृत मूल, और डॉ॰ जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम॰ ए॰, पी॰ एच॰ डी॰ कृत हिन्दी अनुवाद सहित। न्यायका अपूर्व ग्रंथ है। बड़ी खोजसे लिखे हुए ११ परिशिष्ट हैं। मूल्य सजिल्दका ४॥)

१४ **सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र मोक्षशास्त्र**—श्रीमत् उमास्वातिकृत मूल सूत्र और संस्कृतभाष्य, पं॰ खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका, मू॰ सजिल्दका ३)

१५ **पुष्पमाला मोक्षमाला और भावनाबोध**—श्रीमद्राजचन्द्रकृत, अनुवादकर्त्ता—पं॰ जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम॰ ए॰, पी॰ एच॰ डी॰, मूल्य ।॥)

१६ **उपदेशछाया और आत्मसिद्धि**—श्रीमद्राजचन्द्रप्रणीत। अनुवादकर्त्ता—पं॰ जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम॰ ए॰, पी॰ एच॰ डी॰, मूल्य ॥) १७ **योगसार**—अप्राप्य है।

१८ **श्रीयोगीन्दुदेव और परमात्मप्रकाश**—ले॰ डॉ॰ ए॰ एन॰ उपाध्याय, अँग्रेजी ग्रंथ, मू॰ १)

१९ **श्रीमद्राजचन्द्र**—श्रीमद्राजचन्द्रजीके समस्त पत्रों, रचनाओं (ग्रन्थों) का अपूर्व संग्रह, अध्यात्मका अपूर्व और विशाल ग्रंथ है। म॰ गाँधीजीकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना है, अनुवादकर्त्ता डा॰ जगदीशचन्द्र शास्त्री एम॰ ए॰, पी॰ एच॰ डी॰, पृष्ठसंख्या १०००, मूल्य सिर्फ ६)

आगे छपनेवाले ग्रंथ—श्रीउमास्वातिकृत **प्रशमरतिप्रकरण** सं॰ टी॰, भा॰ टी॰, श्रीसमन्तभद्राचार्यकृत **आप्तमीमांसा** सं॰ टी॰, भा॰ टी॰, **स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा** सं॰ टी॰, भा॰ टी॰, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत सब ग्रंथ **अष्टपाहुड़, नियमसार, रयणसार** आदि, मूल गाथायें, सं॰ टी॰ और नई हिन्दीटीका सहित छपानेकी व्यवस्था हो रही है।

गुजराती ग्रंथ—१ **श्रीमद्राजचन्द्र**—तत्त्वज्ञानपूर्ण महान् ग्रन्थ, महात्मा गांधीजीकी लिखी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना सहित, अप्राप्य है। २ **भावनाबोध**—श्रीमद्राजचन्द्रकी अपूर्व रचना, मूल्य सजिल्दका सिर्फ ।)

मिलनेका पता—**परमश्रुतप्रभावकमंडल** (रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला)

ठि॰ खाराकुवा, जौहरीबाजार, बम्बई नं॰ २